आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान

(Modern Social Psychology)

(भारतीय विश्वविद्यालयों के त्रिवर्षीय पाठ्यक्रमानुसार)

उत्तर प्रदेश भाषा निधि के सौजन्य से

डॉ० रामजी श्रीवास्तव

स्नातकोत्तर मनोविज्ञान विभाग

शिबली नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय

आजमगढ़ ।

तथा

काजी आसिम आलम

शोध छात्र

शिबली नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय

आजमगढ़ ।

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना :: बंगलोर :: मद्रास

प्रथम संस्करण १९९५

मोतीलाल बनारसीदास

बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–११० ००७
१२०, रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास–६०० ००४
१६, सेन्ट मार्क्स रोड, बैंगलोर–५६० ००१
अशोक राजपथ, पटना–८००००४
चौक, वाराणसी–२२१००१

सम्पादक
डा० काज़ी गौस आलम
प्राचार्य
शिबली नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय
आजमगढ़

© लेखकगण

मूल्य : सजिल्द रु० १३४–००
अजिल्द रु० ७४–००

श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन; मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी द्वारा प्रकाशित एवम् राजेश प्रिंटिंग वर्क्स, त्रिलोचनघाट; वाराणसी द्वारा मुद्रित

आमुख

आज हमारा समाज अनेकानेक समस्याओं से जूझ रहा है। सामाजिक सम्बन्धों में भी स्वार्थ की गन्ध आने लगी है। समाज के मौलिक मूल्य बहुत कुछ बदल गये हैं। जहाँ कुछ परिवर्तन समाज के लिये अनुकूल प्रतीत हो रहे हैं, वहीं अनेक समाज के लिये प्रतिकूल तथा कुछ घातक भी हैं। सामाजिक सम्बन्धों से "मेरे शत्रु का शत्रु मेरा मित्र हैं" की कहावत चरितार्थ होती है। स्वार्थ ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रमुखता प्राप्त कर ली है। परार्थ की जगह स्वार्थ, हिंसा, आतंकवाद जातिवाद और अन्तर्जातीय संघर्ष का बोलबाला है। समाज एक कठिन अवस्था से गुजर रहा है। ऐसे समय में समाज मनोविज्ञान का महत्व और भी बढ़ जाता है। जो समाज में व्यक्ति के व्यवहार का विधायक विज्ञान है। यह मानव के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का अध्ययन करके व्यवहार को समझने तथा तदनुसार व्यवहार करने का मूलमन्त्र प्रदान करता है। सामाजिक परिवर्तनों की द्रुतगति के परिणाम स्वरूप व्यवहार की जटिलताओं का रहस्योदघाटन समाज मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा ही संभव है।

प्रस्तुत पुस्तक मनोविज्ञान विषय का चयन करने वाले बी० ए० तथा एम० ए० के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है। उत्कल विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से आयोजित मनोविज्ञान के पाठ्यक्रम संशोधन हेतु हुई कार्यशाला की संस्तुतियों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक के विषय वस्तु का चयन किया गया है। पूर्वांचल विश्वविद्यालय समेत उत्तर प्रदेश के लगभग सभी विश्वविद्यालयों तथा विहार राज्य के सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न विषयों का चयन किया गया है। साथ ही आधुनिक समाज में मानव की ज्वलन्त समस्याओं जैसे आक्रामकता तथा हिंसा, परार्थ तथा सहायतार्थ व्यवहार, सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक प्रगति जैसे आधुनिक शीर्षकों से सम्बद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समावेश किया गया है। जिससे पाठक केवल सामाजिक मनोविज्ञान के सम्प्रत्ययों, सिद्धान्तों और अध्ययनों से ही नहीं, वरन उनके यथार्थ को व्यवहारिक रूप में परखने और समझने में सक्षम हो सकें और इसके जीवनोपयोगी तथ्यों से अवगत हो सकें।

हम अपने लेखकों के आभारी हैं। जिन्होंने अपना अथक परिश्रम और पूर्ण सहयोग देकर पुस्तक की रचना को संभव बनाया है। अध्यापक बन्धुओं से विनम्र

निवेदन है कि अपने बहुमूल्य सुझाव द्वारा पुस्तक के संशोधन में सहयोग देने की कृपा करें। आशा है पुस्तक अध्यापकों और मनोविज्ञान के छात्र-छात्राओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

अन्त में, हम बाबू कमला शंकर सिंह, प्रबन्धक, मोतीलाल बनारसीदास, पटना के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते हैं क्योंकि इस कार्य का श्रेय कमला बाबू की प्रेरणा ही रही है। परन्तु अपनी बात अधूरी ही रह जायगी यदि मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी शाखा के श्री वकील राम कुशवाहा तथा विक्रय प्रतिनिधि श्री मुन्नालाल पाण्डेय के प्रति अपनी कृतज्ञता न प्रकट कर दूँ क्योंकि इन लोगों ने ही पुस्तक के प्रकाशन का कार्य सहर्ष सम्पन्न किया तथा अपने असाधारण सहयोग से इसे पुस्तक का रूप समय से प्रदान किया।

सम्पादक

जन्माष्टमी, १९९४

डॉ० काज़ी गौस आलम

The book is dedicated
to
Mr. A. S. Ansari, LL. M.
President
Managing Committee
Shibli National College Azamghash
Who is a
Beacon light of our hopes
and aspirations

Dr. Qazi Ghaus Alam
Dr. Ramji Srivastava
Qazi Asim Alam

विषय सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	समाज मनोविज्ञान : महत्व एवं आवश्यकता (Social Psychology : Importance and Need)	1–21

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि, दृष्टिकोण, परिभाषा, समस्यायें तथा क्षेत्र, सामाजिकरण एवं व्यक्तित्व, सामाजिक अन्तःक्रिया, संज्ञान एवं प्रत्यक्षीकरण, अभिवृत्ति, मत तथा प्रचार, समूह तथा नेतृत्व, अभिप्रेरक एवं अधिगम, सामाजिक व्यधिकीय, समाज मनोविज्ञान का स्वरूप, अन्य सामाजिक विज्ञान से सम्बन्ध ।

2.	समाज मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ (Methods of Study of Social Psychology)	22–45

प्रेक्षण विधि, प्रेक्षण के प्रकार, प्रयोग विधि, साक्षातकार विधि; प्रश्नावली विधि, समाजमितीय, सांख्यिकीय विधि, अन्तर सांस्कृतिक विधि, मनोवैज्ञानिक परीक्षण ।

3.	सामाजिक अभिप्रेरक (Social Motives)	46–77

सामाजिक अभिप्रेरक : आवश्यकता के रूप में, उद्दीपन की आवश्यकता, मैस्लो का आवश्यकता सिद्धान्त, मरे का सिद्धान्त, आवश्यकता के प्रकार, आक्रामक आवश्यकता, परहित अभिप्रेरक ।

4.	अभिवृत्तियाँ (Attitudes)	78–120

अभिवृत्ति तथा अन्य सम्बद्ध पद, अभिवृत्ति निर्माण, अधिगम और अभिवृत्ति निर्माण, अभिवृत्ति परिवर्तन, अभिवृत्ति परिवर्तन के कारण, सिद्धांतहाइडर का सिद्धान्त, संज्ञानात्मक विसन्नादिता सिद्धान्त, अनुनयशील सम्प्रेषण तथा अभिवृत्ति परिवर्तन, सूचना की विशेषतायें, अभिवृद्धि मापन—थर्स्टन मापनी, लिकर्ट मापनी, बोगार्डस की सामाजिक दूरी मापनी, विशिष्ट प्रणालियाँ, प्रच्छन्न प्रणालियाँ ।

5. सामाजिक प्रत्यक्षीकरण 121–141
(Social Perception)

अवाचिक संज्ञापन, अवाचिक संकेत तथा सामाजिक अन्तःक्रिया, प्रात्यक्षिक अनुक्रिया को प्रभावित करने वाली मौलिक प्रक्रियायें, सामाजिक प्रत्यक्षीकरण पर प्रयौगिक अध्ययन, प्रात्यक्षिक सुरक्षा, प्रत्यभिज्ञा देहली का संशोधन, उद्दीपक सांवेगिकता, प्रात्यक्षिक सुरक्षा में व्यक्तिगत भिन्नतायें ।

6. व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण 142–163
(Person Perception)

व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण—स्वरूप एवं अर्थ, प्रभावांकन के साधन, सामाजिक रूढ़ियुक्तियाँ—प्रकृति, सत्यता-असत्यता, गुणारोपण सिद्धान्त, तुलनात्मक अनुमान सिद्धान्त, सफलता और विफलता का गुणारोपण, गुणारोपण सिद्धान्तों की तुलना एवं वैषम्य, व्यवहारिक उपयोग, स्व प्रत्यक्षीकरण, संवेगों का स्व प्रत्यक्षीकरण ।

7. सामाजिक प्रभाव : सामाजिक मानक तथा समरुपता 164–197
(Social Influence : Social Norms & Conformity)

निष्पादन का सामाजिक सुकरीकरण, सामाजिक मानकों द्वारा प्रत्यक्षीकरण एवं संज्ञान पर प्रभाव, सामाजिक दबाव के प्रभाव विषयक अध्ययन, समरूपता, समरूपता के सिद्धान्त, समूह दबाव सिद्धान्त, समरुपता के निर्धारक आधार, अनुपालन, आज्ञाकारिता ।

8. सामाजिकरण तथा सामाजिक अधिगम 198–225
(Socialization & Learning in Social Context)

सामाजिकरण का स्वरूप, साधन, द्वितीयक समूह के प्रभाव, निर्धारक, सामाजिक सन्दर्भ में अधिगम, पुनर्बलन तथा अधिगम, प्रतिरूप अथवा अनुकरण द्वारा सामाजिक अधिगम, सामाजिक अधिगम में प्रात्यक्षिक कारक, प्रतिरूपों में निहित पुरस्कार भिन्नतायें, भूमिका अधिगम, भूमिका अधिगम को प्रभावित करने वाले कारक ।

9. सामाजिक संस्थिति एवं सामाजिक भूमिका 226–245
(Social Status and Social Rules)

संस्थिति के अर्थ, प्रकार एवं निर्धारक, भूमिका, अर्थ भूमिका तथा अन्तर्क्रिया, भूमिका तनाव, समाधान एवं सिद्धान्त ।

10. अन्तर्वैक्तिक आकर्षण 246–268
(Interpersonal Attraction)
आकर्षण का अर्थ एवं स्वरूप, आकर्षण के निर्धारक, आकर्षण के विनिमय सिद्धान्त; समाजमितीय आकर्षण का मापन ।

11. पूर्वाग्रह तथा विभेदन 269–288
(Prejudice and Discrimination)
विभेदन या भेद बोध, पूर्वग्रह की उत्पत्ति एवं प्रकार्य, पूर्वग्रह तथा विभेदन, सैद्धान्तिक उपागम, पूर्वग्रह तथा विभेदन में परिवर्तन ।

12. सामाजिक अन्तःक्रियायें 289–308
(Social Interactions)
अर्थ, स्वरूप, स्तर, दशाएँ उत्तेजनाएँ, निर्धारक, प्रक्रियाएं, सहयोग के प्रकार, कारण, समंजन, सात्मीकरण प्रतिस्पर्धा, संघर्ष ।

13. व्यक्तित्वः सामाजिक घटक के रूप में 309–332
(Personality as a Social Phenomenon)
भूमिकायें तथा व्यक्तित्व निर्माण, स्व, क्षेत्र सिद्धान्त तथा स्व सिद्धान्त, स्व का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त, आत्म-आदर, सामाजिक निर्भरता और अनाश्रितता, जन्म क्रम और व्यक्तित्व ।

14. समूह प्रक्रियायें 333–359
(Group Processes)
समूह का निर्माण बरकरार रहना, सामाजिक विनिमय सिद्धान्त, विशिष्ठ तथा विश्वव्यापी संसाधन, समूह भागग्राहिता में वैकासिक अवस्थायें, संशक्ति, सहस्थिति-सम्भावना तथा संशक्ति, समूह मानकों के प्रति आबद्धता, मनोबल, सामाजिक जलवायु तथा वातावरण, समूह प्रकार, सामूहिक अन्तक्रिया का विश्लेषण और मापन, बेल्स की प्रणाली में प्राप्तांक श्रेणियाँ ।

15. नेता और नेतृत्व 360–390
(Leaders & Leadership)
नेतृत्व परिभाषाएँ, नेता के प्रकार्य, नेतृत्व प्रकार एवं श्रेणीकरण, लिपिट्ट एवं ह्वाइट का वर्गीकरण, नेतृत्व का अविर्भाव, नेता की व्यक्तिगत विशेषताएँ, नेताओं में संरचना बनाम कन्सीडरेशन, हाथोर्न अध्ययन, अन्तर्राष्ट्रीय हार्वेस्टर अध्ययन, सबसे कम पसन्द सहकर्मी के प्रति नेता की अभिवृत्ति ।

16. समूह मनोबल 391–400
(Group Morale)
परिभाषाएँ, उच्च मनोबल के आधार, निम्न मनोबल की विशेषता, समूह मनोबल के निर्धारक, मापन विधियाँ।

17. सामाजिक व्यहार के नियम 401–420
(Laws of Social Behaviour)
सुझाव, संसूचन के विभिन्न रूप, सुझाव का वर्गीकरण, संसूचन दशाएँ, सामाजिक जीवन में सुझाव का महत्व, अनुकरण, प्रकार नियम, सिद्धान्त, महत्व, सहानुभूति, सहानुभूति के प्रकार, निर्धारक, महत्व ।

18. सामाजिक परिवर्तन 421–438
(Social Change)
सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, विशेषताएँ, प्रकार, कारण, सिद्धान्त, परिणाम, भारत में सामाजिक परिवर्तन ।

19. फैशन 439–447
(Fashion)
फैशन का अर्थ, स्वरूप एवं विशेषताएँ, फैशन तथा प्रथा, फैशन और प्रथा में अन्तर, फैशन का प्रसार ।

20. जनमत 448–460
(Public Opinion)
जन या जनता तथा मत का अर्थ, जनमत की विशेषताएँ, जनमत निर्माण की प्रक्रिया, जनमत निर्माण के निर्धारक, जनमत के साधन या माध्यम, जनमत मापन, जनमत का महत्व ।

21. भीड़ तथा श्रोता समूह 461–485
(Crowd and Audience)
भीड़ की परिभाषा, भीड़ की विशेषताएँ, भीड़ के प्रकार, क्रियाशील भीड़ का मनोविज्ञान, भीड़ के सिद्धान्त, भीड़ तथा आक्रमणकारी भीड़ में अन्तर, श्रोतागण, लक्षण, प्रकार, श्रोतासमूह तथा भीड़ में अन्तर ।

22. प्रचार 486–502
(Propaganda)
अर्थ, विशेषताएँ, प्रकार, प्रचार तथा शिक्षा, प्रचार मनोविज्ञान, तकनीकें, सिद्धान्त, साधन, महत्व, सीमाएं, बचाव ।

23. अफवाह 503–514
(Rumour)
अर्थ, विशेषताएँ, प्रकार; परिस्थितियाँ, कारण, विश्लेषण; साधन; रोक थाम ।

24. आक्रामकता 515–536
(Aggression)
अर्थ, सिद्धान्त, आक्रामकता को उकसाने वाले कारक, नियन्त्रण ।

25. परोपकार, सहायतार्थ, व्यवहार : समाजोपयोगी व्यवहार 537–554
(Altruism, Helping; Behaviour ; Prosocial Behaviour)
अर्थ, सहायतार्थ व्यवहार के निर्धारक; संज्ञानपरक माडल, सिद्धान्त ।

अध्याय 1

समाज-मनोविज्ञान : महत्व एवं आवश्यकता

(Social Psychology : importance and need)

मानव सदैव ही दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्पर्क रखता है। इसी कारण उसे सामाजिक जीव कहा गया है। कभी समाज की सराहना और प्रशंसा की जाती है तो कभी निन्दा, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य व्यक्ति हमारे जीवन में मुख्य भूमिका निभाते हैं। हम दूसरों के सम्पर्क में आते हैं, उनसे प्रभावित होते हैं, तथा उनको प्रभावित करते हैं। मानव विकास दूसरों के साथ सम्पर्क पर आश्रित हैं; जिसे हम सामाजिक परिस्थिति कहते हैं अतः मानव विकास सामाजिक अन्तःक्रिया का प्रतिफल है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य नाना प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों के संपर्क में आता है। शैशवावस्था में शिशु का सामाजिक जगत अति सीमित होता है। वह द्वयकीय (Dyad) का सदस्य होता है। आयु वृद्धि के साथ-साथ शिशु का सामाजिक जगत विस्तृत एवं व्यापक होने लगता है। पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य भी उसके सामाजिक जगत के अंग बन जाते हैं। समय की प्रगति के साथ उसका सम्पर्क पड़ोस के अन्य बच्चों एवं विद्यालय के साथियों के साथ भी होने लगता है। फिर वे विद्यालय में शिक्षकों के सम्पर्क में आते हैं। इस प्रकार आयु वृद्धि के साथ उसके सम्पर्क का क्षेत्र व्यापक होने लगता है। समाज के सम्पर्क अथवा सामाजिक अन्तःक्रिया के महत्व को देखते हुए आज से बहुत पहले अरस्तू ने कहा था "प्रकृति ने मनुष्य को सामाजिक जीव बनाया है" (Nature has made man a social being)

इसके अतिरिक्त मनुष्य अनेक अप्रत्यक्ष परिस्थितियों तथा अन्य कारकों के सम्पर्क में भी आता है, जैसे टी० वी०, रेडियो, समाचार पत्र, पत्रिकायें, चलचित्र आदि आधुनिक सम्प्रेषण के साधनों के माध्यम से स्वदेश ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के सम्पर्क में आने लगता है। इस प्रकार समाज-मनोविज्ञान समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अध्ययन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः समाज मनोविज्ञान, सामाजिक जीव के अध्ययन की विद्या है।

मानव व्यवहार को समझने की उत्सुकता ने जहाँ मनोविज्ञान को जन्म दिया,

वहीं, समाज में मानव के व्यवहार को समझाने की उत्सुकता ने समाज-मनोविज्ञान को जन्म दिया। इस प्रकार समाज-मनोविज्ञान, वह विज्ञान है जिसमें व्यक्ति और उसकी अन्तःक्रिया को समझने का प्रयास किया जाता है। अन्तःक्रिया मूल रूप से दो प्रकार की होती है। पहली वह जिसमें एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के साथ अन्तः क्रिया करता है तथा दूसरी वह जिसमें व्यक्ति, समूह या समाज के साथ अन्तःक्रिया करते हैं।

समाज-मनोविज्ञान का अध्ययन क्यों आवश्यक है? मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को समझने के लिए समाज-मनोविज्ञान का अध्ययन अति आवश्यक है, किन्तु कुछ लोग यह नहीं मानते। व्यवहार के सामाजिक पक्ष को समझने एवं सामाजिक व्यवहार के सामान्य नियमों की खोज समाज-मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं है।

सामाजिक सम्बन्धों की विस्तृत जानकारी आज के प्रगतिशील और परिवर्तित हो रहे समाज में अति आवश्यक है,—सैद्धान्तिक या वैज्ञानिक दृष्टि से भी और व्यावहारिक दृष्टि से भी। आज मानवता जनसंख्या वृद्धि, बढ़ती हुई हिंसा, बढ़ते हुये औद्योगिक प्रदूषण जैसी समस्याओं से जूझ रही है। किन्तु इन समस्याओं का समाधान मात्र तकनीकी उपागमों द्वारा सम्भव नहीं है। इन भयावः समस्याओं के समाधान हेतु तकनीकी ज्ञान के अतिरिक्त मानव व्यवहार और अभिवृत्ति में महत्वपूर्ण बदलाव की आवश्यकता है। लोगों की अभिवृत्तियों और व्यवहार में विचलन के लिए हमें समाज-मनोविज्ञान के द्वार खटखटाना होगा। अति सूक्ष्म हथियार और रक्षा के अतिसूक्ष्म उपकरण क्या संसार में हिंसा के भय को दूर कर सकते हैं? इस लक्ष्य की पूर्ति मानव अभिवृत्तियों तथा उसके लक्ष्यों के विचलन से हो सकती है, जिसके लिए समाज-मनोविज्ञान का ज्ञान अनिवार्य है।

इसी प्रकार जनसंख्या में अति वृद्धि को केवल गर्भ निरोधक गोलियों या इसके अन्य उपायों के विकास से नहीं रोका जा सकता। यह केवल उसी समय सम्भव है जब लाखों लोग इन उपायों को अपनाने के लिए तत्पर हो और इसके लिए अभिवृत्तियों और मूल्यों को परिवर्तित करना आवश्यक है। इसी प्रकार मिलों के विषैले अवशेषों से औद्योगिक प्रदूषण की रोकथाम में भी, उद्योगपतियों और औद्योगिक नेताओं की अभिवृत्ति में भी बदलाव लाना पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने हेतु आवश्यक है। इन सबके लिए अभिवृत्ति परिवर्तन तथा जनमत तैयार करना अपरिहार्य है।

अन्तर्जातीय द्वन्द्व, पूर्वाग्रह, रुढ़ियाँ, सामाजिक तनाव, भाषा, धर्म और क्षेत्र के नाम पर द्वन्द्व को रोकने के लिए भी समाज-मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।

मानव स्वभाव, उसके व्यवहार की प्रेरणायें, व्यक्तित्व की कुण्ठाओं आदि को समझे बिना इन सामाजिक कुरीतियों को रोकना सम्भव नहीं है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनुष्य के सामाजिक व्यवहार के विषय में अधिक वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता, समाज की प्रगति, तकनीकि विकास तथा व्यवहार की जटिलताओं की वृद्धि के साथ बढ़ती जा रही है। व्यक्ति के समायोजन और उसके सामाजिक जीवन पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है जिनके महत्व को समझने के लिए समाज मनोविज्ञान हमें सक्षम बनाता है। पूर्वाग्रहों, अफवाहों, सामाजिक अन्तर या दूरी, तनाव आदि के मूल कारणों की व्याख्या और अध्ययन में समाज मनोविज्ञान अति उपयोगी है। इस प्रकार आज के युग में तकनीकि, तथा प्रौद्योगिकी की भाँति मानव अतिजीविता के लिए समाज मनोविज्ञान का ज्ञान भी आवश्यक है। यद्यपि आयुर्विज्ञान की भाँति समाज मनोविज्ञान मानव के दुःखों एवं पीड़ाओं का निवारण तो नहीं करता तथापि इस नवविकसित विज्ञान की भूमिका मानव जाति की अन्तर्वैयक्तिक समस्याओं को सुलझाने में अत्यन्त सराहनीय रही है।

आशा है उपरोक्त विवरण से पाठक समाज मनोविज्ञान के महत्व, उपयोगिता एवं आवश्यकता से अवगत हो गये होंगे। समाज-मनोविज्ञान के द्वारा मनुष्यों के बीच, विभिन्न समूहों और समाजों, और परस्पर विरोधी देशों के द्वन्द्व, कलह, तथा शत्रुता की रोकथाम की जा सकती है, तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों को भली प्रकार समझा जा सकता है।

समाज-मनोविज्ञान की संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(Short Historical background of Social Psychology)

प्रश्न है कि समाज-मनोविज्ञान क्या एक प्राचीन या नवीन विज्ञान है? यह एक विवाद का विषय है। विषय वस्तु के आधार पर इसे पुराना विज्ञान, किन्तु अध्ययन विधि के अनुसार नवीन विज्ञान कहा जाता है। समाज-मनोविज्ञान के स्वरूप को भली प्रकार समझने के लिये इसके आविर्भाव एवं विकास के संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जानकारी आवश्यक प्रतीत होती है। इस विज्ञान के विकास में दार्शनिकों, मानव शास्त्रियों, विकास वादियों, समाज शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसके आविर्भाव का समय 20 वीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है। सच तो यह है कि मानव अपने सामाजिक स्वभाव को समझने के लिए सर्वदा से ही जिज्ञासु रहा है। किन्तु उस समय अध्ययन की आधुनिक एवं वस्तु-निष्ठ विधियाँ उपलब्ध नहीं थीं। वे आत्म निरीक्षण, परिकल्पना, मनन, व चिन्तन

का सहारा लेते थे। किन्तु उन्हें इस बात का श्रेय अवश्य प्राप्त है कि उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान ने आधुनिक समाज-मनोविज्ञान को विकास की ओर अग्रसर किया।

समाज मनोविज्ञान का इतिहास निरूपण कठिन प्रतीत होता है क्योंकि इसके विकास में अनेक शास्त्रों, एवं अनेक विद्वानों का समय-समय पर योगदान रहा है। ये विचार आधुनिक समाज-मनोविज्ञान के आधार माने जाते हैं।

दार्शनिकों का योगदान :—किसी न किसी रूप में समाज मनोविज्ञान का अध्ययन प्लेटो (Plato, 427–347 BC) के समय से होता आ रहा हैं। उसने 'दि रिपब्लिक' नामक अपनी सुविख्यात पुस्तक में लिखा है कि "मनुष्य मुख्यतः किसी विशेष समाज की उपज है।" उसके अनुसार मनुष्य अपने समाज से अनेक सामाजिक व्यवहार अर्जित करता है। इस प्रकार उसने परिवेश के प्रभाव पर बल दिया था। प्लेटो के शिष्य अरस्तू (Aristotle 384–323 BC) ने 'मानव को एक सामाजिक जीव कहा था।' उसने मूल प्रवृत्तियों के प्रभाव का भी संकेत दिया था। थामस हाब्स (Thomas Hobbes 1588–1679) अपने समय का प्रसिद्ध सुखवादी दार्शनिक था। उसने अहंवाद और शक्ति को सुखप्राप्ति का माध्यम बताया था। हाब्स के अनुसार सुख की प्राप्ति के लिये शक्ति का संचय आवश्यक है। शक्ति की चाह को वह मौलिक प्रेरक मानता था। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है। जेरेमी बेंथम (Jeremy Bentham 1748–1832) ने उपयोगितावादी सिद्धान्त पर बल दिया था। उसके अनुसार लोग अपने सुखों की वृद्धि से उन्मुख होकर कार्य करते हैं।

एल्फ्रेड एडलर (Adler 1870–1930) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता की भावना से उत्प्रेरित होता है। वह दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये अज्ञात रूप में नाना प्रकार के व्यवहार करता है। इससे श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न होती है।

रूसो (Rousseau 1712–1778) का दृष्टिकोण, हाब्स के ठीक विपरीत था। उसके अनुसार मनुष्य परोपकारी और निःस्वार्थ होता है। मानव स्वभाव से अच्छा होता है। उसमें जो भी दोष आते हैं वे समाज के प्रभाव से आते हैं। समाज के कुप्रभावों को दूर कर दें, तो मनुष्य बुरे कर्म नहीं करेगा।

मानव-शास्त्रियों का योगदान :—समाज मनोविज्ञान के विकास में मानव-शास्त्रियों का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। लैजरस तथा स्टीनथाल (Lazarus and Steinthal) ने 1860 में एक पत्रिका 'लोक मनोविज्ञान' (Folk Psychology)के नाम से निकालना आरम्भ किया। यह विद्वान समूह-मन तथा अन्य

सम्बद्ध समस्याओं के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे। इनके कार्यों से न केवल जर्मनी वरन् संसार के दूसरे देशों में भी समाज मनोविज्ञान के विकास को प्रोत्साहन मिला। जर्मनी में विल्हेम वुंट को भी प्रेरणा मिली जिसके फलस्वरूप उसने मनोविज्ञान को वैज्ञानिक बनाने की दिशा में अद्वितीय प्रयास किया। उसने लोक मनोविज्ञान पर दस खण्डों में एक ग्रन्थ की रचना भी की।

विकासवादी देन :—समाज मनोविज्ञान के विकास में विकासवादी देन की चर्चा करना भी अति आवश्यक है। चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin 1809–1882) की सुप्रसिद्ध पुस्तक Origin of Species सन् 1859 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने वैज्ञानिकों के चिन्तन की दिशा को एक नया मोड़ दिया। इस पुस्तक से प्रेरित होकर तत्कालीन वैज्ञानिकों ने अनेक प्रमुख अन्वेषण किये जैसे फ्रेन्सिस गाल्टन का यह अन्वेषण कि व्यक्ति के विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। उसने व्यक्तिक भिन्नताओं की ओर मनोवैज्ञानिकों के ध्यान को आकृष्ट करने का सराहनीय कार्य किया। समाज-मनोविज्ञान के अध्ययन में भी विकासवादी उपागम का आविर्भाव हुआ। विकासवाद की पहली मान्यता यह थी कि समाज शरीर रचना के समान है और दूसरी यह कि समाज में भी शरीर के समान वृद्धि होती है। स्पेन्सर इस उपागम का प्रवर्त्तक कहा जाता है। कार्ल मार्क्स एवं वेन्हॉट आदि विद्वान भी डार्विन के प्रभाव से बच न सके। स्पेन्सर के अनुसार मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का विकास क्रमिक रूप से होता है। उसने मानव व्यवहार के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि को अपनाने पर भी बल दिया था।

समाजशास्त्रियों की देन—1890–1910 की अवधि समाज मनोविज्ञान के विकास में बड़ी प्रमुख है। फ्रांसीसी लेखक एवं समाजशास्त्री टार्डे (Tarde 1890) ने व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं सामूहिक जीवन, रीति-रिवाज तथा संस्थाओं के महत्व पर बल दिया। उसने उसी वर्ष "अनुकरण के नियमों" (Laws of Imitation) का प्रतिपादन किया, तथा सामाजिक व्यवहार में अनुकरण के महत्व पर प्रकाश डाला। इनसे ही प्रभावित होकर लेबॉ (Lebon) ने समूह मन (Group mind) और भीड़–मनोविज्ञान के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकाशित किया। इनके विचार चाहे आज पूर्णतः सत्य न हो किन्तु आज भी प्रेरणा के स्रोत माने जाते हैं। दुर्खीम (Emile Durkheim 1858–1910) ने कहा कि व्यक्ति समाज के द्वारा प्रभावित होता है और अपने को इन प्रभावों से अलग नहीं कर सकता। सामूहिक चेतना व्यक्ति की इच्छाओं को प्रभावित और नियन्त्रित करती है। उसने बताया कि समाज सामूहिक चेतना का एक जीवित रूप है। यह सामूहिक चेतना समाज के सभी सदस्यों से सम्बद्ध होती है। यह सामूहिक

चेतना ही व्यक्ति के नाना प्रकार के कार्यों का कारण होती है। दुर्खीम के अनुसार समाज व्यक्ति के कतिपय व्यवहारों का स्रोत है। इसी प्रकार बेजहाट, जेम्स-वाल्डविन, चार्ल्स कूले तथा जॉन डीवी तथा एन्जिल आदि ने व्यक्तिक-भिन्नता की महत्ता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराने का सराहनीय कार्य किया। अमेरिकी समाज-शास्त्री एडवर्ड रॉस (Edward Ross) ने समाज मनोविज्ञान की पहली पुस्तक 'Social Psychology' प्रकाशित की।

मनोवैज्ञानिकों की देन—विलियन मैकडूगल का नाम समाज मनोविज्ञान में सर्वदा श्रद्धा के साथ लिया जायगा। उसके अनुसार व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का मूल कारण व्यक्ति की जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ हैं, जो वंशानुक्रम द्वारा उसे अपने पूर्वजों से प्राप्त होती है। व्यक्ति का व्यवहार तथा दैनिक जीवन इन्हीं प्रेरणाओं का प्रकाशन है। उसने अपनी पुस्तक 'समाज मनोविज्ञान की भूमिका' (Introduction to Social Psychology) के द्वारा सामाजिक व्यवहार के विस्तृत क्षेत्र के महत्त्व पर प्रकाश डाला यद्यपि अब मैकडूगल की मूल प्रवृत्तियों का स्थान "प्रेरकों" ने ले लिया है तथापि इस बात का श्रेय अब भी प्राप्त है कि व्यवहार के कारणों को जानने की दिशा में उन्होंने मार्गदर्शन किया और दूसरों के लिये प्रेरणा का स्रोत बने। इन विकासों के उपरान्त भी 20 वीं शताब्दी के आरम्भ तक समाज, मनोविज्ञान में प्रयोगात्मक अध्ययनों का अभाव रहा। सर्वप्रथम व्यक्ति पर समूह के प्रभावों का प्रयोगात्मक अध्ययन एफ० एच० आलपोर्ट (F. H. Allport) ने किया। उन्होंने समाज-मनोविज्ञान में व्यक्ति के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया। मर्फी तथा मर्फी (Murphy & Murphy, 1931), ने अपनी पुस्तक प्रायोगिक समाज मनोविज्ञान' (Experimental Social Psychology) प्रकाशित की। इनके कार्यों ने भी समाज मनोविज्ञान को प्रयोगात्मक आधार प्रदान किया। एफ० सी० बार्टले (F.C. Bartlett, 1932), मुजफ्फर शेरिफ (Muzaffer Sheriff, 1935) तथा ऐश (Aseh, 1951,52) ने क्रमशः समाज मनोविज्ञान में S–R प्रत्यय, समाज-मानक, समूह अनुरूपता का प्रयोगात्मक अध्ययन कर समाज मनोविज्ञान को आधुनिक बनाने में महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय योगदान दिया। समाज-मनोविज्ञान प्रायोगिक समाज-मनोविज्ञान बन गया। इस प्रकार समाज मनोविज्ञान दार्शनिकों, विकासवादियों, समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों का ऋणी है। इस विषय में गार्डन आलपोर्ट (Gordon Allport , 1968) ने कहा है कि, "सामाजिक मनोविज्ञान, यह समझने और स्पष्ट करने का प्रयास है कि अन्य लोगों की वास्तविक, काल्पनिक या निहित उपस्थिति कैसे किसी व्यक्ति के विचारों, भावनाओं तथा व्यवहार को प्रभावित करती है।" ("Social Psychology is an attempt to understand

and explain how the thoughts, feelings and behaviour of individuals are influenced by the actual, imagined or implied presence of others.")

इसका अभिप्राय यह है कि लोग किस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित करते या प्रभावित होते हैं। (Social Psychology is about how people affect and are affected by one another.) आलपोर्ट की परिभाषा स्पष्ट कर देती है कि अन्य व्यक्ति उपस्थित रहे बिना भी हमें प्रभावित कर सकते हैं।

उपर्युक्त परिभाषा का अभिप्राय यह है कि सामाजिक मनोविज्ञान का आलोच्य विषय समूह या संस्थाएं नहीं वरन् व्यक्ति है, जो इसमें तथा समाजशास्त्र में विभाजन रेखा की ओर इंगित करती है। दूसरे यह कि सामाजिक मनोविज्ञान, उन सामाजिक कारकों पर ध्यान देती है जो व्यवहार को प्रभावित करते हैं—जैसे अन्य व्यक्ति तथा संस्थाएँ, स्थितियाँ तथा मनुष्य द्वारा बनाये गए सामाजिक तथा भौतिक संरचनाएं।

समाज-मनोविज्ञान का दृष्टिकोण
(Standpoint of Social Psychology)

मानव जीवन का सबसे प्रमुख लक्षण उसका सामाजिक चरित्र है। लोग साथ मिलकर कार्य करते हैं और साथ मिलकर खेलते हैं। समाज मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन सामाजिक सन्दर्भ में करता है। प्रश्न यह है कि समाज-मनोविज्ञान समूह का अध्ययन करता है या व्यक्ति का ? पहले समाज-मनोवैज्ञानिक समूह को प्रमुख मानते थे, समूह मन (group mind) और समूह चेतना (group consciousness) के अध्ययन पर सर्वाधिक बल दिया जाता था। समाज-मनोविज्ञान में हुई प्रगति ने इस दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया है और आज समाज-मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार अध्ययन को प्रमुख मानते हैं अर्थात् आज व्यक्तिक दृष्टिकोण का बोलबाला है। इस व्यक्तिक दृष्टिकोण का अभिप्राय यह है कि घटनाएँ जिनका अध्ययन किया जाता है वे व्यक्ति के व्यवहार को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित करती है, वे व्यक्ति की इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति से या नयी आवश्यकताओं की उत्पत्ति से सम्बद्ध होती है। समूह का अध्ययन समाज मनोविज्ञान उस रूप में नहीं करता जैसा कि अन्य विज्ञान करते हैं। समाज-मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति, उसके व्यवहार और विचारों के अध्ययन में है। इसकी रूचि समूह के सदस्यों के रूप में व्यक्ति के अध्ययन में है, न कि सदस्यों द्वारा निर्मित समूह के अध्ययन में। समाज-मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति से है जो सामाजिक है। किन्तु इसका तात्पर्य

यह नहीं है कि समाज-मनोविज्ञान का दृष्टिकोण पूर्णरूप से सत्य है, क्योंकि मानव व्यवहार इतना जटिल और बहुमुखी है कि उसे भली प्रकार समझना कोई आसान काम नहीं है। इसलिये विभिन्न उपागमों के समन्वय द्वारा ही मानव व्यवहार को समझना सम्भव है। यह सब होते हुये भी यदि समाज मनोविज्ञान को व्यक्ति के व्यवहार को समझना है तो व्यक्तिक दृष्टिकोण को मानना अपरिहार्य है। आधुनिक समाज मनोविज्ञान व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है।

समाज मनोविज्ञान की परिभाषा
(Definition of Social Psychology)

समाज मनोविज्ञान के पुराने दृष्टिकोण और आधुनिक रूप में मुख्य अन्तर यह है कि वर्तमान समाज मनोविज्ञान आरम्भिक समस्याओं का संप्रत्ययात्मक विश्लेषण आनुभविक साक्ष्यों के द्वारा करता है। विज्ञान चाहे कोई भी हो अल्पकाल में ही परिपक्व नहीं होता, वरन् सैद्धान्तिक एवं पद्धतिपरक परिपक्वता आने में लम्बा समय दरकार होता है। विगत ५०–६० वर्षों में समाज मनोविज्ञान ने पर्याप्त प्रगति की है और अब इसकी गणना एक विकसित समाज-विज्ञान (Social Science) के रूप में हो रही है। लेकिन यह भी सत्य है कि इसमें मनोविज्ञान तथा समाज-शास्त्र की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। अतः समाज मनोविज्ञान की परिभाषा इन दो समाज-विज्ञानों में उपलब्ध सामाजिक व्यवहार के विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रभावित प्रतीत होती है।

समाज-मनोविज्ञान, व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन है। इसमें व्यक्तियों की पारस्परिक व्यवहार-प्रणाली, भावयोजना, अन्तः क्रिया तथा अन्य सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। यह कहना गलत न होगा कि समाज में व्यक्ति का अध्ययन करने वाला विज्ञान ही समाज-मनोविज्ञान है (Social Psychology is the study of individual in Society.) समाज-मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में करता है। इसकी मूल रुचि व्यक्ति में होती है, परन्तु साथ में उसकी अभिवृत्तियों, अभिप्रेरणाओं, भावनाओं, तथा प्रत्यक्षीकरण का अध्ययन वह व्यक्ति के सन्दर्भ में करता है।

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये शेरिफ तथा शेरिफ (Sherif & Sherif 1948) ने कहा है कि समाज-मनोविज्ञान, व्यक्ति के अनुभव तथा व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन उन सामाजिक स्थितियों में करता है जो व्यक्ति को उद्दीप्त करती हैं।

("Social Psychology is the scientific study of experience and behaviour of individual in relation to Social stimulus' situation.')

इस परिभाषा में प्रयुक्त पदों की संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक प्रतीत होती है—

वैज्ञानिक अध्ययन (Scientific Study)—यह शब्द वैज्ञानिक उपागम, विधि को परिभाषित करता है जो आज समाज-मनोविज्ञान के लिये अपरिहार्य है। इसमें (अ) सतर्कतापूर्वक प्रदत्त संग्रह करते हैं, (ब) क्रमिक एवं नियन्त्रित निरीक्षण द्वारा सामान्य नियमों का प्रतिपादन करते हैं तथा (स) इन सामान्य नियमों के उपयोग द्वारा पूर्व कथन करते हैं। इस प्रकार समाज मनोविज्ञान में नियन्त्रित निरीक्षण अथवा प्रायोगिक विधि का उपयोग होता है जो आज सर्वाधिक वैज्ञानिक विधि समझी जाती है।

अनुभव एवं व्यवहार (Experience and Behaviour)—मानव की मनोवैज्ञानिक क्रियायें दो प्रकार की होती है बाह्य, (overt) जिनका निरीक्षण हर कोई कर सकता है तथा (covert) आन्तरिक क्रिया जो केवल व्यक्ति के स्वयं अपने अनुभव का विषय होती है। इस प्रकार समाज-मनोविज्ञान में जहां एक ओर व्यक्ति के बाह्य निरीक्षणशील व्यवहार का अध्ययन करते हैं वहीं उसकी आन्तरिक क्रियाओं जैसे अभिवृत्तियों भावनाओं आदि का भी अध्ययन किया जाता है जो कि प्रत्यक्ष निरीक्षण का विषय नहीं होती, और जिनका अध्ययन अप्रत्यक्ष अनुमान द्वारा किया जाता है।

व्यक्ति (The Individual)—समाज-मनोविज्ञान के विश्लेषण की मूल इकाई व्यक्ति है। परिभाषा का यह तत्व इसे सामान्य-मनोविज्ञान की शाखा का दर्जा देता है और दूसरी ओर इसे अन्य समाज-विज्ञानों से अलग भी करता है इस प्रकार समाज-मनोविज्ञान अपने दृष्टिकोण तथा विधि के आधार पर अन्य विज्ञानों से भिन्न है। इसमें समाज का अध्ययन केवल व्यक्ति के सन्दर्भ में करते हैं।

सामाजिक उद्दीपक स्थिति (Social Stimulus Situation)—इस परिभाषा में लेरिक तथा लेरिक ने सामाजिक उद्दीपक-स्थिति पर विशेष बल दिया है जिसका तात्पर्य उन व्यक्तियों और समूहों से है जो किसी सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश का अभिन्न अंग होते हैं, और जो किसी व्यक्ति को व्यवहार के लिये उद्दीप्त करते हैं।

व्यवहार तथा अनुभव का अध्ययन व्यक्ति की क्रियाओं जैसे प्रत्यक्षीकरण अधिगम, स्मरण, चिन्तन, कल्पना आदि के द्वारा किया जाता है। लेकिन इन मनोवैज्ञानिक क्रियाओं पर अनेक सामाजिक कारकों का प्रभाव पड़ता है, जिनकी चर्चा परिभाषा में नहीं है। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखकर क्रेच तथा क्रच-फील्ड ने कहा कि, "विस्तृत रूप में, समाज-मनोविज्ञान को समाज में घटित व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान कह सकते हैं।" ("Social Psycho-

logy may, therefore, be broadly defined as the science of the behaviour of individual in Society") इसका अभिप्राय यह है कि समाज-मनोविज्ञान समाज में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन है। इस परिभाषा के अनुसार भी समाज मनोविज्ञान के विश्लेषण की इकाई 'व्यक्ति' है, परंतु यह कदापि संदिग्ध नहीं है कि हमारा व्यवहार, हमारे अभिप्रेरकों, लक्ष्य, अभिवृत्तियों, धारणाओं, मान्यताओं और व्यक्तित्व आदि के द्वारा भी प्रभावित होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर क्रेच, क्रचफील्ड तथा बेलैकी (1962) ने समाज मनोविज्ञान को अन्तः व्यक्तिक व्यवहार की घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा है। (Social Psychology can then be defined as the science of interpersonal behaviour events.)

समाज मनोविज्ञान उन सभी क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनका आधार मनोवैज्ञानिक होता है और जो सामाजिक कारकों या उद्दीपकों से उद्दीप्त होती हैं। व्यक्ति पर सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहता है। अतः समाज मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार एवं क्रियाओं का अध्ययन सामाजिक—सांस्कृतिक प्रसंग में करते हैं। कोई भी मानसिक क्रिया समाज के प्रभाव से स्वतन्त्र नहीं हो सकती, अतः समाज-मनोविज्ञान का स्वरूप एवं उद्देश्य इतना व्यापक प्रतीत होता है।

किसी भी विज्ञान की औपचारिक परिभाषा देना एक जटिल कार्य है। समाज मनोविज्ञान के सन्दर्भ में यह कठिनाई दो कारणों से और बढ़ जाती है (1) क्षेत्र की अनेकता/विविधता, (2) इसमें परिवर्तन की द्रुत गति। किन्तु मूलरूप में समाज-मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के व्यवहार, चिन्तन, भाव आदि का अध्ययन करता है जो दूसरे व्यक्तियों की वास्तविक या प्रतीकात्मक उपस्थिति में घटित होते हैं। वह व्यक्ति के व्यवहार और विचार के क्यों और कैसे को समझने का प्रयास करते हैं। इन बातों के कारण Baron & Byrne (1987) ने कहा है "Social Psychology is the scientific field that seeks to understand the nature and causes of individual behaviour in social situations." अन्य परिभाषाओं की भाँति यह भी थोड़ी अमूर्त प्रतीत होती है। व्यवहार से अभिप्राय, विचारों और भावनाओं से भी है। इसकी व्याख्या आवश्यक है—

समाज-मनोविज्ञान, विज्ञान है

(Social Psychology is Scientific in Orientation)

किसी भी उस विषय को विज्ञान कह सकते हैं, जिसमें वैज्ञानिक विधियों का उपयोग होता है। समाज मनोविज्ञान विज्ञानोन्मुख है क्योंकि इसमें प्रयोग तथा

निरीक्षण की वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुप्रयोग होता है। समाज मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहारपर ध्यान देता है (Social Psychology focuses on the behaviour of individual)

समाज मनोवैज्ञानिक अपना अधिकांश ध्यान सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति की उन क्रियाओं और विचारों की ओर देते हैं जिनका अध्ययन वैज्ञानिक रीतियों से सम्भव है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सामाजिक-सांस्कृतिक प्रसंग पर भी दृष्टि रखते हैं। किन्तु समाज-मनोवैज्ञानिक सर्वाधिक ध्यान उन कारकों को जानने में देता है जो नाना प्रकार के सामाजिक परिप्रेक्षों में व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित और निर्देशित करते हैं। समाज-मनोविज्ञान सामाजिक व्यवहार के कारणों में रुचि रखता है (Social Psychology seeks to comprehend the caues of social behaviour.)

सामाजिक व्यवहार के कारकों की संख्या एवं पहचान एक दुर्लभ कार्य है, क्योंकि ऐसे परिवर्त्य अगणित हैं जो मानव व्यवहार को उत्पन्न करते हैं या कर सकते हैं। अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से इन कारकों को निम्न पाँच वर्गों में सीमित करने का प्रयास किया गया है—(1) अन्य व्यक्ति के व्यवहार तथा लक्षण, (2) हमारे आस पास के व्यक्तियों के विषय में हमारे संज्ञान, (3) भौतिक पर्यावरण के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव (4) सामाजिक व्यवहार के घटित होने का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रसंग, और (5) सामाजिक व्यवहार के प्रसंग में मनुष्य का जैविक स्वरूप।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि समाज-मनोविज्ञान मुख्य रूप से सामाजिक व्यवहार के कारणों को समझने का प्रयास करता है जो सामाजिक प्रसंग में व्यक्ति के व्यवहार, विचार एवं भावनाओं को रूप प्रदान करते हैं (Social Psychology focuses mainly on the task of understanding the causes of social behaviour–identifying factors that shape our feelings, behaviour, and thought in social situation.

इसे हम कामचलाउ परिभाषा मानकर आगे बढ़ सकते हैं क्योंकि प्रत्येक दृष्टि से एक पूर्ण परिभाषा देने का कार्य एक ऐसे विज्ञान में अत्यन्त कठिन है जिसमें द्रुत प्रगति और परिवर्तन आ रहा हो।

समाज मनोविज्ञान की समस्यायें तथा क्षेत्र

(Problem and Scope of Social Psychology)

व्यक्ति के व्यवहार, अन्तः व्यक्तिक व्यवहार तथा समूह व्यवहार से सम्बद्ध

अनेकानेक समस्याओं से सम्बद्ध होने के कारण समाज मनोविज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और इसकी सीमाओं का निर्धारण करना कठिन है। अतः व्यक्ति के सभी प्रकार के व्यवहार जो सामाजिक प्रसंग में होते हैं, इसके अन्तर्गत आते हैं। एक व्यक्ति तथा अन्य व्यक्ति, व्यक्ति तथा समूह, अथवा दो समूहों के मध्य अन्तःक्रिया से उत्पन्न होने वाली सभी समस्याओं का अध्ययन समाज मनोविज्ञान में किया जाता है। इस प्रकार प्राथमिक समूहों से लेकर अत्यन्त जटिल राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समूहों तथा सामाजिक जीवन तक उत्पन्न समस्याओं का विश्लेषण, व्याख्या एवं अध्ययन समाज मनोविज्ञान के अन्तर्गत करते हैं। इस प्रकार समाज मनोविज्ञान का क्षेत्र अति व्यापक है और समाज को बढ़ती हुई जटिलताओं के कारण समाज मनोविज्ञान का क्षेत्र और भी विस्तृत होता जा रहा है। अतः समाज मनोविज्ञान की सीमाओं तथा क्षेत्र का निर्धारण न तो बहुत सुगम ही है और न ही तर्क संगत। फिर भी पाठकों की सुविधा हेतु इसके क्षेत्र तथा समस्याओं का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

(1) बालक का समाजीकरण, संस्कृति तथा व्यक्तित्व।
(2) सामाजिक अन्तःक्रिया।
(3) सामाजिक संज्ञान एवं प्रत्यक्षीकरण।
(4) अभिवृत्ति, मत एवं प्रचार।
(5) सामाजिक समूह, तथा नेतृत्व।
(6) सामाजिक अभिप्रेरणायें एवं अधिगम प्रक्रियायें।
(7) सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव।
(8) सामाजिक व्याधिकीय।

बालक का समाजीकरण एवं व्यक्तित्व (Socialization of Child and Personality)—

समाज मनोविज्ञान की मूल भूत समस्या समाजीकरण की समस्या है। इसी प्रक्रिया के द्वारा बालक अपने समाज एवं संस्कृति के विभिन्न मूल्यों को सीखते हैं। मानव व्यवहार मानसिक एवं शारीरिक विशेषताओं तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रभावों पर ही निर्भर करता है। समाजीकरण प्रक्रिया के ही कारण व्यक्ति मानव कहलाने के योग्य होता है। जन्म के समय शिशु का मस्तिष्क स्वच्छ स्लेट के समान होता है, वह न तो सामाजिक होता है और न तो असामाजिक होता है। माता, पिता तथा परिवार-जनों के सम्पर्क से धीरे-धीरे बालक सामाजिक मूल्यों एवं अभिवृत्तियों का अर्जन करने लगता है। समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म के समय से आरम्भ होकर जीवन पर्यन्त चलती रहती है। इस समाजीकरण की प्रक्रिया के

द्वारा ही बालक समाज का एक मान्य सदस्य बनता है। वह दूसरों को प्रभावित करता है और स्वयं भी दूसरों द्वारा प्रभावित होता है। कुल मिलाकर यह प्रक्रियायें बालक के व्यक्तित्व का निर्माण करती है। समाजीकरण के अलावा संस्कृति भी व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सांस्कृतिक भिन्नतायें, व्यक्ति के आचार-विचार, रहन-सहन, अभिवृत्तियों और मूल्यों में भिन्नतायें उत्पन्न करती हैं जो उसके व्यक्तित्व के विकास एवं निर्माण में योगदान देती हैं।

सामाजिक अन्त:क्रिया (Social Interaction)—

समाज मनोविज्ञान, सामाजिक अन्त:क्रियाओं तथा उनके प्रभावों का अध्ययन करता है। व्यक्ति दूसरों के लिये उद्दीपक भी है और अनुक्रिया भी। व्यक्ति दूसरों को उत्तेजित करता है तथा उनके द्वारा स्वयं भी उत्तेजित एवं प्रभावित होता है। इसी प्रक्रिया को सामाजिक अन्त:क्रिया कहते हैं, जो सामाजीकरण में भी नितान्त आवश्यक होती है। व्यक्ति एक दूसरे को अपनी उपस्थिति, वाणी, इंगित, विन्यास, मुखाकृति तथा हँसी आदि के द्वारा भी प्रभावित करते हैं।

सामाजिक अन्त:क्रिया तीन प्रकार की होती है :—

1. व्यक्ति की अन्य व्यक्ति से अन्त:क्रिया।
2. व्यक्ति की समूह से अन्त:क्रिया।
3. समूह की दूसरे समूह से अन्त:क्रिया।

किन्तु उपरोक्त 3 प्रकार की अन्त:क्रियाओं में से केवल प्रथम दो प्रकार की अन्त:क्रियायें ही समाज-मनोविज्ञान के क्षेत्र में आती हैं।

सामाजिक संज्ञान एवं प्रत्यक्षीकरण (Social Cognition and Perception)—

अनेक कारक व्यक्ति के संज्ञान और प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं। कुछ कारक व्यक्ति में निहित होते हैं और कुछ पर्यावरण में निहित होते हैं। हमारा प्रत्यक्षीकरण केवल उद्दीपक पर निर्भर नहीं करता। इसलिये समाज-मनोविज्ञान में प्रात्यक्षिक सुरक्षा, प्रात्यक्षिक-अनुक्रिया, व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण एवं अनेक सम्बद्ध प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण अनेक कारकों द्वारा प्रभावित होता है। इन सभी का अध्ययन समाज-मनोविज्ञान में करते हैं।

हम वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण उस रूप में नहीं करते जैसी वे वास्तव में हैं। हमारी भावनाएँ, आवश्कताएँ, प्रेरणाएँ, इच्छाएँ आदि भी हमारे प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं। किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है "We do not perceive things as they are but as we are."

अभिवृत्ति, मत तथा प्रचार (Attitude, Opinion and Propaganda)—

समाज-मनोविज्ञान में अभिवृत्तियों, मतों, तथा प्रचार से सम्बद्ध अनेक समस्याओं का अध्ययन करने पर बल देते हैं। अभिवृत्तियों का निर्माण, संगठन तथा परिवर्तन का आधुनिक समाज में बड़ा महत्व है। अभिवृत्तियों और मतों के निर्माण, संगठन एवं परिवर्तन का आज के समाज में अद्वितीय स्थान है। बदलते हुए समाज के साथ व्यक्ति समायोजन नहीं स्थापित कर सकता यदि वह अभिवृत्ति परिवर्तन और संगठन से परिचित नहीं है। व्यक्ति अपने जीवन में लक्ष्यों तक पहुँचने या न पहुँचने की दशा में अनुकूल या प्रतिकूल अभिवृत्तियों का निर्माण करता है। संतोष के कारण अनुकूल और असंतोष या कुण्ठा के कारण प्रतिकूल अभिवृत्तियों का विकास होता है। अभिवृत्तियां, व्यक्ति, वस्तु, आदर्श या परिस्थिति आदि के प्रति विकसित होती है। इसी प्रकार समाज में आये हुए परिवर्तनों के अनुरूप व्यक्ति को अभिवृत्ति परिवर्तन की आवश्यकता होती है। अभिवृत्तियाँ समाज-मनोविज्ञान में इतनी महत्वपूर्ण हैं कि अनेक मनोवैज्ञानिक, मनोविज्ञान को अभिवृत्तियों के अध्ययन करने वाले विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं, अर्थात, समाज-मनोविज्ञान को अभिवृत्तियों का अध्ययन करने वाला विज्ञान मानते हैं। अभिवृत्ति निर्माण एवं परिवर्तन के लिये आधुनिक समाज में प्रचार का भी बड़ा महत्व है। आज का युग प्रचार का युग कहलाता है। जीवन का वस्तुतः कोई भी क्षेत्र आज प्रचार से खाली नहीं है। अतः प्रचार तथा इससे सम्बद्ध तकनीकों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन भी समाज मनोविज्ञान करता है।

सामाजिक समूह तथा नेतृत्व (Groups and Leadership)—

समाज-मनोविज्ञान, समूह संरचना के अन्तर्गत, सन्तोष, सम्प्रेषण, भूमिका, सामाजिक प्रभाव, समूह मनोबल एवं शक्ति संरचना आदि से सम्बद्ध अनेक समस्याओं का अध्ययन करता है। समूह निर्णय, समूह मानक तथा समूह के प्रति समरूपता जैसी अनेकानेक समस्यायें इसके क्षेत्र का अंग बन चुकी हैं। समूह-गतिकी क्षेत्र शक्तियाँ, समस्या समाधान, समूह निर्णय आदि समस्यायें समूह निष्पादन के अन्तर्गत आती हैं। श्रोता-समूह, नेतृत्व तथा भीड़ का आधुनिक समाज में जो महत्व है उससे पाठक भली प्रकार परिचित हैं। नेतृत्व का महत्व तो हमारे समाज में सर्वदा से रहा है किन्तु आज के प्रजातन्त्र में तो इसको अपरिहार्य माना जाता है। नेतृत्व की शैली, प्रकार, गुण एवं विकास का अध्ययन भी समाज मनोवैज्ञानिक करते हैं।

सामाजिक अभिप्रेरक एवं अधिगम (Social Motives and Learning Processes)—

सामाजिक व्यवहार के पीछे अनेक अभिप्रेरक क्रियाशील होते हैं जैसे सम्बन्धन,

उपलब्धि, शक्ति, परहित प्रेरक, एवं आक्रामकता आदि। इसीलिये आज समाज मनोविज्ञान में इन अभिप्रेरकों से सम्बद्ध सभी समस्याओं का अन्वेषण किया जाता है—जैसे मॉडल अधिगम, भूमिका अधिगम तथा इनको प्रभावित करने वाले कारकों का भी अध्ययन किया जाता है।

व्यक्ति पर संस्कृति तथा समाज के प्रभाव (Socio-Cultural Influences)—

व्यक्ति के व्यवहार तथा अनुक्रियाओं पर सामाजिक सांस्कृतिक प्रसंग का विशेष प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के व्यवहार को भलीभांति समझने के लिये, उसके सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझना अति आवश्यक है। कहा जाता है कि व्यक्ति अपने समाज का दर्पण है। इस कारण समाज-मनोवैज्ञानिक सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष का अध्ययन भी करते हैं। भाषा, वाणी, सम्प्रेषण, प्रथायें परम्परायें, चयन, लोकरीतियाँ, आचार-विचार, आदर्शों, मूल्यों तथा संस्थायें आदि सभी संस्कृति का अंग माने जाते हैं, जो व्यक्ति के व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालते हैं। अतः समाज-मनोविज्ञान के क्षेत्र का अभिन्न अंग माने जाते हैं।

सामाजिक व्याधिकीय (Social Pathology)—

पारस्परिक व्यवहार अथवा सामाजिक पर्यावरण के कारण अनेक सामाजिक व्याधियाँ उत्पन्न होती है,—जैसे समूहों में वैमनस्य, द्वन्द्व, पूर्वाग्रह, जाति एवं वर्ग भेद, रंगभेद, औद्योगिक द्वन्द्व, तथा मनोविक्षिप्तियाँ आदि। यह सभी प्रकार की व्याधियाँ समाज-मनोविज्ञान का अध्ययन विषय हैं। समाज के औद्योगीकरण के कारण कोलाहल प्रदूषण की समस्या नए आयाम धारण कर रही है। समाज-मनोविज्ञान में नाना प्रकार की व्याधियों के उद्देश्यों, कारणों तथा इनके निराकरण के उपायों का विशेष अध्ययन किया जाता है। समाज-मनोविज्ञान के नियम और सिद्धान्त इन सभी तथा अन्य व्याधियों की रोकथाम और निराकरण में सहायक हो रहे हैं।

समाज-मनोविज्ञान का स्वरूप

(Nature of Social Psychology)

मनोविज्ञान, व्यक्ति के व्यवहार एवं क्रियाओं का अध्ययन करता है। समाज-मनोविज्ञान व्यवहार के सामाजिक पक्ष का अध्ययन करता है। अतः सामाजिक व्यवहार का अध्ययन भी मनोविज्ञान के क्षेत्र का अंग है। सामान्य मनोविज्ञान जहाँ व्यक्ति के सामान्य व्यवहार का अध्ययन करता है वहाँ समाज-मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन सामाजिक प्रसंग में करता है। दूसरे शब्दों में समाज-मनोविज्ञान व्यक्ति का अध्ययन एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में करता है। व्यक्ति के व्यवहार का एक पक्ष है व्यक्तिगत या निजी पक्ष और दूसरा है सामाजिक पक्ष।

जब हम किसी मनुष्य के निजी रूप पर विचार करते हैं तो उसके व्यक्तिक गुणों जैसे--उसके मानसिक और शारीरिक गुणों और निजी जीवन आदि पर ध्यान देते हैं। लेकिन जब उसके सामाजिक रूप पर विचार करते हैं तो समाज के अन्य सदस्यों के साथ उसकी अन्तःक्रिया के प्रसंग पर ध्यान देते हैं—जैसे यह कि अन्य लोग उसके विषय में क्या विचार और भावना रखते हैं और वह दूसरों के विषय में क्या सोचता है और अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति या अनुपस्थिति उसके व्यवहार एवं क्रियाओं को कैसे प्रभावित करती है। अतः समाज-मनोविज्ञान अन्तः व्यक्तिक व्यवहार पर विशेष बल देता है।

अन्तः व्यक्तिक व्यवहार पर ही मानव जीवन की अधिकांश घटनाएँ निर्भर करती हैं। अन्तःक्रियायें व्यक्ति तथा समूह और कभी-कभी दो या अधिक समूहों के मध्य भी घटित होती हैं। समाज-मनोविज्ञान विभिन्न व्यक्तियों की पारस्परिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

जैसा कि इसकी परिभाषाओं से स्पष्ट है, समाज-मनोविज्ञान का स्वभाव वैज्ञानिक है। कोई भी विषय उस समय विज्ञान की संज्ञा प्राप्त करता है जब उस विषय में विज्ञान के लक्षण विद्यमान होते हैं। वैज्ञानिक विधि का उपयोग, वस्तु-निष्ठता, प्रमाणिकता, पूर्व कथनीयता तथा नियमों में सार्वभौमिकता आदि विज्ञान के आवश्यक तत्व हैं। यह सभी तत्व या लक्षण समाज-मनोविज्ञान में देखे जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि समाज-मनोविज्ञान की प्रकृति वैज्ञानिक है।

समाज-मनोविज्ञान तथा अन्य सामाजिक विज्ञान

(Social Psychology and Other Social Sciences)

समाज मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि इसके आविर्भाव और विकास में अनेक विज्ञानों का योगदान रहा है। अतः इससे अन्य विज्ञानों द्वारा प्राप्त प्रदत्तों, सामग्रियों, सामान्य नियमों अथवा परिणामों का भी उपयोग सिद्धान्तों के प्रतिपादन में होता है। इस प्रकार समाज-विज्ञानों तथा समाज मनोविज्ञान में घनिष्ठ एवं सार्थक सम्बन्ध विद्यमान हैं। अन्य समाज विज्ञान जिनसे समाज-मनोविज्ञान सम्बद्ध है; इस प्रकार हैं—

सामान्य मनोविज्ञान से सम्बन्ध

(Relationship Between Social Psychology and General Psychology)

मनोविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त, सामान्य मनोविज्ञान में ही निहित होते हैं। इन मूलभूत सिद्धान्तों से ज्ञात होता है कि व्यक्तियों से सामान्य दशाओं में कैसे व्यवहार की अपेक्षा की जाय। सामान्य मनोविज्ञान व्यक्ति की क्रियाओं एवं व्यवहार का विधायक विज्ञान है। इसका आलोच्य विषय व्यक्ति के मानसिक जीवन और

व्यवहार के विषय में ऐसे सामान्य नियमों का प्रतिपादन है जो प्रमाणिक, वस्तु-निष्ठ और विश्वसनीय हों।

दूसरी ओर समाज-मनोविज्ञान व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार एवं क्रियाओं का अध्ययन करता है। इस दृष्टि से समाज-मनोविज्ञान का अध्ययन विषय सामान्य मनोविज्ञान की अपेक्षा सीमित एवं प्रशस्त हैं, क्योंकि सामान्य मनोविज्ञान व्यवहार के सामाजिक पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं देता। किन्तु मात्र इस भिन्नता के कारण यह नहीं कह सकते हैं कि दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। निम्न तथ्यों पर ध्यान देने से इन दोनों के घनिष्ठ एवं सार्थक सम्बन्धों का बोध होता है—

(1) समाज-मनोविज्ञान तथा सामान्य मनोविज्ञान—दोनों ही विधायक विज्ञान हैं और वैज्ञानिक तथ्यों तक पहुँचने के लिये एक ही विधियों का उपयोग करते हैं।

(2) समाज-मनोविज्ञान का मूल लक्ष्य व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार से सम्बद्ध सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन है।

सामान्य मनोविज्ञान का मूल उद्देश्य भी व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में सार्वभौम नियमों की स्थापना है। समाज-मनोविज्ञान की प्रमुख समस्यायें—जैसे सामाजिक-प्रत्यक्षीकरण, सामाजिक अधिगम, एवं सामाजिक अभिप्रेरणा आदि सभी सामान्य मनोविज्ञान के प्रत्यय हैं। समाज-मनोविज्ञान ने इन प्रत्ययों और इनसे सम्बद्ध प्रदत्तों और नियमों का भरपूर अनुप्रयोग अपने क्षेत्र में किया है। इस प्रकार मनोविज्ञान की इन दोनों शाखाओं की समस्यायें, प्रत्यय तथा नियम लगभग एक ही जैसे हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुये विलियम मैक्डूगल ने कहा था कि प्रौढ़ मानवीय मस्तिष्क, सामाजिक वातावरण के प्रभावों का प्रतिफल है और व्यक्तिक मानव मस्तिष्क एक अमूर्त वस्तु मात्र है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

("The adult human mind is the product of moulding influence exerted by social environment, and so, "the strictly individual human mind is an abstraction merely and has no real existence."[1]

(3) समाज-मनोविज्ञान तथा सामान्य मनोविज्ञान—दोनों ही मनुष्य रूपी सामाजिक जीव के व्यवहार एवं क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन व्यक्ति को समाज से पृथक करके सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यवहार शून्य में नहीं वरन् अन्य व्यक्तियों या

1. Mc Dougall—An Introduction to Social Psychology.

सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही घटित होता है। चाहे कोई अध्ययन प्रयोगशाला में चल रहा हो या क्षेत्र में, व्यक्ति की कल्पना सामाजिक प्राणी के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में नहीं की जा सकती। अतः इन दोनों के बीच घनिष्ट एवं सार्थक सम्बन्ध है।

(4) समाज-मनोविज्ञान, सामान्य मनोविज्ञान की एक शाखा कहा जाता है। इस दृष्टि से अंश अपने पूर्ण से अलग कैसे हो सकता है। वस्तुतः समाज-मनोविज्ञान में शायद ही कोई तथ्य ऐसा हो जिसकी व्याख्या सामान्य मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से न की जा सके। अतः यह दोनों विषय घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं। इन्हीं बातों को देखते हुये आर० एच० ब्रूले ने कहा है, "कोई सामाजिक तथ्य ऐसा नहीं है जिसकी व्याख्या सामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत न की जा सके" ("There is no such fact which is not (theoretically, atleast) expressible in terms of General Psychology") फ्रायड के अनुसार "सामाजिक एवं सामान्य मनोविज्ञान का अन्तर जो आरम्भ में महत्वपूर्ण लगता है; सूक्ष्म परीक्षण के समय अपना अधिकांश महत्व खो बैठता है"। ("The contrast between Individual Psychology & Social Psychology, which at the first glance may seem to be full of significance, loses a great deal of its sharpness when it is examined more closely") ,किन्तु इन सभी चर्चित समानताओं के होते हुए भी यह दोनों विषय कुछ बातों में सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं—

(i) उद्देश्य में अन्तर—सामान्य मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति की क्रियाओं तथा व्यवहार का अध्ययन है, जबकि समाज-मनोविज्ञान समूह या समाज में व्यक्ति की सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करता है। यद्यपि यह अन्तर बहुत सूक्ष्म नहीं है किन्तु उद्देश्यों में स्पष्ट अन्तर का परिचायक अवश्य है।

(ii) क्षेत्र में अन्तर—सामान्य मनोविज्ञान की तुलना में समाज मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी सीमित एवं संकीर्ण है। सामान्य मनोविज्ञान में व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार तथा अनुभव का अध्ययन होता है जबकि समाज मनोविज्ञान केवल सामाजिक परिस्थितियों या उद्दीपनों के सन्दर्भ में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करता है। अतः समाज मनोविज्ञान तथा सामान्य मनोविज्ञान अपने विषय-विस्तार के आधार पर एक दूसरे से भिन्न हैं।

समाजशास्त्र से सम्बन्ध

(Social Psychology and Sociology)

समाजशास्त्र और समाज-मनोविज्ञान दोनों एक दूसरे पर आश्रित होने के नाते

घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है। ये एक दूसरे से ठीक वैसे ही सम्बद्ध हैं जिस तरह व्यक्ति और समाज। इनके गहरे सम्बन्ध के आधार पर ही पियर्सन ने कहा है कि वस्तुतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है। समाजशास्त्री सामाजिक व्यवहार की सार्थकता की जाँच समाज मनोविज्ञान के नियमों के आधार पर करते हैं। इसके अतिरिक्त यह दोनों विज्ञान समाज विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। अतः इनमें घनिष्ठ सम्बद्ध होना स्वाभाविक है। मानव व्यवहार के सामाजिक पक्ष को समझने में जातियों की उत्पत्ति एवं विकास, संरचना, समूह संगठन और संस्कृति का ज्ञान अतिआवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है और समाज का निर्माण व्यक्तियों द्वारा ही होता है, अतः समाजशास्त्री भी समाज के अध्ययन के लिये व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं पर ध्यान देते हैं। सम्बन्धों की इस पारस्परिकता को देखते हुए, लापियर तथा फार्न्सवर्थ ने कहा है कि, "जैसे शारीरिक रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र और रसायनशास्त्र के लिये है, ठीक वैसे ही समाज मनोविज्ञान समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के लिये है।" (Social Psychology is to Sociology and Psychology, as Biochemistry is to Biology and Chemistry)

उपरोक्त समानताओं के होते हुये भी इन दोनों में निम्नलिखित मुख्य अन्तर देखे जाते हैं :—

(1) समाज मनोविज्ञान व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करता है जब कि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करता है। इसमें समाज की उत्पत्ति, विकास एवं संरचना का अध्ययन करते हैं। अतः दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है।

(2) समाज मनोविज्ञान से समाजशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। इसके अतिरिक्त, दोनों के आलोच्य विषय (Subject matter) में भी पर्याप्त अन्तर है। समाज मनोविज्ञान का विषय व्यक्ति तथा समाजशास्त्र का विषय समाज या समूह है।

(3) समाजशास्त्र, सामाजिक व्यवहार के बाह्य पक्ष का अध्ययन करता है किन्तु समाज मनोविज्ञान, बाह्य प्रभावों द्वारा उत्पन्न आन्तरिक पक्ष, अथवा व्यक्ति के विचार, आदतों तथा अभिवृत्तियों आदि का अध्ययन करते हैं।

इन दोनों समाज विज्ञानों के अन्तरों पर प्रकाश डालते हुये बोगार्डस ने कहा है कि, "जिस तरह मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करता है, वैसे ही समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रियाओं का।" ("As Psychology analyses mental processes, Sociology analyses social processes".)

मानवशास्त्र से सम्बन्ध

(Relationship with Cultural Anthropology)

मानव शास्त्र संस्कृति का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। समाज मनो-

वैज्ञानिक व्यक्ति के अध्ययन में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। अतः इन दो विज्ञानों में निकट एवं सार्थक सम्बन्ध पाये जाते हैं। किन्तु इनमें निम्न अन्तर भी हैं :—

(1) उद्देश्य में अन्तर—समाज मनोविज्ञान का मूल उद्देश्य सामाजिक प्रसंग में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन है। दूसरी ओर मानवशास्त्र का मूल उद्देश्य जातियों एवं संस्कृतियों के उत्थान तथा पतन का अध्ययन है।

(2) क्षेत्र में अन्तर—समाज मनोविज्ञान की समस्यायें तथा क्षेत्र मानवशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। समाज मनोविज्ञान की मूल समस्या व्यक्तियों की अन्तःक्रिया तथा मानवशास्त्र की मूल समस्या संस्कृति का अध्ययन है।

(3) अध्ययन विधि में अन्तर—समाज मनोविज्ञान में प्रयोग तथा निरीक्षण की विधियाँ प्रयुक्त होती हैं, जबकि मानवशास्त्र में प्रकार्यात्मक (Functional) विधि का उपयोग करते हैं।

इन अन्तरों के साथ ही दोनों में निम्न तथ्यों के आधार पर गहरे सम्बन्ध पाये जाते हैं—

आधुनिक समाज मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्ति के शारीरिक तथा सांस्कृतिक पक्ष को इतना महत्व दिया है कि दोनों विज्ञान दृष्टिकोण सम्बन्धी भिन्नताओं के होते हुए भी अपने अध्ययन विषय में इतने समान प्रतीक होते हैं कि उन्हें पृथक करना कठिन हो जाता है।

कहा जाता है कि "व्यक्ति अपनी संस्कृति का दर्पण है" (Individual is the mirror of his own culture) व्यक्तियों के सांस्कृतिक प्रसंग को जाने बिना उनकी मनोवैज्ञानिक क्रियाओं विशेषताओं और व्यवहार को भली प्रकार नहीं समझा जा सकता। सांस्कृतिक प्रसंग को समुचित जानकारी के लिये मानवशास्त्र व्यक्ति का अध्ययन भी करता है और समाज मनोवैज्ञानिक इन प्रदत्तों का भरपूर उपयोग व्यक्ति के व्यवहार को समझने में करते हैं। इस प्रकार यह दोनों अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं। आज समाज मनोविज्ञान में सामाजिक व्यवहार के गहन अध्ययन में व्यक्ति अथवा समूह की विशिष्ट संस्कृति का पूर्ण ज्ञान आवश्यक समझा जा रहा है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में एक ही व्यवहार भिन्न-भिन्न बातों का परिचायक है जैसे आश्चर्य की दशा में हमारे मुँह तथा आँखें खुली रह जाती हैं किन्तु चीनियों की जबान बाहर आ जाती है। इनमें निम्न सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं—

(1) मानवशास्त्र द्वारा एकत्रित सामग्री समाज मनोविज्ञान की अनेकानेक समस्याओं के स्पष्टीकरण में उपयोगी सिद्ध हो चुकी है—जैसे मार्गरेट मीड

(Margaret Mead), रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict), रैल्फ लिण्टन (Ralph Linton), मैलिनोस्की (Malinowsky) आदि ने विभिन्न जनजाति एवं विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययनों द्वारा जो परिणाम प्राप्त किये हैं वे समाज मनोविज्ञान में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुये हैं। वस्तुतः व्यक्ति के व्यवहार का सांस्कृतिक प्रसंग के ज्ञान के अभाव में भली प्रकार समझना कठिन है।

(2) मानवशास्त्र ने भी अनेक सांस्कृतिक समस्याओं के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक तथ्यों तथा नियमों का उपयोग किया है। उदाहरण के लिए लोई (Lowie) ने आदिम धर्म (Primitive religion) सम्बन्धी अध्ययनों में अनेकानेक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तों एवं तथ्यों का उपयोग किया है।

संस्कृति के महत्व पर प्रकाश डालते हुये मर्फी, मर्फी तथा न्युकोम्ब ने कहा है कि "समाज-मनोविज्ञान में समस्त प्रायोगिक कार्यों का मूल्य तथा निश्चित अर्थ केवल उस संस्कृति के सन्दर्भ में हो सकता है, जिसमें वह अन्वेषण हुआ है" "All the experimental work in Social Psychology has value and definite meaning, only in relation to the particular culture in which the investigation was carried on") इन सम्बन्धों की घनिष्ठता को देखते हुये रैल्फ लिण्टन ने कहा है कि "व्यक्ति, मनोविज्ञान को दिया गया है, समाज, समाजशास्त्र को तथा संस्कृति, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, को। अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि व्यक्ति, समाज तथा संस्कृति और उनकी अन्तः क्रियाओं में इतनी निरन्तरता है कि जो भी अनुसंधानकर्ता केवल किसी एक क्षेत्र में बिना अन्य दो की सहायता के कार्य करना चाहता है शीघ्र ही अन्धमार्ग में प्रवेश कर जाता है। आने वाले कुछ वर्षों में मानव व्यवहार के एक ऐसे विज्ञान का उदय होगा जिनमें मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के तथ्यों का समावेश होगा।" (The individual has been assigned to Psychology, Society to Sociology and culture to Cultural Anthropology.....It is now becoming apparent that the integration between the individual, Society and Culture is so olose and their interactions so continuous that the investigator who tries to work with any one of them without reference to the other two, soon comes to a dead end.....the next few years will witness the emergence of a science of human behaviour which will synthesize the findings of Psychology, Sociology and Anthropology—Ralph Linton).

▲

अध्याय 2

समाज मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ

(Methods of Study of Social Psychology)

आशा है कि पाठक दो बातों से आश्वस्त हो गये होंगे, (1) समाज-मनोविज्ञान वास्तव में एक आकर्षक विज्ञान है, (2) इसके विषय में और अधिक ज्ञानार्जन उपयोगी होगा। इन तथ्यों से सम्बद्ध एक प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक अन्तः-क्रिया विषयक ज्ञान में और वृद्धि कैसे की जाए ? यह प्रश्न सम्बद्ध है उन विधियों से जिनके द्वारा समाज मनोवैज्ञानिक मानव के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करते हैं। आरम्भ में समाज मनोविज्ञान की समस्याओं का अध्ययन दार्शनिक विधियों– जैसे कल्पना, मनन, चिन्तन, अनुमान तथा अवैज्ञानिक निरीक्षण के द्वारा किया जाता था। किन्तु धीरे-धीरे मनोविज्ञान तथा समाज मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ वैज्ञानिक एवं मात्रात्मक विधियों का उपयोग मानव के सामाजिक व्यवहार के अध्ययन में किया जाने लगा। अब समाज-मनोविज्ञान मानव के सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण में परिकल्पना का मूल्यांकन करने लगे हैं। समाज-मनोवैज्ञानिक शोध में सामाजिक व्यवहार का प्रेक्षण कर उसके कारणों को वैज्ञानिक रीति से जानने का प्रयास करते हैं। इसके बाद उसके समर्थन या खण्डन हेतु साक्ष्य या प्रमाण जुटाये जाते हैं। समाज-मनोविज्ञान को समझने हेतु, ऐसे प्रमाणों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, वैज्ञानिक विधि का ज्ञान अपरिहार्य है। मानव व्यवहार से सम्बद्ध परिकल्पनाओं के वैज्ञानिक मूल्यांकन में प्रयुक्त विधियों में अनेक जटिलतायें निहित होती है, जिनसे अध्ययनकर्त्ता का अवगत होना अति आवश्यक है। अनेक रूपों में समाज मनोवैज्ञानिक का कार्य एक गुप्तचर से मिलता जुलता है। जिस तरह किसी घटना के कारणों का पता लगाने में गुप्तचर उस अपराध के विषय में एक सिद्धान्त निर्मित करता है, ठीक उसी तरह समाज-मनोविज्ञान, सामाजिक व्यवहार के विषय में परिकल्पना निर्मित करता है, फिर वह नाना प्रकार की स्थितियों में सामाजिक व्यवहार का निरीक्षण करता है और ऐसी सूचनाओं या प्रमाणों को एकत्र करता है जो या तो उसकी परिकल्पना को तार्किक संदेह से परे सत्यापित करता है या खण्डित। जिस तरह गुप्तचर अपराधी तक पहुंचने की अनेक विधियों का अनुसरण करता है ठीक वैसे ही समाज मनोवैज्ञानिक अनेक विधियों द्वारा

वैज्ञानिक प्रेक्षण में निम्नलिखित चरण निहित होते हैं—

(i) **व्यवहार का वस्तुनिष्ठ निरीक्षण:**—प्रेक्षण के लिए घटित व्यवहार का वस्तुनिष्ठ निरीक्षण अत्यन्तावश्यक है, जिसके बिना यह संभव नहीं है। प्रेक्षक अध्ययन से पूर्व निश्चित योजना के अनुसार निश्चित व्यक्तियों के व्यवहार का निरीक्षण करता है। वह आवश्यक उपकरणों का उपयोग भी प्रेक्षण में करता है। प्रेक्षक स्वयं व्यवहार का अवलोकन अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से करता है।

(ii) **व्यवहार को अंकित करना**—प्रेक्षक के लिये जहाँ व्यवहार का निरीक्षण आवश्यक है वहीं यह भी आवश्यक है कि व्यवहार को सतर्कता पूर्वक अंकित किया जाए। कभी कभी प्रेक्षक स्वयं प्रेक्षित व्यवहार का अंकन करता है, कभी सहायकों द्वारा कराता है, और कभी टेपरेकार्डर या मूवी कैमरा द्वारा व्यवहार अंकन की व्यवस्था करता है। इस कार्य में पूरी सावधानी बर्ती जाती है ताकि कोई महत्वपूर्ण तथ्य या बातें छूटने न पाए।

(iii) **विश्लेषण**—इसके बाद प्रेक्षक निरीक्षित तथ्यों का विश्लेषण करता है। इसके लिये जहाँ भी संभव होता है वह अंकित तथ्यों को अंकों में परिवर्तित करता है और फिर सांख्यिकीय विधि द्वारा उनका विश्लेषण किया जाता है। यदि तथ्यों का अंकों में परिवर्तन संभव नहीं होता, तो निरीक्षित तथ्यों का अन्तर्वस्तु विश्लेषण किया जाता है। इस कार्य में प्रेक्षक के पूर्व अनुभव सहायक होते हैं।

(iv) **व्याख्या**—तथ्यों के विश्लेषण के बाद उनकी व्याख्या की जाती है। इस कार्य में समाज-मनोविज्ञान के स्थापित सिद्धान्तों की सहायता ली जाती है, जिनसे निरीक्षित तथ्यों का समर्थन या खण्डन होता है। इस प्रकार प्रेक्षक अपने अध्ययन में प्राप्त प्रदत्तों की तुलना अन्य अध्ययनकर्त्ताओं द्वारा प्राप्त प्रदत्तों से करता है। प्राप्त परिणामों के पीछे निहित कारण पर भी प्रकाश डाला जाता है।

(v) **सामान्यीकरण**—किसी भी अध्ययन में संपूर्ण जनसंख्या का प्रेक्षण नहीं किया जाता है। सम्पूर्ण जनसंख्या से एक चुने हुए प्रतिदर्श का अध्ययन करते हैं और उन्हीं परिणामों के आधार पर सामान्यीकरण किये जाते हैं अर्थात इस बात की चर्चा करते हैं कि प्राप्त परिणाम किस मात्रा में सम्पूर्ण जनसंख्या पर लागू हो सकते हैं। जनसाधारण के व्यवहार के विषय में सामान्य नियम विकसित किये जाते हैं। इस कार्य में सांख्यिकीय विधियों का उपयोग करते हैं।

प्रेक्षण के प्रकार
(Types of Observation)

प्रेक्षण कई प्रकार के होते हैं, इनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(1) **अनियंत्रित या स्वभाविक प्रेक्षण** (Uncontrolled or Natural

Observation)—यह सबसे सरल प्रेक्षण है, जिसमें जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में व्यवहारका निरीक्षण करते तथा सावधानी पूर्वक नोट करते हैं। किन्तु इससे तथ्यों की शुद्धता की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते। इस प्रकार से प्रेक्षण में स्वभाविक या प्राकृतिक दशाओं में व्यवहार का निरीक्षण करते हैं। अतः व्यवहार में स्वभाविकता का समावेश रहता है। लेकिन व्यवहार पर प्रेक्षक नियन्त्रण का प्रयास नहीं करता। इसीलिये इसे स्वभाविक या प्राकृतिक प्रेक्षण भी कहते हैं। सामाजिक व्यवहार के अध्ययन में इसका पर्याप्त अनुप्रयोग होता है। इसका उपयोग विशेषरूप से उस समय करते हैं जब अध्ययन समस्या के विषय में उपकल्पना या उपकल्पनाओं का निर्माण करना होता है। उस समय भी यह विधि प्रयुक्त होती है–जब समस्या ऐसी होती है कि उसका अध्ययन किसी मात्रात्मक विधि द्वारा संभव नहीं होता। इसमें अध्ययन की कोई सुनिश्चित व्यवस्था नहीं होती, प्रेक्षक और परीक्षित दोनों स्वतन्त्र होते हैं। जहाँ कहीं वांछित व्यवहार उपलब्ध हो जाता है, उसका प्रेक्षण कर लेते हैं, तथ्यों को नोट कर लेते हैं। उपयुक्त समय पर प्रेक्षक निरीक्षित तथ्यों का विश्लेषण एवं व्याख्या करके सामान्यीकरण करता है। इस विधि में अनेक सुविधायें तथा कठिन इयाँ होती हैं।

गुण—

(i) यह अत्यन्त सरल एवं सुगम विधि है। इसके द्वारा किसी भी स्थान या दशा में बिना किसी सुनिश्चित योजना के वांछित व्यवहार का निरीक्षण किया जा सकता है। यह एक विशेष लक्षण है जो सभी विधियों में उपलब्ध नहीं है।

(ii) अनेक प्रकार के सामाजिक व्यवहार जिनका अध्ययन अन्य विधियों द्वारा संभव नहीं होता, उनके लिए इसका उपयोग किया जाता है जैसे भीड़ या युद्ध आदि के अध्ययन में यह विधि विशेष उपयोगी है।

(iii) व्यवहार की स्वभाविकता इस विधि द्वारा अध्ययन में प्रभावित नहीं होती, जो इसका एक विशेष गुण है। नियन्त्रण के कारण प्रयोग या अन्य विधियों में व्यवहार की शुद्धता घट जाती है। नियन्त्रण न होने के कारण इसमें स्वभाविकता बनी रहती है।

कठिनाइयाँ—

(i) यह विधि क्रम रहित एवं अवैज्ञानिक है। इसके द्वारा प्राप्त प्रवृत्तों से किसी निश्चित एवं महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। अतः नियमों या सिद्धान्तों का प्रतिपादन संभव नहीं है।

(ii) इसमें नियन्त्रण का सर्वथा अभाव होने के कारण भी अनेक प्रकार की

न्यूनतायें आ जाती हैं। अध्ययन का दोहराया जाना सम्भव नहीं है जिसके कारण परिणामों की शुद्धता संदिग्ध हो जाती है।

(iii) प्रेक्षक के मन का पक्षपात, उसकी अभिवृत्तियाँ तथा भावनाएँ परिणामों को दूषित कर देती हैं। व्यक्ति दूसरों के व्यवहार को अपनी भावनाओं और अभिवृत्तियों के अनुसार देखते हैं, जैसा कि किसी कवि ने कहा है। एक ही वस्तु। तथ्य को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपों में देखते हैं।

जा की रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तंहि तैसी,

(2) क्रमिक प्रेक्षण (Systematic Observation)—इसे क्रमिक प्रेक्षण के अतिरिक्त नियन्त्रित प्रेक्षण, और सहसम्बन्धात्मक विधि भी कहते हैं। स्वभाविक या प्राकृतिक प्रेक्षण की कठिनाइयों के निकारण हेतु यह विधि विकसित हुई। इसके अर्न्तगत क्रमिक एवं व्यवस्थित ढंग से व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार का प्रेक्षण किया जाता है। इस विधि में निरीक्षित घटना, सम्बद्ध व्यवहार, उपकरण और प्रेक्षक आदि सभी को व्यवस्थित एवं नियन्त्रित करने के प्रयास किये जाते हैं। इस प्रकार क्रमिक प्रेक्षण में किसी पूर्वनिश्चित समस्या के समाधान हेतु योजनाबद्ध रूप से आधुनिक उपकरणों की सहायता से, एक प्रशिक्षित प्रेक्षक भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करता है। इस अध्ययन विधि में प्रेक्षक चरों का प्रत्यक्ष प्रहस्तन नहीं करता। चरों में परिवर्तन अप्रत्यक्ष रूप से किसी चयन पद्धति द्वारा करता है, जैसे अध्ययन-कर्त्ता यह मानने के लिए कुछ तर्क रखता है कि राजनैतिक चुनावों में नेता की लम्बाई प्रमुख होती है, अर्थात् चुनाव में लम्बे व्यक्ति के चुनाव जीतने की सम्भावना अधिक होगी। स्वभाविक है कि चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों की लम्बाई का प्रहस्तन नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थितियों में शोधकर्त्ता क्रमिक प्रेक्षण या सहसम्बन्धात्मक प्रेक्षण (Correlational Obeservation) का उपयोग करता है। इस उपागम में इस बात का प्रयास करते हैं कि क्या दो या अधिक परिवर्त्य सम्बद्ध है। इस उद्देश्य की पूर्ति में बहुत ही सतर्क प्रेक्षण करते हैं जो काफी नियंत्रित एवं सुनियोजित होता है। यदि एक में परिवर्तन से दूसरे में भी बराबर परिवर्तन के संकेत मिलते हैं तो, इसे दोनों में सहसम्बन्ध का प्रमाण मानते हैं। प्रयोग विधि के विपरीत, इसमें अन्य कारक पर उसके प्रभावों के निरीक्षण हेतु एक कारक का क्रमिक रूप से परिवर्तित करने का कोई प्रयास नहीं करते। Baron & Byrne के अनुसार "In contrast to experimental method, no attempt is made to vary one of the factors in a systematic manner in order to observe its effect on the other. Rather, natu-

rally occuring variations in both are observed to determine whether they tend to occur together in some fashion."

इसमें दोनों कारकों में स्वाभाविक रूप से घटित होने वाले व्यवहार के परिवर्तनों का अध्ययन करते हैं और यह निश्चित करते हैं कि क्या दोनों साथ-साथ घटित होते हैं ? इसमें अध्ययन की समस्या का रूप निम्नलिखित प्रकार का होता है—क्या 'क' और 'ख' आपस में सम्बद्ध है ? यदि हाँ तो कैसे या किस मात्रा में ?

सम्प्रत में इस विधि के चलते व्यक्ति के लगभग सभी सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन सम्भव हो गया है। इसमें निम्नांकित विशेषताओं का होना अनिवार्य है—

(i) प्रेक्षक की तटस्थ अभिवृत्ति—परिस्थिति के सभी पक्षों का अध्ययन तटस्थ होकर करना अनिवार्य है। इसलिये प्रेक्षक को अपनी निजी भावनाओं और अभिवृत्तियों से ऊपर उठकर अध्ययन करना होता है।

(ii) क्रमबद्धता या विधिवद्धता (Systematization)—ऐसा प्रेक्षण विधिवद्ध या अनुतन्त्र (Systematic) होता है। प्रेक्षक एक स्पष्ट लक्ष्य के साथ कार्य आरम्भ करता है। वह अपने उद्देश्य की निश्चित सीमा में अपने मूल तथ्यों का क्रमबद्ध रूप से अध्ययन करने का प्रयास करता है।

(iii) सत्यापन (Verification)—सत्यापन सामाजिक अन्वेषण की एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रेक्षक नियन्त्रित प्रेक्षण के द्वारा प्राप्त प्रदत्तों की सत्यता पर विश्वास नहीं करता, अपितु विभिन्न परिस्थितियों में अपने अध्ययन को दुहराकर तथा अन्य वैज्ञानिक प्रदत्तों से तुलना करके परिणामों की सत्यता की जाँच करता है।

सुविधायें :—नियंत्रित प्रेक्षण में अनेक सुविधायें हैं :

(i) यह विधि एक वैज्ञानिक विधि है। इसे अपनाकर समाज-मनोविज्ञान विज्ञान का स्तर प्राप्त कर रहा है। इसके द्वारा न केवल सामाजिक व्यवहार अपितु मानसिक अनुभूतियों का भी क्रमिक ज्ञान प्राप्त होता है।

(ii) इसका अनुप्रयोग वास्तविक जीवन के अनेक परिप्रेक्ष्यों में व्यवहार के अध्ययन से होता है। प्रायः इस विधि द्वारा बड़ी निपुणता पूर्वक व्यापक प्रदत्त एकत्र किये जा सकते हैं, जो महत्वपूर्ण भी होते हैं और रोचक भी। इस विधि द्वारा अनेक ऐसे विषयों का अध्ययन भी सम्भव है, जिनका प्रायोगिक अन्वेषण, व्यवहारिक कठिनाइयों या नैतिक अवरोध के कारण सम्भव नहीं होता।

(iii) इस विधि के उपयोग के फलस्वरूप समाज-मनोविज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, क्योंकि इसके द्वारा अनेक ऐसी समस्याओं का अध्ययन स्वाभा-

धिक परिस्थितियों में अब सम्भव हो गया है जिसका अध्ययन अन्य विधियों द्वारा पहले दुर्लभ था ।

कठिनाइयाँ—

(i) इस विधि की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि परिणाम अनिश्चित होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इसके द्वारा कार्य-कारण (Cause effect) संबंधों का निर्धारण नहीं हो पाता। एक परिवर्त्य में परिवर्तन से दूसरे परिवर्त्य में जो परिवर्तन आते हैं, इस बात का आश्वासन नहीं देता कि इनमें—कारण सम्बन्ध (Causal link) है, अर्थात इसका कोई प्रभाव नहीं होता कि द्वितीय परिवर्त्य में परिवर्तन प्रथम परिवर्त्य में परिवर्तन के कारण है या इसके विपरीत प्रथम चर में परिवर्तन द्वितीय चर के परिवर्तनों के कारण हो रहा है।

(ii) प्रेक्षक प्रायः दूसरों के व्यवहार की व्याख्या अपने अनुभव, भावनाओं, अभिवृत्तियों, पसन्द-नापसन्द तथा मन के पक्षपातों के आधार पर करते हैं। वे निष्पक्ष होकर प्रेक्षण नहीं करते, अतः परिणामों के दोषयुक्त होने की सम्भावना रहती है।

(iii) प्रेक्षक, नियमित परिस्थिति में, प्रेक्षण उसी समय कर सकता है जब वह इस कार्य में अभ्यस्त एवं दक्ष हो।

इन साधारण कठिनाइयों के होते हुये भी समाज-मनोविज्ञान में प्रेक्षण का बड़ा महत्व है, क्योंकि इसकी कुछ समस्यायें ऐसी हैं जिनका अध्ययन केवल प्रेक्षण द्वारा ही सम्भव है जैसे भीड़, श्रोता समूह, युद्ध तथा क्रान्ति आदि। इसलिये उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी नियन्त्रित प्रेक्षण को एक महत्वपूर्ण विधि समझा जाता है।

(3) सहभागी प्रेक्षण (Participant Observation)—प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावादी (Symbolic interactionists) व्यक्ति को सक्रिय मानते हुये, इस पर बल देते हैं कि सहभागी प्रेक्षण में, व्यक्ति का अध्ययन एक क्रियाशील जीव के रूप में किया जाता है। इस दृष्टि से वे प्रायोगिक विधि पर सहभागी प्रेक्षण की वरीयता देते हैं। उनके अनुसार सहभागी प्रेक्षण का उपयोग उन सभी सामाजिक व्यवहारों के अध्ययन में किया जा सकता है जिनमें प्रायोगिक विधि या अन्य परम्परागत विधियाँ कारगर नहीं होती। सहभागी प्रेक्षण विधि द्वारा अध्ययन में प्रेक्षक, जिस समूह का अध्ययन करता है, उस समूह में कुछ समय पहले से जाकर रहने लगता है, और घुलमिल जाता है। वह उस समूह में निवास करके लगभग एक सदस्य का सा स्तर प्राप्त कर लेता है। वह उस समूह के सदस्यों के व्यवहार

का प्रेक्षण उसी समूह के एक सक्रिय सदस्य के रूप में करता है। इस प्रकार प्रेक्षक उस समूह की क्रियाओं, तथा सदस्यों के जीवन का सक्रिय सहभागी बन जाता है। इस विधि के उपयोग से व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार के अत्यन्त सूक्ष्म पहलुओं का अन्वेषण हो सकता है। प्रेक्षक घुल-मिलकर अध्ययन करने के कारण व्यक्तियों के व्यवहार के निजी पक्षों एवं गूढ़ रहस्यों को जान लेता है, जो अन्य विधियों में सम्भव नहीं है। वह इन तथ्यों को उस समूह के सदस्य की हैसियत से जान जाता है न कि प्रेक्षक के रूप में। उसके प्रेक्षण कार्य से व्यक्ति अवगत ही नहीं हो पाते, इससे व्यवहार की सहजता और स्वाभाविकता भी बनी रहती है। प्रायः यह विधि छोटे समूहों के अध्ययन में अधिक उपयोगी पाई जाती है। व्यवहार की स्वाभाविकता बनी रहने के कारण विधि की शुद्धता भी बनी रहती है। अतः यह विधि समाज-मनोविज्ञान में विशेष महत्व रखती है।

किन्तु इस अध्ययन विधि में कुछ कठिनाइयाँ भी आती हैं। सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि समूह में रहने और घुल-मिल जाने के कारण प्रेक्षक की समूह से भावात्मक लगाव हो जाता है और वह वास्तव में अपने को समूह का सदस्य ही समझने लगता है। इस कारण वह समूह की भावनाओं और अभिवृत्तियों को अपना लेता है। परिणाम यह होता है कि प्रदत्त पक्षपात युक्त हो जाते हैं। इस न्यूनता को दूर करने के लिये प्रेक्षकों को प्रशिक्षित किया जा सकता है।

इस विधि की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति को एक सक्रिय एजेन्ट मानते हैं जो स्वयं अपनी क्रियाओं एवं व्यवहार का संचालन करता है। व्यक्ति, सोचता समझता तथा अपनी स्वेच्छा से व्यवहार करने वाला जीव है और अपनी क्रियाओं के लिये उत्तरदायी है। प्रायोगिक विधि से यह विधि इस विशेषता के कारण भी भिन्न है। किन्तु जो नियन्त्रण प्रायोगिक विधि में होता है, उसका इस विधि में अभाव होने के कारण वह शुद्धता भी इसमें उपलब्ध नहीं होती जो प्रयोग में होती है।

प्रयोग-विधि

(Experimental Method)

इस विधि का सूत्रपात प्राकृतिक विज्ञानों से हुआ। सन् 1920 के बाद धीरे-धीरे समाज-मनोविज्ञान में भी प्रायोगिक विधि का उपयोग आरम्भ हुआ। यह मनोविज्ञान की सर्वाधिक वैज्ञानिक विधि है, जिसके द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause-effect relations) का अध्ययन सम्भव है। यह विधि इस दृष्टि से नियन्त्रित प्रेक्षण या सहसम्बन्धात्मक विधि से भिन्न है, किन्तु अन्य बातों में अधिक भिन्न नहीं है। कार्य-कारण सम्बन्धों की जाँच के लिये शोधकर्ता को उन परिवर्त्यों

पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है जिनका अध्ययन वह करना चाहता है तथा परिणामों को प्रभावित करने वाले अन्य अवांछित परिवर्त्यों का निराकरण भी आवश्यक है। इस प्रकार प्रयोग वह विधि है जिसमें कार्य-कारण सम्बन्धों के अन्वेषण के लिये आवश्यक नियन्त्रण लगाये जाते हैं।

जैसा कि Worchel तथा Cooper (1979) ने कहा है, (The method, that, is designed to allow the necessary control so that cause and effect relationships can be uncovered, is the experiment.)

प्रयोगात्मक विधि में नियन्त्रित परिस्थिति में व्यक्ति के व्यवहार का व्यवस्थित अध्ययन करते हैं। इस तरह पूर्वनिश्चित एवं नियंत्रित परिस्थिति में किये गये निरीक्षण को ही प्रयोग कहते हैं। निरीक्षण में परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों को नियंत्रित नहीं किया जा सकता, परन्तु प्रयोगात्मक विधि में परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों को प्रयोगकर्त्ता अपने कड़े नियंत्रण में रखने का प्रयास करता है। यही बात निरीक्षण को प्रयोगविधि से अलग करती है। सामाजिक अध्ययन में प्रायोगिक विधि से तात्पर्य उन नियंत्रित परिस्थितियों से है जिनमें सामाजिक घटना के अध्ययन के लिये सामाजिक अनुसंधानकर्त्ता अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सके। Festinger के मतानुसार "प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया है, जिससे परतन्त्र परिवर्ती (dependent variable) पर स्वतन्त्र परिवर्ती के घटाने-बढ़ाने का अध्ययन किया जाता है।"

("Experiment is a procedure in which the effect of a manipulated independent variable on a dependent variable is studied"–Festinger Research Methods in Behavioural Sciences.)

ग्रीनउड के मतानुसार—"प्रयोग उपकल्पना का प्रमाण होता है, जिसके द्वारा तथ्यों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध ज्ञात करने के लिये ऐसी विपरीत स्थितियों का अध्ययन किया जाता है जिनमें एक को छोड़कर सभी कारक नियंत्रित रहते हैं और वह कारक या तो अनुमानित कारण होता या अनुमानित प्रभाव।"

यह विधि अन्य विधियों से भिन्न है क्योंकि इसमें हम अपनी स्वेच्छानुसार समस्या को पुन: प्रयोगशाला में उत्पन्न या संघटित करा सकते हैं। इसमें चरों पर नियंत्रण इस तरह स्थापित करते हैं कि कार्य-कारण सम्बन्धों का अध्ययन हो सके। प्रायोगिक विधि में कार्य को आश्रित चर और कारण को अनाश्रित चर कहते हैं। इन सम्बन्धों की जाँच हेतु बहुधा प्रयोग में नियंत्रित या प्रायोगिक समूह लिये जाते हैं।

प्रायोगिक विधि के मुख्य चरण (Major Steps of Experiment)—

मनोवैज्ञानिक प्रयोग अन्य विज्ञानों के प्रयोग से थोड़ा भिन्न होता है क्योंकि मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करता है। इसमें निम्न प्रमुख चरण हैं—

(1) **समस्या (Problem)**—प्रयोग आरम्भ करने के पूर्व प्रयोगकर्त्ता के समक्ष किसी समस्या का होना अति आवश्यक है। टाउंसेन्ड (Townsend) के कथनानुसार "समस्या, समाधान के लिये एक प्रस्तावित प्रश्न है"। समस्या एक ऐसा प्रश्न है जिससे दो परिवर्त्यों का सम्बन्ध ज्ञात करते हैं। समस्या का आविर्भाव उस परिस्थिति से होता है जिसमें ज्ञान में अपूर्णता होती है या जब व्यक्ति के मन में द्वय-अर्थक प्रश्न उठते हैं अथवा जब प्रयोगकर्त्ता किसी विषय में अतिरिक्त सूचनायें प्राप्त करने की अभिलाषा करता है। प्रश्न के अनेक उत्तरों में कोई एक ही शुद्ध होगा, जिसे वह जानने की इच्छा करता है तो समस्या उत्पन्न होती है। प्रयोग की सहायता से उन संभाविक उत्तरों की वैधता को निश्चित किया जा सकता है।

(2) **उपकल्पना का निर्माण (Formation of Hypothesis)**—समस्या की उत्पत्ति के बाद प्रयोगकर्त्ता उससे सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन करता है। साहित्य समीक्षा के द्वारा वह उपकल्पना का निर्माण करता है। टाउंसेन्ड के अनुसार समस्या का प्रस्तावित उत्तर ही उपकल्पना है। उपकल्पनायें अनेक प्रकार की होती हैं जिनके निर्माण में भी कई तरह के सिद्धान्त प्रयुक्त होते हैं।

वर्त्तमान में शून्य उपकल्पना (Null Hypothesis) का चलन अधिक है। किसी प्रायोगिक अध्ययन में आवश्यकतानुसार एक या कई उपकल्पनाएँ ले सकते हैं। उपकल्पना का कथन अनाश्रित तथा आश्रित चरों के सन्दर्भ में करते हैं।

(3) **प्रतिदर्श और प्रयोज्य चयन (Sampling and selection of subjects)**—प्रयोग में समस्या की उत्पत्ति तथा उपकल्पना निर्माण के पश्चात, प्रतिदर्श और प्रयोज्य चयन का चरण आता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रयोगकर्त्ता अध्ययन किये जाने वाले समूह का निश्चय कुछ विधियों के अनुसार करता है। अध्ययन हेतु सम्पूर्ण जनसंख्या से एक छोटा प्रतिदर्श चुन लेते हैं, इस मान्यता के साथ कि इस प्रतिदर्श के अध्ययन के बाद जो परिणाम प्राप्त होंगे वही परिणाम सम्पूर्ण जनसंख्या के अध्ययन से भी प्राप्त होंगे। इस प्रकार प्रयोग के लिये प्रयोज्य या प्रयोज्यों का चयन किया जाता है।

(4) **चर, उनका नियंत्रण, अभिकल्प (Variables, Control, Experimental Design)**—यदि समस्या की चर्चा चरों के रूप में की जाए तो चरों को तीन वर्गों में बांट सकते हैं—अनाश्रित चर, आश्रित चर, और स्थिर अथवा वाह्य

चर। प्रयोगकर्त्ता अनाश्रित चर-चरों में परिवर्तन करता है और उसके प्रभावों का अध्ययन करता है। इस परिवर्तन का प्रभाव जिस चर पर पड़ता है वह आश्रित चर कहलाता है। प्रयोग में वाह्य या परिवेशगत चरों को नियंत्रित किया जाता है ताकि इनके प्रभाव से परिणाम दूषित न हो सके अर्थात् परिणामों की शुद्धता एवं वैधता प्रभावित न हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसे परिवर्त्यों को या तो नियंत्रित करते हैं या उन्हें प्रायोगिक परिस्थिति से निकाल देते हैं। कभी-कभी इन परिवर्त्यों का निराकरण संभव नहीं होता तो प्रायोगिक स्थितियों को जहाँ तक संभव हो, समान करने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे कि इन परिवर्त्यों का प्रभाव सभी प्रयोज्यों पर समान रूप से पड़े।

प्रयोग अभिकल्प के द्वारा प्रयोगीकरण के कुछ विशिष्ठ लक्षणों को ज्ञात करते हैं। प्रयोग में प्रयुक्त किये जाने वाले अभिकल्पों में कुछ प्रमुख अभिकल्प इस प्रकार हैं—दो यादृच्छिक समूह अभिकल्प, दो सन्तुलित समूह अभिकल्प, दो से अधिक यादृच्छिक समूह अभिकल्प, तथा गुणनखण्डी अभिकल्प आदि। वैसे तो समाज-मनोविज्ञान में अन्य अभिकल्पों के अतिरिक्त अनेक परिस्थितियों में खण्ड-विश्लेषण अभिकल्प (Factorial Design) का भी अनुप्रयोग होता है : इस अभिकल्प में चरों के प्रभावों का निर्धारण करने में प्रसरण विश्लेषण (Analysis of variance) रूपी सांख्यिकीय तकनीक का उपयोग करते हैं।

(5) परिणाम (Result)—इस चरण में प्रयोगीकरण से प्राप्त प्रदत्तों की चर्चा करते हैं। इसके लिये प्रदत्तों का सारणीयन और वर्गीकरण किया जाता है। तत्पश्चात् प्रायोगिक अभिकल्प के अनुसार सांख्यिकीय तकनीकों का उपयोग किया जाता है। सांख्यिकीय विश्लेषण से प्राप्त परिणामों के आधार पर उपकल्पना की जाँच करते हैं।

(6) व्याख्या (Discussion)—अन्त में प्रयोगकर्त्ता, प्राप्त परिणामों के आधार पर सामान्यीकरण करते हैं तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त परिणामों से तुलना करते हैं। यह देखते हैं कि प्रस्तुत परिणाम अन्य परिणामों से कितना भिन्न या कितना समान है। प्रयोगकर्त्ता परिणामों का सैद्धान्तिक आधार भी ढूँढने का प्रयास करता है। परिणामों की व्याख्या के आधार पर सामान्यीकरण किये जाते हैं।

समाज-मनोविज्ञान में मुख्य रूप से दो प्रकार के प्रयोग होते हैं जिन्हें क्रमशः प्रयोगशालीय प्रयोग तथा क्षेत्र-प्रयोग कहते हैं। इनका एक-एक उदाहरण पाठकों की सुविधा हेतु प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

प्रयोगशालीय प्रयोगों में प्रायः छोटे-छोटे समूहों का अध्ययन करते हैं। सामूहिक

व्यवहार को उत्पन्न करने के लिए प्रयोगशाला के भीतर कृत्रिम सामाजिक स्थितियों का निर्माण करते हैं। ऐश (S. E. Asch, 1956) ने एक ऐसे ही प्रयोग में समूह-दबाव नामक प्रभाव का अध्ययन किया। उसने व्यक्तिगत निर्णय पर समूह दबाव के प्रभाव का अन्वेषण किया। प्रयोग में 87 प्रयोज्यों को रखा था। इनमें से 50 प्रयोज्य प्रायोगिक समूह में तथा शेष नियन्त्रित समूह में रखे। अनाश्रित चर के रूप में समूह दबाव का उपयोग किया गया जिसे नियन्त्रित समूह में प्रस्तुत नहीं किया।

प्रयोगात्मक समूह को एक पर्दे के समक्ष अर्द्धवृत्ताकार पोजीशन में बैठाया और प्रयोज्यों के समक्ष पर्दे पर बोर्ड लगे थे, जिनमें बाँयें बोर्ड पर 10" की लम्बवत रेखा खींची हुई थी। दाँयी ओर $8\frac{3}{4}$", 10" और 8" की तीन लम्बवत् रेखायें बनी हुई थीं जिनपर क्रमशः 1, 2, 3 लिखा हुआ था। प्रयोज्यों में से हर एक को यह बताना था कि दाँयी बनी रेखाओं 1, 2, 3, में से कौन रेखा बाँई ओर की रेखा के बराबर है। ऐसे दो प्रयास किये गये जिनमें प्रयोज्यों ने दाँयी ओर की रेखा नं० 2 को बाँयी रेखा के बराबर बताया। तीसरे प्रयास में बाँई रेखा की लम्बाई 3" कर दी और दाँयी रेखाओं को $3\frac{3}{4}$", $4\frac{1}{4}$" तथा 3" क्रमशः कर दिया। फिर दो प्रयास कराये गये। पूरी प्रायोगिक स्थिति पूर्ववत् थी सिवाय इसके कि इस बार प्रायोगिक समूह में एक नये प्रयोज्य को भी शामिल कर लिया गया। सभी प्रयोज्यों ने समान अनुक्रिया व्यक्त की अर्थात् रेखा संख्या 2 को बाँयी रेखा के बराबर कहा। कठिनाई नये प्रयोज्य को थी कि वह अन्य सभी प्रयोज्यों के उत्तर को ही दुहरा दे या अपने अनुसार सही उत्तर दे, क्योंकि उसके अनुसार रेखा नं० 3 बाँयी रेखा के बराबर थी।

ऐश ने यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि व्यक्तिगत निर्णय, समूह निर्णय या समूह दबाव से प्रभावित होता है। इस प्रयोग में 74% प्रयोज्यों ने दूसरे प्रयोज्यों के निर्णय के प्रभाव में आकर गलत निर्णय किया। नये सदस्य समूह दबाव में आकर पहले से कार्यरत प्रयोज्यों के निर्णय का अनुसरण करते हैं, और त्रुटिपूर्ण उत्तर देते हैं।

शेरीफ ने अपने एक प्रयोग में एक अंधेरे कमरे में एक-एक करके अपने प्रयोज्यों को बुलाया और प्रकाश के एक स्थिर बिन्दु को दिखाकर उसकी गति की दिशा के बारे में पूछा। प्रत्येक प्रयोज्य ने जब अपना विचार व्यक्त कर दिया, तो उन्हें सामूहिक रूप में बुलाया गया और हर एक ने अपने अनुमान को व्यक्त कर दिया। अब उनके व्यक्तिगत अनुमान का लोप हो गया और सामूहिक अनुमान की उत्पत्ति हो गई। अनेक प्रयोज्यों ने अपने अनुमान बदल दिये थे। यह अनुमान समूह मानक (Group-Norm) कहलाता है। शेरीफ ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति के

प्रत्यक्षीकरण में सामूहिक प्रतिमान और सामाजिक अंगों का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

उडवर्थ तथा श्लासवर्ग के अनुसार प्रयोग में निम्न विशेषताएँ होती हैं[1]—

(i) प्रयोगकर्ता सभी परिस्थितियों को क्रमानुसार परिवर्तित ही नहीं करता वरन् उनका सही मूल्यांकन भी करता है। प्रयोग की दशाओं में परिवर्तन करके निष्कर्षों पर पड़ने वाले प्रभावों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(ii) इसमें प्रयोगकर्ता अपनी इच्छानुसार घटना का निर्माण कर सकता है। अथवा प्रयोगकर्ता व्यवहार-विशेष को विशेष समय तथा स्थल पर घटित कराता है इसी कारण उसके निरीक्षण में वैज्ञानिकता अधिक होती है। उसे अनियमित निरीक्षण की तरह उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

(iii) प्रयोग द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के सत्यापन के लिए प्रयोगकर्ता पूर्ण परिस्थिति में ही फिर से निरीक्षण कर सकता है, अथवा वह जब चाहे तब उस प्रयोग को ज्यों का त्यों दुहरा सकता है। यह सुविधा अन्य विधियों में उपलब्ध नहीं होती।

(iv) परिणामों को और अधिक वैज्ञानिक बनाने के उद्देश्य से एक ही परिस्थिति में दो व्यक्ति प्रयोगात्मक अध्ययन करके परिणामों की तुलना कर सकते हैं।

सीमाएँ—

(i) **नियन्त्रण की कठिनाइयां**—प्रयोगात्मक विधि में प्रयोगकर्ता परिस्थिति को नियन्त्रित करता है, क्योंकि नियन्त्रण के बिना परिणाम प्रामाणिक नहीं होते। अन्य विज्ञानों में नियन्त्रण अपेक्षाकृत सुगम होता है, किन्तु सामाजिक मनोविज्ञान में परिस्थितियों का नियन्त्रण कुछ आसान बात नहीं है। कुछ परिस्थितियों का अध्ययन प्रयोगशाला में भली-भांति नहीं हो सकता जैसे सामूहिक तनाव एवं साम्प्रदायिकता आदि। इसी तरह सामाजिक मनोविज्ञान की कुछ अन्य समस्यायें तो प्रयोगशाला में उत्पन्न ही नहीं की जा सकती जैसे क्रान्ति, युद्ध आदि। यह सामाजिक मनोविज्ञान की महत्वपूर्ण समस्यायें हैं।

(ii) **परिस्थिति की कृत्रिमता**—कभी-कभी प्रयोगशाला में कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ कृत्रिम रूप में उत्पन्न की जाती है और इनके द्वारा सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करते हैं। साथ ही प्रयोगशाला में लगा हुआ कड़ा नियन्त्रण भी प्रयोग की परिस्थितियों को कृत्रिम बना देता है। कृत्रिम परिस्थिति में किये गये अध्ययनों के कृत्रिम परिणाम ही प्राप्त होंगे, जिनकी सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

---

1. Woodworth & Schlosberg : Experimental Psychology.

(iii) प्रयोज्य कभी-कभी उत्तेजित हो जाते हैं और प्रयोगकर्ता की चापलूसी के लिये ऐसे उत्तर देने लगते हैं जैसा कि प्रयोगकर्ता चाहता है। इसके साथ ही कुछ ऐसे प्रयोज्य भी हो सकते हैं जो पूर्ण सहयोग न प्रदान करें। प्रामाणिक परिणाम प्राप्त करने के लिए प्रयोज्य का सहयोग प्राप्त करना अतिआवश्यक होता है। सामाजिक मनोविज्ञान के प्रयोगों में यह कार्य और जटिल हो जाता है।

(iv) प्रयोगात्मक विधि में परिणामों को सार्थक बनाने के लिये सांख्यिकी का इस्तेमाल करते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक यह कहते हैं कि सामाजिक क्रियाओं को संख्या के रूप में व्यक्त करना उचित नहीं हैं।

इन कठिनाइयों के होते हुये भी सामाजिक मनोविज्ञान में प्रायोगविधि बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती है। कुछ कठिनाइयों को दूर करके सावधानी और सतर्कता पूर्वक अनेक सफल प्रयोग सामाजिक मनोविज्ञान में किये जाते हैं, और इसी कारण यह विधि सामाजिक मनोविज्ञान की सबसे लोकप्रिय विधि है।

साक्षात्कार विधि
(Interview Method)

आजकल सामाजिक मनोविज्ञान में व्यक्तियों की अभिवृत्तियों तथा मतों के अध्ययन में साक्षात्कार विधि को काफी महत्व दिया जा रहा है। पूर्व नियोजित एवं प्रामाणिक परिस्थिति के आधार पर लिया गया साक्षात्कार सामाजिक समस्याओं के समाधान में बहुत लोकप्रिय होता जा रहा है। इस विधि में परिक्षार्थी परीक्षक के समक्ष बैठता है, और परीक्षक के प्रश्नों के उत्तर देता है। परीक्षक परीक्षार्थी के व्यवहार, हाव-भाव एवं उत्तरों आदि के द्वारा उसके व्यक्तित्व का अध्ययन करता है। किन्तु परीक्षक का प्रशिक्षित एवं कुशल होना नितान्त आवश्यक है। यदि परिक्षक कुशल होता है तो वह परीक्षार्थी के व्यक्तित्व को उसके व्यवहार, हाव-भाव तथा उत्तरों आदि के द्वारा समझ लेता है। इस प्रकार साक्षात्कार एक दूसरे के साक्षात दर्शन कर के परस्पर वार्ता करता है। अनेक विद्वानों ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

लूथर फ्राई (Luther Fry) के अनुसार—"व्यक्तिगत साक्षात्कार, जो सामग्री संग्रहण की एक प्रणाली है, किसी निश्चित उद्देश्य हेतु वार्तालाप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।"

पी० वी० यंग के अनुसार—"साक्षात्कार को एक क्रमबद्ध विधि माना जा सकता है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में अधिक अथवा कम काल्पनिकता से प्रवेश करता है जो उसके लिये सामान्य एवं तुलनात्मक रूप से अपरिचित है।"[1]

1. The interview may be regarded as a systematic method by

हेडर एवं लिडमैन के अनुसार—"साक्षात्कार के अन्तर्गत दो व्यक्तियों या अधिक व्यक्तियों के बीच संवाद अथवा मौखिक प्रत्युत्तर होते हैं।"[1]

इन परिभाषाओं से साक्षात्कार की निम्न विशेषतायें प्रकट होती हैं—

(i) साक्षात्कार सामाजिक अध्ययन के लिए सामग्री एकत्र करने की एक विशिष्ट विधि है।

(ii) यह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का परस्पर वार्तालाप है।

(iii) इसमें भाग लेने वाले सभी व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे के आमने-सामने रहते हैं।

(iv) यह अमूर्त घटनाओं के अध्ययन की बहुत ही महत्वपूर्ण विधि है।

(v) यह व्यक्ति के अन्दर की एवं गोपनीय तथ्यों को जानने की बहुत ही उपयोगी विधि है।

(vi) व्यक्ति के वर्तमान, भूतकाल एवं भविष्य काल की बातों को भी जाना सकता है।

सीमाएं—

यद्यपि अनेक दृष्टियों से साक्षात्कार प्रणाली बहुत ही उपयोगी है फिर भी इसमें निम्न दोष हैं—

(i) विश्वसनियता की कमी—अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि किसी समस्या के प्रति व्यक्ति अनेक कारणों से भ्रमपूर्ण विवरण दे देता है जिसके कारण प्राप्त सूचनायें संदेहप्रद होती हैं।

(ii) साक्षात्कार प्रणाली में प्रयोज्य चूंकि नये लोगों के सामने आता है और परिस्थिति भी नवीन होती है, जिसके कारण वह संकोच, घबड़ाहट आदि के कारण तथ्यों को जानते हुये भी प्रश्नों का सही उत्तर देने में असमर्थ हो जाता है। इस कारण साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष सत्य नहीं होते हैं।

(iii) स्वतन्त्र अभिव्यक्ति—इस प्रणाली में प्रत्येक प्रयोज्य अधिक से अधिक बोलने का प्रयास करता है जिसके कारण व्यर्थ की सूचनायें अधिक आ जाती हैं और अध्ययन से सम्बन्धित सूचनायें कम।

---

which one person enters more or less, imaginately into the inner life of another, who is generally a comparative stranger Young, P. V. Scientific Social Surveys and Research P. 242.

1. Interview consists of dialogue or verbal responses between two persons or between several persons–Hadder and Lidmen E. C.— Dynamic Social Research, P. 129.

प्रश्नावली विधि
(Questionnaire Method)

प्रश्नावली प्रश्नों की वह सूची है जिसमें किसी समस्या से सम्बन्धित सरल, संक्षिप्त एवं स्पष्ट प्रश्न पूछे जाते हैं। इसके द्वारा विषय वस्तु से सम्बन्धित सूचनायें प्राप्त करने में सहायता मिलती है। अनेक सामाजिक व्यवहारों के अध्ययन में यह विधि अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो चुकी है। यंग के मतानुसार—"मापने योग्य सामाजिक घटना के अध्ययन में समाज-वैज्ञानिक प्रश्नावली को प्रमुख रूप से सहायक स्वयं के रूप प्रयोग करते हैं।"[1]

गुडे एवं हाट के अनुसार—"सामान्य रूप से प्रश्नावली से तात्पर्य प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने की पद्धति से है जिसमें एक पत्रक का प्रयोग किया जाता है जिसे प्रयोज्य स्वयं करता है।"[2]

बोगार्डस के अनुसार—"प्रश्नावली विभिन्न व्यक्तियों को उत्तर देने के लिए दी गई प्रश्नों की एक सूची है। यह प्रमाणीकृत प्रमाणों को प्राप्त करती है जिनका सारणीयन तथा सांख्यिकीय प्रयोग किया जा सकता है।"[3]

लुण्डबर्ग के अनुसार—"प्रश्नावली मूलरूप में प्रेरणाओं का एक समूह है जिसके द्वारा शिक्षित लोग उन प्रेरणाओं के अन्तर्गत अपने मौलिक व्यवहार को प्रगट करते हैं।"[4]

---

1. Social scientists use the questionnaire chiefly as a supplementary tool in studying measurable social phenomena.—Young. P.V. : Scientific Social Survey and Research, P. 183.

2. In general, the word questionnaire refers to a device for securing answers to questions by using a form which the respondent fills in himself.—Goode and Hatt : Methods of Social Research, P. 133.

3. A questionnaire is a list of questions to a number of persons for them to answer. It secure standardized results that can be tabulated and treated statistically.

   —Bogardus E. S. Sociology. P. 549.

4. Fundamentally, the questionnaire is a set of stimuli to which the literate people are exposed in order to observe their verbal behaviour under these stimuli.

   —Lundberg, G. A. : Social Research, P. 183.

उपरोक्त परिभाषाओं से प्रश्नावली विधि की निम्न विशेषतायें प्रकट होती हैं–

(i) किसी विशिष्ट समस्या से सम्बन्धित सूचना एकत्र करने की विधि है।

(ii) कोई भी अनुसन्धानकर्ता एक स्थान पर बैठकर ही दूर के स्थानों के लोगों के विचार जान सकता है।

(iii) इसमें प्रयोज्य को सदैव लिखित रूप में उत्तर देना होता है।

(iv) चूँकि सूचनादाता प्रश्नकर्ता से बहुत दूर रहता है अतः वह निःसंकोच रूप से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

(v) इसके द्वारा प्राप्त तथ्य बहुत ही विश्वसनीय होते हैं।

इस विधि में प्रयोज्य को "हाँ" या "नहीं" में अनुक्रिया करनी पड़ती है।

उदाहरण—

1. क्या आप भयानक स्वप्न देखते हैं ? हाँ/नहीं
2. क्या आप साँप से डरते हैं ? हाँ/नहीं
3. क्या आप सामाजिक अवसरों पर सक्रिय रहते हैं ? हाँ/नहीं
4. क्या आपको कल्पना में आनन्द आता है ? हाँ/नहीं
5. क्या आप सोने में बोलते हैं ? हाँ/नहीं

प्रश्नावली विधि के द्वारा अभिवृत्तियों तथा व्यक्तित्व का मापन करते हैं। सरल होने के कारण यह विधि और अधिक लोकप्रिय है।

प्रश्नावली तैयार करने में निम्न बातों पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है—

(i) **प्रश्नों का सरल होना**–प्रश्नों का सरल तथा सुगम होना अनिवार्य है।

(ii) **संक्षिप्तता**—प्रश्नावली में छोटे-छोटे प्रश्नों का होना आवश्यक है। अधिक बड़े प्रश्नों के इस्तेमाल से प्रयोज्य की रुचि कम हो जाती है।

(iii) **विरोध मुक्तता**—प्रश्नों का विरोध मुक्त होना एक आवश्यक गुण है। प्रश्नावली में केवल ऐसे प्रश्नों को शामिल करना चाहिए जिनका उत्तर देने में प्रयोज्य को हिचकिचाहट न हो।

प्रश्नावली विधि में एक महत्वपूर्ण दोष यह होता है कि प्रयोज्य का उत्तर केवल शाब्दिक (Varbal) होता है। साथ ही उसकी अनुक्रिया अन्तर्दर्शन पर आधारित होती है। फिर भारत जैसे देश में जहाँ अधिक लोग अशिक्षित हैं, अनेक व्यक्ति उत्तर देते हुए हिचकिचाते हैं। ऐसी कठिनाइयों का अनुभव लेखक ने स्वयं भी किया है। बहुत से व्यक्ति अपनी वास्तविक भावनाओं को छिपाते हैं। ऐसी दशा में प्रश्नावली द्वारा प्राप्त परिणामों की सत्यता में विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है।

समाजमितीय
(Sociometry)

समाजमितीय एक नई टेकनीक है, जिसका सामाजिक मनोविज्ञान में काफी उपयोग हो रहा है। इसके द्वारा किसी समूह में स्थित सामाजिक सम्बन्धों का ज्ञान होता है। किसी समूह की संरचना, समूह की अन्तःक्रिया का क्रम, दिशा आदि का ज्ञान इसके द्वारा प्राप्त होता है। समूह संरचना के साथ-साथ इस विधि के द्वारा समूह में सदस्यों के स्थान तथा प्रतिष्ठा का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

गार्डनर लिण्डजे के अनुसार—"साधारण भाषा में, समाजमितीय किसी समूह में आकर्षण तथा प्रत्याकर्षण के मापन का एक साधन है। साधारणतया इसमें समूह का हर सदस्य शामिल किया जाता है जो व्यक्तिगत रूप में अपनी पसन्द बताता है कि समूह के अन्य सदस्यों में से किन लोगों के साथ वह मिल-जुलकर किसी क्रिया विशेष में भाग ले सकता है।"[1]

जेनिंग्स के मतानुसार—"समाजमितीय किसी विशिष्ट समूह के सदस्यों के बीच किसी लिखित समय में पाये जाने वाले सम्बन्धों की सम्पूर्ण संरचना की सरल तथा रेखाचित्रों में प्रदर्शित करने का साधन है।"[2]

इस विधि का आविष्कार सन् 1934 ई० में डॉ० जे० एल० मोरेनो ने कैदियों के सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के लिए किया था। उसके बाद अमेरिका के स्कूलों में छात्रों के बीच स्थित सामाजिक सम्बन्धों की जाँच के लिए यह विधि प्रयुक्त होने लगी।

इस विधि में समूह के सदस्यों से पूछते हैं कि अपने समूह में वे किस-किस के साथ मिलना-जुलना, उठना-बैठना या पढ़ना-लिखना पसन्द करेंगे और किन-किन के

---

1. In simplest term, a sociometric measure is a means of assessing the attraction or attractions & repulsions within a given group. It usually involves each member of the group privately specifying a number of other person in the group with whom he would like to engage in some particular activities and further, a number of persons whom he would like to participate in the activities—Lindzey, G. (Editor) : Hand Book of Social Psychology.

2. Sociometry is a means of presenting simply and graphically the entire structure of relations existing at a given time among members of a given group—Jenings.

साथ नहीं। यह पसन्द और नापसन्द भी क्रमानुसार व्यक्त करने का आदेश देते हैं। फिर जब सारे सदस्यों की इच्छा या अनिच्छा का क्रमिक ज्ञान हो जाता है तो एक तालिका बनाते हैं और इसी के आधार पर संवकन (Sociogram) बनाते हैं। सोशियोग्राम के द्वारा एक ही झलक में ज्ञात हो जाता है कि समूह में कौन व्यक्ति कितना लोकप्रिय है, और कौन एकाकी (Isolate) है। यह भी पता चलता है कि किन लोगों में पारस्परिक तथा किन में त्रिभुजाकार सम्बन्ध है। अधिक लोकप्रिय व्यक्ति में यदि नेतृत्व के गुण हो सकते हैं, तो एकाकी व्यक्ति आगे चलकर अप्रकृत हो सकता है। त्रिभुजाकार सम्बन्धों से समूह में गुटबन्दी का ज्ञान होता है। यह विधि आजकल सामाजिक मनोविज्ञान में समूह संरचना से सम्बन्धित अध्ययनों में व्यापक रूप में प्रयुक्त हो रही है।

सांख्यिकीय विधि
(Statistical Technique)

यह कोई अलग विधि नहीं है, जिससे स्वतन्त्र रूप में अध्ययन होते हों, वरन् इसके द्वारा निरीक्षण और प्रयोग की विधियों द्वारा आँकड़ों को व्यवस्थित करके उसकी परिमाणात्मक व्यवस्था (Quantitative analysis) की जाती है। यह प्रवृत्तों के सांख्यिकीय निरूपण (Statistical treatment) में सहायक होती है। अन्य विधियों के द्वारा प्राप्त आँकड़ों के केन्द्रीय झुकाव (Measure of central tendency), मानक-विचलन (Standard Deviation) तथा सहसम्बन्ध (Correlation) आदि की पूर्ण जानकारी के लिये सांख्यकी अति आवश्यक है। इस विधि का प्रयोग विशेष रूप में पूर्वधारणा, जनमत, अभिवृत्ति आदि के अध्ययन में होता है। **बाउले के अनुसार**—"सांख्यिकीय विधि सामाजिक घटना के सम्पूर्ण स्वरूप को मापने का विज्ञान है।"[1] **लॉबिट के अनुसार**—"सांख्यिकी वह विज्ञान है जो संख्यात्मक तथ्यों के संकलन, वर्गीकरण और सारणीयन के आधार पर घटनाओं की व्याख्या, वर्णन एवं तुलना करता है।"[2] इस विधि में निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं—

(i) इसके द्वारा परिणामों का निश्चित वर्णन किया जाता है। गुणवाचक

---

1. Statistics is the science of measurement of social phenomena regarded as a whole in all its manifestation. —Bowley.
2. Statistics is the science which deals, with the collection, classification and tabulation of numerical facts as the basis for explanation, description and comparison of phenomenon. —Lovitt.

शब्दों के द्वारा परिणामों को व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे परीक्षा-फल के बाद कहते हैं कि अमुक बच्चे ने प्रथम, द्वितीय या तृतीय श्रेणी प्राप्त की है।

(ii) किसी भी विधि के द्वारा प्राप्त परिणाम को सार्थक, सुगम एवं बोधगम्य बनाना सम्भव है। यह एक मात्रात्मक विधि है, अतः इसके द्वारा व्यक्तिगत निर्णयों को भी स्पष्ट कर सकते हैं। साथ ही परिणामों को मात्रात्मक (Quantitative) बनाने में इसकी तुलना में कोई विधि नहीं है।

(iii) सांख्यिकी के द्वारा प्रदत्तों की व्याख्या करके पूर्वकथन कर सकते हैं। जैसे पिछले 10 वर्षों में आजादी के बढ़ने के अनुपात को देखकर भविष्य में जन-संख्या क्या होगी, बताया जा सकता है।

(iv) इस विधि के द्वारा एक साथ कई कारकों के प्रभाव का अध्ययन संभव है।

मनोवैज्ञानिक परीक्षण

(Psychological Tests)

सामाजिक मनोविज्ञान में दो तरह के परीक्षणों का उपयोग होता है। इन्हें वस्तुगत परीक्षण (Objective test) और आत्मगत परीक्षण (Subjective test) कहते हैं।

(i) **वस्तुगत परीक्षण** (Objective test)–ऐसे परीक्षणों का बहुत अधिक उपयोग, सामाजिक मनोविज्ञान में नहीं होता है। हाँ, ऐसे परीक्षणों के द्वारा व्यक्ति के सामाजिक विकास पर वंशानुक्रम तथा वातावरण के प्रभाव का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जिन परीक्षणों के द्वारा बुद्धि, विचार, योग्यता, सांकेतिकता आदि का अध्ययन करते हैं उन्हें वस्तुगत या वस्तुनिष्ठ परीक्षण कहते हैं।

(ii) **आत्मगत परीक्षण** (Subjective test)—इस कोटि में प्रक्षेपक परीक्षण आते हैं। मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार अचेतन (Unconscious) मन व्यक्ति की इच्छाओं, कामनाओं तथा निराशाओं के भण्डार-गृह के समान है। यह इच्छायें तथा वासनायें प्रत्यक्ष रूप से अपनी तृप्ति चाहती हैं। इनके कारण मनुष्य के व्यवहार में अनेक विशेषतायें विकसित हो जाती हैं। इन विशेषताओं को प्रति-रक्षक मनोरचनायें कहते हैं।

व्यक्ति अपने अचेतन की दबी हुई इच्छाओं को अज्ञानता में किसी दूसरी वस्तु या व्यक्ति पर प्रक्षेपित (Project) कर देता है। इसी कारण प्रक्षेपक परीक्षाओं का निर्माण हुआ है। व्यक्तित्व मापन में इन परीक्षणों का विशेष महत्व है। इन परीक्षणों के द्वारा व्यक्ति के चेतन प्रेरकों के प्रभावों के अतिरिक्त अचेतन प्रेरकों के

प्रभावों का अध्ययन करते हैं। इस कोटि में आने वाले परीक्षणों से पाठकगण भली-भाँति परिचित होंगे। इनमें मुख्य परीक्षण निम्नलिखित हैं :

(1) रोर्शा-स्याही धब्बा परीक्षण (Rorschach Inkblot Test)—

हरमैन रोर्शा (Hermann Rorschach)—ने सन् 1910 ई० में स्याही के धब्बे वाले दस कार्ड तैयार किये। इनमें से एक-एक कार्ड प्रयोज्य को देते हैं। यह उस कार्ड के धब्बे में जो कुछ देखता है, उसे या तो स्वतन्त्रतापूर्वक बता देता है, या स्वयं लिख देता है। विवरण की संख्या, आकृति, रंग, गति, पशु, मनुष्य पदार्थ एवं अन्य बातों का वस्तुगत रूप से प्रयोगकर्त्ता मूल्यांकन करता है। इस मूल्यांकन एवं विश्लेषण से प्रयोज्य के व्यक्तित्व के गुप्त रहस्यों एवं तत्वों का ज्ञान हो जाता है।

(2) टी० ए० टी० (Thematic Apperception Test)—

इसको मरे (Murray) ने 1935 ई० में तैयार किया था। इसके 30 चित्रों में 10 पुरुषों, 10 महिलाओं के लिये तथा 10 उभयनिष्ठ होते हैं। यह चित्र एक-एक करके प्रयोज्य को दिखाये जाते हैं, और प्रयोज्य को उस चित्र के आधार पर एक कहानी बताने या लिखने का आदेश देते हैं। प्रयोज्य के विवरण के आधार पर उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं। अचेतन इच्छायें, कामनायें तथा दबी हुई वासनायें जो प्रत्यक्ष रूप में प्रकाश में नहीं आती, इसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में प्रयोगकर्त्ता को उनका ज्ञान हो जाता है।

इनके अतिरिक्त सिमन्ड्स का पिक्चर स्टोरी टेस्ट (Picture Story Test) तथा सी० ए० टी० (Children Apperception Test) आदि विख्यात प्रक्षेपक परीक्षण हैं।

प्रक्षेपक परीक्षाओं की समीक्षा के रूप में कहा जा सकता है कि इनके द्वारा प्रयोज्य के व्यक्तित्व की अचेतन तथा गुप्त विशेषताओं का ज्ञान आसानी से प्राप्त हो जाता है। प्रयोज्य इनके परिणामों को नहीं समझता, अध्ययनकर्त्ता उसकी अनुक्रियाओं की व्याख्या के द्वारा व्यक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किन्तु इस विधि के आलोचक परिणामों की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। इस विधियों में मनोविश्लेषक के आत्मगत भावनाओं की प्रधानता रहती है। अतः परिणामों पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता।

अन्तर सांस्कृतिक विधि
(Cross Cultural Method)

व्यक्ति अपनी संस्कृति का दर्पण है। ("Individual is the mirror of

his own culture) व्यक्ति की आदतें, विचार, मूल्य, रहन-सहन, आचार विचार पर उसकी संस्कृति की गहरी छाप होती है। सुविख्यात मानवशास्त्री रैल्फ लिण्टन (Ralph Linton 1938) के अनुसार संस्कृति उन ज्ञान, अभिवृत्तियों आदतजन्य व्यवहार तथा विश्वासों का योग है जिसमें एक विशिष्ट समाज के सदस्यों की सहभागिता होती है और जिसे वे पीढ़ी दर पीढ़ी चलाते हैं। अर्थात् संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्तियों के विचारों, विश्वासों एवं व्यवहारों से है। इसका अभिप्राय यह है कि सामाजिक जीवन के किसी पक्ष के विषय में सदस्यों के परम्परागत विचारों मूल्यों, विश्वासों तथा व्यवहारों की अभिव्यक्ति संस्कृति के द्वारा होती है। अतः व्यक्ति के विचारों, विश्वासों, मूल्यों, आदतों तथा व्यवहारों की सही जानकारी के लिये उसके सांस्कृतिक प्रसंग को समझना अत्यन्त आवश्यक है। एक ही व्यवहार एक विशिष्ट संस्कृति में उचित और उपयुक्त तथा अन्य में अनुचित और अनुपयुक्त होता है।

अन्तर सांस्कृति विधि संसार की विभिन्न सभ्यताओं की प्रथाओं, परम्पराओं, रीतिरिवाजों, विशेषताओं तथा व्यवहारों से सम्बद्ध प्रदत्त एकत्र कर मानव व्यवहार का सापेक्षिक अध्ययन करती है। विश्व की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की समताओं और विषमताओं का तुलनात्मक अध्ययन इसी विधि द्वारा किया जाता है। क्रेच, क्रचफील्ड तथा बेलैकी (Kretch, Crutchfield & Ballachy, 1962) ने कहा है कि विभिन्न समाजों के प्रतिदर्शों में सांस्कृतिक प्रतिमानों से सम्बद्ध समताओं विषमताओं को जानने के लिये अन्तर सांस्कृतिक विधि प्रयुक्त होती है। ("The cross cultural method is designed to discover similarities and differences among cultural patterns in a sizable sample of Society.") ह्वाइटिंग (Whiting, 1968) ने कहा है कि "पूरे विश्व के मनुष्यों के व्यवहारों से सम्बद्ध परिकल्पनाओं की परीक्षा के लिये मानवशास्त्रियों द्वारा एकत्रित प्रथाओं एवं व्यक्तियों की विशेषताओं से सम्बन्धित प्रदत्तों का अनुप्रयोग अन्तर सांस्कृतिक विधि द्वारा किया जाता है।" (The cross cultural method utilizes data collected by anthropolozists concerning the customs and characteristics of various people throughout the world to test hypotheses concerning human nature.")

उपर्युक्त परिभाषाओं से विदित है कि अन्तर सांस्कृतिक विधि उस प्रदत्त सामग्री का प्रयोग करती है जिसे मानवशास्त्री विभिन्न व्यक्तियों के रीति-रिवाज एवं विशेषताओं के विषय में इकट्ठी करते हैं जिससे कि उन परिकल्पनाओं की परीक्षा हो सके जो मानव व्यवहार के विषय में निर्मित की जाती हैं। इस प्रकार यह विधि विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में विद्यमान विशेषताओं का तुलनात्मक

अध्ययन करती है तथा उनमें व्याप्त समानताओं और भिन्नताओं की खोज करती है। यह यह भी खोज करती है कि किस तरह सांस्कृतिक समानओं एवं भिन्नताओं के कारण मानव व्यवहार में भिन्नताएँ तथा समानताएँ उत्पन्न होती हैं। इस विधि के प्रचलन में मरडॉक (Murdock, 1949) ने इसके द्वारा सामाजिक संरचना के अध्ययनों में, टाइलर Tylor, (1889) ने वैवाहिक समस्याओं के अध्ययन में इसका उपयोग किया था। इसके द्वारा गाल्टन (Galton) ने सांस्कृतिक विकास का अध्ययन किया। ह्वाइटिंग (Whiting, 1950), मैक्लीलैण्ड तथा फ्रीडमैन (Mcclelland and Friedman, 1952) राइट (Wright, 1952) और बेरी (Berry, 1952) आदि बाल पोषण तरीकों (Child rearing practices), प्रशिक्षण, अनुशासन, तथा अभ्यास से सम्बद्ध सांस्कृतिक कारकों के अध्ययन में इस विधि के महत्व को प्रमाणित किया है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर अन्तरसांस्कृतिक विधि के निम्न लक्षण बताये जा सकते हैं—

(अ) यह विधि विभिन्न संस्कृतियों के सदस्यों की विशेषताओं तथा व्यवहारों का तुलनात्मक अध्ययन करती है। विभिन्न संस्कृतियों में पोषित व्यक्तियों की तुलना करना इस विधि का प्रमुख उद्देश्य है।

(ब) इसके अन्तर्गत सांस्कृतिक समताओं तथा विषमताओं के अध्ययन के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार पर उसके प्रभावों का अन्वेषण किया जाता है।

(स) संस्कृति के कारण उत्पन्न समानताओं और विषमताओं के आधार पर मानव व्यवहार के विषय में सामान्य नियम प्रतिपादित करने में यह विधि सहायक होती है।

(द) यह विधि व्यक्ति के व्यवहार एवं व्यक्तित्व के निर्धारकों के विषय में व्यापक ज्ञान प्राप्त होता है।

(य) विभिन्न समाजों में प्रचलित सांस्कृतिक इकाइयों—जैसे चलन, प्रथाओं, रीतिरिवाजों आदि का सापेक्षिक अध्ययन इस विधि द्वारा संभव है।

अन्तरसांस्कृतिक विधि के प्रकार
(Types of Cross Cultural Method)

परम्परागत रूप से ऐसे अध्ययन दो प्रवर्गों में विभाजित किये जाते हैं—विवरणात्मक तथा व्याख्यात्मक अध्ययन (descriptive and explanatory studies) किन्तु ऐसा विभाजन उचित और सही नहीं है। अधिकतर विवरणात्मक अध्ययनों के द्वारा मानवीय विशेषताओं के विषय में सामान्यीकरण जरूर किये जाते हैं। यह

ठीक है कि ऐसे अध्ययन अनुमान पर आधारित होते हैं किन्तु यह नयी परिकल्पनाओं के निर्माण में सहायक होती है तथा कारणात्मक सम्बन्धों को खोजने का प्रयास करती है।

ड्रेज़कर तथा रोक्कान (1954) के अनुसार यह विधि तीन प्रकार की होती है। प्रथम, प्रलेखीय अध्ययन (documentary studies) में विभिन्न अभिलेखों में उपलब्ध गुणों एवं लक्षणों की तुलनात्मक व्याख्या करते हैं दूसरे प्रवर्ग में प्रचलित सांख्यकी अध्ययन आते हैं तथा तीसरे प्रवर्ग में क्षेत्र तथा प्रयोगशाला से सम्बद्ध अध्ययन आते हैं।

इस विधि द्वारा अध्ययन करने में कुछ सावधानियाँ आवश्यक हैं। विधि जटिल है अतः अध्ययनकर्त्ता का प्रशिक्षित होना अत्यन्तावश्यक है। प्रतिदर्श चयन में भी सावधानी आवश्यक है। प्रतिदर्श (Sample) चयन इस प्रकार करना चाहिये कि वह सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता हो। ऐसे व्यक्तियों से ही सूचनाएँ ली जाय जो सम्बद्ध संस्कृति से भली प्रकार परिचित हों और उन्हें उस विशिष्ट संस्कृति का निजी अनुभव हो, तथा वस्तुनिष्ट दृष्टिकोण रखते हो। अध्ययन में प्रयुक्त होने वाली मापनियाँ मानकीकृत हों और उनके मूल्य सुनिश्चित हों। मापनियों की विश्वसनीयता और वैधता सुनिश्चित होनी चाहिये। यह भी आवश्यक है जिस विषय का अध्ययन करना हो सम्बन्धित समाज में उसकी उपलब्धता के बारे में आश्वस्त होना चाहिये। सारे निर्णायकों का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ट होना अनिवार्य है। इस विधि द्वारा किये अध्ययनों का विश्वव्यापी उपयोग होना चाहिये। अन्तर सांस्कृतिक अध्ययनों द्वारा समाज मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों में मानव स्वभाव, विभिन्न मानव संस्थाओं के विकास तथा उनमें प्रचलित परम्पराओं आदि को भली प्रकार समझ सकते हैं।

अध्याय 3

सामाजिक अभिप्रेरक

(Social Motives)

मनुष्य कोई व्यवहार क्यों करता है ? वह अन्य कार्यों के बजाए कोई कार्य विशेष क्यों करता है ? व्यक्ति किसी वैकल्पिक व्यवहार को छोड़कर कोई विशेष व्यवहार क्यों करता है ? एक विद्यार्थी अपनी पढ़ाई में अत्यधिक परिश्रम करता है, तो अन्य कोई ध्यान नहीं देता ? इस दिशा में सल्की (1884) का विचार था कि किसी कार्य के पहले व्यक्ति में 'इच्छा' उत्पन्न होती है, जो उसके कार्यों का निर्धारण करती है। डीवी (1886) ने भी इच्छा द्वारा व्यवहार को दिशा दिये जाने की चर्चा करते हुए कहा था कि इच्छा, अभिप्रेरक बन जाती है । इस दिशा में सर्वप्रथम मैकडूगल (1908) ने वैज्ञानिक रूप में प्रयास किया। उसके अनुसार मानव की क्रियाओं का कारण उसकी मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts) हैं। ये प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य की क्रियाओं को संचालित एवं नियन्त्रित करती हैं। अनेक मनोवैज्ञानिक इस सिद्धान्त से असहमत रहे (Carmichael; 1972; Lashley, 1938; Kuo 1930, Lasman 1953) इन्होंने मूल प्रवृत्तियों के सिद्धांत के विपरीत परिणाम प्राप्त किये।

उडवर्थ (Woodwarth) ने "अन्वर्नोद" (Drives) को मानव व्यवहार का कारण माना है । Hebb (1949), Hull (1943) आदि भी इससे सहमत हैं। इस दिशा में टोलमैन (Tolman), तथा यंग (Young) आदि भी सराहनीय प्रयास किये। यंग (1936) ने सर्वप्रथम अभिप्रेरणा शब्द का अनुप्रयोग किया। उसने यह प्रमाणित किया कि सभी अन्वर्नोदों की उत्पत्ति शारीरिक आवश्यकताओं के द्वारा नहीं होती। अभिप्रेरणा का उदय एक मनोवैज्ञानिक प्रत्यय के रूप में हुआ। अभिप्रेरणा की मुख्य विशेषताएँ लक्ष्योन्मुखता और निरन्तरता है। व्यक्ति के व्यवहार के कारणों को समझने के लिए अभिप्रेरणा को समझना आवश्यक है। मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए होता है और यह सन्तुष्टि लक्ष्य के द्वारा होती है। प्रेरक, मनुष्य को किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सक्रिय करती हैं, क्रिया को लक्ष्य की दिशा में उद्वेलित करती है तथा प्राप्ति तक जारी रखती है।

हमारी कुछ अभिप्रेरणायें शारीरिक तथा अन्य सामाजिक होती हैं। जैविक या

शारीरिक आवश्यकताओं से सामाजिक अभिप्रेरक अधिक जटिल होते हैं। व्यक्ति के लिए प्राय: सामाजिक अभिप्रेरक, जैविक अभिप्रेरकों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। सामाजिक अभिप्रेरक, जैविक अभिप्रेरकों के विपरीत अधिगम जन्य होते हैं अर्थात, सामाजिक अधिगम के परिणाम स्वरूप विकसित होते हैं। मानव के सामाजिक व्यवहार उसके सामाजिक अभिप्रेरकों द्वारा निर्धारित एवं नियन्त्रित होते हैं।

सामाजिक अभिप्रेरणायें जैविक अन्वर्नोदों की अपेक्षा अधिक जटिल एवं विविध होती हैं तथा यह अनेक प्रकार की होती हैं। व्यक्ति एक सामाजिक जीव है अत: वह समाज की समर्थन अनुमोदन तथा प्रशंसा पाने का अभिलाषी होता है। वह समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपनी उपलब्धियों को बढ़ाना चाहता है। वह अपने अनेक कार्यों की पूर्ति के लिए कभी शक्ति चाहता है तो कभी सम्बन्ध का प्रदर्शन करता है। कभी-कभी व्यक्ति द्वन्द्व एवं कुण्ठा का शिकार भी हो जाता है और आक्रामक व्यवहार भी करता है। सामाजिक व्यवहार से सम्बद्ध नाना प्रकार की जिज्ञासाओं के उत्तर सामाजिक अभिप्रेरकों द्वारा प्राप्त होते हैं।

आवश्यकता के स्वरूप और प्रकार

(Needs Nature Type)

आवश्यकतायें—व्यवहार के कारणों को समझने में प्रयुक्त शब्दों में 'आवश्यकता' प्रत्यय कुछ दृष्टियों से अधिक मौलिक है। यह शब्द नैदानिक मनोविज्ञान तथा व्यक्तित्व सिद्धान्त द्वारा शरीर विज्ञान से लिया गया है। प्राणी के लिए प्राणभूत या किसी महत्वपूर्ण वस्तु की कमी या न्यूनता ही आवश्यकता है। हेनरी क्ले लिण्डग्रेन के अनुसार, "A need is, basically, a lack of something vital or important to the organism—a deficit." हम सभी पानी, पोषाहार, आक्सीजन, गर्मी आदि आवश्यकताओं का अनुभव करते हैं। इनके अतिरिक्त हम सभी को सक्रियता, विश्राम तथा मलमूत्र विसर्जन की आवश्यकतायें होती हैं। कभी-कभी शब्द 'आवश्यकता' के अनुप्रयोग की आलोचना में कहा जाता है, कि वास्तव में इससे कुछ भी स्पष्ट नहीं होता और यह मात्र लेबुल है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भोजन करता है, पानी पीता है, विश्राम करता है, आदि। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि आवश्यकता केवल कुछ लक्ष्यों और व्यवहारों का नाम नहीं है। इसमें यह तथ्य अवश्य निहित होता है। कुछ लक्ष्य या व्यवहार प्राणी के लिए प्राणभूत होते हैं जिनके अभाव (एक सीमा के बाद) में जीवन दुर्लभ हो जायगा या सामान्य वृद्धि अवरुद्ध होगी।

मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ इसी मूलभूत विचार का द्योतक हैं सिवाय इसके

कि सामान्यतौर पर मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें मानव अस्तित्व के लिये प्राणभूत एवं उत्तरी क्रान्तिक नहीं होती। यद्यपि दीर्घकाल तक इन आवश्यकताओं के अभाव या न्यूनता से जीवन पर अनेक दुष्परिणाम हो सकते हैं। यह उन लक्ष्यों या व्यवहारों के वर्ग के समान हैं जो विभिन्न व्यक्तियों में परिवर्तित होते हैं। यह व्यक्तिगत भिन्नताओं के बावजूद कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती हैं। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें जटिल अभिवृत्तियों या मूल्यों में अभिप्रेरक हैं और व्यक्ति में विभिन्न व्यवहार इन्हीं के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

शारीरिक आवश्यकताओं की तीव्रता में पर्याप्त अन्तर्व्यक्तिक परिवर्तन पाए जाते हैं, किन्तु इससे कहीं अधिक भिन्नता मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की शक्ति में प्रगट होती है। यहाँ तक कि सम्बन्ध की सार्वभौम आवश्यकता की तीव्रता और अवधि में परिवर्तन देखा जाता है। शारीरिक आवश्यकताओं की भांति सामाजिक आवश्यकताओं की तीव्रता सामाजिक अधिगम द्वारा संशोधित होती है। यही नहीं कुछ आवश्यकताएँ जैसे उपलब्धि की आवश्यकता या शक्ति की आवश्यकता भी मुख्य रूप से सामाजिक अधिगम का परिणाम है।

उद्दीपन की आवश्यकता

(The need for stimulation)

सामाजिक आकर्षण क्यों होता है? वैसे तो यह प्रश्न काफी जटिल है किन्तु इसकी व्याख्या में कुछ स्पष्टीकरण प्रयुक्त होते हैं। किसी न किसी मात्रा में सभी प्राणी उद्दीपन चाहते हैं। सबसे सरल स्तर पर, वे उद्दीपन चाहते हैं जो प्राणी के जीवन की रक्षा तथा प्रजनन में काम आते हैं। जातियों के विकास क्रम में प्राणी अधिक उद्दीपन ढूढ़ते हैं और ऐसे उद्दीपनों के सम्पर्क में आते हैं जो जीवन रक्षक या उपयोगितापूर्ण उद्देश्य नहीं रखते। शिशु सरल की अपेक्षा जटिल दृष्टि परक उद्दीपकों की ओर देखना अधिक पसन्द करते हैं और उद्दीपक की जटिलता आयु के साथ धनात्मक रूप में सहसम्बद्ध होती है। (बेरिलाइन, 1966; ब्रेन्नान, एमिस तथा मूर 1966)।

उद्दीपन-सम्वर्धित (Stimulus enriched) पर्यावरण तथा उद्दीपन रहित (impoverished) दशाओं में पोषित चूहों की तुलना से सम्बद्ध प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ कि उद्दीपन से सम्वर्धित पर्यावरण के कारण मस्तिष्क के चिन्तन क्षेत्र अधिक विकसित होते हैं और स्नायविक सक्रियता अधिक होती है। इस शोध से यह भी प्रमाणित हुआ कि उद्दीपन से परिपूर्ण पर्यावरण में पोषण से समस्या-समाधान की क्षमता बढ़ जाती है तथा मस्तिष्क की संरचना तथा रसायनिकता

में भी भिन्नता व्यक्त होती हैं (बेनेट, डायमन्ड, क्रेच तथा रोजेनज्वाइग (1964)।

एम० सेल्स (1971) ने परिकल्पना की, कि उद्दीपन की आवश्यकता के कारण लोग दूसरों के साथ रहना चाहते हैं और जटिल, नवीन तथा रोचक परिस्थितियों के प्रति अनुकूल प्रतिक्रियायें करते हैं। सेल्स ने अनेक अध्ययन किये जिनके परिणाम इस परिकल्पना की पुष्टि करते हैं, जिनमें उद्दीपन की आवश्यकता अधिक प्रबल होती है वे दूसरों से सम्बन्ध रखने की अभिलाषा भी अधिक रखते हैं। बाद के परिक्षणों से यह भी ज्ञात हुआ कि उच्च उद्दीपन आवश्यकता वाले प्रयोज्यों ने प्रयोगावधि में जटिल डिजाइनों का चयन और न्यून उद्दीपन आवश्यकता वालों ने अपेक्षाकृत सरल डिज़ाइनों का चयन किया। जब 7½ मिनट के लिए उच्च उद्दीपन समूह के प्रयोज्यों को कमरे में अकेले छोड़ा गया तो वे अधिक बेचैन दिखाई दिये। उन उद्दीपन समूह के प्रयोज्यों में बेचैनी के लक्षण भी न्यून थे। इसी प्रकार, छोटे समूह सन्दर्भ में समस्या-समाधान परिस्थिति में रखे जाने पर न्यून उद्दीपन आवश्यकता वालों की अपेक्षा उच्च उद्दीपन समूह के प्रयोज्यों ने अधिक वक्तव्य दिये या अन्य सहयोगियों के साथ अधिक बातचीत की। सेल्स ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह भी निष्कर्ष प्राप्त किया कि उद्दीपन-आवश्यकता में भिन्नता अधिकांश अप्रत्याशित सामाजिक व्यवहारों का कारण होती है।

मैस्लो का आवश्यकता सिद्धान्त

(Maslow's Theory of Human Needs)

आवश्यकताओं के विषय में अब्राहम मैस्लो (1954) ने मौलिक आवश्यकताओं की प्रणाली (System of basic Psychological needs) का प्रतिपादन किया। इसे आवश्यकताओं के अनुक्रमिक विकास (Sequential Development of Needs) का सिद्धान्त भी कहा जाता है। मैस्लो के अनुसार मनुष्य में प्रेम एवं ध्यान की प्रबल आवश्यकता होती है। यदि मनुष्य को प्रेम स्नेह नहीं प्राप्त होता या ध्यान की आवश्यकता अतृप्त रह जाती है तो उसमें विकृतियां विकसित होती हैं और उसका जीवन भी संकट में पड़ सकता है। यह प्रेम की आवश्यकता, उद्दीपन की सामान्य आवश्यकता का परिमार्जन भी हो सकती है। उसके सिद्धान्त में आवश्यकताओं के विकास के अनुक्रम की चर्चा की गई हैं अर्थात् यह कहा गया है कि व्यक्ति की आवश्यकताओं का विकास एक निश्चित अनुक्रम में होता है। वह मौलिक मानवीय आवश्यकताओं को पाँच वर्गों में रखती है। किन्तु यह आवश्यकतायें अपने अनुक्रम के अनुसार विकसित होती हैं। सर्वप्रथम, सबसे मौलिक एवं आदिम स्तर की आवश्यकतायें विकसित होती हैं और अन्त में सबसे अधिक

उच्च-स्तरीय आवश्यकताओं का विकास होता है। इसमें सभी आवश्यकतायें भविष्य में विकसित होने वाली आवश्यकताओं के लिए मौलिक होती हैं।

आवश्यकताओं के विकास का अनुक्रम
(Hierarchy of Needs)

1. **शारीरिक आवश्यकताएं (Physiological needs)**—शारीरिक प्रक्रियाओं को जारी रखने में मौलिक आवश्यकतायें—जैसे भूख, प्यास, विश्राम, यौन आदि प्रमुख होती हैं, जिनका विकास सर्वप्रथम होता है।

2. **सुरक्षात्मक आवश्यकतायें (Safety needs)**—इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत सुरक्षा से होता है और इसके अन्तर्गत निर्भयता; सुव्यवस्था आदि आवश्यकतायें प्रमुख हैं। इसी के द्वारा हम बाह्य खतरों से, या किसी भी घातक एवं भयावः परिस्थितियों से अपने को बचाते हैं। यह विकास क्रम में शारीरिक आवश्यकताओं के बाद किन्तु सम्बन्ध एवं प्रेम से पहले विकसित होती हैं।

3. **सम्बन्ध एवं प्रेम की आवश्यकताएं (Belongingness and love needs)** अन्य व्यक्तियों से स्नेह, प्रेम एवं पोषित किये जाने की आवश्यकतायें इस वर्ग में आती हैं। सुरक्षात्मक आवश्यकता के विकास से इस आवश्यकता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज, अपने सदस्यों को भौतिक वातावरण के प्रकोपों, अन्य व्यक्तियों की आक्रामकताओं आदि से बचाता है और बदले में सदस्यों से अनुरूपता के रूप में कीमत वसूल करता है। हमें इस कीमत चुकाने की चेतना नहीं होती जो सुरक्षा, सम्बन्ध तथा स्नेह के लिए कोई व्यक्ति या समूह प्रदान करता है।

4. **मान/आदर की आवश्यकताएं (Esteem needs)**—इसके अन्तर्गत महत्व, आदर, सम्मान, स्वीकृति, उपयुक्तता, आत्मादर, सफलता तथा उपलब्धि आदि आवश्यकतायें आती हैं। यह आवश्यकतायें समूह के सन्दर्भ में प्राप्त होती हैं और यह दूसरों द्वारा व्यक्ति की स्वीकृति की मात्रा पर निर्भर करती हैं। इस आवश्यकता की तृप्ति के लिए हम दूसरों से सम्पर्क, साहचर्य एवं सम्बन्ध रखने के लिये प्रेरित होते हैं, क्योंकि इसी के द्वारा हम अपना मूल्यांकन करते हैं। सामाजिक समूह की सदस्यता के द्वारा हमारे भीतर परिचय एवं साथेकता का भाव उत्पन्न होता है।

5. **आत्मसिद्धि की आवश्यकताएं (Self-actualization)**—इसके अन्तर्गत आत्मपूर्ति (Self fulfilment), आत्म बलिदान, त्याग, समाज सुधार तथा देश प्रेम, मानवता के प्रति प्रेम आदि आवश्यकतायें आती हैं। आत्मसिद्धि या आत्मपूर्ति की आवश्यकता सबसे उच्चस्तरीय आवश्यकता है और शेष सभी आवश्यकताओं पर इसका प्रभुत्व होता है। अन्य निम्नस्तरीय आवश्यकतायें इसके द्वारा

नियन्त्रित एवं संचालित होती हैं। आत्मपूर्ति, जीवन का सर्वोच्च एवं सर्वप्रधान उद्देश्य है। इस आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् निम्नस्तरीय आवश्यकताओं की पूर्ति या अपूर्ति निरर्थक हो जाती है। आवश्यकताओं में यह सर्वोच्च है।

Maslow के शब्दों में, "A musician must make music, an artist must paint, a poet must write, if he is to be ultimately at peace with himself. What man can be, must be true to his own nature. This need we may call self actualization"

मैस्लो के अनुसार सर्वप्रथम निम्नस्तरीय आवश्यकतायें संतुष्ट होती, फिर धीरे-धीरे उच्च-स्तरीय आवश्यकतायें विकसित होती हैं। इसे वह वैकासिक-अनुक्रम (Developmental sequence) या अनुक्रमिक संगठन (Hierarchical Organization) कहता है। इसके अनुसार मनुष्य की उच्चस्तरीय आवश्यकताओं की उत्पत्ति निम्नस्तरीय आवश्यकताओं की पूर्ति पर निर्भर होती हैं,—जैसे, यदि किसी व्यक्ति को भोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो तो उच्च स्तर की आवश्यकताओं मान, सम्मान, आदर, मान्यता, प्रतिष्ठा आदि का विकास हो सकता है। किन्तु भूखे पेट कोई व्यक्ति सम्मान, आदर या आदर्श या राष्ट्रप्रेम के भाव से ओतप्रोत नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति में उच्च-स्तर की आवश्यकतायें भली प्रकार विकसित हो जाती हैं, उसकी निम्न-स्तरीय आवश्यकताओं का महत्व घटने लगता है। इस प्रकार आवश्यकताओं के क्रम से एक प्रकार की वरीयता का परिचय प्राप्त होता है।

मैस्लो की सूची से स्पष्ट होता है कि समाजीकृत आवश्यकतायें तृतीय एवं चतुर्थ स्तर पर ही मुख्य रूप से आती हैं, यद्यपि सभी पाँच स्तरों पर अभिवृत्ति और व्यवहार सामाजिक अधिगम द्वारा प्रभावित होता है।

आर्नाफ तथा मेस्से (1971) ने अपने एक प्रयोग में मैस्लो की दो आवश्यकताओं को आधार बनाकर छोटे समूहों में सहयोग (Cooperation and Collaboration) का अध्ययन किया। प्रयोज्यों का पूर्वचयन सुरक्षात्मक तथा आदर आवश्यकताओं के एक वाक्य पूर्ति परीक्षण के प्राप्तांकों के आधार पर किया गया। जो प्रयोज्य गण सुरक्षा आवश्यकता की पूर्ति को वरीयता देते हैं वे क्रमिक एवं भविष्यकथनीय संसार को पसन्द करते हैं। सामाजिक सम्बन्धों, कार्यों, या निजी भावनाओं का सामना करने की अपनी योग्यता के विषय में अयोग्य प्रतीत हुये तथा जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में असुरक्षा, अविश्वास, निर्भरता तथा अनुपयुक्तता की भावनाएँ व्याप्त थीं।

दूसरी ओर सम्मान की आवश्यकता को पसन्द करने वाले प्रयोज्यों में अपनी

क्षमता एवं कुशलता के प्रदर्शन की प्रबल इच्छा थी। साथ ही वे अन्य व्यक्तियों द्वारा आदर की प्राप्ति के भी अभिलाषी थे। उनकी प्रतिक्रियाओं में आत्मविश्वास, प्रभुता, नियन्त्रण एवं अधिपत्य के लक्षण विद्यमान थे।

मैस्लो का सिद्धान्त व्यक्तित्व के सिद्धांतों में अत्यन्त प्रमुख स्थान रखता है। यही नहीं, उनकी विचार धारा अधिकांश मनोविश्लेषक चिन्तन में सामान्य रूप से और मानसिक स्वास्थ्य में विशेष रूप से पाई जाती है।

मरे का सिद्धान्त
(Murray's Theory)

मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं तथा उनके वर्गीकरण का एक अन्य उपागम हेनरी ए० मरे (1938) ने प्रस्तुत किया है। मरे ने आवश्यकता (Need) की परिभाषा देते हुए कहा है, "A need is a construct which stands for a force...in the brain region, a force which organizes perception, apperception, intellection, conation and action in such a way as to transform in a certain direction an existing, unsatisfying situation. A need is sometimes provoked directly by internal processes of a certain kind but more frequently by the occurrence of one of a few commonly effective press (environmental forces)...Thus, it manifests itself by leading the organism to search for or to avoid encountering or, when encountered, to attend and respond to certain kinds of press...Each need is characteristicaly accompanied by a particular feeling or emotion and tends to use certain modes...It may be weak or intense, momentary or enduring. But, usually it persists and gives rise to certain course of overt behaviour, which...changes the initiating circumstances in such a way as to bring about an end situation which stills (appeases or satisfies) the organism" (Murray, 1938, pp. 123–124).

इस परिभाषा के अन्तर्गत आवश्यकता को एक अमूर्त या काल्पनिक प्रत्यय बताया गया है, जो एक प्रकार की शक्ति या बल का द्योतक है। यह मस्तिष्क की शारीरिक क्रियाओं से सम्बद्ध है परिभाषा में इस बात का संकेत भी है कि आवश्यकतायें आन्तरिक या बाह्य उद्दीपकों से उत्पन्न हो सकती हैं। आवश्यकता, प्राणी में क्रिया उत्पन्न करती है और वह सक्रियता उस समय तक कायम रहती है जब तक कि आवश्यकता में कमी नहीं आती। कुछ आवश्यकताओं के साथ विशिष्ठ सम्वेग या भाव सम्बद्ध होते हैं।

मरे के अनुसार आवश्यकताओं की उपस्थिति का अनुमान निम्न क्रियाओं द्वारा होता है—

1. व्यवहार के प्रभावों या परिणामों द्वारा,
2. व्यवहार प्ररूप एवं प्रकार,
3. विशिष्ठ उद्दीपन वर्ग की वस्तुओं के प्रति अनुक्रिया,
4. विशिष्ठ संवेगों एवं भावनाओं का प्रकाशन,
5. वांछित कार्य के सम्पन्न या असम्पन्न रहने की दशा में सन्तोष अथवा निराशा का प्रकाशन।

मरे ने 20 आवश्यकताओं की सूची प्रस्तुत की है, जो निम्न हैं—

1. **अवज्ञा** (Abasement)—इसके द्वारा व्यक्ति आलोचना, निन्दा एवं दण्ड को सहन करता है और उसमें हीन भाव का जन्म होता है।

2. **उपलब्धि** (Achievement)—जटिल कार्यों का सम्पादन—किसी वस्तु का निर्माण, व्यक्तियों और विचारों में संगठन और व्यवस्था, कार्यों का सफलता पूर्वक करना, प्रकर्षता स्तर तक पहुँचना, रुकावटों या अवरोधों पर विजय प्राप्ति के प्रयास, दूसरों को पिछाड़ना, सफलता की प्राप्ति का प्रयास या विफलता से बचाव का प्रयास आदि इसी आवश्यकता के द्वारा होता है।

3. **सम्बन्ध** (Affiliation)—साथियों एवं मित्रों के करीब रहना अथवा दूसरों के साथ की चाह, मित्रों एवं साथियों के प्रति सहयोग एवं प्रेम का व्यवहार आदि इसके प्रमुख लक्षण हैं।

4. **आक्रामकता** (Aggression)—प्रतिद्वन्दियों एवं विरोधियों को परास्त करना, विरोधियों के प्रति बदले की भावना से कार्य करना, शाब्दिक प्रहार, आलोचना, निन्दा तथा शारीरिक प्रहार आदि इसके प्रमुख रूप हैं।

5. **स्वायत्तता** (Autonomy)—बन्धन मुक्तता, स्वतन्त्रता, आत्मनिर्भरता, उत्तरदायित्व का थोड़ा अभाव, स्वेच्छानुसार कार्य करना आदि।

6. **प्रतिकर्म** (Counteraction)—पुनः कार्य करके खोये हुए सम्मान की प्राप्ति के प्रयास, न्यूनताओं को दूर करने के प्रयास, भय कठिनाइयों एवं बाधाओं को दूर करना आदि।

7. **प्रतिरक्षण** (Defendence)—अपने गलत कार्यों को उचित सिद्ध करना, अपमान, असफलता एवं अनुपयुक्तता को छिपाना, दूसरों के प्रहारों, निन्दा आदि से अपना बचाव करना।

8. **अनुवर्तन** (Deference)—अपने अग्रजों एवं श्रेष्ठ जनों का सम्मान एवं समर्थन, उनके प्रभाव एवं अधिकारों तथा परम्पराओं की स्वीकृति।

9. प्रभाव (Dominance)—पर्यावरण पर नियन्त्रण एवं अधिकार रखना दूसरों को आदेशों एवं दबावों द्वारा प्रभावित करना आदि।

10. प्रदर्शन (Exhibition)—अपनी विशेषताओं द्वारा दूसरों को प्रभावित करना, उत्तेजित एवं आश्चर्यचकित करने का प्रयास, ढोंग एवं वाह्याडंबर का भी उपयोग करना आदि।

11. क्षति-परिहार (Harm avoidance)—हर प्रकार की क्षति जैसे रोग, शारीरिक एवं मानसिक अति, दुःख, पीड़ा और मृत्यु से रक्षा करना, घातक एवं भयावः परिस्थितियों से पलायन, सावधान एवं सतर्क रहना आदि।

12. अपकीर्ति से बचाव (Infavoidance)—दुःखद, अनादर एवं अनावधानपूर्ण परिस्थितियों से बचना, हीन-भावना को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों से बचना, असफल होने के भय से प्रेरित होना आदि।

13. परिपोषण (Nurtusance)—प्राणियों के प्रति सहानुभूति एवं सहायता भाव, संकट में लोगों की मदद, दूसरों की सुरक्षा एवं सेवा आदि।

14. क्रम या व्यवस्था (Order)—संगठन, व्यवस्था, नियमितता एवं स्वच्छता आदि का ध्यान रखना।

15. क्रीड़ा (Play)—दिन बहलाने के लिए कार्य करना, हँसी-मजाक करना, क्रीड़ाओं, नृत्य, नाटकों आदि में भाग लेना।

16. अस्वीकरण (Rejection)—तथाकथित निम्न स्तर के लोगों से किनारे रहना, अवांछित व्यक्तियों से सम्पर्क न रखना, दूसरों को तुच्छ साबित करना आदि।

17. संवेदिता (Sentience)—इन्द्रियानुभावों की इच्छा करना।

18. यौन (Sex)—यौन सम्बन्ध की इच्छा और उससे सम्बद्ध व्यवहारों में रूचि।

19. अवलम्बिता (Succorance)—आवश्यकता-पूर्ति में साथियों की सहायता लेना देख-रेख, सुरक्षा एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य लोगों पर आश्रित रहना, समर्थकों को साथ-साथ लिये रहना आदि इस आवश्यकता के मुख्य लक्षण हैं।

20. बोध या ग्रहणशीलता (Understanding)—प्रश्नोत्तर द्वारा तथ्यों को समझने का प्रयास, अभिग्रह, परिकल्पना, नियम और सिद्धान्त प्रतिपादन का प्रयास करना आदि।

[मरे (1938) पृष्ठ 152-226]

आवश्यकताओं के प्रकार
(Types of Needs)

मरे ने आवश्यकताओं को विभिन्न वर्गों में रखने के कई आधारों का उपयोग किया है, जो निम्न हैं—

1. (A) प्राथमिक या अन्तरांगिक आवश्यकताएँ
(Primary or Viscerogenic needs)
(B) गौण या मनोजनित आवश्यकताएँ
(Secondary or Psychogenic needs)

प्राथमिक आवश्यकतायें मूलरूप में शारीरिक होती हैं—जैसे भूख, प्यास, काम, श्वास, मलमूत्र विसर्जन, विश्राम आदि। इन्हीं को आन्तरांगिक भी कहते हैं। गौण या मनोजनित आवश्यकतायें आन्तरिक या अन्तरांगिक आवश्यकताओं से उत्पन्न होती हैं किन्तु ये प्राणभूत न होकर मनोजन्य होती हैं—जैसे मान्यता, प्रभुत्व, संग्रह, संचय, अनुवर्तन, उपलब्धि आदि की इच्छा।

2. (A) व्यक्त आवश्यकताएँ (Overt needs)
(B) अव्यक्त आवश्यकताएँ (Covert needs)

व्यक्त आवश्यकताएँ वे हैं जो गतिक व्यवहार या शारीरिक क्रियाओं द्वारा प्रकट होती हैं। अव्यक्त आवश्यकतायें वे हैं जिनका प्रकाशन प्रकट रूप में नहीं होता जैसे दिवास्वप्न, कल्पना, चिन्तन आदि।

3. (A) केन्द्रिक आवश्यकताएँ (Focal needs)।
(B) विकीर्ण आवश्यकताएँ (Diffuse needs)

केन्द्रिक आवश्यकताओं का सम्बन्ध पर्यावरण की सीमित वर्ग की वस्तुओं से होता है। दूसरी ओर कुछ आवश्यकतायें इतनी सामान्यीकृत होती हैं कि वे प्रत्येक पर्यावरण-सन्दर्भ में लागू होती हैं। यदि आवश्यकता किसी अनुपयुक्त वस्तु से दृढ़तापूर्वक आबद्ध (जुड़ी) होती है तो इसे स्थिरीकरण (Fixation) कहा जाता है और इसे मनोविकार मानते हैं। किन्तु आवश्यकता में अपेक्षाकृत स्थायी वस्तु वरीयता की योग्यता का अभाव होना भी मनोविकार माना जाता है।

4. (A) अग्रोन्मुखी आवश्यकताएँ (Proactive needs)
(B) प्रतिक्रियात्मक आवश्यकताएँ (Reactive needs)

अग्रोन्मुखी आवश्यकतायें आन्तरिक प्रणाली एवं वृत्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं, इनका प्रकाशन अपने आप, या बिना बाह्य उद्दीपन के होता है अर्थात् इनका कारण व्यक्ति में निहित होता है बाहरी उद्दीपनों में या पर्यावरण में नहीं होता।

प्रतिक्रियात्मक आवश्यकतायें पर्यावरण की घटनाओं द्वारा उद्दीप्त होती हैं : सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यकतायें महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। वह कहता है कि जब दो व्यक्ति एक दूसरे से मिलते हैं तो एक बात शुरू करता है या अन्य को अनुक्रिया के लिए अभिप्रेरित करता है। अतः बात शुरू करने वाला अग्रोन्मुखी और अनुक्रिया करने वाला प्रतिक्रियात्मक आवश्यकता का उदाहरण कहा जायगा।

5. (A) प्रक्रम क्रिया आवश्यकताएं (Process activity needs)
(B) मोडल आवश्यकताएँ (Modal needs)

प्रक्रम क्रिया आवश्यकता के कारण जो व्यवहार होते हैं वे बिना लक्ष्य के होते हैं—जैसे कल्पना जगत में विचरण या दिवास्वप्न देखना निरुद्देश्य चिन्तन है। व्यक्ति की क्रिया केवल क्रिया के उद्देश्य से होती है। दूसरी ओर मोडल आवश्यकता से प्रेरित व्यक्ति प्रकर्षता की निश्चित मात्रा प्राप्त करना चाहता है। यह व्यक्ति को सृजनशील एवं रचनात्मक बनाती है।

आवश्यकताओं का अन्तर्सम्बन्ध (Interrelation of needs)—मरे के अनुसार विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की चर्चा का उद्देश्य यह बताना नहीं है कि यह एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध हैं। उसके अनुसार आवश्यकतायें एक-दूसरे से सम्बद्ध है और यह एक-दूसरे से पृथक होकर कार्य नहीं करतीं। यही नहीं वह यह भी स्वीकार करता है कि आवश्यकताओं में पदानुक्रम (Hierarchy) देखा जाता है अथवा कुछ वृत्तियाँ अन्य से अधिक अग्रणी होती हैं। यह देखा जाता कि कुछ आवश्यकतायें अन्य की तुलना में इतनी तीव्र/प्रबल होती हैं कि उनकी तृप्ति तुरन्त आवश्यक होती है। वे अपरिहार्य होती हैं। आवश्यकताओं के पदानुक्रम का निश्चित करने में उनकी प्रबलता, तीव्रता और महत्व पर ध्यान देते हैं। इस प्रकार, किसी परिस्थिति में जब दो या अधिक आवश्यकतायें साथ-साथ उद्वोलित होती हैं, और विसंगत अनुक्रियाओं के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती हैं, तो प्रबल आवश्यकता (Prepotent need) हावी रहेगी या उसी के अनुसार व्यक्ति अनुक्रिया करेगा। प्रबल आवश्यकता के उदाहरण के रूप में पीड़ा, भूख, प्यास आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ आवश्यकतायें एक बार प्रयास करने से पूरी नहीं होती, उनकी पूर्ति के लिए हमें बार-बार प्रयास करना पड़ता है। लेकिन कुछ दशाओं में मात्र एक प्रयास में अनेक आवश्यकतायें संतृप्त हो जाती हैं। इसे मरे ने आवश्यकताओं का संलयन (Fusion) कहा है। यही नहीं कुछ आवश्यकतायें अन्य आवश्यकताओं के लिए गौण हैसियत रखती हैं—जैसे आक्रामकता प्रायः संचय की गौण आवश्यकता का रूप भी ले सकती है।

आवश्यकतायें व्यक्ति के पर्यावरण एवं स्वयं व्यक्ति से सम्बद्ध हो सकती हैं।

मरे की आवश्यकतायें 'दबाव' (Presses) द्वारा प्रतिसन्तुलित होती हैं। कुछ आवश्यकतायें व्यक्ति के भीतर निहित होती हैं और अन्य उसके बाह्य जीवन से उत्प्रेरित होती हैं। व्यक्ति और उसके पर्यावरण के सम्बन्ध उसकी आवश्यकताओं की संतृप्ति को भी प्रभावित करता है जैसे व्यक्ति के व्यवहार पर आवश्यकताओं के प्रभाव प्रकट होते हैं वैसे ही पर्यावरण भी उसके व्यवहार को प्रभावित करता है।

आवश्यकताओं से अभिप्रेरित व्यवहार करने में व्यक्ति के लिए सामाजिक नियमों के अनुरूप होना जरूरी है। सामाजिक नियम 'दबाव' के हैं जो उसके व्यवहार पर प्रतिबन्ध या अंकुश लगाते हैं।

मरे के आवश्यकता सिद्धान्त के आलोचक कहते हैं कि आवश्यकता में कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जो व्यक्ति के व्यवहार का कारण हो सकती है।

उपलब्धि आवश्यकता (N-achievement)

हेनरी मरे (1938) अर्जित प्रेरकों को अपने आवश्यकता सिद्धान्त में मनोजन्य आवश्यकता की संज्ञा दी। उपलब्धि आवश्यकता, मरे द्वारा प्रस्तुत की गई २० आवश्यकताओं की सूची में एक प्रमुख आवश्यकता है।

मैक्लीलैण्ड तथा एटकिंसन (1964) ने अपने अनेकानेक सहयोगियों के साथ उपलब्धि आवश्यकता का क्रमिक एवं व्यापक अध्ययन किया है। उपलब्धि आवश्यकता से ही उत्प्रेरित होकर कोई व्यक्ति अपने जीवन में किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रकर्षता स्तर (Level of excellence) को प्राप्त कर सकता है या पहुँचने का प्रयास करता है। एक ओर वह व्यक्ति होते हैं जो अपने लिये उच्चप्रतिमान (High standard) निश्चित करते हैं; उसे प्राप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं (कठिन प्रयास करते हैं) तथा अपनी सफलता पर गौरव अनुभव करते हैं और असफलता के लिये अपने को उत्तरदायी मानते हैं। दूसरे सीमान्त पर वह लोग होते हैं जो अपने लिये न तो उच्च प्रतिमान निर्धारित करते हैं, न तो उन्हें प्राप्त करने के लिये अधिक प्रयास करते हैं, उस प्रतिमान के प्राप्त करने अथवा न करने के विषय में अपेक्षाकृत उदासीन होते हैं। इन दो प्रकार के व्यक्तियों में उपलब्धि अभिप्रेरणा के आधार पर भिन्नता की जाती है। एटकिंसन तथा फीदर (Atkinson & Feather, 1966) ने उपलब्धि आवश्यकता को परिभाषित करते हुए कहा है कि, "यह सफलता प्राप्त करने या उपलब्धि के लिये व्यक्ति की अपेक्षाकृत स्थाई प्रवृत्ति है।" एटकिंसन (1964) के कथनानुसार, "उपलब्धि आवश्यकता का सिद्धान्त व्यवहार में दिशा, तीव्रता एवं निरन्तरता का अध्ययन करता है। यह उस समय लागू होता है जब व्यक्ति इससे अवगत होता है कि उसके कार्यों का मूल्यांकन

प्रकर्षता के किसी प्रतिमान को प्राप्त करने में किया जाएगा; तथा उसके कार्यों का परिणाम या तो अनुकूल या प्रतिकूल होगा।" इस प्रकार यह एक उपलब्धि उन्मुख सिद्धान्त है।

हाल के वर्षों में इस व्यवहार का व्यापक अन्वेषण हुआ है सामान्यतः इसका मापन व्यवहार के किसी सूचकांक के अति उपार्जन या न्यूनोपार्जन, या कथाओं में उपलब्धि विषय (N–achievement themes) के द्वारा जैसा कि टी०ए०टी० परीक्षण में करते हैं। एटकिंसन तथा फीदर (1966) ने अनेक प्रायोगिक अन्वेषणों की व्याख्या के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किया कि उपलब्धि अभिप्रेरक में दो प्रेरक प्रवृत्तियाँ एक साथ सक्रिय रहती हैं—सफलता प्राप्ति की प्रेरणा तथा विफलता से परिहार की अभिप्रेरणा। इन्हीं के साथ दो परिवेशीय निर्धारक व्यक्ति के उपलब्धि उन्मुख कृतत्व को प्रभावित करते हैं (i) प्रयोज्य को दिया गया कार्य तथा, (ii) इस कार्य से सम्बद्ध लक्ष्य या प्रोत्साहन मूल्य (Goal or incentive value') लक्ष्य के प्रोत्साहन मूल्य का अभिप्राय कार्य के सफल सम्पादन के बाद व्यक्ति द्वारा गर्व का अनुभव या दूसरों द्वारा प्रशंसा है।

एटकिंसन ने सिद्धान्त रूप में यह स्थापित किया कि सफलता प्राप्त करने की प्रवृत्ति, (Tendency to achieve success, अथवा Ts), सफलता प्राप्त करने का अभिप्रेरक (Ms), सफलता की संभाव्यता (Ps), और लक्ष्य के प्रोत्साहन मूल्य (Is) का गुणात्मक प्रकार्य है। कार्य में सफलता की संभावना जितनी अधिक होगी उसके निष्पादन का प्रोत्साहन मूल्य उतना ही अधिक होता है। उसने अपने सिद्धान्त की चर्चा निम्न सूत्र द्वारा की है :—

$$Ts = Ms \times Ps \times Is$$

उन्होंने सफलता अभिप्रेरक के साथ ही साथ विफलता से परिहार अभिप्रेरक की चर्चा भी की है। जब सफलता प्राप्ति की आवश्यकता, विफलता से परिहार की अपेक्षा प्रबल होती है। (Ms > Maf) तो व्यक्ति उपलब्धि के प्रति उन्मुख होता है और कार्य में अधिक प्रयास करता है। लेकिन जब विफलता से परिहार की आवश्यकता सफलता प्राप्ति आवश्यकता से अधिक प्रबल होता है अर्थात (Maf > Ms) और अगर वह विफलता का परिहार न कर सके या विफलता का परिहार करने में असफल रहे तो उसे लज्जा, संकोच, तनाव एवं चिन्ता का अनुभव होता है। प्रयोज्य की चिन्ता की प्रबलता, किसी कार्य विशेष में विफलता की संभावना और विफलता के निषेधात्मक प्रोत्साहन मूल्य की मात्रा, उसके बचाव की तत्परता का निर्धारण करती है। उनके अनुसार विफलता का परिहार करने की प्रवृत्ति (Tf) विफलता के परिहार से सम्बद्ध चिन्ता (Maf) विफलता की

संभाव्यता (Pf) और विफलता के प्रोत्साहन मूल्य (If) का गुणात्मक प्रकार्य है। इसके लिये निम्न सूत्र प्रयुक्त होता है :—

$$Tf = Maf \times Pf \times If$$

अर्थात् विफलता से परिहार की प्रवृत्ति, चिन्ता की प्रबलता, विफलता की प्रसंभाव्यता, तथा विफलता के प्रोत्साहन मूल्य का गुणनफल है। इस समीकरण में अभिव्यक्त चिन्ता का तात्पर्य विफलता से उत्पन्न संकोच, तनाव और लज्जा से है। Ts और Tf का धनात्मक मान व्यक्ति के अच्छे निष्पादन का द्योतक होगा, लेकिन इनका निषेधात्मक मान उपलब्धि आवश्यकता से सम्बद्ध निष्पादन के दुर्लभ होने का द्योतक होगा।

इस प्रकार व्यक्ति सफलता प्राप्ति की प्रवृत्ति या विफलता से परिहार की आवश्यकता से प्रेरित होते हैं। इन दो आवश्यकताओं की प्रबलता के आधार पर व्यक्ति के व्यवहार के विषय में कुछ उपकल्पनाएँ कर सकते है :—

(i) यदि सफलता-उपलब्धि प्रेरक, विफलता-से परिहार प्रेरक से अधिक है (Ms > Maf) तब व्यक्ति में उपलब्धि के लिये सक्रियता भी अधिक होगी।

(ii) यदि विफलता से परिहार की प्रेरणा, सफलत उपलब्धि प्रेरणा से अधिक (Maf > Ms) होती है तो व्यक्ति में उपलब्धि कृतत्व की मात्रा न्यून होगी।

(iii) तीसरी उपकल्पना उस दशा की ओर संकेत करती है जब सफलता की प्रेरणा तथा विफलता-परिहार की प्रेरणा (Ms & Maf) समान रूप में कमजोर होती हैं।

(iv) चौथी उपकल्पना उस समय ली जाती है जब दोनों–Ms और Maf समान रूप में सबल होते हैं। इन उपकल्पनाओं की जाँच फ्रेंच एवं टामसन (1958) और एटकिंसन तथा लिटविन (1966) ने की तथा यह परिणाम प्राप्त किया की प्रबल सफलता-प्रेरक वाले प्रयोज्य और दुर्बल विफलता परिहार से प्रेरित प्रयोज्य ऐसे कार्यों को पसन्द करते हैं जिनमें विफलता की संभावना न्यून होती है। साथ ही यह भी संकेत किया कि प्रयोज्य अपने मन पसन्द कार्य में सफलता पाने के लिये पर्याप्त समय प्रयास करते रहते हैं। मैक्लीलैण्ड तथा अन्य (1953) ने यह प्रमाणित किया कि जब सफलता प्राप्ति कि प्रवृत्ति प्रबलतम होती है तो व्यक्ति मध्यवर्ती कठिनाई वाले कार्यों को पसंद करते हैं। इसी प्रकार जब विफलता से परिहार की प्रवृत्ति के साथ भी होता है, अर्थात मध्यवर्ती कठिनाई वाले कार्यों में विफलता से परिहार की प्रवृत्ति अधिकतम होती है। इसी कारण जब सफलता की प्रवृत्ति प्रबल होती है तो मध्यवर्ती कठिनाई के कार्य पसन्द किये जाते हैं किन्तु

जब विफलता से परिहार की प्रवृत्ति प्रबल होती है तो प्रयोज्य ऐसे कार्यों को न्यूनतम वरीयता देते हैं।

जब विफलता परिहार की आवश्यकता, सफलता प्राप्ति की आवश्यकता से प्रबल होती है तो निष्पादन पर अवरोधक प्रभाव पड़ने की संभावना का पूर्व कथन किया जाता है। निष्पादन के उत्तम होने की प्रत्याशा तब की जाती है जब सफलता की प्रवृत्ति प्रबल होती है।

मोल्टन के अनुसार किसी कार्य में सफलता या विफलता, उस कार्य के आकर्षण को परिवर्तित करती है क्योंकि इसके द्वारा आत्मगत संभावना बदलती है। इसलिये विफलता से परिहार की प्रबल आवश्यकता के कारण व्यक्ति आसान कार्यों का चयन करता है, यदि इसमें भी असफल रहता है तो और भी सरल कार्यों का चयन करता है। कार्य में विफल होने पर अगले प्रयासों में अपनी स्वभाविक सफलता के अनुमान को और भी न्यून कर देता, चूंकि विफलता का प्रलोभन-मूल्य स्थिर रहता है, इसलिये सफलता की न्यून प्रत्याशा, उसके विफलता-परिहार आवश्यकता को भी न्यून कर देती है। इन पूर्वकथनों की पुष्टि फीदर (1961, 1965) तथा मोल्टन (1965) के अनेक अध्ययनों द्वारा हुई है।

उपलब्धि सिद्धान्त का उपयोग और भी अनेक दैनिक जीवन समस्याओं में किया गया है—जैसे व्यावसायिक आकांक्षाएँ, व्यावसायिक गतिशीलता (Occupational mobility) तथा वर्ग, प्रजाति एवं राष्ट्रीय समूहों में उपलब्धि आवश्यकता में भिन्नताएँ आदि। महोने (1960) ने व्यवसायिक आकांक्षा स्तर के मापन हेतु व्यक्ति की अपने विषय में अनुमानित योग्यता स्तर ज्ञात किया और मनपसन्द व्यवसाय के प्रति योग्यता स्तर ज्ञात किया। दोनों में विद्यमान अन्तर से यह पता चलता है कि यह अन्तर जितना कम होता है, व्यक्ति का व्यवसायिक आकांक्षा स्तर उतना ही यथार्थपरक होता है। उन्होंने अपने अध्ययन में प्रयोज्यों की आत्मगत लक्ष्य विसंगति (Subjective goal discrepancy) का मापन किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रबल सफलता-प्रवृत्ति और दुर्बल विफलता-परिहार-प्रवृत्ति वाले प्रयोज्यों का आकांक्षा स्तर सर्वाधिक यथार्थपरक था, अर्थात इन्होंने मध्यम श्रेणी की आत्मगत लक्ष्य-विसंगति का परिचय दिया।

जिन व्यक्तियों में उपलब्धि आवश्कता प्रबल होगी, उनमें जोखिम लेने की तत्परता एवं प्रवृत्ति अधिक होगी और वे भौतिक दृष्टि से अधिक प्रगति करेंगे। जिस समाज में अधिकांश लोग उपलब्धि उन्मुख हो, एवं प्रकर्षता स्तर तक पहुँचने के प्रयास करते हों, उस समाज की आर्थिक एवं तकनीकी प्रगति निश्चित है। मैक्लीलैण्ड के मतानुसार पाश्चात्य देशों की अद्वितीय आर्थिक एवं वैज्ञानिक

प्रगति का प्रमुख कारण उनकी प्रबल उपलब्धि आवश्यकता है। उपलब्धि आवश्यकता आर्थिक प्रगति का एक कारण तो अवश्य मान सकते हैं किन्तु तकनीकी प्रगति का सबसे अधिक आवश्यक कारक होने पर प्रश्न हो सकते हैं।

उपलब्धि आवश्यकता : एक सामाजिक प्रेरक के रूप में

(The significance of n-achievement as a social motive)

उपलब्धि आवश्यकता की विस्तृत व्याख्या इसलिए की गई क्योंकि यह एक सामाजिक अभिप्रेरक के रूप में कार्य करती है।

यह आवश्यकता इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है कि मूल्य एवं अभिवृत्तियाँ कैसे प्रेरक के स्रोत की तरह कार्य कर सकती हैं। यह बात पर्यावरण के साथ व्यक्तियों की अन्तःक्रिया पर निर्भर करती है। उपलब्धि आवश्यकता में उच्च श्रेणी वाले व्यक्ति समस्याओं की तलाश में रहते हैं और उस समय लक्ष्य प्राप्ति का और कड़ा प्रयास करते हैं जब कठिनाइयों का सामना करते हैं या जब कुण्ठित होते हैं। वे समस्या समाधान में आनन्द का अनुभव करते हैं और कार्योन्मुख होते हैं। दूसरी ओर निम्न उपलब्धि श्रेणी वाले लोग समस्याओं से परिहार करते हैं तथा कठिनाइयों से हतोत्साहित होते हैं। समस्यायें उनमें क्रोध और चिन्ता उत्पन्न करती हैं। उनमें सम्बधन आवश्यकता के उच्च होने की संभावना होती है जबकि उच्च उपलब्धि वालों में साधन के न्यून होने की संभावना होती है।

उपलब्धि आवश्यकता द्वारा व्यक्ति के मूल्य एवं अभिवृत्तियों के चरितार्थ की मात्रा जितनी अधिक होती है, उसका अन्तःव्यक्तिक व्यवहार भी उतना अधिक प्रभाविक होता है, उपलब्धि आवश्यकता में उच्च अंक प्राप्त करने वाले अन्य लोगों के साथ तब सम्पर्क को पसन्द करते हैं जब वे अन्य व्यक्ति उसके कार्य में सहायक होते हैं, किन्तु जब अन्य उसके कार्य में बाधक होते हैं तो उनके प्रति वह अनानुकूल सामाजिक प्रतिक्रिया करता है। वे कार्य करते समय दूसरों पर आश्रित होने की अपेक्षा आत्मनिर्भरता को पसन्द करते हैं।

अन्त में उपलब्धि आवश्यकता एक संस्कृति निर्धारित परिवर्त्य है। इसका अभिप्राय यह कि कुछ समाज या संस्कृतियाँ निजी उपलब्धि को केन्द्रीय महत्व देती हैं जबकि अन्य संस्कृतियाँ उच्च उपलब्धि को संदेह की दृष्टि से देखते हैं और इसे समूह की अखण्डता और समूह-निष्ठा (Group solidarity and loyality) के प्रति खतरा मानते हैं।

अनुमोदन आवश्यकता (N-approval)—व्यक्ति चाहता है कि अन्य लोग उसके व्यवहार, विचार, तथा कार्यों को सामाजिक एवं नैतिक रूप में अच्छा समझें, उसकी प्रशंसा एवं अनुमोदन करें। इसका तात्पर्य यह है कि अनुमोदन आवश्यकता

व्यक्ति के स्वप्रत्यय से सम्बद्ध है। कार्ल राजर्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी निहित क्षमताओं तथा योग्यताओं को अभिव्यक्त करना चाहता है, जो उसके स्व-संप्रत्यय के अनुरूप हो। इससे जीवन में सार्थकता का अनुभव होता है। और व्यक्ति को अपनी क्षमताओं में आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है। व्यक्ति, अपने व्यवहार एवं कार्यों की प्रशंसा, स्वीकृति एवं अनुमोदन से प्रसन्न होता है और उसका मनोबल बढ़ता है। इन्हीं कारणों से व्यक्ति उन कार्यों को करना चाहता है जिन्हें समाज वांछनीय समझकर स्वीकृत एवं अनुमोदित करता है। इस तरह व्यक्ति सामाजिक स्वीकृति की इच्छा करता है जिसके पीछे अनुमोदन अभिप्रेरक कार्यरत होता है। सामाजिक स्वीकृति तथा अनुमोदन व्यक्ति की अन्य प्रेरणाओं की संतुष्टि में नैमित्तिक होती है, अर्थात् इसके द्वारा सामाजिक संस्थिति (Social status), सामाजिक शक्ति, या व्यक्तिगत उपलब्धि की आवश्यकता पूरी हो सकती है।

अनुमोदन आवश्यकता सभी लोगों में होती है किन्तु किसी में अधिक और किसी में कम होती है। जिसमें यह इच्छा अधिक होती है उनसे प्रायः सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से वांछित क्रियायें और व्यवहार की प्रत्याशा की जाती है, क्योंकि वे ऐसा करके समाज की स्वीकृति प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज द्वारा निषिद्ध कार्यों को करने से परिहार भी करते हैं, इसलिये कि समाज का अनुमोदन प्राप्त करने का यह भी एक उपाय है।

व्यक्ति का स्वप्रत्यय दूसरों के विचारों एवं प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होता है। इस तरह अन्य व्यक्ति उसका मूल्यांकन करते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर क्राउनी तथा मार्लो (1964) ने अनुमोदन अभिप्रेरक को मूल्यांकन-परक आश्रितता (Evaluative dependence) कहा है। इस दशा में व्यक्ति अपनी क्षमता, योग्यता एवं कुशलता की पूर्ति पर ध्यान न देकर, ऐसे विचार क्रियाओं एवं भावनाओं का अनुसरण करता है जिनसे समाज के अन्य सदस्यों का अनुमोदन, प्रशंसा तथा स्वीकृति मिले।

अनुमोदन आवश्यकता के मापन में वाचिक सूचियाँ प्रयुक्त होती हैं। क्राउनी तथा मार्लो (1964) ने सामाजिक वांछनीयता मापनी (Social desirability scale) का निर्माण किया है। इस मापनी में कुल तैंतीस प्रश्न होते हैं। व्यक्ति इन प्रश्नों का उत्तर देता है। मापनी में उसका प्राप्तांक ज्ञात करते हैं, जो उसके अनुमोदन अभिप्रेरक का सूचक होता है। किसी व्यक्ति के अंक जितने अधिक होते हैं, उसकी अनुमोदन आवश्यकता उतनी ही प्रबल होती है। अनुमोदन आवश्यकता तथा वाचिक अनुबन्धन, संज्ञान तथा सामाजिक प्रत्यक्षीकरण में सम्बद्ध होते हैं।

वाचिक अनुबन्धन से सम्बद्ध उद्दीपक के प्रति उपयुक्त अनुक्रिया घटित होने

पर प्रयोज्य को शाब्दिक पुर्नबलन प्रदान करते हैं, जिससे उसे यह आभास होता है कि उसके व्यवहार का अनुमोदन किया जा रहा है। इस विषय में यह उपकल्पना की जाती है कि अनुमोदन की आवश्यकता जितनी प्रबल होती है, व्यक्ति अनुमोदन सम्बन्धी पुर्नबलन से उतना ही अधिक प्रभावित होगा और उसमें वाचिक अनुबंधन उतनी ही शीघ्रतापूर्वक स्थापित होगा। क्राउनो तथा मार्लो ने इस उपकल्पना का प्रायोगिक अन्वेषण किया है।

प्रत्यक्षिक सुरक्षा और अनुमोदन के सम्बन्धों को भी अन्वेषित किया गया है। ऐसी मान्यता है कि प्रबल अनुमोदन आवश्यकता वाले लोगों में अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण अपेक्षाकृत अधिक वांछनीय होता है। दूसरी ओर दुर्बल अनुमोदन प्रेरक रखने वाले व्यक्तियों का सामाजिक प्रत्यक्षीकरण सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय होता है। इस उपकल्पना का प्रयोगिक अध्ययन अनेक मनोवैज्ञानिकों ने किया है। मैकगिनीज, (1949) मैकगिनीज तथा अडोरनेटो (1952) ने देखा कि व्यक्ति को निषेध से सम्बद्ध शब्दों के अधिगम में अधिक समय लगता है जबकि समाज द्वारा स्वीकृत शब्दों का अधिगम कम समय में होता है। इस विषय में प्राप्त परिणामों से प्रदर्शित हुआ कि अनुमोदन आवश्यकता प्रबल होने पर व्यक्ति में प्रात्यक्षिक सुरक्षा अधिक होती है।

अनुमोदन तथा समूह दबाव और संसूचनशीलता (Suggestibility) में भी सम्बन्धों का अन्वेषण हुआ है। ऐसी कल्पना की जाती है कि प्रबल अनुमोदन आवश्यकता वाले व्यक्तियों में समूह दबाव में आने तथा अधिक संसूचनशील होने की संभावना होगी। इस अभिग्रह का प्रायोगिक अध्ययन स्ट्रिक्लैण्ड तथा क्राउनी (1962) ने किया। प्रयोज्यों से तीन दशाओं में प्रात्यक्षिक विभेदन कराया गया। एक स्थिति समूह दबाव की थी, दूसरी दशा में एक विशिष्ट अनुक्रिया के लिये और अतिरिक्त दबाव डाला गया। तीसरी दशा में 4 अन्य व्यक्तियों के निर्णय के पश्चात प्रयोज्य का निर्णय करने का निर्देश था। परिणामों से स्पष्ट हुआ कि प्रबल अनुमोदन आवश्यकता वाले प्रयोज्यों ने प्रात्यक्षिक विभेदन में दबाव के प्रभावों का प्रदर्शन किया।

सम्बन्धन आवश्यकता (N--Affiliation)— मानव एक सामाजिक जीव है, इस नाते उसके अकेले रहने की कल्पना भी कठिन प्रतीत होती है। अकेला रहकर व्यक्ति जीवन को सुखी नहीं बना सकता। सामाजिकता मनुष्य की आवश्यक विशेषता है। डॉनी (1972) ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि यह एक सक्रिय गुण या स्वभाव है जिससे अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध (Interpersonal relations) जैसे स्नेह, सहानुभूति, सहयोग तथा एक दूसरे के साथ समायोजन स्थापित होते हैं तथा समय के साथ बने रहते हैं। ("Affiliation is an active disposition

due to which interpersonal relations are established and maintained which include warmth, sympathy, understanding and co-operation.")

प्रश्न यह है कि मानव क्यों दूसरों का साथ चाहता है ? पहले के मनोवैज्ञानिक यह मानते थे कि मनुष्य सहचारिता की मूलप्रवृत्ति के कारण पशुओं की तरह समूहों में रहते हैं। ट्राटर (1920) के अनुसार यूथ मूलप्रवृत्ति के कारण व्यक्ति समूह में रहता है। कुछ ही समय बाद सम्बन्धन के मूल प्रवृत्यात्मक स्वरूप को स्वीकार किया जाने लगा। सम्बन्धन आवश्यकता के कारणों को स्पष्ट करने के अनेक प्रयास हुए हैं। आज मुख्य धारणा यह है कि व्यक्ति की अधिकांश आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये दूसरों का साथ या उपस्थिति आवश्यक होती है। सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के अनुसार लोगों का एक दूसरे से सम्बन्ध-रखना किसी लक्ष्य की प्राप्ति का साधन होता है (People affiliate as a means to an end)

पुर्नबलन सिद्धान्त के अनुसार अन्य व्यक्तियों में पुर्नबलक मूल्य होता है। इसके अनुसार अनुमोदन, स्वीकृत, प्रशंसा, मान्यता आदि आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अन्य व्यक्तियों या समूहों द्वारा संभव है।

सम्बन्धन का एक निहित मूल्य इसके द्वारा आत्ममूल्यांकन का अवसर है। सामाजिक तुलना का जो अवसर दूसरों के साथ रहने से प्राप्त होता है, इसके द्वारा हम अपनी कुशलताओं और विश्वासों से अवगत होते हैं।

सम्बन्धन से व्यक्ति की चिन्ता में कमी आती है। यदि किसी व्यक्ति को बिल्कुल अकेले रखा जाय और उसे किसी से सम्पर्क की अनुमति न हो, न ही उसे समाचार-पत्र, पुस्तकें, टेलीफोन, टी०वी० और रेडियो दिया जाय तो उसे गंभीर चिन्ता का अनुभव होता है। इस प्रकार सम्बन्धन एक अर्जित आवश्यकता है।

सम्बन्धन एवं चिन्ता—सभी अन्य आवश्यकताओं के पूरे होने के बाद भी व्यक्ति एकान्तवास की अपेक्षा अन्य व्यक्तियों के साथ रहना चाहते हैं। किसी को एकान्त में रखना एक प्रकार का ऐसा दण्ड है जिसे सबसे कठोर दण्ड कह सकते हैं। शैचर (Schachter, 1951) ने यह तर्क दिया कि एकान्तता के कारण चिन्ता उत्पन्न होती है जो चिन्ता मनस्ताप के रोग के समान होती है। चिन्ता और सम्बन्धन के बीच सम्बन्धों के अध्ययन हेतु शैचर तथा उनके सहयोगियों ने अनेक अध्ययन किए। इन्होंने पूर्व-स्नातक छात्राओं को यादृच्छिक क्रम से प्रायोगिक और नियंत्रित समूहों में बाँटा। प्रायोगिक समूहों में प्रयोगकर्त्ताओं ने निर्देशों द्वारा उच्च चिन्ता उत्पन्न करने का प्रयास किया। उन्हें सूचित किया गया कि वे तीव्र विद्युत आघात प्राप्त करेंगे जिससे कष्ट तो होगा किन्तु कोई क्षति न होगी। यह भी बता दिया गया

कि जो छात्राएँ प्रयोग में भाग न लेना चाहें उन्हें जाने की अनुमति है। उनसे कहा गया कि प्रयोग आरंभ होने के पूर्व उन्हें कुछ देर तक प्रतीक्षा करनी होगी। वे अपनी स्वेच्छा से अकेले कक्ष में प्रतीक्षा कर सकती हैं और यदि चाहें तो अन्य छात्राओं के साथ दूसरे कमरे में प्रतीक्षा कर सकती हैं।

नियंत्रित समूह की प्रयोज्याओं को भी यही निर्देश प्राप्त हुये, अन्तर केवल यह था कि उन्हें बताया गया कि विद्युत अघात बहुत हल्का होगा जिससे उन्हें गुदगुदी की संवेदना होगी। तत्पश्चात प्रायोगिक एवं नियंत्रित समूहों की प्रयोज्याओं से एक प्रश्नावली भरवाई गई। प्रश्नावली में दिये गये प्रश्न इस बात का मापन करते थे कि प्रयोग में प्राप्त होने वाले विद्युत अघात प्रयोज्याओं में कितनी चिन्ता उत्पन्न करते हैं।

इस अध्ययन की उपकल्पना यह थी कि परेशानी या चिन्ता के कारण व्यक्ति में सम्बन्धन की आवश्यकता उत्पन्न होगी। कठिनाई या मुसीबत में व्यक्ति प्रायः दूसरों का साथ चाहता है। चिंतित व्यक्ति अपने जैसे अन्य व्यक्तियों का साथ क्यों चाहते हैं? शैचर के अध्ययन से प्राप्त परिणाम इस प्रकार थे :—

(i) उच्च चिन्ता समूह की 1/3 प्रयोज्याओं ने प्रयोग में भाग लेने से मना कर दिया, जबकि निम्नचिन्ता समूह की किसी प्रयोज्या ने प्रयोग में भाग लेने से असमर्थता नहीं व्यक्त की।

प्रायोगिक समूह में 32 में 20 छात्राओं ने प्रतीक्षा काल में अन्य बालिकाओं के साथ समय व्यतीत करना पसन्द किया, दूसरी ओर अन्य समूह को तीस में से केवल दस प्रयोज्याओं ने दूसरी लड़कियों के साथ प्रतीक्षा करने की इच्छा व्यक्त की।

शैचर से अपने प्रयोग-परिणामों के आधार पर अनेक उपकल्पनाएँ निर्मित की हैं। इनमें प्रमुख इस प्रकार हैं।

(i) उच्च चिन्ता समूह की छात्राएँ अन्य चिन्ताग्रस्त छात्राओं के साथ इसलिये सम्बन्धन चाहती थी क्योंकि वे प्रयोग को अनिष्टकारी मानती थीं और उससे बचने की अभिलाषा करती थीं।

(ii) उच्च चिन्ता समूह की प्रयोज्यायें प्रयोग के विषय में और अधिक जानकारी की इच्छुक थीं।

(iii) उच्च चिन्ता समूह की प्रयोज्यायें अन्य चिन्ताग्रस्त बालिकाओं से सम्बन्धन के द्वारा अपनी चिन्ता को घटाने का प्रयास करती हैं।

शैचर ने यह प्रदर्शित किया कि चिन्ता, सम्बन्धन की आवश्यकता उत्पन्न करती है, अथवा चिन्ताग्रस्त व्यक्ति सम्बन्धन के लिये उन्मुख एवं तत्पर होता है।

सम्बन्धन तथा जन्मक्रम :—शैचर (1959) ने चिन्ता के अतिरिक्त जन्मक्रम विषयक अध्ययन भी किये हैं। उन्होंने जन्मक्रम तथा सम्बन्धन के विषय में प्रमाणित किया कि प्रथम तथा इकलौती संतान चिंतित होने पर दूसरों के साथ रहना चाहती है। उनके व्यवहार में अनुरूपता भी अधिक होती है। Beckev and Carrol, (1962) ने प्रथम तथा इकलौते बच्चों में अधिक अनुरूपता (Conformity) के प्रमाण प्राप्त किये। सियर्स, मैक्कावी तथा लेविन (1957) के अनुसार, अनुभव के अभाव में प्रथम तथा इकलौते बच्चों के पालन-पोषण में अभाव रह जाते हैं और उनका विकास संगतिपूर्ण रूप में नहीं हो पाता है।

अपने अध्ययन परिणामों की व्याख्या के आधार पर शैचर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रथम तथा एकाकी बच्चों में सम्बन्धन की अधिक चाह दो कारणों से होती है :—

(1) यह बच्चे भयोत्पादक परिस्थिति से अधिक प्रभावित होते हैं।

(2) उत्पन्न की गई चिन्ता की मात्रा स्थिर कर देने से प्रथम तथा एकाकी बच्चे बाद के बच्चों या अन्य बच्चों की अपेक्षा दूसरे लोगों के साथ रहना अधिक पसन्द करते हैं अथवा सम्बन्धन से अधिक प्रेरित होते हैं। जिम्बार्डो (Zimbardo, (1661) ने भी अपने प्रायोगिक अध्ययनों के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किया कि भय में वृद्धि सम्बन्धन को तीव्र करती है। किन्तु चिन्ता में वृद्धि सम्बन्धन की आवश्यकता को उत्पन्न कर देती है।

इसी प्रकार कुछ अन्वेषकों ने सम्बन्धन की आवश्यकता तथा पारिवारिक सम्बन्धों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि यदि जीवन के प्रारंभिक दिनों में माता तथा शिशु के सम्बन्धों के कारण जिस शिशु को कम स्नेह प्राप्त होता है तो ऐसे बच्चों में सम्बन्धन की आवश्यकता अन्य की अपेक्षा अधिक होती है।

इस प्रकार चर्चित प्रायोगिक अध्ययनों से कुल मिलाकर यह ज्ञात होता है कि चिन्चित या दुःखी व्यक्ति अन्य लोगों के साथ इसलिये रहना चाहते है क्योंकि इसमें चिन्तास्तर में कमी आती है, और साथ में सुख का अनुभव होता है। इन अध्ययन परिणामों में यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक एकाकीपन एक कष्टदायी अनुभव है जब कि सामाजिक सम्पर्क से व्यक्ति को सुख का अनुभव तो होता ही है, चिन्ता में भी कमी आती है। यह अध्ययन उन वैकासिक कारकों की ओर भी संकेत करते हैं जो चिन्ताग्रस्तता की दशाओं में व्यक्ति की सम्बन्धन आवश्यकता की तीव्रता का निर्धारण करते हैं।

कुछ अध्ययनों से यह भी प्रदर्शित हुआ है कि खतरे, भय या खतरनाक स्थितियाँ अन्य व्यक्तियों के प्रति आकर्षण और सामाजिक सम्पर्क की इच्छा में वृद्धि करती

है। किसी बाहरी खतरे या संकट के समय आपसी सामञ्जस्य एवं अन्तःसमूह शत्रुता में कमी आ जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति ऐसी दशाओं में और अधिक सम्बन्ध की चाह करता है।

शक्ति आवश्यकता (N-Power)—प्रत्येक समाज में शक्ति का महत्व है। जब व्यक्तियों या समूहों में द्वन्द्व होता है तो शक्ति का विचार अवश्य उभरता है। अभिप्रेरित व्यक्ति अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं या समूहों पर नियंत्रण रखना चाहता है। यही नहीं वह अन्य लोगों के व्यवहार और कार्यों को नियंत्रित एवं निर्धारित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार शक्ति में अवपीड़न के तत्व निहित हो सकते हैं। शक्ति आवश्यकता की उत्पत्ति आत्म प्रदर्शन, प्रभुत्व की इच्छा, आत्मोन्नति की इच्छा और कभी-कभी आत्मरक्षा से भी हो सकती है। शक्ति से प्रेरित होकर व्यक्ति अनेक व्यवहार या क्रियायें करते हैं—जैसे नेतृत्व व्यवहार, डॉक्टर, अध्यापक चोरों और डाकुओं के गिरोह के सरदार आदि। यह आवश्यकता कुछ न कुछ सभी लोगों में होती है परन्तु कुछ लोगों में यह दूसरों से अधिक या कम होता है। यदि नेता की सिफारिश कोई अधिकारी नहीं मानता तो नेता जब उसके तबादले की धमकी देता है तो वह शक्ति आवश्यकता का ही प्रदर्शन करता है।

वेराफ (Veroff 1957)—के अनुसार इस आवश्यकता से प्रेरित व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित करने वाले साधनों पर नियन्त्रण स्थापित करके संतुष्टि प्राप्त करता है। अन्य लोगों पर नियन्त्रण स्थापित करने के अनेक साधनों में प्रभुत्व या प्रभाविता (Dominance), तर्क एवं अनुनय, ज्ञान, विशेष कौशलों, आदेश, धमकी, पुरस्कार, दण्ड, निहित अधिकारों की चर्चा आदि प्रमुख हैं।

आल्फ्रेड एडलर (1929) जो फ्रायड के आरम्भिक शिष्यों में प्रमुख थे, शक्ति की चाह को प्रमुख आवश्यकता मानता था। वह यौन को भी शक्ति का मार्गान्तरित रूप मानता था। उसके अनुसार लोगों में आत्महीनता की भावना शक्ति के अनुप्रयोग से दूर होती है। कैरेन हार्नी (1950) के अनुसार एक व्यक्ति शक्ति की कामना द्वारा अपनी मूल चिन्ता की भावना से छुटकारा प्राप्त करता है। एडलर के दृष्टिकोण के अनुसार जो लोग अपने शारीरिक या अन्य अभावों के कारण हीन भावना से पीड़ित होते हैं विशेष रूप से शक्ति की कामना करते हैं। मनोवैज्ञानिक झुकाव वाले इतिहासकारों के अनुसार सीजर की मिर्गी की बीमारी, नैपोलियन का छोटा कद, तथा हिटलर की आरम्भिक जीवन की वंचितताओं ने ही संभवतः उनकी शक्ति की कामना को बढ़ा दिया था।

शक्ति आवश्यकता आर्थिक, तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी कारकों से सम्बद्ध है जिसकी चर्चा यहाँ उपयुक्त प्रतीत होती है।

शक्ति का सबसे अधिक सामान्य रूप आर्थिक साधनों का नियन्त्रण है। इस शक्ति का रूपान्तरण सैन्यशक्ति में भी हो सकता है। किसी देश की सैनिक शक्ति उसके आर्थिक साधनों पर निर्भर करती है। धनी वर्ग सूचना प्रसारण के प्रमुख साधनों को नियन्त्रित करता है। अपने देश में भी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यावसायिक घरानों में अनेक ने समाचार पत्रों पर नियन्त्रण कर रखा है, जैसे गोयनका घराना, बीनेट कोलमैन तथा अन्य। सूचना प्रसारण के साधनों पर नियन्त्रण से साधारण जनता को एक ही प्रकार की सूचना मिलती है इसके उनके मतों और अभिवृत्तियों को नियन्त्रण में रखना सम्भव हो पाता है। आलमण्ड तथा वेबी का यह विचार काफी ठीक प्रतीत होता है कि एक दलीय अवपीड़न पर अधिक ध्यान नहीं होता, वह संचार साधनों को एकाधिकरण में रखने को वरीयता देता है।

शक्ति आवश्यकता के अनजात या अर्जित होने के विषय में मतभेद हैं। प्रायः यह समझा जाता है कि इस आवश्यकता की उत्पत्ति आत्म सुरक्षा एवं आत्मोन्नति से होती है। (Rogers 1948) के अनुसार व्यक्ति प्रायः उन घटनाओं को अपने में आत्मसात (Incorporate) करता है जिन पर शक्ति का प्रभाव प्रदर्शित कर सकता है। शक्ति प्राप्त होने पर इसका सदुपयोग या दुरुपयोग उस व्यक्ति के व्यक्तित्व लक्षणों पर निर्भर करेगा।

हेरोल्ड लासवेल (1948) ने शक्ति की आकांक्षा रखने वालों के बारे में एक दिलचस्प उपकल्पना की थी। उनके अनुसार ऐसा व्यक्ति वंचितता की क्षतिपूर्ति के लिये व्यक्ति को एक साधन के रूप में प्रयोग करके परिवेश-परिवर्तन द्वारा अपने बारे में लोगों के न्यून मूल्यांकन को बदलने का प्रयास करता है। उन्होंने शक्ति आवश्यकता के एक अन्य गुण की चर्चा करते हुए कहा है कि ऐसे व्यक्ति या तो अतिभोगी या अतिसेवी होते हैं। इस गुण के कारण भी व्यक्ति शक्ति आवश्यकता से प्रेरित हो सकता है। कहा जाता है कि चंगेजखां वंचितता का शिकार था। उसने शक्ति आवश्यकता के प्रदर्शन द्वारा जीवन के आरम्भिक वर्षों के वंचन की क्षतिपूर्ति की।

शक्ति आवश्यकता के मापन में वेराफ्फ ने टी० ए० टी० चित्रों का अनुप्रयोग किया है उसने इस आवश्यकता की प्रबलता से सम्बद्ध अनेक प्रायोगिक अध्ययनों के पश्चात निम्न निष्कर्ष प्राप्त किये—

(i) उद्वोलन स्तर के उच्च होने पर शक्ति आवश्यकता अधिक होती है।

(ii) प्रबल शक्ति आवश्यकता रखने वाले व्यक्ति सामाजिक मूल्यों को कम महत्व देते हैं।

(iii) इस आवश्यकता से प्रेरित व्यक्ति अधिकारों का विरोध करते हैं। वे तर्क वितर्क में अधिक विश्वास करते हैं।

वेरापफ तथा अन्य (1960) ने प्रदर्शित किया कि उद्योग में कार्यपालकों में प्रबल शक्ति आवश्यकता पायी जाती है। श्रमिक वर्ग में शक्ति प्रेरणा सेवा एवं सुरक्षा के कारणों से प्रदर्शित होती है। इन्होंने यह भी प्रमाणित किया कि सामान्य की अपेक्षा भ्रष्ट परिवार में शक्ति कामना की अधिक प्रवृत्ति होती है। कारण यह है कि वे साधनों पर ध्यान दिये बिना आत्मोन्नति के अभिलाषी होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शक्ति की आवश्यकता के ही कारण कोई व्यक्ति अन्य लोगों, समूहों, या वस्तुओं को नियन्त्रित करने का प्रयास करता है, उनके कार्यों और भाग्य को नियन्त्रित एवं निश्चित करना चाहता है।

आक्रामक आवश्यकता

(N-aggression)

इस आवश्यकता के प्रभाव में आकर कोई व्यक्ति अन्य प्राणियों को क्षति; हानि या कष्ट पहुँचाता है। यह हानिकारक क्रियायें शारीरिक क्षति के रूप में अभिव्यक्त हो सकती हैं और धन सम्पत्ति के विनाश के रूप में भी। व्यक्तियों में आपस में लड़ाई, झगड़ा, मारपीट आदि इसी के प्रकाशन समझे जाते हैं कभी-कभी इसका प्रकाशन अप्रत्यक्ष रूप में भी होता है जैसे किसी की गलत आलोचना, दोषारोपण, छीटाकशी, या शाब्दिक प्रहार आदि। इस प्रकार इस आवश्यकता का मुख्य उद्देश्य किसी को कष्ट देना होता है। मानव स्वभाव के विषय में दार्शनिकों में सर्वदा से मतभेद रहा है। कुछ का विचार था कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है। तो अन्य मानव स्वभाव को बुरा समझते थे। थामस हाब्स ने कहा था कि मनुष्य अन्य मनुष्यों के लिये भेड़िये के समान है ("Homo homini lupus, man is like an wolf to his fellow men") मैकडूगल इसे एक सार्वभौमिक जन्मजात मूलप्रवृत्ति मानते थे। फ्रायड मृत्यु की मूलप्रवृत्ति के कारण आक्रामक व्यवहार की उत्पत्ति का पोषक था। किन्तु मानवशास्त्रियों के अध्ययनों से प्रमाणित हुआ कि आक्रामकता जन्मजात नहीं, वरन् एक अर्जित आवश्यकता है।

आक्रामकता का अर्थ एवं परिभाषा—हिवर्स, मैक्कावी तथा लेविन के अनुसार "आक्रामकता का अर्थ उस व्यवहार से है जिसका उद्देश्य किसी को नुकसान या हानि पहुँचाना होता है। इनमें कुछ क्रियायें प्रत्यक्ष एवं हिंसक होती हैं, तो अन्य अप्रत्यक्ष। कुछ क्रोध के साथ प्रगट होती है तो अन्य शान्ति पूर्वक बिना किसी भावना प्रकाशन के।" (Aggression, to the term is commonly used, means behaviour that is intended to hurt of injure some one. Most human adults have quite a reportory of acts that fit this definition. Some of these are bold and violent, others sky

and attenuated. Some are accompanied by rage or annoyance, others are done coldly ond seemingly, to the perpetrator, without emotion···')

डालर्ड तथा अन्य (Dollard et. al. 1939) के अनुसार "आक्रामकता वह अनुक्रिया है जिसका उद्देश्य अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को क्षति पहुचाना है।" (Dollard et. al. defined aggression as a behaviour whose goal is the injury of the person toward whom it is directed.") इन्होंने उद्देश्य पर विशेष बल दिया है, अर्थात यदि उद्देश्य हानि पहुंचाना न हो और हानि हो जाए तो वह आक्रामकता नहीं कहलायगी। बस (Buss, 196) के अनुसार आक्रमण एक ऐसी अनुक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य व्यक्ति को अनिष्टकारी उद्दीपन प्रदान करता है। (Buss has suggested that aggression be defined as any act that "delivers noxious stimuli to another organism.") इस प्रकार दांत के चिकित्सक द्वारा आपके खराब दांत के निकालने में जो कष्टदायी उद्दीपन उसके द्वारा प्राप्त होते हैं, वे भी आक्रामकता कहें जायेंगे। इस प्रकार आक्रामकता के उद्देश्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। इसकी परिभाषा के विषय में विभिन्न सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों पर दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व मनोविश्लेषणवादियों की धारणा यह थी कि प्रत्येक प्राणी में आक्रामकता की जन्मजात मूलप्रवृत्ति होती है। उनके अनुसार हमारे शरीर में निरन्तर आक्रामक ऊर्जा की उत्पत्ति होती रहती है। इस प्रकार आक्रामकता एक निहित आवश्यकता (Urge) है जिसे अभिव्यक्ति चाहिये। इसकी अभिव्यक्ति समाजानुमोदित रूप में भी हो सकती है जैसे—वाद-विवाद, क्रीड़ा की प्रतियोगितायें एवं क्रियायें, आलोचना आदि, या अन्य साधनों से जैसे अनादर करना लड़ाई या झगड़े द्वारा। कभी-कभी विनाशकारी प्रवृत्ति स्वयं अपने विरुद्ध निर्दिष्ट होती है जिसकी चरम सीमा 'आत्महत्या' के रूप में व्यक्त होती है।

जैववासिकी दृष्टिकोण के पोषक कोनार्ड लारेन्ज (Konard Lorenz, 1966) के अनुसार, "आक्रामकता मनुष्यों और जानवरों में लड़ाई की मूलप्रवृत्ति है जो अपनी ही नस्ल के अन्य सदस्यों की ओर उन्मुख होती है। उसके अनुसार यह कोई बुरी चीज नहीं है, इसका उद्देश्य अपने बच्चों एवं वंशजों तथा व्यक्तियों की रक्षा करना है। दूसरे शब्दों में आक्रामकता का अर्थ जीविता (Survival)—मूल्य है।" (Konard Lorenz describes aggression as, "the fighting instinct in beast and man, whch is directed against the members of the

same species." According to Lorenz, aggression is not a bad thing in itself, rather, it functions to preserve the species as well as the individual. In other words, aggression has surival value.)

लारेंज का दृष्टिकोण कुछ बातों में फ्रायड के समान होते हुये भी इस मायने में भिन्न है कि लारेंज ने विध्वंसात्मक एवं हानिकर पक्ष की तुलना में इसके विधेयात्मक एवं अनुकूलक पक्ष पर अधिक बल दिया है। उसके अनुसार विनाशकारी घटनाओं से बचाव हेतु ऊर्जा के मार्गान्तरीकरण हेतु नाना प्रकार की क्रीड़ाओं एवं अन्य प्रतियोगिताओं का आयोजन होना चाहिये। लारेंज अपनी स्पष्ट भाषा तथा अव्यवस्थित सिद्धान्त के लिये आलोचना का पात्र बना है। यह भी कहा गया है कि उसने वैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा की है तथा निम्नस्तरीय प्राणियों के व्यवहार निरीक्षण के आधार पर अपनी उपकल्पनाओं को सत्यापित करने का प्रयास किया है।

सामाजिक अधिगम सिद्धान्त (Social learning theory) के पोषक आक्रमण को सीखा हुआ या अधिगमित व्यवहार मानते हैं। मनोवैज्ञानिक जे०पी० स्काट (1958) ने कहा है कि आक्रमण के जैविक अथवा आन्तरिक होने का कोई दैहिक आधार नहीं है। इन्होंने कहा है कि आक्रमण के सभी उद्दीपन बाह्य वातावरण में विद्यमान कारकों से प्राप्त होते हैं। (All research findings point to the fact there is no physiological evidence of any internal need or spontaneous driving force for fighting; that all stimulation for aggression comes eventually from the forces present in the physical environment.)

प्रश्न यह उठता है कि आक्रामक आवश्यकता का अधिगम कैसे होता है? इस दृष्टिकोण के पोषकों में से बैन्डुरा (1973) के अनुसार इसका अधिगम नैमित्तिक अनुबंधन तथा अनुकरण (Observational learning) के द्वारा होता है। यदि बच्चे के मारने पर मां उसे डाँटने के बजाय गोद में ले लेती है और मुस्कराती है तो इसमें नैमित्तिक क्रिया का पुनर्बलन होता है और भविष्य में भी दोहराये जाने की संभावना होती है। बच्चे अपने माता-पिता या अन्य प्रतिरूप (model) को देखकर भी वैसी ही अनुक्रियायें करने लगते हैं।

इस तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आक्रामकता को परिभाषित करने के प्रयास में बैरन (Baron 1977) ने कहा है, "आक्रमण किसी प्रकार का व्यवहार है जिसका लक्ष्य किसी दूसरे जीवित प्राणी को नुकसान या क्षति पहुंचाना है जो इससे परिहार के लिये अभिप्रेरित होता है। (Aggression is any form of behav-

iour directed toward the goal of harming or injuring another living being who is motivated to avoid such treatment.") यह परिभाषा व्यवहार पर ध्यान देती है और इसके कारणों पर प्रत्यक्ष रूप से ध्यान नहीं देती। सर्वप्रथम यह आक्रमण को उसके उद्देश्य से सीमित करती है; अथवा इसके अनुसार उद्देश्य हानि पहुँचाना अवश्य होना चाहिये। द्वितीय, यह परिभाषा आक्रमण को जीवित प्राणियों तक सीमित है। यदि आप मेज पर घूँसा मारते हैं तो यह क्रोध कहलायगा, आक्रमण नहीं।

इन व्याख्याओं के अतिरिक्त आक्रामकता का अभिप्रेरणात्मक स्पष्टीकरण भी है। यद्यपि अधिकांश समाज मनोवैज्ञानिक आक्रामकता को अपरिहार्य और मूल-प्रवृत्यात्मक व्यवहार मानने पर तत्पर नहीं हैं, तथापि आक्रामकता एक सामान्य आवश्यकता या अन्तर्नोद के रूप में अधिगम द्वारा अर्जित या जन्मजात, मानी जाती है। येल विश्वविद्यालय के Dollard, Doob, Miller, Mowrer and Sears (1939) ने एक ऐसी उपकल्पना प्रस्तावित की जिसने सम्भवतः आधुनिक चिन्तन को सर्वाधिक प्रभावित किया है यह उपकल्पना सामान्य रूप से कुण्ठा-आक्रमण उपकल्पना (Frustration-Aggression hypothesis) कहलाती है। इसके अनुसार "आक्रमण सर्वदा कुण्ठा के कारण होता है; और कुण्ठा से किसी न किसी प्रकार का आक्रमण उत्पन्न होता है।" ("Aggression is always a consequence of frustration," and that, "frustration always leads to some form of aggression") इस सिद्धान्त के अनुसार कुण्ठा में वृद्धि के साथ आक्रमण की उत्प्रेरणा में वृद्धि आनी चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि डालर्ड तथा अन्य ने प्रतिपादित किया है कि कुण्ठा का कारण सदैव आक्रामक व्यवहार होता है अर्थात् आक्रामक व्यवहार के घटित होने के पीछे सदा कुण्ठा निहित होती है। नील मिल्लर (Neal Miller, 1941) जो इस उपकल्पना के प्रतिपादकों में थे आगे कहा कि कुण्ठा के कारण आक्रमण के अतिरिक्त अनेक अन्य अनुक्रियायें भी हो सकती हैं। यद्यपि यह मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को मानते हैं, कि आक्रमण सदैव किसी कुण्ठा का परिणाम होता है; कुण्ठा के अन्य परिणाम भी हो सकते हैं।

कुण्ठा सदैव आक्रामकता को उत्पन्न नहीं करती। जब कुण्ठा से किसी खतरे की आशंका नहीं होती, अर्थात् जब कुण्ठा व्यक्ति में सांवेगिक उद्वोलन नहीं उत्पन्न करती, तो कुण्ठा के द्वारा आक्रामकता भी उत्पन्न नहीं होती। मास्लो (1941) तथा एण्टनी (1962) ने उपरोक्त अभिग्रह की पुष्टि अपने अध्ययनों द्वारा की है।

कुण्ठा-आक्रमकता सिद्धान्त दो प्रकार के आक्रमण की चर्चा करती है—शारीरिक आक्रमण तथा शाब्दिक।

कुण्ठा-आक्रमण दृष्टिकोण में सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि इसके आधार पर आक्रामकता के विषय में अनेक सरलीकृत सामान्यीकरण किये गये हैं, जैसे आक्रामक व्यवहार केवल कुण्ठा का परिणाम है या कुण्ठा कुछ विस्थापित क्रियाओं द्वारा भी व्युत्पन्न हो सकती है। इन अभिग्रहों को ध्यानगत करके बरकोविज (Berkowitz' 1969) ने अध्ययनों के आधार पर मूल उपकल्पना में संशोधन किये हैं। सर्वप्रथम, उसके अनुसार, कुण्ठा से आक्रामक व्यवहार की केवल तत्परता उत्पन्न होती है, जिसका कारण पहले से सीखी हुई आदतों में भी निहित हो सकता है। द्वितीय, आक्रामक क्रियाओं के घटित होने में परिस्थितिजन्य कारकों का भी हाथ हो सकता है। इन्होंने अपने अध्ययनों द्वारा उपरोक्त कथनों की पुष्टि तो की किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत संशोधन और कुण्ठा-आक्रमकता उपकल्पना में अधिक समानता प्रदर्शित नहीं होती। उन्होंने अन्य शोधों के आधार पर यह भी बताया कि आक्रामक संकेतों की उपस्थिति में आक्रामक व्यवहार के घटित होने की सम्भावना अधिक हो जाती है।

न केवल इतना कि कुण्ठा बिना आक्रामता के हो सकती है वरन् कुण्ठा-आक्रामकता में ऐसा परिमार्जन आवश्यक हो गया जो बिना पूर्व कुण्ठा के आक्रमण व्यहार को सम्भव कर सके। आक्रामक व्यवहार अनेक प्रकार से अर्जित हो सकता है। सामाजिक अधिगम प्रक्रिया इसके अर्जन में मुख्य भूमिका निभाती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष-शिक्षण भी आक्रामकता को उत्पन्न और विकसित कर सकता है। अनेक अध्ययनों से प्रमाणित हुआ है कि जब माता-पिता आक्रामकता का अनुमोदन करते हैं तो यह घटित होता है (Davis and Dollard, 1940).

परहित अभिप्रेरक
(Altruistic Motive)

आप कालिज में बटवा खो देते हैं। कैन्टीन में चाय का बिल चुकाने के समय इसका आभास होता है कि आपका पर्स खो गया। आप उसकी पुनः प्राप्ति की आशा खो बैठते हैं, किन्तु कुछ समय बाद नोटिस बोर्ड पर लगी नोटिस से आप चौंक पड़ते हैं कि किसी भले छात्र ने उसे प्रॉक्टर्स आफिस में जमा कर दिया है। आप रात में सोते-सोते शोर सुनकर जग जाते हैं, "बचाओ, बचाओ"। दरवाजा खोलकर आप देखते हैं। मुहल्ले में एक आदमी के घर में आग लगी है। अनेक लोग पानी डाल रहे हैं। आप भी आग बुझाने में जुट जाते हैं। कुछ देर में आग पर नियन्त्रण हो जाता है।

किसी तालाब में कुछ बच्चे नहा रहे हैं। आप पास के खेत में कोई काम कर रहे हैं। अकस्मात कोलाहल आरंभ होता है। कुछ बच्चे रोते चिल्लाते हुए सहायता

माँगते है। काम छोड़कर आप भी तालाब की ओर दौड़ते हैं, आप तैरना नहीं जानते। अनेक बच्चे, बूढ़े खड़े हैं। भीड़ में से एक व्यक्ति निकलता है और तालाब में कूद जाता है और कुछ क्षणों में डूबते हुये बच्चे को बचा लाता है।

इसी तरह दो बच्चे घर की चार दीवारी में खेल रहे हैं। एक बच्चे का खिलौना टूट जाता है और वह रोने लगता है। उसे रोता देख कर एक अन्य बच्चा अपना खिलौना दे देता है।

परहित, शब्द का अर्थ है परार्थ या समय पर दूसरों की सहायता करना है। यह अभिप्रेरक अधिकांश व्यक्तियों में पाया जाता है। शायद ही कोई मनुष्य हो जिसमें यह अभिप्रेरक बिल्कुल अनुपस्थित हो। कोई व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है, और उसके शरीर से बहुत अधिक खून बह जाने के कारण, खून की जरूरत है। कुछ लोग ऐसे मिल जाते हैं जो बिना कुछ लिये हुए उसे खून देते हैं। हम प्रायः समाचार पत्रों में पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति को एक गुर्दे की आवश्यकता है यह समाचार पढ़कर एक व्यक्ति अपना एक गुर्दा देने पर तैयार हो जाता है। विगत कुछ महीने पूर्व चण्डीगढ़ में एक महिला को गुर्दे की आवश्यता थी। उसके पति द्वारा समाचार पत्रों में एक विज्ञापन छपवाया गया। एक मद्रासी युवक इस समाचार को पढ़कर चण्डीगढ़ आया और अपना एक गुर्दा उसने दान किया। यह गुर्दा लगने से उस महिला की जान बच गई। महिला के पति ने युवक को चालीस हजार रुपया देने की पेशकश की, पर नवयुवक ने इन्कार कर दिया।

वह नवयुवक बेकार था, उसे कोई काम शुरू करने के लिये रूपयों की जरूरत भी थी, पर उसने नहीं लिया। वह उनका नातेदार भी नहीं था। यह कौन सी भावना थी ? कौन सा अभिप्रेरक था ? जिसने उस युवक को बिना कुछ लिये अपना एक गुर्दा जो एक बहुमूल्य अंग है, मुफ्त देने पर उकसाया।

परहित का अभिप्रेरक बच्चों से लेकर बुड्ढों तक में किसी न किसी मात्रा में पाया जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि परहित का भाव व्यक्तिगत होता है या कुछ परिस्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति में अभिव्यक्ति होता है। एक नगर में भूकम्प आ जाने के कारण हजारों लोग प्रभावित होते हैं। हजारों व्यक्ति मलबे के नीचे दब जाते हैं। घायलों की फरियाद, नातेदारों की चीख पुकार सुनकर सभी का मन हिल जाता है। इन बातों से एक व्यक्ति इतना प्रभावित होता है कि लाखों रूपया, कम्बल, दवाइयाँ आदि उपलब्ध कराता है। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो धनवान होते हुए भी कोई सहायता नहीं प्रदान करते हैं। ऐसा क्यों होता है ? क्या सामान्य परिस्थितियों में भी इतना बलिदान करने को कोई तैयार होगा ?

यह भावना बचपन से ही विकसित होना आरंभ हो जाती है। परिवार

समाज एवं परिवेश से समुचित प्रोत्साहन मिलने पर इस प्रवृत्ति का समुचित विकास होता है। इधर कुछ समय से समाज मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ है, पहले इस ओर किसी रूचि के प्रमाण नहीं मिलते : यह सच है कि व्यक्ति आत्मोन्मुख और स्वार्थी हैं, पर यह भी सच है कि मानव अन्योन्मुख भी है। समाज अनेक उदाहरणों से भरा है कि कुछ लोगों ने दूसरों के हित के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया।

आपात कालीन सहायतार्थ व्यवहार :—इस प्रवृत्ति को परार्थवाद, परहित या सहायतार्थ व्यवहार भी कहते हैं जिसमें सहायता करने वाला निःस्वार्थ सहायता करता है। कभी-कभी आपातिक घटनाओं से दुःखी होते हुए भी कोई व्यक्ति सहायतार्थ व्यवहार नहीं करता। लाटेने तथा डार्ली (Latane & Darley 1970, Latane, Darley 1969) इस विषय में महत्वपूर्ण शोध किये हैं। इन्होंने यह जानने के लिये कि आपातिक स्थितियों में कुछ लोग सहायतार्थ व्यवहार क्यों नहीं करते, अनेक उपकल्पनाओं की प्रायोगिक जाँच की। इन अध्ययनों के परिणामों से प्रमाणित हुआ कि (1) आपातिक स्थिति में पूरी भीड़ एकत्र होने पर हस्तक्षेप न करने का कारण सामाजिक प्रभाव एवं उत्तरदायित्व का विसरण ; Social influence and diffusion of responsibility) है सामाजिक प्रभाव से अभिप्राय है आपातिक स्थितियों में इतनी भिन्नता होती है कि सूचना का अभाव होता है, अतः अनेक लोग हस्तक्षेप नहीं करते। आपातिक स्थितियाँ आकस्मिक भी होती हैं अतः अनेक व्यक्ति हस्तक्षेप विषयक निर्णय नहीं ले पाते। संभवतः अन्य लोगों की भी मानसिक स्थिति यही होती है। इसी तरह आपात स्थिति में विद्यमान अनेक लोगों के होने के कारण व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व अन्य लोगों या दूसरों पर डाल-देता है, अथवा दूसरों में उत्तरदायित्व का वितरण कर देता है।

शायद वह यह सोचता है कि अन्य लोग भी तो मौजूद है, कोई मैं ही अकेला तो नहीं हूं। इसे उत्तरदायित्व विभाजन (diffusion of responsibility) कहा गया है (लाटेने एवं डार्ली) इनके अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि किसी सीमा तक उत्तरदायित्व विमुक्त व्यवहार का एक कारण परिस्थिति की जटिलता भी है। लाटेने तथा डार्ली (1970) ने अपने अनेक अध्ययनों से यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि व्यक्ति की पूर्ववृत्ति को निश्चित करने में चार कारक प्रमुख होते हैं :—(1) बिना समझे बूझे सहायता करने में सहायतार्थ व्यवहार करने वाला परेशानी में पड़ सकता है। जैसे दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की सहायता करने में गवाही आदि की बात आ जाती है। ऐसे ही सहायक को अन्य हानियों की भी संभावना होती है। (2) आपातिक स्थितियाँ आकस्मिक होती हैं (3) आपातिक स्थितियाँ एक

दूसरे से काफी भिन्न होती हैं। (4) आपातिक घटनाओं का आकस्मिक होना। आकस्मिक स्थितियां जटिल होती हैं, अतः अनेक व्यक्ति हस्तक्षेप करने से कतराते हैं। अर्थात् आपात कालिक हस्तक्षेप के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करते हैं। इन कारणों से आपात कालिक स्थिति (जैसे दुर्घटना आदि) के समय उत्तरदायित्व का विसरण (diffusion of responsibility) हो जाता है। इसके कारण उत्तरदायित्व बँट जाता है और लोग खड़े देखते रह जाते हैं और सहायतार्थ व्यवहार नहीं करते।

शेफर तथा अन्य (Shaffer etal, 1975) ने भी सहायतार्थ व्यवहार का अन्वेषण किया और यह देखा कि हम अन्य लोगों की सहायता उस समय करते हैं जब सहायता माँगी जाती है। कुछ अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि ग्रामीण लोग नगर वासियों की अपेक्षा सहायतार्थ व्यवहार अधिक करते हैं। नागरिक जीवन की जटिलताओं के कारण लोग अपने आप में उलझकर रह जाते हैं जिससे परहित का प्रेरक दब कर रह जाता है और व्यक्ति को दूसरों की खबर नहीं होती। इतना ही नहीं यह भी ज्ञात हुआ है कि छोटे नगरों में दस में से सात व्यक्ति सहायतार्थ व्यवहार करते हैं जब कि बड़े नगरों में दस में केवल पाँच।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे लोगों के स्वभाव का अध्ययन किया जो परार्थवाद की भावना से ओत-प्रोत थे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि जो लोग जीवन में सन्तुष्ट, और प्रसन्न होते हैं तथा जिनकी जिन्दगी की बागडोर स्वयं उनके हाथों में होती है तथा जिन्हें दूसरों के अनुमोदन एवं प्रशंसा की आवश्यकता नहीं होती, वे दूसरों की बेलाग मदद करते हैं। इसी प्रकार उमंग (mood) के अच्छे होने पर भी सहायतार्थ व्यवहार अधिक व्यक्त होता है। जब व्यक्ति प्रसन्न चित होता है तो वह प्रसन्नता विभाजित करता है। जैसे कोई उद्देश्य पूरा हो जाए, कन्या की बात पक्की हो जाय, कोई कर्जदार कर्ज लौटा दे, परदेश से कोई शुभ समाचार प्राप्त हो जाय तो मनुष्य प्रसन्न चित होता है और दूसरों की पुकार सुनने पर सहायता के लिये तैयार हो जाता है।

कुछ दार्शनिकों का विचार है कि परार्थ के पीछे स्वार्थ की भावना कार्यरत होती है, जैसे किसी भिखारी को दान देकर हमें प्रसन्नता होती है, उसकी दुआ सुनकर दिल मगन हो जाता है। इस प्रकार हम स्वार्थवश सहायता करते हैं। इसके विपरीत यदि हम स्वयं परेशान होते हैं तो दूसरों की कठिनाइयाँ देखकर हमें कुछ संतोष होता है और अपनी कठिनाई कुछ घटित प्रतीत होती है और कभी-कभी तो हम इसलिये भी सहायता करते हैं कि यदि हम ऐसा करेंगे तो अल्लाह या ईश्वर हमारी सहायता करेगा, जैसा कि निम्न शेर में कहा गया है—

करो मेहरबानी तुम अहले जमीं पर
खुदा मेहरबां होगा अर्शे बरीं पर।

बोचॅल तथा कूपर (1979) ने प्रायोगिक साक्ष्यों के आधार पर उस परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनमें व्यक्ति किसी की सहायता करना अधिक पसन्द करता है—

(i) जब हम पहले सहायतार्थ व्यवहार पर धनात्मक पुनर्बल प्राप्त कर चुके होते हैं,

(ii) जब हमारा चित्त (mood) प्रसन्न है,

(iii) जब हम किसी अन्य व्यक्ति को सहायता करते हुये देखते हैं,

(iv) जब मानक या समाज के नियम ऐसे व्यवहार की अनुमति देते हैं, जो सहायतार्थ किया जा सकता है,

(v) जब हम किसी अन्य कार्य में तल्लीन नहीं होते या किसी अन्य काम की जल्दी नहीं होती,

(vi) जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को संकट में देखते हैं जिसने कभी हमारी मदद की हो।

एक प्रश्न यहाँ यह उठता है कि क्या भाव जन्मजात है या प्राकृतिक अथवा अर्जित है ? क्या इसके पीछे स्वार्थ कार्यरत होता है ? यह भाव जीवन में अर्जित किया जाता है। घायल की गत घायल जाने इसके लिए यह भी आवश्यक है कि आप अपने स्वभाव पर दृष्टिपात करें। कुछ दार्शनिक मानव को स्वभाव से स्वार्थी मानते हैं जबकि अन्य उसे परार्थवादी समझते हैं। यदि हम दूसरे के जूते में पैर डालें तो उसकी विपदा समझ में आ जायगी। राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने क्या खूब कहा है—

"यही पशु प्रवृत्ति है कि आप आपही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे॥

अध्याय 4

अभिवृत्तियाँ

(Attitudes)

समाज मनोविज्ञान, व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करता है। सामाजिक व्यवहार में अभिवृत्तियों का अत्यन्त प्रमुख स्थान है। कुछ समाज मनोवैज्ञानिक अभिवृत्तियों के महत्व को इतना अधिक मानते हैं कि वे बिना संकोच समाज मनोविज्ञान को अभिवृत्तियों का अध्ययन कहते हैं। यह तो नहीं किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि समाज मनोविज्ञान में अभिवृत्तियाँ केन्द्रीय स्थान रखती हैं।

व्यक्ति के व्यवहार दो प्रकार के होते हैं—प्रगट (overt) तथा अप्रगट (Covert) या आन्तरिक जिस व्यवहार का निरीक्षण अन्य व्यक्ति करते या कर सकते हैं, उसे प्रगट या बाह्य व्यवहार कहते हैं, किन्तु वह व्यवहार जिसका अवलोकन या निरीक्षण अन्य व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं कर सकते, उसे अप्रगट या आन्तरिक व्यवहार कहा जाता है। यद्यपि प्रकट व्यवहार या बाह्य व्यवहार में वाह्याडम्बर एवं कृत्रिमता के समावेश की सम्भावना भी होती है, किन्तु अप्रगट अथवा आन्तरिक व्यवहार में ऐसी सम्भावना नगण्य होती है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि अप्रगट व्यवहार के अध्ययन द्वारा किसी व्यक्ति को समझना अधिक सुगम एवं समीचीन प्रतीत होता है। इसी कारण समाज मनोविज्ञान बाह्य व्यवहार के साथ अप्रगट या आन्तरिक व्यवहार को केन्द्रीय स्थान देता है। इन्हीं अप्रगट या आन्तरिक व्यवहारों से अभिवृत्तियों, मूल्यों एवं विश्वासों का बोध होता है।

अभिवृत्ति (Attitude) की उत्पत्ति 'Aptus' नामक शब्द से हुई है, जो लैटिन भाषा का शब्द है। इसका अर्थ सुविधा या योग्यता है। अभिवृत्ति एक काल्पनिक प्रत्यय (Hypothetical construct) है, क्योंकि इसका प्रत्यक्ष बोध सम्भव नहीं है। हाँ अभिवृत्ति के प्रभावों का अनुभव किया जा सकता है, या इसका अनुमान व्यक्ति के व्यवहार एवं क्रियाओं द्वारा किया जा सकता है। सामाजिक व्यवहार के प्रकाशन एवं निर्धारण में अभिवृत्तियाँ प्रमुख मानी जाती हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर आलपोर्ट (1935) ने अपने एक लेख में अभिवृत्तियों को समाज मनोविज्ञान की केन्द्रीय समस्या बताया है। इनकी केन्द्रीयता को अनेक समाजशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है। बोगार्डस तथा फाल्सम ने तो यहाँ तक

कह दिया था कि समाज मनोविज्ञान का मूल उद्देश्य अभिवृत्ति का अध्ययन है। गत अर्द्ध शतक में वस्तुतः जितना शोध अभिवृत्तियों पर हुआ है उतना समाज मनोविज्ञान के किसी अन्य क्षेत्र में नहीं हुआ है। व्यक्ति के अधिकांश व्यवहार अभिवृत्तियों द्वारा प्रभावित एवं नियंत्रित होते हैं। अतः यह कहना सर्वथा उचित होगा कि अभिवृत्ति समाज मनोविज्ञान की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है। गार्डन आलपोर्ट ने अभिवृत्ति की परिभाषा देते हुये कहा है, कि, "अभिवृत्ति सभी सम्बद्ध वस्तुओं एवं परिस्थितियों के प्रति व्यक्ति पर गतिक प्रभाव डालने वाली मानसिक एवं स्नायविक तत्परता है"। (An attitude is a mental and neural state of readiness, exerting a directive or dynamic influence upon the individual's response to all objects situations with which it is related,").

आलपोर्ट ने अपनी उपरोक्त परिभाषा में दो बातों पर बल दिया है। प्रथम, यह कि अभिवृत्ति एक मानसिक तथा स्नायविक तत्परता की दशा है। इसमें मानसिक तथा स्नायविक—दोनों पक्षों को महत्व दिया गया है द्वितीय, उन्होंने व्यक्ति पर इसके गतिक प्रभाव की चर्चा की है, जिसका अभिप्राय अभिवृत्ति के अभिप्रेरणात्मक पक्ष के महत्व को स्वीकारना है। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा अभिवृत्ति के अर्जित होने की ओर भी संकेत करती है।

क्रेच, क्रजफील्ड तथा बेलैची (Kreoh, Crutchfield & Ballachey, 1962) के अनुसार, "व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार से उसकी अभिवृत्तियों की झलक मिलती है—यह किसी सामाजिक वस्तु के प्रति धनात्मक या ऋणात्मक मूल्यांकनों, सांवेगिक भावनाओं, तथा पक्ष या विपक्ष की (अनुकूल एवं प्रतिकूल) क्रिया प्रवृत्तियों की अपेक्षाकृत स्थायी प्रणाली है।"

("The social actions of the individual reflects his attitudes enduring systems of positive and negative evaluations, emotional feeling and pro or con action tendencies with respect to social objects.")

डूब (Doob, 1944) ने अभिवृत्ति को एक निदेशात्मक (directive) तथा प्रेरणात्मक प्रक्रम कहा है।

सीकार्ड तथा बैकमैन (Secord & Backman, 1964) ने कहा है कि "वातावरण के कुछ पक्षों के प्रति व्यक्ति की भावनाओं, विचारों तथा क्रिया की पूर्व वृत्ति की नियमितायें ही अभिवृत्ति कहलाती हैं।" (The term attitude refers to certain regularities of an individual's feeling thoughts and predispositions to act toward some aspect of his environment.")

उपरोक्त परिभाषायें यह स्पष्ट करती हैं कि अभिवृत्ति जन्मजात नहीं वरन् अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं। साथ ही यह अभिवृत्ति के घटकों (Components) की ओर संकेत करती हैं। अभिवृत्ति में संज्ञात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष न केवल एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, वरन् एक दूसरे पर आश्रित भी होते हैं। अभिवृत्ति के इन तीनों घटकों की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है।

(i) संज्ञानात्मक तत्व (Cognitive element)—किसी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के प्रति व्यक्ति के विश्वास और विचार उसकी अभिवृत्ति के संज्ञानात्मक तत्व कहलाते हैं। किसी व्यक्ति के कार्लमार्क्स के अनुयायी होने का तात्पर्य साम्यवाद के प्रति उसके विश्वास एवं विचारों की सहमति में है।

(ii) भावात्मक तत्व (Affective element)—इसका तात्पर्य किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति व्यक्ति की भावनाओं एवं संवेगों से है। किसी वस्तु या परिस्थिति के प्रति हमारी पसन्द या नापसन्द हमारे संवेगों पर निर्भर करती है। व्यक्ति में सुख:दुख के भाव अभिवृत्ति के भावात्मक पक्ष के अन्तर्गत आते हैं, जिसके कारण व्यक्ति की अभिवृत्ति में अपेक्षाकृत स्थायित्व आता है। इसी तत्व के कारण भारतीयों को भारत का रहन-सहन तथा बोलचाल पसन्द आता है और वे अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम भाव रखते हैं, तो अमेरिकी लोग अमेरिका की बोल-चाल तथा रहन-सहन के प्रति प्रेम रखते हैं।

(iii) क्रियात्मक तत्व (Conative element)—क्रियात्मक कार्य की तत्परता वृत्ति से है, अर्थात् अभिवृत्ति व्यक्ति को क्रिया के लिए तत्पर बनाती है। जिन वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के प्रति हम अनुकूल अभिवृत्ति रखते हैं, उनकी रक्षा एवं सहायता करते हैं। लेकिन जिनके प्रतिकूल अभिवृत्ति होती है, उनसे कोई सहानुभूति नहीं होती और उन्हें कष्ट देना चाहते हैं।

अभिवृत्तियाँ अपने स्वरूप एवं प्रभाव के अनुसार एक दूसरे से भिन्न होती हैं। अभिवृत्तियों के संगठन में कुछ प्रमुख विशेषतायें होती हैं, जो निम्न हैं—

(i) कषर्ण शक्ति (Valence)—कषर्ण शक्ति की दृष्टि से अभिवृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। कषर्ण शक्ति से यह ज्ञात होता है कि अभिवृत्ति किस मात्रा में अनुकूल या प्रतिकूल हैं। अनुकूल अभिवृत्ति में धनात्मक कषर्ण, तथा प्रतिकूल को ऋणात्मक कषर्ण कहते हैं यह विशेषता प्रत्येक अभिवृत्ति तथा उसके तत्वों में विद्यमान होती है।

(ii) बहुतत्वता (Multiplexity)—अभिवृत्ति के तीनों तत्वों (संज्ञात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक) में यह विशेषता देखी जाती है। बहुतत्वता से अभिप्राय यह है कि किन-किन और कितने-कितने तरह के अंगों के संयोग से किसी तत्व विशेष की रचना हुई है। जैसे भावात्मक पक्ष के अन्तर्गत अभिवृत्तियाँ विभिन्न

संवेगों—जैसे प्रेम, घृणा, श्रद्धा, भक्ति आदि के मिश्रण जो अभिव्यक्त करती है। संज्ञानात्मक से विचार एवं चिन्तन तथा क्रियात्मक तत्व व्यक्ति को अभिप्रेरित कर क्रियोन्मुख बनाते हैं।

(iii) संगति (Consistency)—अभिवृत्ति के तीनों तत्वों में पर्याप्त संगति पाई जाती है। सामान्य रूप से संज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक तत्वों में उच्च सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु पूर्ण संगति प्रायः दुर्लभ होती है।

(iv) अभिवृत्ति संघात (Attitude Constellation)—विभिन्न अभिवृत्तियाँ आपस में एक दूसरे से सम्बद्ध होती हैं और आपस में संघात (Constellation) निर्मित कर लेती हैं। इनमें से कुछ केन्द्रीय बन जाती हैं, तथा अन्य इनके साथ गौण रूप ले लेती हैं। यह प्रमुख अभिवृत्तियाँ मूल्य के नाम से जानी जाती हैं। इस प्रकार अभिवृत्तियाँ अन्तर सम्बन्धित होती हैं अर्थात् समूह के रूप में पायी जाती हैं।

अभिवृत्ति तथा अन्य सम्बद्ध पद

अभिवृत्ति तथा विश्वास एवं मत—विश्वास या मत से यह ज्ञात होता है कि हम किसी वस्तु या व्यक्ति के विषय में क्या सोचते हैं। मत या विश्वास भावात्मकता से खाली होते हैं। अभिवृत्ति में भावात्मक पक्ष अति महत्वपूर्ण होता है। मात्र संज्ञानात्मकता के कारण व्यक्ति व्यवहार नहीं करता।

अभिवृति और व्यवहार—व्यवहार की तत्परता अभिवृत्ति का एक मुख्य तत्व है और व्यवहार पर अभिवृत्ति का व्यापक प्रभाव पड़ता है, लेकिन अनेक शोधों द्वारा अभिवृत्ति तथा व्यवहार में किसी सम्बद्ध के प्रमाण नहीं मिलते (La Pierre, 1934)। व्यवहार, अभिवृत्ति के अतिरिक्त अन्य चीजों पर भी निर्भर करता है विकर (1969) ने अभिवृत्ति तथा व्यवहार में 30 सहसम्बन्ध प्राप्त किया।

अभिवृत्ति तथा मूल्य—अभिवृत्ति किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति निर्मित होती है, लेकिन अभिवृत्ति का सम्बन्ध व्यक्ति की जीवन शैली से होता है, मूल्य एक तरह के अनेक उद्दीपकों से सम्बद्ध होते हैं। अभिवृत्तियाँ, प्रायः किसी न किसी मूल्य से सम्बद्ध होती हैं जैसे एक व्यक्ति शक्ति के मूल्य में विश्वास करता है, कई विशेष दलों के प्रति धनात्मक या ऋणात्मक अभिवृत्ति निर्मित कर लेता है। अभिवृत्तियों तथा मूल्यों-दोनों ही में संज्ञानात्मक तत्व विद्यमान होते हैं, किन्तु अभिवृति में निहित क्रियात्मक तत्व मूल्य में अनुपस्थित होता है।

अभिवृत्ति तथा अभिप्रेरणा—अभिप्रेरणा एक आन्तरिक कारक या दशा है जो क्रिया को आरम्भ करने, जारी रखने, व्यवहार की दिशा निर्धारित करने की

क्रिया करती है। इस प्रकार अभिवृत्ति और अभिप्रेरणा काफी समान पद हैं। इन दोनों ही का कोई न कोई लक्ष्य होता है। यही नहीं संज्ञानात्मक तत्व दोनों में विद्यमान होता है। क्रियात्मक तत्व भी उभयनिष्ठ होता है। क्रियात्मक पक्ष अभिवृत्ति की अपेक्षा प्रेरकों में अधिक प्रबल होता है। किन्तु अभिवृत्तियाँ अपने क्षेत्र के अनुसार प्रेरणाओं से अधिक व्यापक होती हैं। साथ ही अभिवृत्तियाँ अपेक्षाकृत स्थायी होती हैं। इस तरह कुछ बातों में समान होते हुये भी अभिवृत्तियाँ प्रेरणाओं से काफी भिन्न होती हैं।

अभिवृत्ति निर्माण

(Attitude Formation)

अभिवृत्तियाँ मानव जीवन में अति महत्वपूर्ण हैं। इसलिये समाज-मनोविज्ञान अभिवृत्तियों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान देता है। अभिवृत्ति निर्माण प्रक्रिया का व्यापक अध्ययन किया गया है। इस सम्बन्ध में सम्प्रेषकों के गुणों तथा सम्प्रेषण की विशेषताओं, और दर्शकों को महत्व दिया जाता है (Hovland, Janis & Kelley, 1953) एक अन्य उपागम के समर्थक, मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को अभिवृत्ति निर्माण का आधार मानते हैं। (Berkowitz, 1975, Worchel & Cooper 1976) के अनुसार इन्हीं मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के द्वारा अभिवृत्तियों में परिवर्तन भी आते हैं। इस प्रकार अभिवृत्ति निर्माण तथा परिवर्तन समाज-मनोविज्ञान में महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनका व्यवहार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

अभिवृत्तियों के निर्माण एवं परिवर्तन की व्याख्या के लिये अनेक सिद्धान्त भी विकसित हुये हैं। इनसे ज्ञात हुआ है कि विभिन्न प्रकार की अभिवृत्तियाँ विभिन्न कारणों से विकसित होती हैं। अतः सभी अभिवृत्तियाँ समान कारणों से विकसित नहीं होती। इस प्रकार अभिवृत्तियों के निर्माण, विकास और परिवर्तन के अनेक कारण हैं, जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है।

अधिगम और अभिवृत्ति निर्माण

(Learning and Attitude Formation)

अभिवृत्तियाँ, व्यक्ति द्वारा जीवन-काल में सीखी जाती हैं। प्रश्न यह उठता है कि इनका अधिगम कैसे होता है? अधिगम के अनेक प्रक्रम अभिवृत्तियों के अर्जन में लागू होते हैं। समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार तीन अधिगम प्रक्रियायें अभिवृत्तियों के निर्माण में महत्वपूर्ण होती हैं।

(i) **प्राचीन अनुबन्धन (Classical conditioning)**—प्राचीन अनुबन्धन का अभिप्राय है, साहचर्य द्वारा अधिगम। दो उद्दीपकों के बार-बार एक साथ प्रस्तुत होने के कारण उनमें ऐसा साहचर्य स्थापित हो जाता है कि जो क्रिया

एक उद्दीपक द्वारा उत्पन्न होती थी वह अब दूसरे उद्दीपक द्वारा भी होने लगती है। इस प्रकार प्राचीन अनुबन्धन उस समय घटित होता है जब कोई अनुक्रिया उस उद्दीपक द्वारा उत्पन्न होने लगती है, जो पहले नहीं होती थी। इसकी उत्पत्ति, उद्दीपक के किसी अन्य उद्दीपक के साथ बार-बार घटित होने के कारण होती है जो स्वाभाविक रूप में उस अनुक्रिया को उत्पन्न करता है। हमारी अनेक अभिवृत्तियों में संभवतः प्राचीन अनुबंधन के प्रभाव निहित होते हैं। जैसे यदि कोई सुखद अनुभव कुछ वस्तुओं, घटनाओं या व्यक्तियों की उपस्थिति में बारंबार घटित होता है, तो हमारे भीतर उन वस्तुओं, घटनाओं या व्यक्तियों के लिये धनात्मक अभिवृत्ति विकसित होने की संभावना होती है। एक सुखद संध्या में आग तापते मौजूद अन्य लोगों के प्रति पसंद में वृद्धि करती है। यदि आप किसी नगर जैसे चण्डीगढ़ गये और आपका बटवा खो गया, बहुत परेशानी हुई, तो उस नगर के प्रति अनानुकूल भावना विकसित हो जाती है। एक वाचिक अधिगम के प्रयोग में तथा स्टैट् (Staat & Staat, 1958) ने प्रयोज्यों के सामने छः व्यक्तियों के नाम प्रस्तुत किये। हर नाम के साथ एक शब्द बोला जाता था। यह शब्द तटस्थ, दुःखद या सुःखद होता था। यह क्रिया 18 बार दुहरायी गयी। इसके बाद प्रयोज्यों को प्रत्येक नाम की सुःखदता का श्रेणीकरण (मूल्यांकन) करने का निर्देश दिया गया। परिणामों से ज्ञात हुआ कि जो नाम प्रयोग अवधि में सर्वदा सुखद शब्दों से सम्बद्ध थे, अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक धनात्मक मूल्यांकन उत्पन्न करते हैं।

एक अन्य रोचक अध्ययन (Griffitt & Veitch 1971) में प्रयोज्यों ने एक चैम्बर में अनेक कार्य किए। आधे प्रयोज्यों को कक्ष में सामान्य से अधिक गर्म वातावरण में रखा गया जब कि अन्य आधे प्रयोज्यों ने सामान्य वातावरण में काम किया। इसी प्रकार एक समूह ने 12 से 15 व्यक्तियों के समूह (भीड़) में तथा अन्य समूह ने 3 से 5 व्यक्तियों के समूह में काम किया। कार्य के समाप्ति पर प्रयोज्यों ने अपरिचित व्यक्तियों का पसन्द के आधार पर श्रेणीकरण किया। अति गर्म वातावरण ने अपरिचितों के प्रति कम पसन्द का प्रमाण दिया। इसकी अपेक्षा सामान्य तापक्रम तथा छोटे समूह में कार्य कर्ताओं में अपरिचितों के प्रति अधिक पसन्द उत्पन्न किया। इस प्रकार परिवेशीय दशाओं द्वारा उत्पन्न ऋणात्मक भावनाओं से निर्दोष व्यक्तियों के प्रति सामान्यीकरण के प्रमाण मिले।

इस प्रकार प्राचीन अनुबंधन की प्रक्रिया द्वारा अभिवृत्ति निर्माण के प्रभावित होने के प्रमाण मिले। एक अन्य अध्ययन (Berkowitz & Knurek, 1969) से प्रमाणित हुआ कि नाम तथा शब्द का सम्बन्ध कैसे अन्तर्क्रिया को प्रभावित करता है। इन्होंने अपने अध्ययन में नामों को सुखद तथा दुःखद शब्दों के साथ अनुबंधित किया। इसमें एक नाम ही केवल क्रान्तिक था। परिणामों से प्रदर्शित हुआ

कि जिस व्यक्ति का नाम प्रयोज्यों के लिये ऋणात्मक रूप से अनुबन्धित किया गया था उसके प्रति प्रयोज्यों ने अपेक्षाकृत कम मित्रतापूर्ण व्यवहार किया। दूसरे शब्दों में निषेधात्मक अनुबन्धन के कारण उस व्यक्ति के प्रति निषेधात्मक व्यवहार की उत्पत्ति हुई।

(ii) **नैमित्तिक अनुबन्धन** (Instrumental conditioning)—नैमित्तिक अनुबन्धन का आधार यह है कि व्यक्ति उन व्यवहारों को सीख लेता है जिनके करने पर पुर्नबलन प्राप्त करता है। वैसे तो पुर्नबलन के अनेक रूप होते हैं, किन्तु मानवीय प्रयोज्यों के अधिगम में प्रशंसा या शाब्दिक अनुमोदन का विशेष महत्व है। अभिवृत्तियाँ प्रायः शाब्दिक माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। बच्चों के अधिगम में प्रशंसा तथा फटकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है : एक पिता जो काँग्रेसी है, अपने उस बच्चे की प्रशंसा करता है जो काँग्रेसी विचारधारा में विश्वास करता है और विरोधी राजनैतिक विचार रखने पर दण्ड दे सकता है। एक अध्ययन द्वारा इन्सको (Insko, 1965) ने प्रयोज्यों से विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों से टेलीफोन पर यह पूछने को कहा कि क्या आलोहा सप्ताह बसन्त के महीने में मनाया जाय अथवा नहीं। प्रयोज्यों से अनेक प्रश्न पूछे गये। कुछ उत्तरों को सुनकर प्रयोगकर्त्ता कहता था "सही बात है।" यह प्रश्न आलोहा सप्ताह के विषय में थे। अन्य प्रयोज्यों से कुछ स्थानीय समस्याओं के बारे में प्रश्न किये गये किन्तु एक प्रश्न बसन्त में आलोहा सप्ताह से भी सम्बद्ध था। परिणामों से प्रदर्शित हुआ कि उन प्रयोज्यों ने अधिक धनात्मक उत्तर दिये जिन्हें आलोहा पर्व मनाने के विषय में "हाँ" उत्तर देने पर शाब्दिक पुर्नबलन प्राप्त हुआ था। इसके विपरीत उन प्रयोज्यों ने अधिक निषेधात्मक उत्तर दिये जिनको "नहीं" कहने पर पहले पुर्नबलित किया जा चुका था। इस प्रकार अध्ययन से यह प्रमाणित हुआ कि पुर्नबलन अभिवृत्ति निर्माण में सहायक होता है। किन्तु कुछ मनोवैज्ञानिक इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। वे यह मानते हैं कि अभिवृत्ति में निहित सरल भावनायें बड़ी सुगमतापूर्वक अनुबन्धित हो जाती है। किन्तु यदि सीखे जाने वाले व्यवहार में समस्या समाधान का समावेश होता है तो अधिक व्याख्यात्मक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति अर्थात वे लोग जो जानते हैं कि किस व्यवहार से पुर्नबलन मिल सकेगा, वे अधिक सतर्कता का प्रकाशन करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पुरस्कार तथा दण्ड के उचित अनुप्रयोग द्वारा माता-पिता अनेक विषयों पर अपने बच्चों की अभिवृत्ति निर्माण को प्रभावित कर सकते हैं।

(iii) **मॉडेलिंग** (Modeling)—मॉडेलिंग का अभिप्राय निरीक्षण द्वारा

अधिगम से है। जब माता-पिता प्रत्यक्ष रूप से बच्चों की अभिवृत्तियों को प्रभावित नहीं करते, तो भी वे बच्चों के अनुकरण के लिये अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। छोटे बच्चों की व्यवसायिक आकांक्षायें कभी-कभी माता-पिता के उदाहरण पर निर्भर करती हैं। हाफमैन (Hoffman, 1979) ने प्रमाणित किया है कि लड़कियों की व्यवसायिक आकांक्षायें बहुत कुछ उनकी माता के उदाहरण पर निर्भर करती हैं।

(iv) **जन संचार के साधन (Mass Media)**—अभिवृत्तियों का सारा अधिगम परिवार अथवा माता-पिता द्वारा प्रस्तुत उदाहरण पर ही निर्भर नहीं करता। अभिवृत्तियों का पर्याप्त अधिगम स्कूल, पड़ोस, क्रीड़ा स्थल, तथा धार्मिक स्थलों द्वारा भी होता है। सम्प्रत में अभिवृत्ति निर्माण में जनसंचार के साधनों जैसे रेडियो, टी० वी०, समाचार पत्र, चलचित्र आदि की शक्ति के महत्व को समाज वैज्ञानिक अधिक महत्व दे रहे हैं। इन जनसंचार साधनों के महत्व की चेतना के साथ एक चिन्ता भी बढ़ी है कि 'क्या जनसंचार के साधन तटस्थ हैं, या पक्षपात युक्त। जनसंचार साधनों के पक्षपातयुक्त होने की समस्या जटिल है। क्या टी०वी०, रेडियो या समाचार पत्रों द्वारा सूचनाएँ, या समाचार निष्पक्ष होते हैं या तोड़मड़ोरकर प्रस्तुत किये जाते हैं ? यदि समाचार पक्षपातयुक्त होते हैं तो क्या इनसे जनमत में वांछित परिवर्तन होते हैं ? भारत में विपक्ष बराबर सरकार पर यह आरोप लगाता रहा है कि टी० वी० तथा आकाशवाणी समाचार निष्पक्ष नहीं होते वरन् सरकार अपने पक्ष के अनुसार तोड़मड़ोरकर प्रस्तुत करती है। इस सम्बन्ध में अमेरिका में अध्ययन हुये हैं। भारत में भी इस दिशा में शोध की आवश्यकता है।

2. **उद्दीपक पुनरावृत्ति एवं परीचितता (Stimulus Repetition & Familarity)**—उद्दीपकों की पुनरावृत्ति एवं परिचितता, अभिवृत्ति निर्माण को बहुत प्रभावित करती है। एक अध्ययन (Zajonc 1968 a) से प्रमाणित हुआ कि व्यक्ति के समक्ष कोई उद्दीपक जितनी बार उपस्थित होगा, उसके प्रति पसन्द में भी उतनी ही वृद्धि होगी। इसका कारण यह है कि बारंबार प्रस्तुति से परिचय में वृद्धि होती है, और इससे धनात्मक अभिवृत्ति विकसित होती है। विज्ञापन एजेंसियाँ इस सिद्धांत का व्यापक उपयोग करती हैं। उपभोक्ताओं के समक्ष किसी उत्पाद या सामग्री को बार-बार प्रस्तुत करने से उपभोक्ता उसके गुणों से अधिकाधिक परिचित हो जाते हैं और उस सामग्री के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति निर्मित कर लेते हैं। Zajone (1968 a) ने अपनी उपकल्पना की पुष्टि दो प्रायोगिक अध्ययनों द्वारा की, जिससे प्रदर्शित हुआ कि मात्र प्रस्तुति से प्रयोज्यों की पसंद में वृद्धि आयी। अनेक अन्य शोधकर्त्ताओं ने भी ऐसे ही परिणाम प्राप्त किये हैं। (Jacobo-

vitz 1968, Maddi, 1968) : किन्तु किसी उद्दीपक की बार-बार प्रस्तुति से व्यक्ति कभी-कभी ऊब जाते हैं। कभी उपभोक्ता नवीनता और उत्तेजना पसन्द करते हैं और नवीन उद्दीपकों के प्रति वरीयता प्रकट करते हैं।

3. आवश्यकतापूर्ति (Need Satisfaction)—जो क्रियायें तथा व्यवहार आवश्यकतापूर्ति से सम्बद्ध होते हैं, उनके प्रति व्यक्ति में विधेयात्मक या अनुकूल अभिवृत्तियाँ विकसित होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अभिवृत्ति निर्माण में आवश्यकतापूर्ति एक महत्वपूर्ण कारक है। आगे चलकर वह अभिवृत्तियाँ अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है, जैसे किसी बालक के परिवार में बढ़ई का कार्य होता है, तो बालक पिता को प्रसन्न करने के उद्देश्य से बढ़ई गिरी में रूचि प्रकट करता है। बड़े होने पर उसकी यह रुचि बढ़ई के कार्य के प्रति विधेयात्मक अभिवृत्ति का रूप ले लेती है, क्योंकि इसके द्वारा जीविकोपार्जन की आवश्यकता की सन्तुष्टि होती है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुये कैट्ज़ (Katz, 1960) ने अभिवृत्ति-निर्माण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का परिचय दिया। कैट्ज़ तथा स्टोटलैण्ड (Katz & Stotland, 1959) ने अभिवृत्तियों के कुछ प्रमुख प्रकार्यों की चर्चा की है, जिनके कारण अभिवृत्तियाँ निर्मित एवं विकसित होती हैं।

(i) नैमित्तिक एवं उपयोगितापरक प्रकार्य (Instrumental and utilitarion functions)—व्यक्ति पुरस्कारों में वृद्धि तथा दण्डों में कमी के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। फलतः उन उद्दीपकों के प्रति अनुकूल अभिवृत्तियाँ विकसित करते हैं जो उसे पुरस्कृत करते हैं तथा उन वस्तुओं के लिये निषेधात्मक अभिवृत्तियाँ निर्मित करते हैं जिनके कारण दण्ड मिलता है। अतः अभिवृत्ति-निर्माण प्रक्रिया उपयोगिता का प्रकार्य है।

(ii) अहं-सुरक्षा की प्रक्रिया (Ego-defensive process)—व्यक्ति अनेक अभिवृत्तियों का विकास अपने अहं की सुरक्षा के लिये भी करता है। अनेक तथ्य एवं घटनाएँ व्यक्ति के लिये अप्रिय और कष्टदायी होती हैं, जिनसे उसके अहं को आघात पहुँचता है। परिणामस्वरूप वह ऐसी अभिवृत्तियाँ बनाता है जो उसके अहं को सुरक्षा प्रदान करती हैं। अनेक व्यक्ति पूर्वाग्रहों का विकास अपने अहं को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से करते हैं। इस प्रकार अभिवृत्ति विकास में अहं महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(iii) मूल्य तथा अभिवृत्ति विकास (Value and attitude development)—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी मूल्य प्रणाली होती है। वह अभिवृत्तियों के निर्माण में अपने मूल्यों द्वारा प्रभावित हुये बिना नहीं रह पाता। अतः वह अपने मूल्यों के अनुरूप अभिवृत्तियाँ विकसित करने की प्रेरणा का अनुभव करता है।

(iv) संज्ञान तथा अभिवृत्ति (Cognition & Attitude)—व्यक्ति अपने अनुभवों का सार्थक संगठन करता है और अभिवृत्तियों का निर्माण अपने संज्ञानों के अनुसार करता है। अर्थात् व्यक्ति का संज्ञान भी अभिवृत्ति निर्माण को प्रभावित करता है। यह प्रक्रिया Festinger द्वारा प्रतिपादित संज्ञानात्मक विसन्वादिता उपकल्पना के समान है। इस प्रकार प्रत्यक्षपरक कारक भी अभिवृत्ति निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। व्यक्ति उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण जिस रूप में करता है उसके अनुरूप भावनायें भी उसमें उत्पन्न होती हैं। यह भावनायें व्यक्ति में अभिवृत्तियाँ निर्मित करने में सहायक होती हैं।

4. समूह के प्रभाव (Group Effects)—समूह के प्रति लगाव या समूह सम्बद्धता भी अभिवृत्ति निर्माण एवं विकास प्रक्रिया को प्रभावित करती है। व्यक्ति अपनी अनेक अभिवृत्तियाँ अपने समूह से अर्जित कर लेता है। समूह के मूल्यों, मानकों तथा आदर्शों का सदस्यों की व्यक्तिगत अभिवृत्तियों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। स्मिथ (Smith; 1947) ने अपने अध्ययनों द्वारा दर्शाया है कि समूह-मूल्य तथा समूह-मानक अभिवृत्ति निर्माण प्रक्रिया पर बहुत प्रभाव डालते हैं।

अभिवृत्ति-निर्माण एवं विकास में प्राथमिक समूह अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं। अतः प्राथमिक समूह के कारण बच्चों में अनेक प्रवृत्तियाँ निर्मित एवं विकसित होती हैं। कैम्पबेल तथा मिलर (1954) ने अपने अध्ययनों के आधार पर अभिवृत्ति निर्माण में प्राथमिक समूह को एक महत्वपूर्ण कारक बताया है। इन मनोवैज्ञानिकों ने तीन प्राथमिक समूहों में राजनैतिक समानता की सीमा का अध्ययन किया। चुनाव के बाद व्यक्तियों से पूछा गया कि उनके मित्रों ने किसे वोट दिया? विवाहित लोगों से पूछा गया कि उनके जोड़ों ने किसे वोट दिया? अविवाहितों से पूछा गया कि घर वालों ने किसे वोट दिया? परिणामों की व्याख्या से ज्ञात हुआ कि 83% प्रयोज्यों ने उसी व्यक्ति को वोट दिया था जिसे उनके घर वालों एवं साथियों ने वोट दिया था। इस प्रकार यह प्रदर्शित हुआ कि राजनीति से सम्बन्धित अभिवृत्तियाँ, प्राथमिक समूह द्वारा बहुत प्रभावित होती हैं।

5. व्यक्तित्व (Personality)—व्यक्तित्व का भी अभिवृत्ति-निर्माण एवं विकास पर प्रभाव पड़ता है। विभिन्न व्यक्तियों की व्यक्तित्व संरचना भी विभिन्न प्रकार की होती है। अतः व्यक्तित्व संरचना के अनुरूप ही उनमें अभिवृत्तियाँ विकसित होती हैं। मैकक्लास्की (Mc. Closky 1958) ने अपने एक अध्ययन द्वारा यह दर्शाया कि जिन व्यक्तियों को सूचनायें न्यून मात्रा में उपलब्ध होती हैं तथा जो कम शिक्षित एवं कम बुद्धिमान होते हैं, उनमें रूढ़िवादी अभिवृत्तियों की प्रधानता होती है। इसी प्रकार जिनमें भय एवं कुण्ठा के लक्षण होते हैं उनकी अभिवृत्तियाँ

भी रूढ़िवादी होती हैं। कुछ ऐसे ही परिणाम कैम्पबेल (1960) और उनके साथियों ने प्राप्त किये हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व के लक्षणों द्वारा अभिवृत्ति निर्माण प्रक्रिया प्रभावित होती है।

सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors)—व्यक्ति अपनी संस्कृति का दर्पण होता है (Individual is a mirror of his culture) मानवशास्त्रियों द्वारा प्राप्त प्रदत्तों से ज्ञात हुआ है कि अभिवृत्तियों के निर्माण में सांस्कृतिक कारक प्रमुख भूमिका निभाते हैं। बाल्यावस्था से ही संस्कृति का प्रभाव आरम्भ होता है और उसी समय से अभिवृत्ति निर्माण की प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है। इस सम्बन्ध में हुये अनेक अध्ययनों (Winslow, Nadal, 1937, Cook, 1942, Hogden 1952) के आधार पर यह प्रदर्शित हुआ है कि अभिवृत्तियों के निर्माण एवं विकास में संस्कृति का सार्थक प्रभाव पड़ता है। संस्कृति के भौतिक और अभौतिक पक्षों में होने वाले परिवर्तनों का अभिवृत्ति निर्माण पर सार्थक प्रभाव पड़ता है।

अभिवृत्ति-परिवर्तन
(Attitude Change)

अभिवृत्तियाँ अर्जित होती हैं। आज का युग सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी परिवर्तनों का युग है, जिसमें अभिवृत्ति परिवर्तन एक प्रमुख समस्या है। अभिवृत्ति परिवर्तन समाज वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों के लिए एक प्रमुख चुनौती है। अभिवृत्ति परिवर्तन के विषय में कुछ वैज्ञानिकों ने महत्वपूर्ण अध्ययन किए हैं। (Fishben, 1957, Mc. Guire, 1968, Sherif and Sherif, 1967, Krech, Crutchfield & Ballachy, 1962) इस परिवर्तन के दो रूप होते हैं। समरूप परिवर्तन (Congruent change) और विरूप परिवर्तन (Incongruent change).

(i) समरूप परिवर्तन (Congruent change)—अभिवृत्ति की तीव्रता में परिवर्तन, समरूप परिवर्तन कहा जाता है। किसी अति तीव्र अभिवृत्ति में परिवर्तन उस समय ला सकते हैं जब हम उस अभिवृत्ति की तीव्रता को घटाने की स्थिति में होते हैं। मानलें एक व्यक्ति ऐसा है जो चीन के प्रति कम ऋणात्मक अभिवृत्ति रखता है, या एक अन्य व्यक्ति ब्रिटैन के प्रति कम धनात्मक अभिवृत्ति रखता है। समरूप परिवर्तन के अन्तर्गत ऋणात्मक अभिवृत्ति को और अधिक ऋणात्मक तथा धनात्मक अभिवृत्ति को और अधिक धनात्मक बनाते हैं। अर्थात हमारे उदाहरण में चीन के प्रति कम नकारात्मक अभिवृत्ति को और तीव्र नकारात्मक तथा ब्रिटैन के प्रति कम धनात्मक अभिवृत्ति को और तीव्र धनात्मक कर सकते हैं। इस

प्रकार किसी अभिवृत्ति की तीव्रता को कम या अधिक करने की प्रक्रिया समरूप परिवर्तन (Congruent change) कहलाती है ।

(ii) विरूप परिवर्तन (Incongruent change)—समरूप की अपेक्षा विरूप परिवर्तन अधिक कठिनाई से आता है । विरूप परिवर्तन में अभिवृत्ति में गुणात्मक परिवर्तन होता है । किसी वस्तु, व्यक्ति, दल आदि के किसी पक्ष के लिये अनुकूल या प्रतिकूल कर्षण अथवा उन्मुखता ही अभिवृत्ति है । परिवर्तन का अभिप्राय कर्षण में बदलाव से है । पूर्व-निर्मित अभिवृत्ति की मूल दिशा में परिवर्तन को विरूप परिवर्तन कहते हैं । मानलें कोई व्यक्ति परिवार नियोजन का कट्टर विरोधी है, उसे जब हम परिवार नियोजन का समर्थक बनाने का प्रयास करते हैं और ऐसा कर लेते हैं तो इसे विरूप परिवर्तन कहेंगे । इसी प्रकार किसी व्यक्ति की धनात्मक अभिवृत्ति को नकारात्मक रूप में परिवर्तित करना भी विरूप परिवर्तन (Incongruent change) कहा जायगा ।

अभिवृत्ति-प्रणाली की विशेषतायें एवं अभिवृत्ति की परिवर्तनशीलता

अभिवृत्ति एक संगठित भावात्मक प्रणाली है, जिसकी कुछ विशेषतायें इसे अन्य अभिवृत्ति प्रणालियों से पृथक करती हैं । व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार पर किसी अभिवृत्ति के प्रभावों में भिन्नतायें, इन विशेषताओं के कारण देखी जाती है । क्रेच, क्रचफील्ड तथा बेलैकी (1962), इन विशेषताओं को अभिवृत्ति परिवर्तन में प्रमुख मानते हैं । यह विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

1. अभिवृत्ति की अतिरेकता (Extremeness of Attitude)—कोई अभिवृत्ति अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है । इन अतिरेकी छोरों के मध्य तटस्थ क्षेत्र (शून्य अभिवृत्ति) होता है । प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि अभिवृत्ति जितनी तीव्र होती है, उसमें परिवर्तन की संभावना उतनी ही कम होती । (टेनेनबाम, 1956) । अतिरेकी अभिवृत्ति में विरूप (Incongruent change) परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक दुर्लभ होता है, किन्तु समरूप परिवर्तन कुछ सरल होता है ।

2. बहुविधता (Multiplexity)—अभिवृत्तियों की परिवर्तनशीलता उसकी बहुविधता की मात्रा पर भी निर्भर करती है । बहुविधता का अभिप्राय अभिवृत्ति में सूचनाओं की संकलनशीलता से है । बहुविधता अधिक होने पर विरूप परिवर्तन अधिक कठिन होता है, किन्तु समरूप परिवर्तन अधिक आसान होता है । बहुविधि अभिवृत्तियों में अतिरिक्त सूचनायें उपलब्ध कराना अनुकूल या समरूप परिवर्तन को सुगम करता है ।

3. संगति (Consistency)—व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति प्रणाली संगति या सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करता है। इसी सन्तुलन या संगति के आधार पर अनेक मनोवैज्ञानिक अभिवृत्ति परिवर्तन की व्याख्या करते हैं (रोजेनबर्ग, आसगुड तथा टेनेनबाम)। अभिवृत्ति-प्रणाली में सन्तुलन से स्थिरता और असन्तुलन से अस्थिरता आती है। इस अस्थिरता का कारण यह है कि प्रणाली के विभिन्न तत्व एक दूसरे से अलगाव का प्रदर्शन करते हैं।

4. अन्तर्सम्बद्धता (Interconnectedness)—अभिवृत्ति की अन्तर्सम्बद्धता की मात्रा भी उसमें परिवर्तन की संभावना को प्रभावित करती है। अभिवृत्तियों में भावात्मक सम्बंध घनिष्ठ होने पर विरुप परिवर्तन अत्यन्त कठिन होता है। इसी भावात्मक लगाव के कारण धार्मिक अभिवृत्ति में विरुप परिवर्तन अत्यन्त कठिन होता है। दूसरी ओर अन्तर्सम्बन्धित अभिवृत्तियों में समरुप परिवर्तन आसान होता है।

5. अभिवृत्ति पुंज में संगति या सन्नादिता (Consonance of Attitude Cluster)—अभिवृत्ति-पुंज, कई अभिवृत्तियों से मिलकर निर्मित होता है। पुंज में निहित अभिवृत्तियाँ संगति (Consonance) के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध होती हैं। सन्नादी अभिवृत्तियों में विरुप या प्रतिकूल परिवर्तन कठिन होता है, लेकिन समरुप या अनुकूल परिवर्तन सुगम होता है। सन्तुलन सिद्धान्त (हाइडर) को मान्यता है कि जो अभिवृत्ति असन्तुलन की दशा में होती है, उसमें सन्तुलन की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। विसन्नादिता के ही आधार पर फेस्टिंजर अभिवृत्ति परिवर्तन का स्पष्टीकरण देता है।

6. आवश्यकताओं की शक्ति एवं संख्या—कोई अभिवृत्ति केवल एक ही नहीं अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है। अभिवृत्ति परिवर्तन, अभिवृत्ति द्वारा संतुष्ट आवश्यकताओं की शक्ति एवं संख्या पर निर्भर करती है। जिस अभिवृत्ति द्वारा शक्तिशाली एवं अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, वह व्यक्ति के लिये उतनी ही महत्वपूर्ण होती है। ऐसी अभिवृत्तियों में प्रतिकूल या विरुप परिवर्तन कठिन होता है, क्योंकि यह परिवर्तन व्यक्ति की जीवन शैली को अस्त व्यस्त कर सकता है। इन अभिवृत्तियों में समरुप परिवर्तन करना सरल होता है। कारण यह है कि समरुप परिवर्तन से व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति पर किसी अनानुकूल प्रभाव की सम्भावना नहीं होती।

7. सम्बद्ध मूल्यों की केन्द्रीयता (Centrality of related values)—अभिवृत्ति से सम्बद्ध मूल्यों की केन्द्रीयता भी अभिवृत्ति परिवर्तन का निर्धारण करती है। कोई मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व में केन्द्रीय महत्व रखता है, तो उससे सम्बद्ध अभिवृत्ति में प्रतिकूल या विरुप परिवर्तन बहुत ही कठिन होगा, और यदि

कोई अभिवृत्ति यदि किसी गौण मूल्य से जुड़ी हो तो उसमें विरुप परिवर्तन अपेक्षाकृत सुगम होगा। दूसरी ओर केन्द्रीय मूल्य से सम्बद्ध अभिवृत्ति या अभिवृत्तियों में समरुप परिवर्तन सरल होगा, क्योंकि इससे मूल्य प्रणाली प्रभावित नहीं होती।

अभिवृत्ति परिवर्तन को प्रभावित करने वाले कारक

(Factors Affecting Attitude Change)

अनेक कारक अभिवृत्ति परिवर्तन को प्रभावित एवं निर्धारित करते हैं। कुछ ऐसे प्रमुख कारकों की चर्चा वांछित है।

1. सूचना (Information)—सूचना के अनेक माध्यम हैं—जैसे बातचीत, शैक्षणिक, तथा प्रचार साधनों से प्राप्त सूचनायें आदि। व्यक्ति की अभिवृत्ति में परिवर्तन अतिरिक्त सूचना के माध्यम, स्रोत, विषय, तथा परिस्थितियों के द्वारा होता है। इसके अन्तर्गत तीन उपकारक मुख्य हैं—समूह और एकांकी सूचना, वचनबद्धता, और सामूहिक निर्णय।

(i) समूह और एकांकी सूचना—सामान्य जनता तक सूचना पहुँचाने के साधनों में समाचार पत्र, रेडियो, टी० वी० तथा टेलीफोन आदि प्रमुख हैं। आज इन्हें जनमाध्यम (Mass Media) कहते हैं। छोटे-छोटे समूह नाना प्रकार की सूचनाओं एवं अफवाहों के फैलाने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। ब्राडबेंक (1956) ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रायोगिक अध्ययन किए। इन्होंने देखा कि छोटे समूह प्रचार से अधिक प्रभावित होते हैं। यह भी बताया कि इन्हीं व्यक्तियों को जब नई सूचनायें उपलब्ध कराते हैं तो लोग केवल उन सूचनाओं को ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त करते हैं जो उनके मूल्यों, विचारों आदि से संगत होती हैं। एक अन्य अध्ययन (केली तथा बुडरफ् 1956) ने छात्रों को एक भाषण सुनने के पहले सूचित किया कि भाषण देने वाला उन्हीं के विद्यालय का गणमान्य व्यक्ति है, तो प्रयोज्यों ने अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में सूचना ग्रहण की। किन्तु जब वक्ता के विषय में यह सूचना दी कि वह इस नगर का एक व्यक्ति है तो उसके भाषण से ग्रहण सूचना की मात्रा कम थी। इससे ऐसा विदित होता है कि समूह में रहने पर व्यक्ति की अभिवृत्तियाँ, रुचियाँ एवं मूल्य समूह निर्णय द्वारा प्रभावित होते हैं। इसीलिए अकेले व्यक्ति के अनुभवों की तुलना में समूह में रहने पर सूचना-ग्राह्यता कहीं अधिक होती है।

(ii) वचनबद्धता (Commitment)—वचनबद्धता अभिवृत्ति परिवर्तन का एक मुख्य निर्धारक है। कोई व्यक्ति जब किसी कार्य के लिये वचनबद्ध हो जाता है तो वह उसे पूरा करने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। यदि वचनबद्धता सामूहिक होती है या समूह को वचन देते हैं तो उसे पूरा करने की एक तरह की

बाध्यता होती है। ऐसी दशा में उसके गौरव और प्रतिष्ठा में वचन तोड़ने से कमी आती है। उसका अहं भी इस दशा में कमजोर होता है। ऐसी हालत में वचनबद्धता के कारण उसे अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये निजी वचन-बद्धता की अपेक्षा समूह के समक्ष दिये वचन अधिक प्रभावशाली होते हैं।

(iii) समूह-निर्णय के प्रभाव—कुछ प्रायोगिक अध्ययनों द्वारा सिद्ध हुआ है कि जो निर्णय समूह में लिये जाते हैं, वे व्यक्ति की क्रिया, व्यवहार तथा अभि-वृत्तियों पर अधिक अच्छा प्रभाव डालते हैं (लेविन तथा सहयोगी, 1950)। इन्होंने प्रथम बार माँ बनी हुई माताओं का अध्ययन किया। इन माताओं के समक्ष नवजात शिशु को संतरे का रस तथा मछली के तेल का पौष्टिक आहार के रूप में प्रयुक्त किए जाने के महत्व पर विशेषज्ञ द्वारा व्यक्तिगत वार्ता का आयोजन किया गया। कुछ समय बाद एक सामूहिक परिचर्चा की व्यवस्था की गई जिसमें उन माताओं को भी सम्मिलित किया गया जिनमें नवजात शिशुओं के पोषाहार पर चर्चा हुई। परिणामों से ज्ञात हुआ कि जो माताएँ व्यक्तिगत वार्ता के सुझावों द्वारा सन्तुष्ट नहीं थीं, वे समूहनिर्णय से शिशुओं के पोषाहार में संतरे के रस तथा मछली के तेल के महत्व पर सहमत हो गई थीं। इस विधि को अधिक प्रभावशाली बनाने में विनेट (Bennet 1955) का भाषण बनाम विवेचना तथा निर्णय सहित बनाम निर्णय रहित, विधियों के सापेक्षित उपयोगिता का अध्ययन किया और यह प्रदर्शित किया समूह-विवेचना एवं सार्वजनिक वचनबद्धता भाषण एवं निजी-वचनबद्धता, से अधिक-उत्तम नहीं हैं। इन्होंने इस प्रकार यह प्रदर्शित किया कि लेविन की भाषण-विधि समूह-निर्णय से श्रेष्ठ है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बेनेट के निष्कर्ष पर सन्देह व्यक्त किया (Penning, Harari & Bass, 1958) समूह में पहले से अभिवृत्ति के विषय में सहमति होने की दशा में भाषण अधिक कारगर हो सकता है।

2. सूचना के स्रोत—सम्प्रेषण का प्रभावशाली होना अभिवृत्ति परिवर्तन के लिये अति आवश्यक है जो कि अनेक बातों पर निर्भर करता है। इस विषय में हुये अध्ययनों से प्रमाणित हुआ कि सम्प्रेषक की, विश्वसनियता, आकर्षण तथा समूह के साथ सम्बन्ध (Group affiliation) के गुण, अन्वेषण या सूचना को प्रभाव-शाली बनाते हैं।

(i) विश्वसनीयता (Credibility)—शोधों से ज्ञात हुआ है कि सूचना विश्वसनीयता अभिवृत्ति परिवर्तन में बड़ी महत्वपूर्ण होती है (Hovland & Weiss 1951, Kelman & Hovland, 1956)। इन्होंने सम्प्रेषक विश्वस-नीयता तथा अभिवृत्ति परिवर्तन में समय बीतने के बीच रोचक अन्तक्रिया के परिणाम प्राप्त किये हैं। इन अध्ययनों से प्रदर्शित हुआ कि यद्यपि उच्च विश्वस-

नीयता वाले सम्प्रेषक अधिक मात्रा में तात्कालिक अभिवृत्ति परिवर्तन उत्पन्न करते हैं, किन्तु समय बीतने के साथ यह प्रभाव समाप्त होने लगता है या कम होने लगता है। जब सम्प्रेषक विशेषज्ञ हो और भरोसे मन्द हो तो विश्वसनीयता अभिवृत्ति परिवर्तन में सहायक होती है। जब सम्प्रेषक समूह का विश्वास प्राप्त कर लेता है तो उसकी कही बातें या उसके द्वारा सम्प्रेषित सूचना अभिवृत्ति वांछित परिवर्तन उत्पन्न करती है (Anderson, 1966, Bower, 1965)।

(ii) आकर्षण—सूचना देने वाले में आकर्षण का होना भी एक प्रमुख कारक है। आकर्षक, अनाकर्षक की अपेक्षा अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक सफल होता है। टेनेनबाम (1958) ने अपने अध्ययन में देखा कि अभिवृत्ति-परिवर्तन, सम्प्रेषक की प्रभावशालिता और आकर्षण की मात्रा द्वारा प्रभावित होता है। उन्होंने यह भी देखा कि यदि सम्प्रेषक श्रोताओं के विचारों के विपरीत अभिवृत्ति या विचार प्रगट करता है तो उसके प्रति विरोध की प्रवृत्ति व्यक्त होती है।

(iii) समूह सम्बन्धन (Group Affiliation)—समूह-सम्बन्धन भी अभिवृत्ति परिवर्तन में काफी सहायक होता है। सम्प्रेषक का समूह के साथ अपनापन आवश्यक है जिसके लिए उसे समूह का सदस्य होना चाहिए। कोई सम्प्रेषक जब समूह के मूल्यों और विचारों के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुये उनकी कोई बात बताता है जो सदस्यों द्वारा उसके सुझावों के प्रति अधिक ग्रहणशीलता की सम्भावना होती है। ऐसे सम्प्रेषक समूह की अभिवृत्तियों में बदलाव लाने में अधिक सफल होते हैं। यदि कोई प्रचारक, या नेता समूह के सदस्यों की भावनाओं, समूह मानकों मूल्यों तथा आदर्शों को स्वीकार करते हुए उनकी अभिवृत्ति को बदलने का प्रयास करता है, तो समूह 'उसे अपनों में से एक' एवं समूह का शुभ चिन्तक मानने लगते हैं। इस प्रकार वह अभिवृत्ति-परिवर्तन में अधिक सफल होता है (Lazarfeld, & Berelson, 1954)। एक अन्य अध्ययन द्वारा (Katz & Lazarfeld, 1955) यह प्रकट हुआ कि अभिवृत्ति-परिवर्तन सामाजिक एवं आर्थिक दशा द्वारा भी प्रभावित होता है। इन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि सम्प्रेषक की सामाजिक स्थिति (Social Status) मान, प्रतिष्ठा और पद आदि का भी सम्प्रेषण-प्रणाली पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा उपलब्ध कराई गई सूचना का अधिक प्रभाव पड़ता है। सामाजिक स्थिति के प्रभाव पर डूब तथा ग्रॉस (1968) ने भी प्रकाश डाला है।

3. सूचना के माध्यम (Media of Information)—सूचना सम्प्रेषण का माध्यम भी अभिवृत्ति परिवर्तन का एक प्रभावशाली निर्धारक है। अनेक सूचनायें व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में दी जाती हैं। जैसे कोई अध्यापक किसी विद्यार्थी

को अनुशासन का महत्व बताता है, तो वह सूचना व्यक्तिगत रूप से देता है। लेकिन टी० वी० या रेडियो द्वारा दी गई सूचना सघन साधन द्वारा दी जाती है। एक अध्ययन से प्रमाणित हुआ है कि अभिवृत्ति परिवर्तन हेतु व्यक्तिगत रूप से प्रदत्त सूचना सघन रूप (Mass Media) द्वारा दी गई सूचना की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होती है। (रिले तथा अन्य, 1951)। इन तथ्य की पुष्टि लेजार्सफील्ड एवं उसके सहयोगियों के अध्ययनों द्वारा भी हुई है। इन्होंने अभिवृत्ति परिवर्तन में व्यक्तिगत प्रभाव को अधिक प्रभावपूर्ण प्रदर्शित किया है। सूचना के प्रमुख माध्यमों में भाषा, टी० वी०, रेडियो, फिल्म या सिनेमा, सभा, तथा समाचार पत्र आदि की गणना की जाती है।

(i) भाषा—भाषा मनुष्यों का वह अद्वितीय विशेषता है जो इसे पशु जगत से पृथक् करती है। सूचना के प्रसार में भी भाषा की प्रमुख भूमिका होती है। सूचना प्रसार में प्रयुक्त भाषा जनसाधारण की बातचीत वाली होनी चाहिये, अर्थात् भाषा का सहज, सरल और बोधगम्य होना अ[illegible] आवश्यक है। इसी प्रकार जब सूचना की भाषा में समूह में प्रयुक्त शब्दावली का अनुप्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं तो वह अधिक आकर्षक होती है तथा अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक प्रभावपूर्ण होती है।

(ii) टी० वी० तथा सिनेमा—आज सम्प्रेषण के साधनों में टी० वी० का स्थान सर्वोपरि है। अनेक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों (कैम्पबेल तथा अन्य, 1953; साइमन तथा स्टर्न 1955; और बेगार्ट, 1958) से प्रदर्शित हुआ है कि टी०वी० सूचना सम्प्रेषण का एक अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। दूरदर्शन से देश के महान नेताओं जैसे पंडित जवाहर लाल नेहरु, गांधी जी, या इन्दिरा गांधी के कुछ चुने हुए कथनों के दर्शाये जाने का उद्देश्य जन साधारण की अभिवृत्तियों में वांछित परिवर्तन लाने के सिवा कुछ और नहीं है। विज्ञापन हेतु दूरदर्शन का व्यापक उपयोग अभिवृत्ति परिवर्तन में इसके महत्व को प्रमाणित करता है।

फिल्मों या चलचित्र के द्वारा प्रचारक या सम्प्रेषक उन भावनाओं और विचारों की सहज अभिव्यक्ति होती है जो किसी की वाणी या लिखित भाषा द्वारा सम्भव नहीं है। समाज की कुरीतियों और समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में फिल्मों चलचित्रों का व्यापक उपयोग हो सकता है। भारत में दूरदर्शन ने कुछ ऐसे टेलिफिल्मों का निर्माण किया है जो अभिवृत्ति-परिवर्तन में सहायक हो सकती हैं।

(iii) समाचार पत्र—समाचार पत्र भाषा द्वारा अभिवृत्ति परिवर्तन का सर्वोत्तम उदाहरण है। विभिन्न संगठन और दल अपने दृष्टिकोण को जन साधारण

तक पहुँचाने के लिए कोई समाचार पत्र प्रकाशित करते हैं। अनेक बड़े उद्योगपति भारत के अनेक बड़े अखबारों को प्रकाशित करते हैं जैसे बिरला, गोयनका, वेनेट कोलमैन आदि। सम्प्रेषण के आधुनिक सम्बन्धों में अखबारों की भूमिका से भी अवगत हैं।

4. **अनुनय तथा अभिवृत्ति परिवर्तन** (Persuasion and Attitude change)—आज अधिकांश पत्रिकाएँ ऐसी आती हैं कि पन्ना उलटिये और तुरन्त आभास होगा कि आपके मत, विचार एवं अभिवृत्तियों को बदलने का प्रयास हो रहा है! टी० वी० को चलाइये और देखेंगे कि विज्ञापनकर्ता आपकी अभिवृत्तियों को बदलने का प्रयास कर रहे हैं। वे किसी वस्तु के खरीदने का आग्रह कर रहे हैं, या धूम्रपान के नुकसानों, गन्दगी से फैलने वाले रोगों से सतर्क करते हैं या असावधानी-पूर्वक गाड़ी चलाने से सतर्क करते हैं। पग-पग पर आपकी अभिवृत्ति को बदलने वाले प्रयासों का सामना करना होता है। यह प्रयास कभी सफल होते हैं तो कभी असफल। यह सभी प्रयास अनुनय का सहारा लेते हैं।

निष्क्रिय अनुनय (Passive Persuasion)—तीन दशक पूर्व अनुनय के अध्ययन की एक विधि का विकास येल (Yale) विश्वविद्यालय में कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों ने किया। यह शोधकर्ता किसी की अभिवृत्ति का मापन करने के पश्चात् उसे परिवर्तित करते थे और पुनः उसका मापन करते थे। इन्होंने अपने अध्ययनों द्वारा कुछ प्रमुख परिणाम प्राप्त किए जो निम्न हैं—

(i) विशेषज्ञ, अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अनुनय द्वारा अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक सफल होते हैं (Hovland & Weiss, 1952)।

(ii) यदि हम यह समझते हैं कि सूचना के पीछे सम्प्रेषक का कोई निहित उद्देश्य नहीं है, तो प्रभावित होने की सम्भावना अधिक होती है (Walster & Festinger, 1962)। यही कारण है कि अनेक टी० वी० विज्ञापन हम पर कोई प्रभाव नहीं डालते क्योंकि उनके पीछे निहित उद्देश्य का आभास होता है।

(iii) जिन लोगों में उच्च आत्मादर की अपेक्षा निम्न आत्मादर होता है, उनके शीघ्र प्रभावित होने की सम्भावना होती है। (Janis, 1954)।

(iv) अलोकप्रिय तथा अनाकर्षक की अपेक्षा लोकप्रिय और आकर्षक सम्प्रेषक अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक सफल होते हैं (Kiesler & Kiesler, 1969)।

(v) अनावधान की दशा में अनुनय के द्वारा प्रभावित होने की सम्भावना अधिक होती है (Allyn & Festinger, 1961)।

(vi) द्वयपक्षीय प्रकार या सम्प्रेषण अधिक प्रभावशाली होता है। इसका

अभिप्राय समस्या के अच्छे तथा बुरे-दोनों पक्षों को प्रस्तुत करने से है (Hovland, Lumsdaine, and Sheffield, 1949)।

(vii) तीव्र गति (जल्दी-जल्दी बोलने वाले) से बोलने वाले मन्द गति से बोलने वालों की अपेक्षा अनुनय में अधिक सफल होते हैं (Miller et al, 1976)।

(viii) भयोत्पादक अनुनय अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक कारगर होता है (Leventhal, Singer, and Jones, 1965)। लोगों को धूम्रपान से रोकने के लिए फेफड़े के कैंसर से मृत्यु के प्रति उच्च भय उत्पन्न करना बहुत सफल होता है।

किन्तु येल (Yale) विश्वविद्यालय से सम्बद्ध अनुनय विषयक सभी शोध समय की परीक्षा पर खरे नहीं उतरे। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य को चुनौती दी कि न्यून आत्मादर वाले व्यक्ति अधिक अनुनयशील होते हैं (Baumeister and Covington, 1985)।

अनुनय के प्रति प्रतिरोध--सामान्यतः हमारी अभिवृत्तियों में पर्याप्त स्थिरता पाई जाती है और वे प्रत्येक क्षण परिवर्तित नहीं होती। यदि हमारी अभिवृत्तियाँ प्रतिदिन बदलती रहें तो हमारा व्यवहार एक विचित्र विचलन सरूप प्रदर्शित करता है। इस प्रकार अनुनय का अत्यधिक उपयोग प्रायः परिवर्तन लाने में सफल नहीं होता क्यों ? कौन कारक हमारे व्यवहार में परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न करते हैं। इसके कुछ कारक निम्न हैं—

(i) **अपनी निजी स्वतन्त्रता की रक्षा**—कभी-कभी हमारे ऊपर कोई व्यक्ति अनावश्यक दबाव डालता है या दबाव डालने का प्रयास करता है, तो हम ठीक विपरीत कार्य करते हैं। यहाँ विपरीत कार्य अनाश्यक दबाव की प्रतिक्रिया के रूप में किया जाता है। समाज मनोविज्ञान में इसे निजी स्वतन्त्रता की रक्षा अर्थात् असुखद एवं ऋणात्मक प्रतिक्रिया कहते हैं। शोधों से ज्ञात हुआ है कि जब हमारी अभिवृत्ति में परिवर्तन के लिये बार-बार आग्रह किया जाता है या अनावश्यक दबाव डाला जाता है तो हमारे भीतर ऋणात्मक अभिवृत्ति परिवर्तन आने की सम्भावना बढ़ जाती है (Brehm, 1966, Rhodwalt and Davinson, 1983)। इस तरह अनावश्यक प्रभाव के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न होता है।

(ii) **पूर्व चेतावनी** (Forewarning)—अनेक अवसरों पर जब अनुनय-शील सूचनायें प्राप्त होती हैं, तो व्यक्ति यह जानते हैं कि इनका उद्देश्य श्रोताओं के विचारों को परिवर्तित करना है। क्या अभिवृत्ति के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न करने में यह पूर्वज्ञान सहायक होता है। शोध परिणामों से इसकी पुष्टि हुई है (Cialdini and Petty, 1979, Petty and Cacioppo, 1981)। जब हम

यह जानते हैं किसी लिखित अपील या टेप की हुई सूचना का उद्देश्य हमारे विचारों को बदलना है तो उससे प्रभावित होने की सम्भावना कम होती है। ऐसा विशेष रूप से उस समय होता है जब अभिवृत्ति महत्वपूर्ण होती है। ऐसी दशा में व्यक्ति अनुनयशील सूचना की काट करने के लिए प्रति-तर्क विकसित कर लेता है।

(iii) अनुनयशील विचारों के प्रति सुरक्षा—कभी-कभी एक अन्य कारक अनुनय प्रयासों के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न करने में सहायक होता है, जिसका प्रस्ताव मैकगूरी (Mc. Guire 1969) ने कुछ वर्षों पूर्व किया था। उसकी उपकल्पना यह थी की व्यक्ति की अभिवृत्तियों के खिलाफ तर्कों का ज्ञान कराने से (जिनका प्रबल खण्डन किया जाता है) भविष्य में किये जाने वाले अनुनय के प्रति तीव्र प्रतिरोध विकसित होता है। मैकगूरी (Mc. Guire, 1961) ने अपने प्रायोगिक अध्ययनों द्वारा अपनी उपकल्पना की पुष्टि की।

इस प्रकार अनुनय के प्रति प्रतिरोध के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे प्रतिरोध द्वारा व्यक्ति (i) अपनी निजी स्वतन्त्रता की रक्षा करता है, (ii) पूर्व चेतावनी या पूर्व ज्ञान, तथा (iii) अनुनयशील विचारों के प्रति सुरक्षा आदि।

अभिवृत्ति परिवर्तन के सिद्धान्त

(Theories of Attitude Change)

कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो संज्ञानात्मक प्रक्रिया पर बल देते हैं। इनके अनुसार हम अपनी अभिवृत्ति और व्यवहार से अवगत होते हैं तथा इनमें संगति बनाये रखना चाहते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्त संगति सिद्धान्त कहलाते हैं जिसमें हाइडर का सन्तुलन सिद्धान्त तथा फेस्टिन्जर का विसन्नादिता प्रमुख सिद्धान्त हैं। इन दोनों में एक बात उभयनिष्ट है कि लोग अपनी विरोधी अभिवृत्तियों और व्यवहारों के बीच की विसंगतियों को दूर करने के लिए अभिवृत्ति परिवर्तन करते हैं।

हाइडर का सन्तुलन सिद्धान्त

(Heider's Balance Theory)

हाइडर ने सर्वप्रथम अभिवृत्ति परिवर्तन के एक सिद्धान्त का विकास किया जो सन्तुलन सिद्धान्त कहलाता है। यह सामाजिक प्रत्यक्षीकरण पर आधारित है। यह सिद्धान्त तीन उपकल्पनाओं पर निर्भर करता है—

(i) व्यक्ति के संज्ञान की इकाइयाँ होती हैं।

(ii) संज्ञानात्मक इकाइयां संगति या असंगति की दशा में होती हैं, अर्थात् इन इकाइयों में संगति या असंगति की दशा पाई जाती है।

(iii) संज्ञानात्मक इकाई की दशा इकाई के अंशों की गत्यात्मक विशेषता पर निर्भर करती है।

हाइडर के सिद्धान्त में दो व्यक्ति (P और O) तथा एक अन्य तत्व का उपयोग किया है जिसे हम x कह सकते हैं। व्यक्ति (P) विश्लेषण का केन्द्र है, व्यक्ति O एक अन्य व्यक्ति है और x को एक घटना या विचार कह सकते हैं। हाइडर यह जानना चाहता था कि P, भी संज्ञानात्मक संरचना में P, O और x के बीच सम्बन्धों का संगठन कैसे होता है। इन तीन तत्वों में, उसके अनुसार दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं (i) इकाई सम्बन्ध, (ii) पसन्द या स्थायी-भाव सम्बन्ध। इकाई सम्बन्ध का अभिप्राय उस मात्रा से है जिसमें दोनों तत्वों में एकता पाई जा रही है। यदि यह इकाई या एकता सम्बन्ध उच्च होता है तो धनात्मक कहलाता है और न्यून होने पर ऋणात्मक सम्बन्ध कहा जाता है। इकाई सम्बन्ध के उदाहरण हैं, समानता-असमानता, निकट-दूर आदि। दूसरी ओर पसन्द या स्थायी भाव सम्बन्ध एक ऐसा सम्बन्ध है जिसके फलस्वरूप हम किसी वस्तु या व्यक्ति को पसंद या ना पसन्द करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब हम किसी तत्व को पसन्द करते हैं तो उसके प्रति अनुकूल धनात्मक अभिवृत्ति रखते हैं, और जब नापसन्द करते हैं तो प्रतिकूल या ऋणात्मक अभिवृत्ति रखते हैं।

संतुलन सिद्धान्त की मान्यताओं के अनुसार, P, O तथा x के बीच सम्बन्ध तत्वों में पसन्द या नापसन्द के अनुसार संतुलित या असंतुलित हो सकते हैं। संतुलन या असंतुलन की स्थितियाँ व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण द्वारा निर्धारित एवं नियन्त्रित होती हैं।

हाइडर के अनुसार संतुलित दशा उस समय प्राप्त होती है जब या तो तीनों सम्बन्ध धनात्मक होते हैं (जैसा कि पसंद की दशा में होता है) या जब दो सम्बन्ध ऋणात्मक (नापसन्द) और एक धनात्मक होता है जैसा कि नीचे चित्र में दर्शाया गया है।

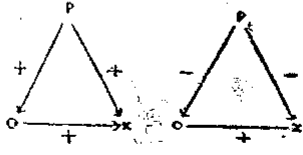

संतुलन की दशा

संतुलन की दशा मानसिक दृष्टि से आरामदेय, स्थिर और परिवर्तन के प्रति प्रतिरोधक होती है। इसके अन्तर्गत चर्चित उदाहरण में व्यक्ति P पसन्द करता है अन्य व्यक्ति O तथा वस्तु X को और O पसन्द करता है X को अर्थात् तीनों संबंध

धनात्मक हैं। सन्तुलन की दूसरी दशा में व्यक्ति P, नापसन्द करता है अन्य व्यक्ति O को तथा वस्तु X को और अन्य व्यक्ति O, वस्तु X को पसन्द करता है

असन्तुलन की दशा बेआरामी, बेचैनी, अस्थिरता और तनाव को उत्पन्न करती है। इसलिए परिवर्तन की सम्भावना अधिक होती है। जब दो सम्बन्ध धनात्मक और तीसरा ऋणात्मक होता है तो असन्तुलित दशा प्राप्त होती है जिसका चित्रवत वर्णन इस तरह किया जाता है—

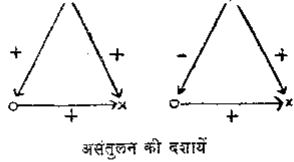

असंतुलन की दशायें

हाइडर के अनुसार असन्तुलन की दशायें तनाव उत्पन्न करती हैं तथा उन शक्तियों को विकसित करती हैं जो असंतुलन को सहन करने में सहायक हों। असन्तुलन को सहन करने की क्रिया व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है। न्यूकोम्ब (1961) के अनुसार तनाव के प्रति सहनशीलता व्यक्ति की संज्ञानात्मक जटिलता पर निर्भर करती है। संज्ञानात्मक तत्वों में असन्तुलन की दशा उन शक्तियों को उत्पन्न करती है जो अभिवृत्ति परिवर्तन द्वारा पुनः सन्तुलन स्थापित करती हैं।

इस प्रकार अन्तुलन सिद्धान्त की मुख्य मान्यता यह है कि हम उन व्यक्तियों को पसन्द करते हैं जो हमारे विचारों के समान विचार रखते हैं और भिन्न विचार रखने वालों को नापसन्द करते हैं।

यद्यपि सन्तुलन सिद्धान्त का बाद के संगति सिद्धान्तों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है और इसने कुछ महत्वपूर्ण उपयोगों को सृजित किया है, किन्तु यह अति सरलीकृत है। यह दृष्टिकोण इतना सरलीकृत है कि इसमें पसन्द की मात्रा पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। हाइडर ने किसी विशिष्ट सम्बन्ध में सन्तुलन स्थापना के विषय में किन्हीं निश्चित उपायों का संकेत नहीं दिया। साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त सन्तुलन की आवश्यकता पर संभवतः अत्यधिक बल देता है। प्रायः हम ऐसे व्यक्ति को भी पसन्द करते जिनसे किसी बात पर सहमत नहीं होते, या जिन व्यक्तियों को पसन्द करते हैं उनसे आवश्यक रूप में सहमत नहीं होते।

संज्ञानात्मक विसन्नादिता सिद्धान्त

(Cognitive Dissonance Theory)

इस सिद्धान्त की स्थापना फेस्टिंजर (1957) ने किया था। वस्तुतः समाज मनोविज्ञान के किसी अन्य सिद्धान्त ने इतनी रूचि और इतना मतभेद उत्पन्न नहीं किया। इसके व्यापक स्वरूप ने इसे अति आकर्षक बना दिया है ब्रिहेम तथा कोहेन (1962) और फेस्टिंजर (1964) ने सिद्धान्त को संशोधित किया जिससे इसकी अनेक अस्पष्टताएँ दूर हो गयीं।

मानलें आपको दो कालेजों में समान आकर्षण प्रतीत हो जिनमें से किसी एक का चयन अपने प्रवेश हेतु करना हो। एक का चयन करने के बाद भी आपको अन्य कालेज के गुणों से वंचित होने का दुःख होता है। आप प्रायः सोचते हैं कि क्या आपने सही निर्णय किया है।

मानलें आप के बॉस ने कम्पनी की नई नीतियों की चर्चा करने के बाद पूछा कि, "क्या नई पालिसी पसन्द आयी" ? आप तुरन्त उत्तर देते हैं "हाँ" जब कि वास्तव में पसन्द नहीं आई। किसी ने आपको कोई अनाकर्षक वस्तु भेंट की और आपने ऐसा प्रकट किया कि आप बहुत प्रसन्न हुये।

इन सभी उदाहरणों में जो बात उभयनिष्ठ है उसे संज्ञानात्मक विसन्नादिता कहते हैं जो व्यक्ति के विश्वासों में द्वन्द या व्यक्ति कि क्रियाओं और अभिवृत्तियों की विसंगतियों से उत्पन्न बेआरामी की दशा है।

संज्ञानात्मक तत्व, इस दृष्टिकोण की मूल इकाई हैं। अपने विषय में व्यक्ति जो भी ज्ञान रखता है या अपने परिवेश के बारे में वह जो कुछ जानता है अथवा जो भी विचार रखता है, उसे संज्ञानात्मक तत्व कहते हैं।

फेस्टिंजर की उपकल्पना के अनुसार जिन संज्ञानात्मक तत्वों को एक दूसरे के साथ सम्बन्धित रूप से देखा जाता है उनमें या तो सन्नादी (संगत) सम्बन्ध होता है या विसन्नादी सम्बन्ध होता है। जब संज्ञानात्मक तत्वों में अन्तर्विरोध का अभाव होता है तो एक तत्व अन्य के साथ अनुगमन करता है और यह सन्नादी दशा कहलाती है। लेकिन जब संज्ञानात्मक तत्वों में तार्किक विरोध हो, असंगति हो, एक ही स्वीकृति अन्य की अस्वीकृति हो तो इसे विसन्नादिता कहते हैं। जैसे यह संज्ञान कि "मैं सिगरेट पीता हूँ," और "धूम्रपान से कैन्सर होता है"—दोनों में विसन्नादिता पाई जाती है कैंसर के रोगी को सिगरेट नहीं पीनी चाहिए। किन्तु वह सिगरेट पीता है और यह भी जानता है कि इससे कैंसर होता है। इन संज्ञानात्मक तत्वों में अन्तर्विरोध है जो विसन्नादिता का प्रमाण है। सन्नादिता उस समय पुनः स्थापित हो जायगी यदि वह रोगी धूम्रपान छोड़ दे।

विसन्नादिता की मात्रा प्रत्येक स्थिति में समान नहीं होती। वह निर्भर करती है (i) संज्ञानात्मक तत्वों के महत्व पर तथा (ii) सम्बद्ध संज्ञानात्मक तत्वों में विसन्नादिता की मात्रा पर। अभिप्राय यह है कि जब संज्ञानात्मक तत्व अधिक महत्वपूर्ण होते हैं तथा उनमें विसन्नादिता का अंश अधिक होता है तो व्यक्ति अधिक संज्ञानात्मक विसन्नादिता का अनुभव करेगा। इस तथ्य को निम्नलिखित सूत्र द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं—

$$\text{विसन्नादिता} = \frac{\text{महत्व} \times \text{विसन्नादी तत्वों की संख्या}}{\text{महत्व} \times \text{सन्नादी तत्वों की संख्या}}$$

विसन्नादिता की मात्रा जितनी अधिक होती है उस कार्य के करने के लिए व्यक्ति पर उतना ही अधिक दबाव होता है ऐसी दशा में व्यक्ति विसन्नादिता को दूर करने के लिए तीन प्रकार के प्रयास कर सकता है—

(i) विसन्नादिता को दूर करने के लिए व्यक्ति व्यवहार के संज्ञानात्मक तत्वों में परिवर्तन करे।

(ii) परिवेश के संज्ञानपरक तत्वों में परिवर्तन लाये।

(iii) नये संज्ञानपरक तत्वों को जोड़कर विसन्नादिता को दूर करे।

अधिकांश शोधकर्त्ताओं के अनुसार विसन्नादिता को एक अभिप्रेरणात्मक दशा के समान मान सकते हैं। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जो इसका अनुभव करते हैं, इसे कम करने के लिए अभिप्रेरित होते हैं। विसन्नादिता को दूर करने के तीन प्रयासों से सम्बद्ध तीन प्रणालियाँ विसन्नादिता को कम करने में प्रयुक्त होती हैं—

1. **अभिवृत्ति परिवर्तन**—अभिवृत्ति में परिवर्तन करने से संज्ञानात्मक तत्वों की विसन्नादिता कम होती है। कल्पना करें एक पैंतालीस वर्षीय व्यक्ति प्रति दिन पाबन्दी के साथ अपने कार्य पर जाता है, जिससे उसे घृणा है। विसन्नादिता को घटाने के लिये वह अपने आपको आश्वस्त कर सकता है कि वास्तव में वह अपनी नौकरी के प्रति घृणा नहीं रखता (अभिवृत्ति-परिवर्तन), या वह अपनी नौकरी को छोड़ दे (व्यवहार-परिवर्तन)।

2. **नवीन सूचनाओं का संग्रह**—विसन्नादिता में कमी की दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति के समर्थन में नवीन सूचनाएं जुटाता है। इन नवीन सूचनाओं द्वारा व्यक्ति आश्वस्त होता है कि वास्तव में कोई समस्या, या असंगति नहीं है। अतः अभिवृत्ति या व्यवहार में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। सिगरेट पीने वाले ऐसे शोधों की तलाश करते हैं जिनमें धूम्रपान तथा कैंसर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किया गया है। वे ऐसा इसलिये करते हैं कि वे जानते हैं कि सिगरेट पीने से कैंसर हो सकता है, जो कि स्वस्थ दीर्घ जीवन की

इच्छा से विसंगत है अतः वह ऐसी सूचनाओं की तलाश करता है जो उसकी विसन्नादिता को कम करें। अतः ऐसे प्रमाण ढूंढते हैं जिनसे प्रदर्शित हो कि धूम्रपान और कैंसर में कोई निश्चित और सार्थक सम्बन्ध नहीं है।

3. **द्वन्द्व के महत्व को घटाना**—विसन्नादिता को कम करने की तीसरी प्रणाली के अन्तर्गत द्वन्द्व के महत्व को न्यून करते हैं, ताकि सुरक्षित रूप से उसकी उपेक्षा कर सकें। एक सिगरेट पीने वाला युवक अपने मन में सोचता है कि सिगरेट से फेफड़े के कैंसर की संभावना हो सकती है, किन्तु उसके पूर्व न्यूक्लियर युद्ध भी हो सकता है अथवा उसके कैंसर से ग्रस्त होने के पूर्व इसकी औषधि का आविष्कार भी हो सकता है आदि।

यद्यपि तीनों प्रणालियाँ विसन्नादिता घटाने में प्रयुक्त होती है किन्तु समाज मनोवैज्ञानिक अभिवृत्ति परिवर्तन द्वारा विसन्नादिता घटाने पर बल देते हैं।

विसन्नादिता के कारण—विसन्नादिता को अनेक कारक प्रभावित करते हैं—निजी चयन, व्यवहार के बुरे परिणाम, निजी या पब्लिक रूप, तथा उद्बोधन।

(i) **निजी चयन**—(Personal choice)—यदि आप पातगोभी से घृणा करते हैं किन्तु कोई व्यक्ति बन्दूक दिखाकर खाने को बाध्य करता है, तो क्या इससे पातगोभी के प्रति आपकी अभिवृत्ति अनुकूल हो जायगी ?

इसकी संभावना कम है। दबाव में कार्य करने से अभिवृत्ति नहीं परिवर्तित होगी। आपके पास पर्याप्त बाह्य औचित्य होगा, अतः पात-गोभी खाने से विसन्नादिता नहीं होगी और आपको अपने विचारों में संशोधन करने की आवश्यकता भी न होगी ! सामान्यतः विसन्नादिता उस समय होती है जब व्यक्ति अपने विसंगत व्यवहार के लिये स्वयं को उत्तरदायी मानता है। निजी चयन के महत्व को लिण्डर कूपर तथा जोन्स (1967) ने सर्वप्रथम अपने अध्ययन द्वारा प्रदर्शित किया। विद्यार्थियों से अभिवृत्ति विरोधी लेख लिखने को कहा गया। आधे प्रयोज्यों से कहा गया कि यह कार्य उन्हें प्रयोग में दिया गया है। शेष आधे से कहा गया कि अभिवृत्ति विरोधी लेख लिखना उनकी स्वेच्छा पर है, यद्यपि सहायता सराहनीय होगी। जिन प्रयोज्यों से कहा गया था कि निर्णय उनका होगा, उनकी अभिवृत्ति में परिवर्तन आया। स्पष्ट है कि विसन्नादिता की उत्पत्ति केवल उस समय हुई जब प्रयोज्यों को यह स्मरण कराया गया कि अभिवृत्ति विरोधी लेख लिखने में चयन और उत्तरदायित्व उनका होगा।

अतः जब निर्णय करने या न करने के लिए प्रयोज्य स्वतन्त्र होते हैं तो अभिवृत्ति परिवर्तन की संभावना अधिक होती है।

(ii) **प्रत्याशित बुरे परिणाम** (Foreseeable bad consequences)—

विसन्नादिता उस समय भी होती है जब व्यवहार के बुरे परिणाम होते हैं उस समय विसन्नादिता नहीं होती जब किसी व्यवहार के परिणाम अप्रत्याशित या आकस्मिक होते हैं (Goethals, Cooper & Nancy, 1979) इस प्रकार असंगत व्यवहार जब प्रत्याशित होता है और उसके परिणाम बुरे होते हैं तो व्यक्ति में विसन्नादिता उत्पन्न करता है।

(iii) **स्व की निहितता (Involvement of self)**—जब असंगत व्यवहार में स्व निहित होता है तो व्यक्ति उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है या व्यवहार का अन्य लोग प्रत्यक्षीकरण करते हैं जिसके कारण कर्त्ता की प्रतिष्ठा प्रभावित होती है (Baumeister ane Tice, 1984)। इस प्रकार जब असंगत व्यवहार या तो व्यक्ति के निजी स्व या पब्लिक स्व से जुड़ा होता है तो विसन्नादिता का अनुभव होता है।

(iv) **शारीरिक उदोलन**—जब व्यक्ति किसी प्रकार के शारीरिक उदोलन का अनुभव करता है तो भी उसे विसन्नादिता का अनुभव होता है (Croyle, and Cooper, 1983)।

विसन्नादिता और व्यवहार—व्यवहार में परिवर्तन के लिये अभिवृत्ति परिवर्तन आवश्यक है और अभिवृत्ति परिवर्तन विसन्नादिता द्वारा प्रभावित होता है। विसन्नादिता को दूर करने के लिये व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन करता है। यदि व्यक्ति को अभिवृत्ति के प्रतिकूल कार्य करना पड़ता है या अभिवृत्ति का विरोध करना पड़ता है तो उसमें विसन्नादिता उत्पन्न होती है और परिणामस्वरूप उसकी अभिवृत्ति परिवर्तित होती है। ऐसा परिणाम कोहेन, ब्रिन्हेम और फ्लेमिंग (1958) फेस्टिंजर व कार्लस्मिथ (1959) कोलमैन (1963) किंग व जोन्स (1956) ने प्राप्त किये हैं।

विसन्नादिता सिद्धान्त के उपयोग

(Applications of Dissonance Theory)

विसन्नादिता सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्धान्त है। इसका सबसे महत्वपूर्ण उपयोग 'निर्णय करने' की प्रक्रिया है। यह व्यक्ति के विश्वासों और अभिवृत्ति विरोधी व्यवहारों का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण देती है। इस गोचर को बाध्य-अनुपालन (Induced compliance) कहते हैं। बाध्य अनुपालन का फेस्टिंजर तथा कार्लस्मिथ (1959) ने विस्तृत अध्ययन किया है। उनके अनुसार किसी व्यक्ति के विश्वासों को उसकी कीमत देकर खरीद सकते हैं। उन्होंने तीन उपकल्पनाओं का परीक्षण किया। (1) यदि किसी आदमी को अभिवृत्ति विरोधी कार्य के लिये बाध्य किया जाय तो वह विसन्नादिता का अनुभव करेगा। (2) यदि अभिवृत्ति विरोधी

बाह्य शक्तियाँ अधिक प्रबल होती हैं तो विसन्नादिता की मात्रा न्यून होगी। (3) व्यक्ति द्वारा अभिवृत्ति परिवर्तन एक उपाय है विसन्नादिता को कम करने का। चूँकि विसन्नादिता को कम करने का दबाव निर्भर करता है विसन्नादिता की मात्रा पर, अतः जब क्रिया या व्यवहार को उत्प्रेरित करने वाली शक्ति जब न्यूनतम होगी तो अभिवृत्ति परिवर्तन अधिकतम होना चाहिए। उन्होंने अपने प्रयोज्यों के एक समूह को झूट-मूठ कहने के लिये कि 'प्रयोग रोचक था' 1 डालर दिया जब कि अन्य समूह को यही झूठ बोलने के लिये 20 डालर दिया। जिन प्रयोज्यों ने 20 डालर प्राप्त किया उनका तर्क यह था कि हर कोई 20 डालर प्राप्त करने पर झूठ बोलेगा, जो कि उनके व्यवहार से संगत था। यह प्रयोज्य समूह केवल 1 डालर पर झूठ बोलने वाले समूह की अपेक्षा कम विसन्नादिता का अनुभव करता है। 1 डालर प्राप्त कर झूठ बोलने वाले प्रयोज्य यह तर्क देते हैं कि कार्य ऊबाने वाला एवं नीरस नहीं था।

ऐसे तर्क के द्वारा वे अपनी विसन्नादिता को घटाते हैं। वे कहते हैं कि उन्होंने 1 डालर के लिये यह नहीं कहा कि कार्य रोचक है, वरन् वास्तव में कार्य रोचक था। यह परिणाम सामान्य विचारधारा के विपरीत है कि पुरस्कार अधिक होने से अभिवृत्ति परिवर्तन अधिक होगा। जन साधारण में प्रचलित धारणा कि अभिवृत्ति परिवर्तन हेतु पुरस्कार का बड़ा होना जरूरी है, का खण्डन होता है।

विसन्नादिता सिद्धान्त का अन्य उपयोग चयनात्मक प्रदर्शन (Selective exposure) के क्षेत्र में है। प्रत्येक सूचना श्रोताओं में संप्रेषित नहीं होनी चाहिये। केवल कुछ चुनी हुई सूचनायें श्रोताओं को दी जानी चाहिये। फेस्टिंजर के अनुसार विसन्नादिता के अभिप्रेरणात्मक प्रभावों के कारण, लोग ऐसी सूचनाएँ चाहते हैं जो उनके गत अनुभव, अभिवृत्तियों और विश्वासों के अनुरूप हों तथा उससे बचना चाहते हैं जो विसंगत होती हैं।

विसन्नादिता सिद्धान्त उन दशाओं की काफी ठीक व्याख्या करता है जब व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति के प्रतिकूल व्यवहार करता है, क्योंकि इन दशाओं में विसन्नादिता बहुत स्पष्ट रूप में व्यक्त होती है। किन्तु इस सिद्धान्त में कुछ समस्यायें भी हैं।

प्रथम, विसन्नादिता अभिप्रेरणा के संक्षिप्त माप की प्राप्ति दुर्लभ है। यह स्पष्ट नहीं है कि कौन सी दशायें बेआरामी या तनाव उत्पन्न करेंगी।

द्वितीय, विसन्नादिता सिद्धान्त इस पूर्व कथन की अनुमति नहीं देता कि विसन्नादिता को कैसे घटायें ?

अन्त में, यह सिद्धान्त, विसन्नादिता की संवेदनशीलता, विसन्नादिता की सहनशीलता, अथवा विसन्नादिता घटाने के उपयुक्त उपायों में व्यक्तिगत भिन्नताओं के महत्व की ओर ध्यान नहीं देता, जो इसकी एक अन्य न्यूनता है।

अनुनयशील सम्प्रेषण और अभिवृत्ति परिवर्तन

(Persuasive Communication & Attitude Change)

मैकगूरी (1969) के अनुसार समाज मनोविज्ञान के किसी अन्य क्षेत्र ने इतनी रुचि उत्पन्न नहीं की है जितनी अभिवृत्ति परिवर्तन ने की है। इस ओर वर्तमान समय में सर्वप्रथम ध्यान देने वाले कार्ल हावलैण्ड तथा सहयोगी (1953) हैं। यह सम्प्रेषक, सम्प्रेषण या सूचना तथा श्रोता लक्षणों को प्रमुख मानते हैं। इनकी चर्चा यहाँ आवश्यक प्रतीत होती है।

1. **संप्रेषक या साधन की विशेषतायें** (The Communicator or source characteristics)–किसी सूचना द्वारा अभिवृत्ति परिवर्तन, संप्रेषक अथवा साधन की विशेषताओं पर निर्भर करता है। शोधों से ज्ञात हुआ है कि अन्य बातों के समान होने पर समान, पसन्द योग्य, और परिचित संप्रेषक अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक सफल होते हैं। किन्तु जिस सम्प्रेषक गुण ने सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया है उसे संप्रेषक विश्वसनीयता कहते हैं।

विश्वसनीयता (Credibility)—विश्वसनीयता का अभिप्राय यह है कि सम्प्रेषक पर विश्वास किया जा सकता है या नहीं। कम विश्वसनीय की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय संप्रेषक अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक सफल होते हैं। इसमें दो तत्व निहित होते हैं–विशेषज्ञता (expertise) और सत्यवादिता (trustworthiness)। कहने का अर्थ यह है कि संप्रेषक की विश्वसनीयता उसकी विशेषज्ञता तथा सत्यवादिता पर निर्भर करती है। जिन संप्रेषकों के निहित स्वार्थ होते हैं वे अधिक विश्वसनीय नहीं माने जाते। सम्प्रेषकों में निम्न गुणों का होना आवश्यक है—

(i) **विशेषज्ञता** (Expertise) का अभिप्राय संप्रेषक के ज्ञान की मात्रा से है। हावलैण्ड तथा वाइस (Hovland and Weiss, 1951) ने अपने अध्ययनों से प्रमाणित किया है कि संप्रेषक में विशेषज्ञता का गुण जितना अधिक होता है वह अभिवृत्ति परिवर्तन में उतना ही अधिक सफल होता है। जब सूचना विशेषज्ञ द्वारा प्राप्त होती है तो लोग उसे सत्य मानते हैं।

(ii) **सत्यवादिता** (Trustworthiness)–का अभिप्राय संप्रेषक के मन्तव्यों से है। यदि ऐसा प्रतीत होता है कि संप्रेषक के निहित प्रेरक या मन्तव्य हैं, अर्थात् अभिवृत्ति परिवर्तन से संप्रेषक का स्वार्थ सिद्ध होगा तो उसे भरोसा करने योग्य नहीं मानते हैं।

(iii) **आकर्षण** (Attractiveness)—संप्रेषक के आकर्षण से अर्थ शारीरिक रंग रूप, खुश मिजाज (हँसमुख) और पसन्द योग्य होने से है। जो लोग हमारे

समान होते हैं उनको हम अधिक पसन्द करते हैं । कुल मिलाकर कोई संप्रेषक जितना आकर्षक होता है, उसके द्वारा अभिवृत्ति परिवर्तन की संभावना भी उतनी ही अधिक होती है ।

(iv) शक्ति (Power)—संप्रेषक में श्रोताओं को पुरस्कृत एवं दण्डित करने की क्षमता होनी चाहिये । मैकगूरी (1969) ने अपने अध्ययनों द्वारा यह दर्शाया है कि संप्रेषक जितना शक्तिशाली होगा, लक्ष्य-व्यक्तियों पर उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक होगा । कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि यह अभिवृत्ति परिवर्तन वास्तविक नहीं होता वरन् श्रोता दिखावा करते हैं ।

सूचना की विशेषतायें
(Message Characteristics)

अभिवृत्ति परिवर्तन हेतु प्रभावकारी सूचना का होना अतिआवश्यक है । सूचना में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है । इन गुणों में निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(i) सरलता बनाम जटिलता (Simplicity versus Complexcity)—अस्पष्ट, जटिल एवं संभ्रान्तिपूर्ण सूचना की अपेक्षा सरल, बोधगम्य एवं स्पष्ट सूचनाएँ अधिक प्रभावकारी होती हैं (Alice and Eagely, 1974) ।

(ii) निष्कर्ष युक्त बनाम निष्कर्ष रहित—किसी सूचना में क्या संप्रेषक को निष्कर्ष भी देना चाहिये या उस कार्य को श्रोताओं/दर्शकों पर छोड़ देना चाहिये । यदि संप्रेषक मात्र सूचना देकर निष्कर्ष निकालने का कार्य लक्ष्य व्यक्तियों पर छोड़ दे तो उसे अधिक ईमानदार और भरोसेमन्द समझा जाना चाहिये, और परिणाम स्वरूप अधिक अभिवृत्ति परिवर्तन की अपेक्षा की जानी चाहिये । किन्तु हावलैण्ड तथा इनके सहयोगियों ने इसके विपरीत परिणाम प्राप्त किये अर्थात् यह देखा कि दोनों-बुद्धिमान तथा कम बुद्धिमान प्रयोज्य ऐसी सूचना से अधिक प्रभावित हुये जो निष्कर्ष युक्त थीं । किन्तु कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों ने दर्शाया कि सूचना प्रकार की प्रभावोत्पादकता लक्ष्य व्यक्तियों की विशेषताओं पर निर्भर करती है ।

(iii) एक पक्षीय बनाम द्विपक्षीय सूचना (One sided versus two sided message)—प्रश्न यह है कि क्या संप्रेषक को किसी समस्या के पक्ष और विपक्ष दोनों को प्रस्तुत करना चाहिये या मात्र पक्ष को ही ? यदि दोनों पक्ष प्रस्तुत किये जायँ तो किसे पहले प्रस्तुत करें—पक्ष या विपक्ष ?

इन प्रश्नों के निरपेक्ष उत्तर नहीं हैं, वरन् इनका उत्तर श्रोता या लक्ष्य व्यक्ति की विशेषताओं पर निर्भर है । एकपक्षीय सूचना द्वारा आरम्भ में पक्षधारी श्रोताओं के मतों में अधिक दृढ़ता लाती है किन्तु आरम्भ में अनानुकूल श्रोताओं में द्विपक्षीय

सूचना अधिक अभिवृत्ति परिवर्तन उत्पन्न करती है (Hovland, Lumsdaine & Sheffield, 1949)। जोन्स तथा ब्रेहम के अनुसार द्विपक्षीय सूचना एकपक्षीय सूचना की अपेक्षा अधिक तटस्थ समझी जाती है अतः अभिवृत्ति परिवर्तन में अधिक सफल हो सकती है।

(iv) **भयोत्पादकता (Fearfulness)**—क्या वह सूचना अधिक प्रभावोत्पादक होती है जो श्रोताओं में भय उत्पन्न करती है ? शोधों से भय की भूमिका प्रमाणित हुई है। लेवेन्थाल (1970) ने अपने अध्ययनों द्वारा यह प्रमाणित किया कि सामान्य रूप से किसी सूचना द्वारा उत्पन्न भय की मात्रा जितनी अधिक होती है, अभिवृत्ति परिवर्तन की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है। सूचना द्वारा उत्पन्न भय को घटाने के लिये लक्ष्य व्यक्ति अपनी अभिवृत्तियों को परिवर्तित करते हैं। इस प्रकार भयोत्पादक सूचना से उत्पन्न भय के कारण ध्यान और स्मृति तीक्ष्ण होती है और भय को घटाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार भयोत्पादक संप्रेषण अधिक प्रभावकारी होता है।

किन्तु कुछ अन्य अध्ययनों से यह प्रमाणित हुआ है कि तीव्र भयोत्पादक सूचनाएँ कम अभिवृत्ति परिवर्तन उत्पन्न करती हैं (Janis and Feshbach, 1953)। इन परस्पर विरोधी परिणामों के कारण मनोवैज्ञानिकों ने उन मध्यस्थकारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की पहचान का प्रयास किया है जो भय की दशा में अभिवृत्ति एवं व्यवहार के परिवर्तन में मध्यस्थता करती हैं।

मैकगूरी (1969) के अनुसार अप्रिय होने के कारण भयोत्पादक सूचना के प्रति श्रोताओं में अनावधान की मनोदशा उत्पन्न होती है, किन्तु साथ ही संप्रेषक की संस्तुति को स्वीकार करने की इच्छा को भी बढ़ाती है। भय उद्वोलन के प्रतिस्पर्द्धक प्रभावों द्वारा इस विषय में असंगत परिणामों की व्याख्या हो सकती है। मैकगूरी ने यह भी सुझाया कि भय उद्वोलन और अनुनय में वक्रेखीय (curvilinear) सम्बन्ध पाया जाता है, अर्थात् मध्यम स्तर का भय निम्नस्तरीय भय से अधिक अभिवृत्ति परिवर्तन उत्पन्न करेगा किन्तु अत्यधिक भयोत्पादक सूचनाएँ इतनी विरोधक (aversive) होती है कि लोग उनसे बचना चाहते हैं और अभिवृत्ति परिवर्तन नहीं करते।

राजर्स तथा मिलबार्न (1976) के अनुसार निम्न की अपेक्षा उच्च भय तीन रूपों में अधिक अनुपालन उत्पन्न करता है—(a) जब श्रोता यह प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि चित्रित घटना अधिक गंभीर है, (b) जब श्रोता विश्वास कर सकते हैं कि सूचना के प्रति उनकी सुग्राह्यता अधिक है, और (c) जब श्रोताओं को विश्वास हो कि घटना से परिहार में सम्प्रेषक की संस्तुतियाँ अधिक प्रभावकारी हो सकती है।

(v) विसंगति प्रभाव (Discrepancy effects)—संप्रेषक और श्रोता के विचारों में विसंगति अधिवृत्ति परिवर्तन में सहायक हो सकती है। प्रश्न यह उठता है कि कितनी विसंगति वांछित होती है ? यदि विसंगति बहुत अधिक होती है, तो संप्रेषण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, किन्तु जब विसंगति अधिक नहीं होती, तो लक्ष्य व्यक्ति या श्रोता परिवर्तन के लिये अभिप्रेरित नहीं होते।

श्रोता लक्षण (Audience Characteristics)

क्या कुछ लोग दूसरों से अधिक अनुनयशील होते हैं ? यद्यपि अनेक अन्वेषकों ने इस समस्या का अन्वेषण किया है किन्तु इस उपकल्पना के विषय में अत्यन्त अल्प-प्रमाण उपलब्ध है कि लोग अनुनयशीलता के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अनुनयशीलता से सम्बद्ध श्रोता लक्षणों में आत्मादर, विश्वास, बुद्धि जैसे व्यक्तित्व लक्षण आते हैं।

(A) व्यक्तित्व लक्षण (Personality characteristics)—अनुनयशील संप्रेषण के प्रति व्यक्ति की अनुक्रिया उसके व्यक्तित्व द्वारा प्रभावित होती है। निम्न की अपेक्षा उच्च आत्मादर वाले व्यक्ति कम अनुनयशील होते हैं। उच्च आत्मादर वाले व्यक्ति अपने आपको सक्षम मानते हैं और अपने मतों और विचारों में बहुत आश्वस्त होते हैं। परिणामस्वरूप एक विसंगतियुक्त सूचना द्वारा उनके विश्वासों में बदलाव की संभावना बहुत कम होती है। साथ ही उनका (श्रोताओं) आत्ममूल्यांकन इतना उच्च होता है कि संप्रेषक की विश्वसनीयता घट जाती है और वे प्रायः यह अनुभव करते हैं कि वे समस्या की उतनी जानकारी रखते हैं जितनी की संप्रेषक को होती है।

आत्मादर की तरह भरोसा (Trust) भी एक व्यक्तित्व गुण है जो अनुनय से सम्बद्ध है। कम भरोसे वाले व्यक्ति सामान्यतः यह सीख लेते हैं कि दूसरे उनकी बात को नकार देंगे, अतः वे सम्प्रेषण के प्रति शक्की हो जाते हैं। फलस्वरूप दूसरों पर भरोसा करने वाले श्रोता अन्य की अपेक्षा अधिक अनुनयशील होते हैं।

व्यक्तित्व सम्बन्धी एक अन्य कारक है बुद्धि जो अनुनयशील सूचना से सम्बद्ध हो सकती है। किन्तु कोई ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि उच्च या निम्न बुद्धि अनुनय को बढ़ाती या घटाती है। मैकगूरी (1968) ने सुझाया है कि बुद्धि के दो प्रतिस्पर्द्धक प्रभाव अनुनय के ऊपर हो सकते हैं जो एक दूसरे को निरस्त कर देते हैं। एक ओर बुद्धिमान व्यक्ति से सूचना को अधिक अच्छी तरह समझने की अपेक्षा की जा सकती है और दूसरी ओर बुद्धि-मान व्यक्ति से अधिक आलोचनात्मक और अधिक आत्म विश्वासी होने की अपेक्षा की जाती है। फलस्वरूप उनके अनुनयशील सम्प्रेषण के प्रति कम संवेदनशील होने

की आशा की जाती है। इस प्रकार बुद्धि तथा अनुनय में किसी सीधे सम्बंध की अपेक्षा नहीं की जाती।

यौन एक और कारक है जिसके अनुनय के साथ सम्बन्धों का अन्वेषण अनेक मनोवैज्ञानिकों ने किया है। यह जन्मजात न होकर समाज में यौन-भूमिका संरूप का परिणाम होता है।

जौन्स तथा फेल्ड (1959) ने देखा है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलायें अधिक अनुनयशील होती हैं। समाजीकरण के कारण महिलाओं में समरूपता अधिक होती है इसलिये वे अनुनयशील सूचना से सुगमता पूर्वक प्रभावित हो जाती हैं (Hovland and Janis, 1959)। किन्तु कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक इस सामान्यीकरण को अशुद्ध मानते हैं। अनुनयशील संप्रेषण के कारण अभिवृत्ति परिवर्तन तथा यौन में निश्चित सम्बन्ध के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

अभिवृत्ति मापन (Attitude Measurement)

यह ज्ञात करने के लिये कि लोगों में कौन अभिवृत्तियाँ हैं और कितनी प्रबल हैं, अभिवृत्ति मापन आवश्यक है। अभिवृत्ति मापन द्वारा व्यक्ति के व्यवहार का भविष्य कथन सुगम होता है। अभिवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता, इसलिये इनका मापन अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की अनुक्रिया या व्यवहार के द्वारा होता है। किसी व्यक्ति के सन्मुख अभिवृत्ति से सम्बद्ध कथनों को प्रस्तुत कर उन पर उसकी अनुक्रियायें प्राप्त करते हैं जो अभिवृत्ति का सूचक होती हैं। व्यक्ति की अनुक्रियाओं के द्वारा अभिवृत्ति की दिशा एवं तीव्रता का मापन होता है। इस प्रकार अभिवृत्ति मापन की सर्वाधिक लोकप्रिय विधि अभिवृत्ति मापनी कहलाती है। अभिवृत्ति मापन में मापनियों के अतिरिक्त अर्थभेदक प्रणाली, समाजमिति तथा सर्वे प्रणाली का उपयोग भी होता है।

मापनी की रचना हेतु अनेक कथन एकत्र किये जाते हैं और उनमें से कुछ का चयन अन्तिम रूप में किया जाता है। किसी मापनी में कथनों या पदों के चरण के समय इस बात पर विशेष ध्यान देते हैं कि केवल वे कथन रखें जायें जो सूक्ष्म-विभेदनशील हों। वह विभेदनशीलता मापनी के प्रत्येक अंश पर होनी चाहिए। यह भी ध्यान देते हैं कि मापनी में कथनों की संख्या बहुत कम नहीं होनी चाहिये। कथनों या पदों की संख्या में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती है मापनी की विश्वसनीयता में वृद्धि होती है। लेकिन संख्या बहुत अधिक होने पर मापनी के प्रशासन तथा अनुप्रयोग में कठिनाई होती है। अतः पदों की संख्या निश्चित करने में बड़ी सावधानी तथा सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है।

अभिवृत्ति मापनी की विशेषताएँ

अभिवृत्ति मापनी के सफल उपयोग के लिये कुछ विशेषताओं जैसे विश्वसनीयता

वैधता, इकाई की समानता, शून्य बिन्दु तथा एकविमात्मकता आदि का होना आवश्यक है।

1. विश्वसनीयता—यदि बार-बार प्रशासित करने पर मापनी से एक जैसे परिणाम प्राप्त होते हैं तो वह विश्वसनीय मानी जाती है। वह मापनी विश्वसनीय कही जाती है जिसमें एक ही अभिवृत्ति का मापन दो बार करने पर लगभग एक जैसे प्राप्तांक प्राप्त होते हैं। किसी मापनी की विश्वसनीयता की जाँच के लिए सामान्यतः तीन विधियाँ प्रयुक्त होती हैं (i) परीक्षण पुनर्परीक्षण विधि (Test re-test method) (ii) समानान्तर फार्म विधि (Parallel form method) (iii) अर्द्धविच्छेदन विधि (Split half method)।

2. वैधता—कोई मापनी उस समय वैध कही जाती है जब वह उसी गुण का मापन करती है जिसके मापन के लिये वह निर्मित की गई है। कोई अभिवृत्ति मापनी मापी जाने वाली अभिवृत्ति का मापन जितनी मात्रा में करती है उसी मात्रा में वह वैध मानी जाती है। चार विधियों के द्वारा मुख्य रूप से मापनी वैधता का निर्धारण किया जाता है। (1) अन्तर्वस्तु वैधता (Content validity) (2) समसामयिक वैधता (Concurrent validity) (3) भविष्यमूलक वैधता (Predictive validity) (4) संबोधमूलक वैधता (Construct validity)।

3. इकाइयों की समानता (Equality of units)—मापनी की विभिन्न इकाइयों में समानता का होना आवश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि 8 और 10 अंकों के बीच अन्तर वही होना चाहिये जो 13 और 15 प्राप्तांकों के मध्य है। ऐसा न होना इसका सूचक है कि मापनी की विभिन्न इकाइयों में समानता का अभाव है।

4. एक विमात्मकता (Unidimensionality)—इसका अभिप्राय यह देखना है कि क्या मापनी एक निश्चित अभिवृत्ति का मापन करती है? जो मापनी एक से अधिक अभिवृत्तियों का मापन करती है, उसे बहुविमात्मक कहते हैं। शून्य बिन्दु अभिवृत्ति मापनी में धनात्मक और ऋणात्मक गुण होते हैं। इस मापनी में एक ऐसा स्थान आता है जहाँ धनात्मक अभिवृत्ति, ऋणात्मक रूप में और ऋणात्मक, धनात्मक अभिवृत्ति का रूप ले लेती है।

१ थस्टर्न मापनी

(Thurstone's Scale)

इसे समाभासी मध्यान्तर प्रणाली (Method of equal appearing intervals) भी कहते हैं। इस मापनी का विकास थस्टर्न ने अपने सहयोगी (Chave) की सहायता से (1929) में किया था। इन्होंने युद्ध, चर्च, मृत्युदण्ड, निग्रो, उद-

विकास, जन्म निरोध आदि समस्याओं के प्रति विभिन्न समूहों की अभिवृत्तियों के मापन हेतु यह अभिवृत्ति मापनी तैयार की। विभिन्न साधनों से 130 कथन एकत्र किये जो अभिवृत्ति के पक्ष और विपक्ष से सम्बद्ध थे। पर्याप्त संख्या में निर्णायकों का चयन कर यह कथन उन्हें दिये जाते थे। उन्हें A से K तक अंग्रेजी अक्षर लिखी हुई 11 कागज की पर्चियाँ भी देते थे। उन्हें यह निर्देश देते थे कि पर्ची A पर उस कथन को अंकित करें जो युद्ध का सर्वोत्तम मूल्यांकन करे। इसी तरह दूसरी पर्चियों पर भी युद्ध के विषय में पक्ष या विपक्ष से सम्बद्ध कथनों का उनकी मात्रा के अनुसार व्यवस्थित करने का निर्देश था यह भी कहा गया कि पर्ची K पर उस कथन को लिखिये जो युद्ध का सर्वाधिक असम्मानित मूल्यांकन करे। इस प्रकार सभी निर्णायकों ने 11 बिन्दु-मापनी पर प्रत्येक कथन को व्यक्त किया। फिर इसका मध्यांक (Median) ज्ञात किया गया। अन्तर्चतुर्थक विचलन (Interquartile range) की गणना द्वारा विभिन्न कथनों की द्विअर्थता की मात्रा को देखने का प्रयास किया गया। Q के मूल्य से निर्णायकों के बीच मतैक्य का निर्धारण करते हैं। Q के मूल्य के कम होने से निर्णायकों के बीच मतैक्य के अधिक होने का परिचय प्राप्त होता है। Q के मूल्य में वृद्धि मतैक्य में कमी अथवा भिन्नता का सूचक है। थस्टर्न ने उन कथनों को मापनी से निकाल दिया जिनका Q मूल्य एक सीमा से अधिक था। तत्पश्चात् इन 130 कथनों को 300 प्रयोज्यों के समक्ष प्रस्तुत कर उन कथनों को चिह्नित करने को कहा गया जिनसे वे सहमत थे। इस प्रकार उनकी अनुक्रियाओं की आन्तरिक संगति (Internal consistency) निश्चित की गई। इस विधि द्वारा भी कुछ कथन छाँटकर मापनी से निकाल दिये गये।

थस्टर्न विधि द्वारा मापनी की रचना के चरण—

1. सर्वप्रथम समस्या (अभिवृत्ति) से सम्बन्धित बहुत से कथनों को विभिन्न स्रोतों द्वारा एकत्र करते हैं। यह कथन समस्या के पक्ष और विपक्ष में होते हैं।
2. यह कथन 100-200 निर्णायकों को देते हैं। यह निर्णायक ऐसे होते हैं जिनमें मापी जा रही अभिवृत्ति भिन्न-भिन्न मात्रा में विद्यमान होती है।
3. 11 पर्चियों पर A से K तक लिखकर निर्णायकों को देते हैं। हर कथन के विषय में निर्णायकों का उत्तर प्राप्त करते हैं। A का अर्थ है तीव्र सहमति तथा F का अर्थ है तटस्थ और K का अर्थ है तीव्र असहमति। निर्णायकों को कथनों को इन 11 श्रेणियों में व्यवस्थित करने का निर्देश देते हैं।
4. कथनों का मापनी मूल्य (Scale value) ज्ञात करने के लिये 11 बिन्दु

मापनी पर व्यक्त निर्णय का अभिवृत्ति-वितरण तैयार करके मध्यांक ज्ञात करते हैं।

5. मापनी के लिये कथनों के अन्तिम चयन हेतु विभिन्न कथनों के अन्तर्चतुर्थक विस्तार (Q) की गणना करते हैं। इससे विभिन्न निर्णायकों की बीच विचलनशीलता ज्ञात होती है। जो कथन अधिक विचलन प्रगट करते उन्हें छाँट देते हैं।

6. हर कथन का मापनी मूल्य तथा Q निकालने के बाद सार कथन लगभग तीन सौ व्यक्तियों को देकर यह निर्देश देते हैं कि वे उन कथनों को एक ओर कर दें जिनसे सहमत हैं। इस प्रकार आन्तरिक संगति (Internal consistency) मालूम करते हैं। आन्तरिक विषमता वाले कथनों को निकाल देते हैं।

7. इस प्रकार अभिवृत्ति विशेष के लिये उपरोक्त विधि द्वारा चुने गये प्रश्नों या कथनों को मापनी में शामिल कर लेते हैं। यह मापनी का अन्तिम प्रारूप होता है जिसका उपयोग उस अभिवृत्ति के मापन में हो सकता है।

उदाहरण स्वरूप थर्स्टन विधि के आधार पर युद्ध के प्रति अभिवृत्ति मापनी के कुछ कथन मापनी मूल्य के साथ दिये जाते हैं जो त्रिपाठी एवं सिंह (1974) द्वारा संशोधित किये गये हैं :

(6·9) युद्ध के कुछ लाभ हैं, किन्तु इसके लिए बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।
(9·7) युद्ध से व्यक्ति में अच्छे गुण जन्म लेते हैं।
(7·5) कुछ स्थितियों में, न्याय बनाए रखने के लिए युद्ध आवश्यक है।
(8·7) युद्ध राष्ट्रीय सम्मान का एक मात्र साधन है।
(6·8) यद्यपि युद्ध भयंकर है तथापि इसका कुछ मूल्य है।
(11·0) युद्ध गौरवशाली है।
(10·1) बिना युद्ध के प्रगति सम्भव नहीं है।
(·3) युद्ध एक भयंकर गन्दगी है।
(1) युद्ध के लिए कोई तर्क संगत औचित्य नहीं है।
(5·5) युद्ध के बारे में न कभी सोचता हूँ और न उसमें मेरी कोई रूचि है।
(1·4) युद्ध व्यर्थ की लड़ाई है जिसका परिणाम आत्मसंहार है।
(9·2) भयंकर त्रुटियों को सही करने का युद्ध ही एक रास्ता है।

जहाँ तक इस मापनी के प्रशासन का प्रश्न है, यह बहुत सरल है। परीक्षार्थी सभी कथनों को ध्यान से पढ़ते हैं और जिन कथनों से सहमत होते हैं उन पर सही (+) का निशान तथा जिससे सहमत नहीं होते उन पर गलत (×) का निशान

लगाते हैं। अभिवृत्ति फलांक ज्ञात करने के लिए मापनी मूल्यों के अनुसार क्रमशः कम से अधिक के क्रम में रखते हैं और उनका मध्यांक मूल्य (Median value) निकालते हैं। यही परीक्षार्थी का अभिवृत्ति फलांक कहलाता है।

यह अभिवृत्ति मापनी अत्यन्त उपयोगी होती है क्योंकि समविस्तार पद्धति से किसी समूह के व्यक्तियों की अनेक प्रकार की अभिवृत्तियों का मापन संभव है। जब मापनी में कथनों की संख्या अधिक होती है तब यह पद्धति विशेष उपयोगी सिद्ध होती है जब युद्ध, देश भक्ति या किसी जाति/वर्ग की अभिवृत्तियों का मापन करना हो तब भी यह बड़ी उपयोगी पाई गई है। समविस्तार पद्धति द्वारा तैयार की गई अभिवृत्ति मापनी की विश्वसनीयता संतोषजनक प्राप्त हुई है (·75)। पद्धति की वैधता भी संतोषजनक मिली है।

किन्तु इस पद्धति की सीमायें भी हैं—

(i) निर्णायकों की अपनी अभिवृत्ति मापनी निर्माण को प्रभावित करती है (हावलैण्ड तथा शेरिफ 1952)

(ii) इस विधि द्वारा मापनी निर्माण में अधिक धन तथा समय की आवश्यकता होती है।

(iii) निर्णायकों का प्रशिक्षित होना आवश्यक है।

(iv) इस पद्धति द्वारा निर्मित मापनी में 11 बिन्दुओं के मध्य अन्तर करना कठिन है।

(v) यदि दो कथनों का मापनी मूल्य बराबर है तो यह जानना कठिन होता है कि कौन कथन उत्तम विभेदन करता है एडवर्डस (1957)

लिकर्ट मापनी (Likert's Scale)

लिकर्ट मापनी को संचयी कोटि निर्धारण (Summated Ratings) विधि कहा जाता है। इसका विकास लिकर्ट ने 1932 में किया। यह एक 5 बिन्दु मापनी है—दृढ़ सहमत, सहमत, अनिश्चित, असहमत और दृढ़ असहमत।

लिकर्ट पद्धति द्वारा मापनी निर्माण के प्रमुख चरण इस प्रकार हैं—

1. अभिवृत्ति से सम्बद्ध कथनों का संग्रह एवं चयन। अभिवृत्ति से सम्बद्ध अनुकूल और प्रतिकूल कथन एकत्र किये जाते हैं।

2. यह कथन प्रयोज्यों के समूह के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रयोज्य एक पाँच बिन्दु मापनी पर अपनी अनुक्रिया देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे अभिवृत्ति से सहमत हैं या असहमत तथा सहमति या असहमति की मात्रा क्या है पाँच बिन्दु मापनी भिन्न होती है।

1	2	3	4	5
दृढ़ सहमत	सहमत	अनिश्चित	असहमत	दृढ़ असहमत

3. यदि कथन अभिवृत्ति के धनात्मक पक्ष से सम्बद्ध होता है तो क्रमशः 5,4,3,2,1 अंक दिये जाते हैं। किन्तु जब कथन अभिवृत्ति के ऋणात्मक पक्ष से सम्बद्ध होते हैं तो क्रमशः 1,2,3,4,5 अंक प्रदान करते हैं प्रयोज्य की अनुक्रिया के अनुसार उसे अंक प्रदान करते हैं। विभिन्न कथनों पर प्राप्त अंकों का योग सम्पूर्ण प्रासांक कहा जाता है।

4. अन्त में पद विश्लेषण (Item analysis) का उपयोग करके कथनों की विभेदन शीलता ज्ञात करते हैं। अधिक विभेदनशील कथनों का चयन मापनी में करते हैं। इस प्रकार चुने गये कथन मापनी में शामिल किये जाते हैं और यह मापनी का अन्तिम प्रारूप (Final form) कहलाता है।

उदाहरण के लिए मृत्युदण्ड के विषय में कथन और प्रासांक प्रस्तुत है—

A. हत्यारे को मृत्युदण्ड मिलना चाहिये।

5	4	3	2	1
दृढ़ सहमत	सहमत	अनिश्चित	असहमत	दृढ़ असहमत

B. हत्यारे को क्षमा करके सुधरने का अवसर देना चाहिये।

1	2	3	4	5
दृढ़ सहमत	सहमत	अनिश्चित	असहम	दृढ़ असहमत

इस अभियुक्ति मापनी की सबसे बड़ी न्यूनता यह है कि "अनिश्चित" अनुक्रिया करने पर भी 3 अंक प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी कथन के विषय में प्रयोज्य जब निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं देता तो भी उसे 3 अंक देते हैं। एक अन्य कमी लिकर्ट मापनी में यह है कि प्रासांकों का कोई निरपेक्ष अर्थ नहीं होता अर्थात् इस मापनी द्वारा प्राप्त अंकों की तुलना दूसरों के प्रासांकों से की जाती है।

लिकर्ट मापनी की विश्वसनीयता और वैधता की परीक्षा हेतु अनेक अध्ययन हुये हैं। यह विश्वसनीयता ·81 से 9·0 तक प्राप्त हुई है (Murphy & Likert 1938)। विश्वसनीयता की भाँति सन्तोषजनक वैधता भी प्राप्त हुई (Six 1938)।

अभिवृत्ति मापन में थर्स्टन और लिकर्ट पद्धतियों की तुलना—

1. थर्स्टन विधि द्वारा अभिवृत्ति मापनी के निर्माण में लिकर्ट मापनी की अपेक्षा अधिक समय लगता है।

2. थर्स्टन विधि की अपेक्षा लिकर्ट विधि से अभिवृत्ति मापनी का निर्माण सरल एवं सुगम होता है।

3. थर्स्टन विधि की अपेक्षा लिकर्ट विधि में फलांकन सरल होता है और कम समय में हो जाता है।

4. थर्स्टन विधि में कथनों का चयन निर्णायकों के निर्णय पर निर्भर करता है जबकि लिकर्ट विधि में कथनों का चयन प्रयोज्यों के उत्तरों तथा पद विश्लेषण के द्वारा करते हैं।

5. थर्स्टन की विधि लिकर्ट-विधि से सांख्यिकीय आधार पर कम शुद्ध है।

बोगार्डस की सामाजिक दूरी मापनी

(Social Distance Scale of Bogardus)

बोगार्डस (1925) ने एक सामाजिक दूरी मापनी विकसित की। उन्होंने इस मापनी का विकास राष्ट्रीयता की अभिवृत्ति के मापन हेतु किया था। उन्होंने इसका उपयोग अभिवृत्तियों की तुलनात्मक व्याख्या में भी किया था। इस मापनी का आधार सामाजिक निकटता (Social intimacy) की मात्रा है। अपरीचित व्यक्तियों से प्रायः हम अधिक सामाजिक दूरी रखते हैं। परिचित व्यक्तियों से वह दूरी बहुत कम होती है। बोगार्डस मापनी के आधार पर मापनी बनाते समय सर्व-प्रथम समस्या से सम्बद्ध अनेकानेक कथनों का चयन करते हैं। यह कथन किसी राष्ट्रीय समूह के प्रति व्यक्तियों की सामाजिक दूरी को प्रकट करते हैं। बोगार्डस ने कथनों का चयन तार्किक आधार पर किया था। इन कथनों के प्रत्युत्तरों से किसी राष्ट्रीय समूह की स्वीकृति की मात्रा का परिचय प्राप्त होता है।

सामाजिक दूरी मापनी में सात श्रेणियों में प्रयोज्यों की अनुक्रिया प्राप्त करते हैं। इन बिन्दुओं पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि बिन्दु 1 से आगे बढ़ते हैं तो सामाजिक दूरी बढ़ती जाती है। मापनी प्रस्तुत करने के पूर्व निम्न निर्देश देते हैं "अपनी प्रथम भावात्मक प्रतिक्रिया के अनुसार चिह्नित प्रजाति के व्यक्तियों को अपनी स्वेच्छानुसार अपने से निकट या दूर रखना चाहूँगा।" प्रत्येक राष्ट्रीयता समूह के लिए प्रयुक्त सात वर्ग निम्नलिखित हैं—

1. विवाह द्वारा सम्बन्ध स्थापित कर सम्बन्धी के रूप में।
2. क्लब में व्यक्तिगत मित्र के रूप में।
3. मुहल्ले में पड़ोसी की तरह।
4. अपने व्यवसाय में सहकर्मी की तरह।
5. अपने देश में नागरिक की तरह।
6. अपने देश में पर्यटक की तरह।
7. अपने देश से निष्कासित कर दूँगा।

इस मापनी की प्रथम श्रेणी घनिष्ठतम सम्बन्ध की द्योतक है अर्थात् अत्यन्त अनुकूल अभिवृत्ति का बोध कराती है जब कि सातवीं श्रेणी देश से निष्कासित करने वाली प्रजातियों का बोध कराती है अर्थात अत्यन्त प्रतिकूल अभिवृत्ति का परिचय कराती है। इस मापनी का प्रमुख गुण यह है कि इसके द्वारा किसी एक राष्ट्रीय समूह के प्रति विभिन्न लोगों की अभिवृत्तियों की तुलना तथा एक व्यक्ति की विभिन्न राष्ट्रीय समूहों के प्रति अभिवृत्तियों की तुलना कर सकते हैं। समाज-मनोविज्ञान के शोधों में इसका सफल उपयोग हुआ है। क्रेसी (1945) ने इसका संशोधन 'सोशल रिजेक्शन थर्मामीटर (Social Rejection Thermometer) के रूप में किया था।

बोगार्डस की सामाजिक दूरी मापनी की एक मुख्य कठिनाई यह बताई जाती है कि इसकी सात श्रेणियों के बीच समान दूरी नहीं है। साथ ही इस मापनी में थर्स्टन या लिकर्ट मापनी की भाँति कथनों के चयन का कोई ठोस आधार नहीं है। केवल तार्किक आधार पर कथनों का चयन पर्याप्त नहीं है। इसी प्रकार एक अन्य आपत्ति यह भी है कि सांख्यिकीय दृष्टि से यह मापनी शुद्ध नहीं है। साथ ही इसका उपयोग सीमित है।

भारतीय परिस्थितियों में यह मापनी विशेष रूप से उपयोगी परिणाम प्रदान कर सकती है क्योंकि यहाँ अनेक भाषा भाषी, अनेक धर्मावलम्बी, अनेक क्षेत्रीय और अनेक संस्कृतियों के लोग रहते हैं। विभिन्न धर्मों, भाषाओं एवं संस्कृतियों के प्रति सामाजिक दूरी का अध्ययन, देश की सामाजिक समस्याओं के समाधान में उपयोगी हो सकता है।

गटमैन स्केलोग्राम (Guttman's Scalogram)—इसे गटमैन (1950) ने निर्मित किया। इसे संचयी मापनी भी कहते हैं। उन्होंने अमेरिकी सैनिकों के नैतिक स्तर के मापन हेतु इसका विकास किया। इसे स्पष्ट करते हुये गटमैन ने कहा है कि, "समान अर्न्तवस्तु के पदों के समूह को मापनी की संज्ञा देंगे यदि अन्य व्यक्ति से उच्चतर श्रेणी वाला एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति से प्रत्येक पद में उच्च या उच्चतर है।" (We Shall call a set of items of common content a Scale if a person with a higher rank than another person, is just as high or higher on every item than other person.") जैसे भार से सम्बन्धित गटमैन स्केल का रूप निम्न होगा :—

1. मेरा भार 45 किलो से अधिक है।
2. मेरा भार 55 किलो से अधिक है।
3. मेरा भार 65 किलो से अधिक है।

यदि उपरोक्त उदाहरण में कोई व्यक्ति दूसरे पद पर 'हाँ' कहता है तो पहले पर भी वह हाँ उत्तर देगा क्योंकि जब उसका वजन 55 किलो से अधिक है तो निश्चित ही 45 किलो से अधिक होगा। इसी प्रकार यदि कोई तीसरे पद पर 'हाँ' उत्तर दे तो इसका अर्थ होगा कि उसका पहले तथा दूसरे पर भी हाँ उत्तर होगा। भार की ही तरह गटमैन मापनी में अभिवृत्ति की एक विमा का भी मापन होता है। इसी कारण इसको विधि एक विमात्मक मापनी (Unidimensional Scale) भी कहते हैं।

इस मापनी के मुख्य चरण निम्नलिखित होते हैं—

1. यह देखना कि कोई कथन स्केल पर अंकित हो सकता है या नहीं।
2. स्केलोग्राम बनाना, इसमें दूसरा मुख्य चरण है। इसके द्वारा पदों की संगति या स्थिरता (Consistency) ज्ञात होती है।
3. समस्या से सम्बद्ध प्रश्नों को इस तरह पूछना कि यह ज्ञात हो सके कि प्रयोज्य की अभिवृत्ति में कितना स्थायित्व है।

इस मापनी में व्यक्ति के कुछ प्राप्तांक का मापनी के हरेक कथनों या पदों से निश्चित सम्बन्ध होता है। इस प्रकार हम किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण प्राप्तांक के द्वारा सभी पदों पर उसकी प्रक्रियाओं की पुनः संरचना कर सकते हैं। इसके लिये पुनः (Reproducibility Coefficient) गुणांक निकालते हैं।

$$\text{Rep. Coefficient} = \frac{\text{Total number of Errors}}{\text{Total number of Responses}}$$

कभी-कभी इस पुनः संरचना गुणांक को विश्वसनीयता का सूचक माना जाता है। गटमैन स्केलोग्राम में ·85 से भी अधिक विश्वसनीयता के परिणाम प्राप्त हुये है किन्तु इस स्केल में तत्व वैधता (Item Validity) का ठीक अनुमान नहीं हो पाता। आरंभिक अवस्था में ही कथनों के चयन में वैज्ञानिक आधार के अभाव के कारण मापनी की अन्तवस्तु वैधता का अनुमान दुर्लभ हो जाता है। इस प्रकार कथनों के चयन में सावधानी न वर्तने के कारण परिणामों के दोषयुक्त होने की संभावना होती है।

विशिष्ट प्रणालियाँ

इनमें प्रमुख प्रणालियों का संक्षिप्त विवरण किया जायेगा।

अर्थ विभेदक प्रणाली (Semantic Differential Technique)—अर्थ विभेदक प्रणाली को विकसित करने वाले आसगुड और उनके सहयोगी थे। (Osgood, Suci & Tannebaum, 1957) थे। इसके अन्तर्गत अभिवृत्ति का मापन दो छोरों वाली विशेषण मापनी (Bipolar Adjective Scale) के द्वारा

करते हैं। यह विरोधी छोरों वाले विशेषण अर्थ के तीन तत्वों मूल्यांकन (Evaluation), क्षमता (Potency) और सक्रियता (Activity) से सम्बद्ध होते हैं। इन तत्वों से सम्बद्ध दो विरोधी छोरों के विशेषणों के उदाहरण इस प्रकार हैं :

मूल्यांकन तत्व :—सुन्दर-असुन्दर, अच्छा-बुरा, व्यावहारिक-अव्यावहारिक, सभ्य-असभ्य आदि।

क्षमता—शक्तिशाली-शक्तिहीन, मोटा-पतला, लम्बा-नाटा, भारी-हल्का आदि।

सक्रियता—सक्रिय-निष्क्रिय, शान्त-उद्दीप्त, तेज-सुस्त आदि।

इस प्रकार दो छोर वाले विशेषण एक दूसरे के विरोधी होते हैं। अभिवृत्ति, जिसका मापन करना होता है वह प्रत्यय प्रयोज्यों के समक्ष प्रस्तुत करके उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने का निर्देश करते हैं। प्रतिक्रियायें सात बिन्दु मापनी पर व्यक्त की जाती हैं। इन सात बिन्दुओं में चौथा बिन्दु तटस्थ अभिवृत्ति का द्योतक होता है। जैसे—

शान्त | | | | | | | अशान्त

मानलें विद्यार्थियों के प्रति शति शान्त-अशान्त विमा पर अभिवृत्ति मापन करना है तो अध्यापकों को प्रयोज्य के रूप में प्रयुक्त करते हैं। यदि कोई प्रयोज्य विद्यार्थी को सातवें बिन्दु पर रखता है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह विद्यार्थियों को बहुत ही अशान्त समझता है। जब कोई प्रयोज्य चौथे के दाये निशान लगाता है तो विद्यार्थियों को अशान्त समझता है और यदि पहले, दूसरे या तीसरे पर निशान लगाता है तो शान्त मानता है। यह सात बिन्दु न केवल अभिवृत्ति वरन् उसकी मात्रा को भी व्यक्त करते हैं। उसका उदाहरण निम्न है—

	7	6	5	4	3	2	1	
अच्छा	|	|	|	|	|	|	|	बुरा
सभ्य	|	|	|	|	|	|	|	असभ्य
सुन्दर	|	|	|	|	|	|	|	असुन्दर
व्यवहारिक	|	|	|	|	|	|	|	अव्यवहारिक
शक्तिशाली	|	|	|	|	|	|	|	अशक्तिशाली
मोटा	|	|	|	|	|	|	|	पतला
भारी	|	|	|	|	|	|	|	हल्का
लम्बा	|	|	|	|	|	|	|	नाटा
शान्त	|	|	|	|	|	|	|	अशान्त
तेज	|	|	|	|	|	|	|	मन्द
सक्रिय	|	|	|	|	|	|	|	निष्क्रिय

इस प्रणाली द्वारा प्राप्त प्राप्तांकों के मध्यमान के आधार पर प्रोफाइल (Profile) बनाते हैं; जो क्षण भर में अभिवृत्ति का बोध करा देता है।

इस अभिवृत्ति मापनी द्वारा अभिवृत्ति के संज्ञानात्मक और भावात्मक तत्वों का सफल मापन सम्भव है (Osgood et al, 1957)। इसकी निश्चसनीयता के अध्ययनों में आसगुड (1957) ने ·83 से लेकर ·91 तक प्राप्त की है। मापनी की वैधता के निर्धारण हेतु इसकी तुलना थर्स्टन मापनी से की गई। ·74 से ·82 तक सहसम्बन्ध प्राप्त हुआ है। अतः मापनी विश्वसनीय एवं वैध मानी जाती है।

प्रच्छन्न प्रणालियाँ

(Disguised Techniques)

विशिष्ट प्रणालियों में दूसरी प्रविधि प्रच्छन्न प्रणाली कहलाती है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसके द्वारा अभिवृत्ति मापन में प्रयोज्य को यह आभास नहीं हो पाता कि उसकी अभिवृत्ति का मापन हो रहा है। यह आभास होने पर कभी-कभी अपनी वास्तविक अभिवृत्तियों को छिपाने की कोशिश में भी सही प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करते। इन तथ्य को ध्यान में रखकर मनोवैज्ञानिक ने प्रच्छन्न प्रणालियों का विकास किया है ताकि वास्तविक अभिवृत्तियों का मापन हो सके। वैसे तो अभिवृत्ति मापन की सभी विधियाँ अप्रत्यक्ष रूप से मापने करती है परन्तु उनमें प्रयोज्य को इसका आभास हो जाता है कि उसकी अभिवृत्ति का पालन हो रहा है किन्तु प्रच्छन्न प्रविधि में अभिवृत्ति का मापन अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की भावनाओं और संज्ञाओं के द्वारा होता है। यह प्रच्छन्न प्रविधियाँ व्यक्तित्व मापन की प्रक्षेपी प्रणालियों के समान होती हैं तथा कुछ में तो थोड़े संशोधन के साथ प्रक्षेपी परीक्षणों का ही उपयोग होता है। इस वर्ग की कुछ प्रणालियाँ इस प्रकार हैं—

त्रुटि-चयन प्रणाली (Error-choice Technique)—इसे विकसित करने का श्रेय हैमण्ड (1948) को है। इसके अन्तर्गत अभिवृत्ति-समस्या से सम्बद्ध कुछ कथन प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक कथन के साथ दो त्रुटियुक्त विकल्प उत्तर के रूप में दिये रहते हैं। इन दो वैकल्पिक त्रुटियुक्त उत्तरों में एक अभिवृत्ति के अनुकूल और दूसरा प्रतिकूल होता है प्रयोज्य के द्वारा चिह्नित उत्तर से उसकी अभिवृत्ति का अनुमान करते हैं। हैमण्ड ने श्रमिक-प्रबन्धक समस्या के प्रति अभिवृत्ति मापन हेतु इसका विकास किया था। इसकी परीक्षण-पुनर्परीक्षण विश्वसनीयता ·62 तथा समानान्तर फार्म विश्वसनीयता ·48 प्राप्त हुई है (वेश्चलर 1950)। हैमण्ड ने इसको एक वैध परीक्षण प्रमाणित किया है।

वाक्यपूर्ति प्रणाली (Sentence Completion Technique) जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है इस प्रणाली में प्रयोज्यों के समक्ष अनेक अधूरे वाक्य प्रस्तुत

करके उन्हें पूरा करने का निर्देश देते हैं। कुछ दशाओं में अनेक वैकल्पिक शब्द प्रदान करके वाक्यपूर्ति कराते हैं तो कभी प्रयोज्य को अपनी स्वेच्छानुसार शब्द चुनकर वाक्यपूर्ति कराते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने युग्म प्रत्यक्ष एवं प्रक्षेपी प्रश्नावली (Paired direct and Projective questionaires--PDPQ) का विकास किया जिसमें अभिवृत्ति से सम्बद्ध अनेक अपूर्ण वाक्य होते हैं। इसमें ·91 से ·98 के बीच विश्वसनीयता प्राप्त हुई है।

कहानी प्रणाली—इसमें वाक्य के बजाय अधूरी कहानी प्रस्तुत करके उसकी पूर्ति कराते हैं।

इसी प्रकार मरे द्वारा निर्मित टी० ए० टी० का उपयोग भी अभिवृत्ति मापन में किया जाता है। प्रजातीय अभिवृत्तियों (Racial Attitudes) के मापन में रोजेनज्वाइग द्वारा निर्मित पिक्चर फ्रस्ट्रेशन स्टडी (Rosenzweigs Picture Friustration Study) का व्यापक उपयोग हुआ है। इन में व्यक्तियों को कुछ अस्पष्ट चित्र दिखाकर पूछते हैं कि यदि वे इसी परिस्थिति में अपने आपको रखकर यह बतायें कि वे क्या करते। कभी-कभी चित्र को देखकर कहानी लिखने का निर्देश भी देते हैं। इन प्रणालियों में विश्वसनीयता और वैधता के अभाव की संभावना होती है।

▼

अध्याय 5

सामाजिक प्रत्यक्षीकरण

(Social Perception)

प्राचीन मनोवैज्ञानिक यह मानते रहे हैं कि प्रत्यक्षीकरण एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जिसमें वातावरण में विद्यमान उद्दीपकों का संवेदी ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् यह कि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से उत्तेजक विषमताओं से सम्बन्धित होती है। प्रत्यक्षीकरण की उपयुक्त परिभाषा भी इसी बात पर बल देती है "प्रत्यक्षीकरण वह अनुभूति है, जो प्रत्यक्ष रूप से संवेदी उद्दीपन से व्युत्पन्न होती है। किन्तु प्रत्यक्षीकरण से सम्बद्ध अधिकांश अनुभव संवेदी अनुभव से परे होते हैं। अतः प्रात्यक्षिक घटनाओं की व्याख्या मात्र संवेदी अनुभवों द्वारा करना अपरिपक्वता एवं ज्ञान के अभाव का द्योतक होगा। मान लें, आप बस स्टैण्ड पहुंचे तो आपकी बस छूट रही थी। अनेक व्यक्ति बस के द्वार की ओर दौड़े, किन्तु कण्डक्टर ने आपको अन्दर करके दरवाजा बन्द कर लिया और दूसरों से यह कहा कि जगह नहीं है। इस तरह अनेक व्यक्ति जो छूट गये या नहीं चढ़ सके, उस कण्डक्टर को चोर, बेइमान की संज्ञा देते हैं, किन्तु आप यह कहते हैं कि बड़ा ही सज्जन है। उसने मुझे चढ़ा लिया अन्यथा मुझे दो घण्टे बाद अगली बस मिलती। कण्डक्टर तो वही है; किन्तु कोई उसको बेइमान, चोर, घूसखोर कहता है तो कोई उसे अति सज्जन कहता है।

वर्तमान शोधों से यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्ति के विचार, चिन्तन तथा प्रात्यक्षिक अनुभव, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रभावों से वंचित नहीं होते। अतः प्रत्यक्षीकरण किसी भौतिक उद्दीपक द्वारा उत्पन्न संवेदी अनुभव मात्र नहीं है। वरन् यह व्यक्ति के संज्ञान, भाव, संवेग, प्रेरक एवं तात्कालिक मनःस्थिति आदि के द्वारा प्रभावित होता है। सामाजिक प्रत्यक्षीकरण भौतिक उत्तेजना के अभाव में भी कल्पना, स्मृति, संज्ञान आदि के द्वारा भी सम्भव है। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि प्रेरणात्मक, संज्ञानात्मक, सांवेगिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारक सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को कैसे प्रभावित करते हैं। हम जिस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, उसपर वस्तु की विशेषताओं के अलावा व्यक्ति सम्बन्धी तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं पर प्राणिगत तथा सामाजिक कारकों के प्रभावों का अध्ययन सामाजिक प्रत्यक्षीकरण के अन्तर्गत करते हैं। निर्जीव वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रत्यक्षीकरण में तीन अन्तर होते हैं—

(i) सामाजिक प्रत्यक्षीकरण में अन्य व्यक्ति की क्रियाएँ निहित होती हैं। इनके द्वारा अन्य व्यक्तियों के सक्रिय, स्वतन्त्र जीवन को समझने में सहायता मिलती है

(ii) हमारी क्रियाएं अन्य व्यक्तियों में प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार सामाजिक प्रत्यक्षीकरण में अन्य व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएँ निहित होती हैं।

(iii) सामाजिक प्रत्यक्षीकरण में अन्तर्क्रिया निहित होती है।

निर्जीव वस्तुओं तथा अन्य व्यक्तियों के प्रत्यक्षीकरण को एक दूसरे से प्रथक् करते हुए हीडर (1958) ने कहा है, प्रत्यक्षीकरण शब्द का तात्पर्य निर्जीव चीजों के प्रत्यक्ष, और सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का तात्पर्य व्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण होता है किन्तु ऐसा अन्तर सर्वमान्य नहीं है।

सिकार्ड तथा बैकमैन के अनुसार "समाज मनोवैज्ञानिक ऐसी प्रक्रियाओं में दो विशिष्ट रुचियाँ रखते हैं। एक है, इन प्रक्रियाओं पर सामाजिक तथा व्यक्तिगत कारकों का प्रभाव। समाज मनोवैज्ञानिक की अन्य रुचि हमारी प्रात्यक्षिक, संज्ञात्मक तथा भावात्मक प्रक्रियाओं में है।"

(The Social Psychologist has two specific interests in such processes. One is the effect of social and personal factors on these processes. The other interest of social Psychologist is in our perceptual, cognitive and affective processes. Secord & Backman, 1964)

आलपोर्ट (1955) ने कहा है, "सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का अर्थ प्रायः सामाजिक परिस्थिति के विषय में व्यक्ति के सम्पूर्ण ज्ञान-विस्तार से है।" ("Social perception is frequently taken to denote the whole individual's understanding of his social situation.)

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं में निम्नलिखित तीन तथ्यों की चर्चा की गई है

(i) सामाजिक प्रत्यक्षीकरण, प्रत्यक्षीकरण पर सामाजिक और व्यक्तिक कारकों के प्रभावों का अध्ययन करता है।

(ii) इस पर प्रात्यक्षिक, संज्ञानात्मक तथा भावात्मक प्रक्रियायें भी प्रभाव डालती हैं।

(iii) इसका तात्पर्य प्रायः सामाजिक परिस्थिति के सम्बन्ध में व्यक्ति के सम्पूर्ण ज्ञान विस्तार से है।

अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का अर्थ मात्र अनुभव नहीं है जो संवेदी उद्दीपकों से उत्पन्न होता है, वरन् इस पर सामाजिक एवं व्यक्तिक

कारकों के प्रभावों से भी है, अर्थात् सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का अभिप्राय वस्तुओं को उस रूप में प्रत्यक्षीकृत करने से नहीं हैं जैसी वे हैं, वरन् वैसे जैसे हम हैं। यही बात निम्नपद्यांश में कही गयी है—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तहि तैसी !

हम अपने आस-पास के लोगों को समझने के प्रयास में मुख्यरूप से दो बातों पर ध्यान देते हैं। प्रथम, हम प्रायः दूसरों के व्यवहार के अस्थायी कारणों—उनके वर्तमान मूड (उमंग), भावनाओं और संवेगों को समझने का प्रयास करते हैं। यह सूचना अवाचिक संकेतों द्वारा प्राप्त होती है, जिसमें मुखाकृति के प्रकाशन, नेत्र सम्पर्क (Eye Contact), इङ्गित या शरीर के आसन एवं गतियाँ प्रमुख हैं। द्वितीय, हम दूसरों के व्यवहार के अपेक्षाकृत स्थायी कारणों को समझने का प्रयास करते हैं। इसमें व्यक्ति के स्थिर शीलगुणों (Traits), अभिप्रेरकों और अभिमन्तव्यों को जानने का प्रयास किया जाता है और इस जटिल प्रक्रिया को गुणारोपण कहा जाता है। चूँकि अवाचिक संज्ञापन (Non Verbal Communication) तथा गुणारोपण (Attribution) से अन्य लोगों के विषय में हमें थोड़ी भिन्न-भिन्न प्रकार की सूचनायें प्राप्त होती हैं अतः इनकी चर्चा पृथक शीर्षकों के अन्तर्गत उपयुक्त होगी।

अवाचिक संज्ञापनः घूरने एवं इङ्गित की भाषा

(Non Verbal Communication : Language of Gazes and Gestures)

प्रकाशनों की भाषा मौन होते हुये भी प्रायः वाचिक भाषा से अधिक प्रभावशाली होता है। बदलते हुए सम्वेग, उमंगे, थकान तथा अनेक दशाएं भी व्यक्ति के व्यवहार पर प्रबल एवं गम्भीर प्रभाव डालते हैं। बच्चे प्रायः किसी वस्तु की इच्छा उस समय व्यक्त करते हैं जब माता-पिता का मूड अच्छा होता है। मूड अच्छा होने पर वही बात सहर्ष मान लेते हैं जिसे खराब मूड की दशा में अस्वीकार कर चुका होता है। इसी प्रकार अनेक व्यवहार, विचार एवं तर्क पर मद्यव्यसन या अन्य नशीली औषधियों के सेवन का प्रबल एवं गम्भीर प्रभाव देखे जाते हैं। यह अस्थायी कारक सामाजिक व्यवहार पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। यहाँ, प्रश्न यह उठता है कि हमें यह कैसे ज्ञात होगा कि अन्य व्यक्ति अच्छे मूड में है या खराब मूड में? वह दुःखी है या सुखी, प्रसन्न है या क्रुद्ध? एक उपाय यह है कि वांछित व्यक्ति से पूछा जाए। किन्तु अनेक लोग अपनी आन्तरिक भावनाओं को छिपाने में अभ्यस्त होते हैं और वे झूठ बोल सकते हैं। ऐसी दशा में व्यवहार के कारणों को जानने की एक वैकल्पिक विधि भी है–इसे अवाचिक संकेत (Non Verbal Cues) कहते हैं। हम दूसरों के मूड, संवेग और भावनाओं को अवाचिक संकेत रूपी मौन भाषा द्वारा जान सकते हैं। यह मौन भाषा कभी वाणी के पूरक के रूप में प्रकट होती है और

कारकों के प्रभावों से भी है, अर्थात् सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का अभिप्राय वस्तुओं को उस रूप में प्रत्यक्षीकृत करने से नहीं हैं जैसी वे हैं, वरन् वैसे जैसे हम हैं। यही बात निम्नपद्यांश में कही गयी है—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तहि तैसी !

हम अपने आस-पास के लोगों को समझने के प्रयास में मुख्यरूप से दो बातों पर ध्यान देते हैं। प्रथम, हम प्रायः दूसरों के व्यवहार के अस्थायी कारणों—उनके वर्तमान मूड (उमंग), भावनाओं और संवेगों को समझने का प्रयास करते हैं। यह सूचना अवाचिक संकेतों द्वारा प्राप्त होती है, जिसमें मुखाकृति के प्रकाशन, नेत्र सम्पर्क (Eye Contact), इङ्गित या शरीर के आसन एवं गतियाँ प्रमुख हैं। द्वितीय, हम दूसरों के व्यवहार के अपेक्षाकृत स्थायी कारणों को समझने का प्रयास करते हैं। इसमें व्यक्ति के स्थिर शीलगुणों (Traits), अभिप्रेरकों और अभिमन्तव्यों को जानने का प्रयास किया जाता हैं और इस जटिल प्रक्रिया को गुणारोपण कहा जाता है। चूँकि अवाचिक संज्ञापन (Non Verbal Communication) तथा गुणारोपण (Attribution) से अन्य लोगों के विषय में हमें थोड़ी भिन्न-भिन्न प्रकार की सूचनायें प्राप्त होती हैं अतः इनकी चर्चा पृथक शीर्षकों के अन्तर्गत उपयुक्त होगी।

अवाचिक संज्ञापनः घूरने एवं इङ्गित की भाषा

(Non Verbal Communication : Language of Gazes and Gestures)

प्रकाशनों की भाषा मौन होते हुये भी प्रायः वाचिक भाषा से अधिक प्रभावशाली होता है। बदलते हुए सम्वेग, उमंगे, थकान तथा अनेक दशाएं भी व्यक्ति के व्यवहार पर प्रबल एवं गम्भीर प्रभाव डालते हैं। बच्चे प्रायः किसी वस्तु की इच्छा उस समय व्यक्त करते हैं जब माता-पिता का मूड अच्छा होता है। मूड अच्छा होने पर वही बात सहर्ष मान लेते हैं जिसे खराब मूड की दशा में अस्वीकार कर चुका होता है। इसी प्रकार अनेक व्यवहार, विचार एवं तर्क पर मद्यव्यसन या अन्य नशीली औषधियों के सेवन का प्रबल एवं गम्भीर प्रभाव देखे जाते हैं। यह अस्थायी कारक सामाजिक व्यवहार पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। यहाँ, प्रश्न यह उठता है कि हमें यह कैसे ज्ञात होगा कि अन्य व्यक्ति अच्छे मूड में है या खराब मूड में? वह दुःखी है या सुखी, प्रसन्न है या क्रुद्ध? एक उपाय यह है कि वांछित व्यक्ति से पूछा जाए। किन्तु अनेक लोग अपनी आन्तरिक भावनाओं को छिपाने में अभ्यस्त होते हैं और वे झूठ बोल सकते हैं। ऐसी दशा में व्यवहार के कारणों को जानने की एक वैकल्पिक विधि भी है–इसे अवाचिक संकेत (Non Verbal Cues) कहते हैं। हम दूसरों के मूड, संवेग और भावनाओं को अवाचिक संकेत रूपी मौन भाषा द्वारा जान सकते हैं। यह मौन भाषा कभी वाणी के पूरक के रूप में प्रकट होती है और

कभी स्वतन्त्र रूप में। यह अवाचिक भाषा काफी जटिल होती है, अतः अध्ययन अनेक परिप्रेक्ष्यों में हुआ है।

अवाचिक संज्ञापन कैसे घटित होता है ? इसके कई तरीके हैं जिनका ज्ञान अनेक दशकों में हुये शोधों से हुआ है। इनमें चेहरे के उतार-चढ़ाव या मुखाकृति-प्रकाशन (Facial Expression), नेत्र सम्पर्क (Eye contact), शरीर के आसन एवं गतियाँ (Body posture and Movements) तथा स्पर्श (Touching) प्रमुख हैं।

(A) **मुखाकृति-प्रकाशन** :—मुख को हृदय का सूचक कहा जाता है क्योंकि किसी व्यक्ति के मूड और संवेगों का सर्वाधिक व्यापक ज्ञान मुखमण्डल द्वारा ही होता है। दो हजार वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध रोमन वक्ता "सिसरो" ने कहा था "The face is the image of the soul" यह काफी सत्य भी प्रतीत होता है क्योंकि छिपाने के प्रयास के बाद भी व्यक्ति के मूड भावनायें आदि उसके मुखमण्डल द्वारा अभिव्यक्त हो जाते हैं, जिन्हें आसानी से पढ़ा जा सकता है। वक (1984) तथा इजार्ड (1977) ने अपने शोधों द्वारा मुखाकृति-प्रकाशनों से छः संवेगों के प्रमाण प्राप्त किए हैं—प्रसन्नता, उदासी, आश्चर्य, भय, क्रोध एवं घृणा।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या सांवेगिक प्रकाशन सार्वभौम होते हैं ? दूसरा पक्ष इसका यह भी है कि क्या इन प्रकाशनों में सांस्कृतिक भिन्नता का कोई प्रभाव होता है ? मौलिक संवेगों की अनुभूति के समय संसार के सभी मानव लगभग समान प्रकाशनों को अभिव्यक्त करते है और इनका अर्थ सार्वभौम होता है। एकमैन तथा फाइसेन (1975) ने भी दर्शाया है कि भौगोलिक दूरी के बाद भी समान संवेग उत्पादक परिस्थितियाँ लोगों में समान मुखाकृत-प्रकाशन अभिव्यक्त करती हैं। वाणी अथवा वाचिक भाषा का ज्ञान न होने पर अनुवादक की आवश्यकता होती है किन्तु मुखाकृति—भाषा में किसी अनुवादक या व्याख्याकर्त्ता की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(B) **नेत्रों की भाषा (Language of the Eyes; Gazes & Stares)** :—नेत्रों की भाषा तो अनेक लोगों के अनुसार सबसे सशक्त और प्रभावशाली होती है। आँखों के संकेत आदि काल से समाज में महत्वपूर्ण माने जाते रहे हैं। यदि आप गहरा रंगीन चश्मा लगाये हुए व्यक्ति से बात करें तो उसके नेत्रों को न देख सकेंगे जो उसके मूड्स, भावनाओं और सम्वेगों के विषय में सूचना का प्रमुख साधन है। प्राचीन कवियों ने नेत्रों को "आत्मा के भीतर झाँकने का झरोखा" कहा था। नेत्रों की दशा, गति, पलकों का झपकना, नेत्रों से घूरना, एक टक देखना आदि अवाचिक सूचना का महत्वपूर्ण साधन है। यदि कोई व्यक्ति वार्ता करते हुए हमारी

ओर देखकर बोलता है, तो हम उसे मित्रता और पसन्द का चिह्न मानते हैं (क्लिंके, मीकर तथा लाफॉग, (1974)। बिना देखे या बिना नज़र मिलाए बात करने को जिम्बार्डो (1977) ने अमैत्रीपूर्ण या भीरुता का लक्षण माना है। नेत्र सम्पर्क को पसन्द या धनात्मक या अनुकूल भावना का प्रतीक मानने के कुछ अपवाद भी हैं। यदि कोई व्यक्ति हमारी ओर निरन्तर घूरता है और हमारी प्रतिक्रियाओं की ओर ध्यान दिए बिना लगातार घूरता है तो यह असुखद अनुभूति का लक्षण समझा जाता है (स्टार्क तथा बक, 1979)। कुछ परिस्थितियों एवं दशाओं में घूरना शत्रुता एवं क्रोध का चिह्न कहा जाता है। (एल्सवर्थ एवं कार्लस्मिथ, 1973)। इस प्रकार घूरने की नेत्र क्रिया सर्वदा ऋणात्मक या अनानुकूल प्रभाव उत्पन्न करती है। प्रायः जिसकी ओर लगातार घूरा जाता है वह नर्वस हो जाता है और तनाव का अनुभव करने के कारण उस परिस्थिति विशेष से हट जाता है।

(C) शरीर की भाषा : इङ्गित (Body Language : Gestures) :— शरीर के आसन, हाथ, पैर, तथा भुजा की गतियाँ भी अवाचिक सूचना का प्रमुख साधन हैं। क्रोध, दुःख और प्रसन्नता के संवेगों के अनुभव के समय, आपके शारीरिक आसन, हाथों, भुजाओं, और पैरों की स्थिति एक जैसी नहीं रहती। विवाह और शवयात्रा में भाग लेते समय आपके शारीरिक आसन एवं हाथ पैर तथा अन्य अंगों की गतियां कभी समान नहीं होती। शारीरिक आसन एवं प्रमुख अंगों की गतियां व्यक्ति के वर्तमान मूड और संवेगों का परिचायक होती हैं।

ऐसे साधनों से प्राप्त अवाचिक संकेतों को प्रायः शरीर की भाषा कहते हैं, जिससे निम्न प्रकार की सूचना प्राप्त होती है :—

1. अन्य व्यक्तियों की सांवेगिक दशाओं का बोध हमें यह शरीर-भाषा कराती है। Knapp (1978) के अनुसार खुरचना, मारना आदि को सांवेगिक उद्वोलन का चिह्न बताया है। ऐसे व्यवहार की आवृत्ति की अधिकता अन्य व्यक्तियों के उद्वोलन स्तर का प्रतीक है।

2. हाव-भाव या शरीर-गतियों से प्रायः दूसरों की भावनाओं के विषय में विशिष्ठ सूचना प्राप्त होती है जैसे पेट सहलाना खाने (भोजन) के प्रति अनुकूलता प्रतिक्रिया का द्योतक है तो कुछ संस्कृतियों में अंगूठे तथा उंगली की मदद से नाक बन्द करना घृणा का परिचायक समझा जाता है। वैसे हाव-भाव पर संस्कृति का प्रभाव पड़ता है, फिर भी अभिवादन, एवं विदाई के अवसरों पर अनेक उभयनिष्ठ हाव-भाव देखे जाते हैं।

3. हाव-भाव या शरीर-भाषा से हमारे प्रति दूसरों की प्रतिक्रियायें भी अभिव्यक्त होती हैं। मेहराबियान(1968) ने दर्शाया है कि कुछ शरीर-गतियां या आसन

पसन्द की सूचक है तो अन्य नापसन्द की परिचायक है। शोधों से ज्ञात हुआ है कि अन्य व्यक्ति हमारे सामने बैठता है, हमारी ओर थोड़ा झुका हुआ प्रतीत होता है, और हमारे बात करते समय बार-बार गर्दन या सिर हिलाता है तो यह हमारे प्रति पसन्द का संकेत है। किन्तु यदि हम किसी से बात कर रहे हैं और वह हमारी ओर अनावधान प्रकट करता हैं जैसे छत की ओर देखता है तो इसे नापसन्द का लक्षण मानते हैं (क्लोर, विग्गिन्स तथा इटकिन, 1975)

(D) स्पर्श (Touching):—स्पर्श या शारीरिक सम्पर्क एक प्रमुख अवाचिक संकेत हैं। मानलें आपसे बात करने समय कोई व्यक्ति आपको स्पर्श करता है, तो इसका क्या अर्थ लेंगे ? यह स्पर्श क्या सूचना देगा ? यह कई बातों पर निर्भर करेगा। वह व्यक्ति अपरिचित है या मित्र है, वह आपके यौन का है या विरोधी यौन का, स्पर्श लघुकालिक है या दीर्घकालिक, हल्के से स्पर्श किया है या घप से मार दिया है, शरीर के किस भाग का स्पर्श किया है और सन्दर्भ क्या है ? इस प्रकार के कारकों पर वह स्पर्श स्नेह, यौनरुचि, प्रभाविता या आक्रामकता का संकेत हो सकता है (Knapp, 1978)।

इन जटिलताओं के बावजूद शोधों से अनेक निष्कर्ष प्राप्त हुये हैं—जब एक व्यक्ति दूसरे को अविवादास्पद रूप में स्पर्श करता है (धीरे से, थोड़े समय के लिये और असंवेदनशील भाग) तो सामान्यतः धनात्मक प्रतिक्रिया होती है (एलगाना, ह्विचर, तथा फिशर, 1979, स्मिथ तथा अन्य, 1982)। कभी-कभी स्पर्श ऋणात्मक प्रतिक्रियायें जैसे तनाव, क्रोध और चिन्ता उत्पन्न करता है।

अवाचिक संकेत तथा सामाजिक अन्तःक्रिया
(Non Verbal Cues Social and Interaction)

लगभग सभी व्यक्ति जब किसी से प्रथम बार मिलते हैं तो अच्छा प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। अतः अनेक व्यक्ति आत्मप्रस्तुति (Self Presentation) के अनेक व्यापक उपदेशोंका उपयोग करते हैं। इस सन्दर्भ में आत्मप्रस्तुति एक प्रकार की प्रभाव व्यवस्था (Impression management) है (Schlenker, 1980) जोन्स, (1964) वोर्टमैन तथा लिन्सेनमायर (1977) ने अपने अध्ययनों द्वारा स्पष्ट किया है कि आत्मप्रस्तुति या प्रभावव्यवस्था में अपनाये जानेवाले मुख्य उपायों में चाटुकारिता, विभिन्न मुद्दों पर सहमति, हाँ में हाँ मिलाना तथा, उनकी बातों में अत्यधिक रुचि का प्रदर्शन मुख्य हैं। यह सभी उपाय अनुकूल प्रथम प्रभाव उत्पन्न करने के लिये किये जाते हैं। आत्मप्रस्तुति से कुशल व्यक्ति इस कला का भरपूर लाभ उठाकर अन्य लोगों की अपेक्षा अच्छा प्रथम प्रभाव बनाते हैं। रिग्गियो (1986) ने अपने एक शोध द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की है।

कुशल आत्मप्रस्तुति इन उपायों के अतिरिक्त काफी मात्रा में अवाचिक संकेतों के प्रभावपूर्ण उपयोग पर भी निर्भर करती है। जैसा कि हम इसी अध्याय में देख चुके हैं कि कुछ मुखाकृति-प्रकाशन, नेत्र सम्पर्क के संरूप और विशिष्ट शारीरिक आसन अन्य व्यक्ति के प्रति पसन्द की प्रतिक्रिया के सूचक होते हैं। आत्मप्रस्तुति की कला में सफल व्यक्ति इन तथ्यों से भली प्रकार परिचित होते हैं। अतः वे अपने अवाचिक व्यवहार को नियन्त्रित कर ऐसे प्रभावों की व्यवस्था करते हैं। लक्ष्य व्यक्ति (जिसे प्रभावित करना हो) से अन्तःक्रिया करते समय वे प्रायः मुस्कराते हैं, बात करने में उसकी ओर थोड़ा झुक जाते हैं, उच्चस्तरीय नेत्र सम्पर्क बनाये रखते हैं, और अनेक बार सिर को हिलाते हैं। परिणामस्वरूप, वे प्रायः अनुकूल प्रथम प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होते हैं। किन्तु इस विशेषता में पर्याप्त व्यक्तिक भिन्नता देखी जाती है। कुछ में यह विशेषता अधिक तो अन्य में कम होती है। (रिग्गयो तथा फाइडमैन, (1986) इस विमा पर उच्च अंक प्राप्त करने वालों का प्रायः अन्य लोग अधिक अनुकूल मूल्यांकन करते हैं।

विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में अनेक अध्ययन अवाचिक संकेतों के प्रभावों के विषय में हुये हैं और सामान्यतः संगत परिणाम प्राप्त हुये हैं। विभिन्न नौकरियों के आवेदक जो धनात्मक अवाचिक संकेतों का प्रदर्शन अधिक करते हैं, साक्षात्कार-कर्त्ताओं द्वारा अधिक अच्छी श्रेणी में मूल्यांकित किये जाते हैं (इमादा तथा हैवेल, 1977 मैक्-गवर्न, जोन्स तथा मॉरिस, 1979)। किन्तु कुछ अन्य शोधकर्त्ताओं ने यह प्रमाणित किया कि साक्षात्कार के समय अत्यधिक धनात्मक अवाचिक संकेतों का प्रदर्शन साक्षात्कारकर्त्ताओं में ऋणात्मक प्रतिक्रियायें उत्पन्न कर सकता है। साक्षात्कारकर्त्ता यह समझते हैं कि आवेदक धोखा दे रहा है या गुमराह कर रहा है (वैरन, 1986a)। दूसरे यह कि यदि आवेदन में व्यवसाय के लिये अच्छी योग्यता धनात्मक अवाचिक संकेत अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करते हैं, किन्तु अन्य योग्यताएँ न्यून होने पर अवाचिक संकेत प्रभावहीन हो जाते हैं (रासमसेन, 1984)। यदि आवेदक साक्षात्कार में अच्छा निष्पादन प्रस्तुत करते हैं (प्रश्नों के ठीक उत्तर देते हैं) तो अवाचिक संकेतों का अनुप्रयोग उनके विषय में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करता है, लेकिन जो पूछे गये प्रश्नों का उत्तर ठीक रूप में नहीं दे पाते उनके अवाचिक संकेतों का उल्टा प्रभाव पड़ता है। साक्षात्कारकर्त्ता या मूल्यांकनकर्त्ता अवाचिक संकेतों को उनकी चालबाजी मानता है और यह भी सोचता है कि वे अपनी निष्पादन की न्यूनता को दूर करने के लिए ऐसा कर रहे हैं। अतः ऋणात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। इस प्रकार साक्षात्कार के समय आवेदकों को अवाचिक संकेतों का अत्यधिक उपयोग नहीं करना चाहिये। इसकी अधिकता उतनी ही बुरी है जितनी कि इनकी न्यूनता। किन्तु इसपर कोई असहमति नहीं है कि प्रभाव व्यवस्था साक्षात्कार में बहुत महत्वपूर्ण होता है।

प्रात्यक्षिक अनुक्रिया को प्रभावित करने वाली मौलिक प्रक्रियायें
(Basic Processes Affecting Perceptual Responses)

कुछ मूलभूत प्रक्रियायें प्रात्यक्षिक अनुक्रियाओं को प्रभावित करती है, जिनका ज्ञान सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को भली प्रकार समझने के लिये आवश्यक है। यह मूल प्रक्रियायें निम्नलिखि हैं।

1. प्रत्यक्षीकरण का चयनात्मक संगठन।
2. किसी विशिष्ठ उद्दीपक संरुप के साथ व्यक्ति के अनुभव की आवृत्ति।
3. धनात्मक एवं निषेधात्मक पुर्नबलन।
4. समकालिक निर्धारण।
5. प्रत्यक्षीकरण के सूचक।

1. प्रत्यक्षीकरण का चयनात्मक सङ्गठन (Selective organisation of perception)—प्रत्यक्षीकरण में चयनात्मक संगठन की विशेषता पाई जाती है। व्यक्ति अपने पर्यावरण में विद्यमान सभी उद्दीपकों की ओर एक साथ ध्यान नहीं दे सकता। वह किसी समय पर्यावरण में विद्यमान अनेकानेक उद्दीपकों में से चुने हुये कुछ संवेदी उद्दीपकों के प्रति ही प्रतिक्रिया करता है, और कुछ विशिष्ठ रूपों में अपने प्रत्यक्षीकरण को संगठित करता है। पर्यावरण में मौजूद अनेक उत्तेजनाओं से तो व्यक्ति अवगत भी नहीं होता। प्रत्यक्ष के चयनात्मक संगठन की विशेषता सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का मूल आधार है। मानलें आप कमरे में बैठे हुए पढ़ रहे हैं, वहीं कमरे में दीवार पर लगी घड़ी जो बराबर टिक-टिक कर रही है, बिजली का पंखा चल रहा है, आपका छोटा भाई करीब में सो रहा है, पिताजी समाचार पत्र देख रहे हैं, किन्तु आपका ध्यान पुस्तक में लगा है, अन्य उद्दीपक आपको उदीप्त कर रहे हैं किन्तु आप उनसे बेखबर पढ़े जा रहे हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण चयनात्मक होता है ठीक ऐसी ही विशेषता सामाजिक प्रत्यक्षीकरण में भी होती है।

2. गत अनुभव की आवृत्ति (Frequency of past experience):—विभिन्न उद्दीपक संरुपों तथा अनुक्रियाओं के साथ व्यक्ति के पूर्व अनुभव की आवृत्ति भी सामाजिक प्रत्यक्षीकरण की एक अन्य मौलिक प्रक्रिया है। इस तरह व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण में कुछ विशिष्ठ उद्दीपकों के साथ उसका पूर्व अनुभव उसके समकालीन तथा भविष्य के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करता है। अपरिचित शब्दों की अपेक्षा परिचित शब्दों को प्रकाश मन्द होने या अनावरण काल बहुत ही न्यून होने पर भी शीघ्र पहचान लेते हैं। जिस उत्तेजक—अनुक्रिया शृङ्खला की आवृत्ति जितनी अधिक होती है उनकी प्रत्यभिज्ञा भी शीघ्र होती है तथा भविष्य में उनके घटित होने की सम्भावना भी अधिक होती है।

3. **धनात्मक तथा ऋणात्मक पुनर्बलन** (Positive and Negative reinforcement)—व्यक्ति की कुछ अनुक्रियायें पुनर्बलित होती हैं तो अन्य दण्डित। जो अनुक्रियायें धनात्मक रूप से पुनर्बलित अथवा पुरस्कृत होती हैं, फिर वैसी ही परिस्थिति होने पर उनके घटित होने की सम्भावना अधिक होती है तथा दण्डित या निषेधात्मक रूप से पुनर्बलित अनुक्रियाओं के दुहराये जाने की सम्भावना कम होती है। यह प्रक्रिया प्रत्यक्षीकरण के विषय में भी सत्य है। इससे यह विदित होता है कि उस प्रात्यक्षिक अनुक्रिया के पुनः घटित होने की सम्भावना इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उस उत्तेजक—अनुक्रिया शृङ्खला के विषय में व्यक्ति का पूर्व अनुभव क्या है? पुरस्कृत अनुक्रिया प्रबल तथा दण्डित अनुक्रिया निर्बल होती है।

4. **समकालीन निर्धारक** (Contemporary Determinants):—किसी अनुक्रिया के समय व्यक्ति के समकालीन निर्धारक जैसे भूख, प्यास, थकान, चिन्ता आदि भी उस समय उसके, प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं। प्रत्यक्षीकरण के समय व्यक्ति की मनःस्थिति, उमंग, अभिप्रेरक, संज्ञानात्मक प्रत्याशाएँ, तथा ऐसे अनेक कारक उसके प्रत्यक्षीकरण को निर्धारित करते है। ये कारक अनुक्रिया के समकालीन निर्धारक कहलाते हैं, जिन पर व्यक्ति की अनुक्रिया करने की तत्परता निर्भर करती है। अनुक्रिया की तत्परता के कारण कुछ उत्तेजकों के प्रत्यक्षीकरण की सम्भावना बढ़ जाती है, जैसे भयभीत व्यक्ति प्रायः प्रभाव: उत्तेजकों का प्रत्यक्षीकरण शीघ्र करता है। कुछ परिस्थितियों में अनुक्रिया की तत्परता के कारण कुछ उत्तेजकों का प्रत्यक्षीकरण बाधित होता है, जैसे तनाव एवं चिन्ताग्रस्त व्यक्ति कुछ उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण नहीं चाहता।

5. **प्रत्यक्षीकरण के सूचक** (Indicators of perception) :—संवेदी उद्दीपकों के प्रति व्यक्ति की अनुक्रियायें आत्मगत होती है, जिनका प्रत्यक्षबोध किसी प्रेक्षक को नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में हम किसी व्यक्ति की संवेदी अनुभूतियों का प्रत्यक्ष रूप में निरीक्षण नहीं कर सकते। अतः प्रत्यक्षीकरण के विषय में व्यक्ति का निष्कर्ष अंशतः अप्रत्यक्ष साधनों पर निर्भर करता है जिनका उपयोग वह उनके निरीक्षण में करता है।

सामाजिक प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक
(Determinants of Social Perception)

सामाजिक प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप एवं निर्धारकों को समझने के लिए अनेक प्रायोगिक अध्ययन हुए हैं यह अध्ययन शारीरिक आवश्यकताओं, मूल्यों, सांवेगिक स्थितियों, व्यक्ति के अनुभव, सामाजिक एवं सांस्कृतिक भिन्नताओं आदि कारकों के

महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं। यह निर्धारक सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को अनेक रूपों में प्रभावित करते है। इनकी चर्चा सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को समझने में सहायक होती है। हम यहां इनकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे :—

1. आवश्यकता एवं अनुक्रिया प्रबलता (Need and response salience)—सामाजिक प्रत्यक्षीकरण के प्रायोगिक अध्ययनों में अधिकांश प्रात्यक्षिक अनुक्रियाओं से सम्बद्ध हैं। कुछ अध्ययन आवश्यकताओं की प्रबलता के ऊपर भी हुए हैं। कहा जाता है कि आवश्यकता उदोलन से आवश्यकता प्रबलता में तीव्रता आती है। इसका सैद्धान्तिक महत्त्व बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए आवश्यकता या प्रेरक में एक निश्चित सीमा तक वृद्धि का पर्याप्त अनुकूलित महत्त्व है, क्योंकि किसी लक्ष्य-वस्तु के प्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता या प्रेरणा जितनी प्रबल होती है, उस वस्तु से सम्बद्ध संकेतों के प्रत्यक्षीकरण के प्रति व्यक्ति तुरन्त उतना ही संवेदनशील होता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति की अनुक्रिया की प्रबलता उसकी आवश्यकताओं और अन्तर्नोदों द्वारा प्रभावित होती है। आवश्यकता का उदोलन जितना तीव्र होगा, उससे सम्बद्ध अनुक्रियाओं की प्रबलता भी उतनी ही अधिक होगी।

इस विषय में लेवाइन, शेन तथा मर्फी (Levine, Chein & Murphy, 1942) ने एक प्रारम्भिक अध्ययन किया। इनका उद्देश्य यह देखना था कि शारीरिकताएँ प्रत्यक्षीकरण को कैसे प्रभावित करती हैं। उन्होंने दो नियन्त्रित और तीन प्रायोगिक समूह लिये। प्रयोज्यों को विभिन्न अवधियों तक भोजन से वंचित किया गया और उन्हें शीशे के पर्दे से भोज्य पदार्थों सहित कुछ अन्य वस्तुओं की अस्पष्ट आकृतियां दिखायी गयीं। प्रदर्शन काल इतना कम था कि आकृतियों को स्पष्ट रूप में देख पाना कठिन था। तीन प्रायोगिक समूहों को क्रमशः 3, 6 और 9 घण्टे भूखा रखा गया, जब कि दो नियन्त्रित समूहों को क्रमशः $1\frac{1}{2}$ और $2\frac{1}{2}$ घण्टे तक भोजन से वंचित किया गया। शीशे के पर्दे से आकृतियों प्रदर्शित करने के बाद प्रयोज्यों से आकृति से सम्बद्ध शब्द बनाने का निर्देश दिया गया। इस अध्ययन में प्रत्याशा यह थी कि भोजन से वंचन की अवधि जितनी अधिक होगी, आकृतियों के प्रति खाद्य पदार्थों से सम्बद्ध अनुक्रिया शब्दों की आकृति की सम्भावना भी उतनी अधिक होगी, अथवा भूखउदोलन से खाद्य पदार्थों के लिए अनुक्रिया प्रबलता में भी वृद्धि होगी।

प्रयोग के परिणामों से उपकल्पना सत्यापित हुई। प्रायोगिक समूह के प्रयोज्यों का प्रत्यक्षीकरण भोजन से वंचन अवधि के अनुरूप प्रभावित हुआ। छः घण्टे तक भोजन वंचन से अनुक्रिया प्रबलता को प्रभावित किया। 9 घण्टे भोजन से वंचित

प्रयोज्यों की भोजन से सम्बद्ध अनुक्रिया अपेक्षाकृत कम होती है। भोजन से सम्बद्ध अनुक्रियाओं की आवृत्ति 6 घण्टे वंचित समूह में सर्वाधिक थी।

रोचक तथ्य यह था कि भूख-उदोलन या भोजन की आवश्यकता जब एक निश्चित सीमा से बढ़ जाती है तो प्रात्यक्षिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और व्यक्ति ऐसी वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करने लगता है जो प्रदर्शित नहीं की जाती है जैसे रेगिस्तान में भटके हुए क्षुधार्त (भूख से मरे हुए) एवं निर्जलन से पीड़ित व्यक्तियों के विभ्रम।

मैक्लिलीलैंड एवं एटकिंसन (1948) ने भी लेवाइन जैसे ही परिणाम अपने अध्ययन में प्राप्त किये। अनेक प्रयोगों में भोजन से वंचन और प्रत्यभिज्ञा देहली के सम्बन्धों का अध्ययन हुआ है, जिनमें उद्दीपक सामग्री टैचिस्टास्कोप द्वारा विभिन्न प्रदर्शन काल के लिए प्रयोज्यों को दिखायी गयी। आरम्भिक प्रदर्शन काल इतना कम था कि उद्दीपक की पहचान दुर्लभ थी। फिर प्रदर्शन काल को थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते गये जब तक कि प्रयोज्य उद्दीपक को स्पष्ट पहचानने लगे। निम्न देहली का तात्पर्य अल्पकालिक प्रदर्शन पर प्रत्यभिज्ञा और उच्च देहली का अभिप्राय अपेक्षाकृत दीर्घ प्रदर्शन के समय प्रत्यभिज्ञा। विस्पे तथा ड्रैमबैरियन (Wispe and Dramborean 1953) ने भोजन और जल से सम्बद्ध उद्दीपकों का अनुप्रयोग करके यह परिणाम प्राप्त किया कि दीर्घकालीन वंचन दशाओं में भोजन तथा जल से सम्बद्ध शब्दों के लिये निम्न देहली प्राप्त हुई। विभिन्न अवधियों के वंचन वाले प्रत्यक्षकर्त्ताओं में स्वभाविक शब्दों के प्रति कोई भिन्नता नहीं प्राप्त हुई। किन्तु टेलर (1956) को यह अन्तर वंचित तथा संतृप्त प्रयोज्यों में नहीं प्राप्त हुए।

लैजरस, यूसेन तथा एरेनबर्ग (Lazars, Yousen, & Arenberg, 1953) ने एक प्रायोगिक अध्ययन में मुक्त चयन और बाधित चयन (Free choice & Forced choice) की दशाओं में किया। उसने भोज्य तथा अभोज्य वस्तुओं की आकृतियों को प्रयोज्यों के समक्ष बहुत कम समय के लिये प्रस्तुत किया, फिर क्रमशः अनावरण काल (Exposure time) को धीरे-धीरे बढ़ाया। भोजन से विभिन्न अवधियों के लिये वंचित प्रयोज्यों को उन प्रदर्शित आकृतियों का नाम बताना था। मुक्त चयन की दशा में प्रयोज्य दर्शायी गयी आकृति का कोई भी नाम बता सकते थे, जबकि बाधित चयन की दशा में 16 शब्दों की सूची में से ही नाम बताने का प्रतिबन्ध था। परिणामों से ज्ञात हुआ कि मुक्त चयन दशा में प्रयोज्यों की अनुक्रियायें पूर्व प्रयोगों के समान थीं, अर्थात भूख, भोजन से सम्बद्ध अनुक्रिया की प्रबलता को बढ़ाती है। 4 घण्टे तक भोजन से वंचन की अवधि जितनी अधिक थी खाद्य पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा देहली उतनी ही कम थी। किन्तु जब

वंचन अवधि 5-6 घण्टे कर दी गयी तो प्रत्यक्षीकरण एवं अनुक्रिया प्रबलता पर निषेधात्मक प्रभाव प्राप्त हुआ। दूसरे शब्दों में भोजन से वंचन की एक निश्चित सीमा ही अनुक्रिया प्रबलता को बढ़ाती है।

दूसरी ओर बाधित चयन दशा में इसके विपरीत परिणाम प्राप्त हुये, अर्थात भूख की विभिन्न मात्राओं का प्रयोज्यों की प्रत्यभिज्ञा देहली पर कोई प्रभाव नहीं प्राप्त हुआ।

यह परिणाम दर्शाते हैं कि व्यक्ति की तात्कालिक प्रेरक दशायें उसकी प्रात्यक्षिक अनुक्रियाओं को प्रभावित करती हैं। भूखे होने पर किसी हद तक भोजन सम्बन्धी अनुक्रियाओं में वृद्धि आती है तथा उनकी प्रत्यभिज्ञा देहली कम हो जाती है। वंचन की एक निश्चित मात्रा के बाद प्रयोज्यों की संवेदनशीलता में कमी प्रकट होने के अनेक कारण हो सकते हैं। एक ऐसा कारण भूख की वृत्तीय प्रकृति (Cyclic nature of hunger) कहलाती है। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि आत्मगत अनुभूतियाँ तथा भूख की शारीरिक आवश्यकतायें उस समय अभिकतम होती हैं जब उसके भोजन करने का समय होता है। किन्तु उस निश्चित भोजन के समय के बीत जाने के बाद धीरे-धीरे उस आवश्यकता में कमी आने लगती है, चाहे व्यक्ति को भोजन मिले या न मिले। मैक्कलीलैण्ड तथा एटकिंसन (1954) और विस्पे (1954) ने बताया है कि वंचन की प्रारम्भिक अवस्था में प्रयोज्य प्रत्यक्ष रूप से लक्ष्योन्मुख अनुक्रियायें प्रदर्शित करते हैं, किन्तु वंचन मध्यान्तर में वृद्धि आने पर व्यक्ति के प्रत्यक्ष रूप से घटित होने वाले लक्ष्योन्मुख व्यवहार कम होने लगते हैं, यही नहीं जब प्यास या भूख की तीव्रता एक निश्चित सीमा तक पहुंच जाती है, तो ऐसी दशा में व्यक्ति अप्राप्य लक्ष्यों का प्रत्यक्षीकरण नहीं करते।

भोजन-वंचन और प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्धों में व्यक्तिक भिन्नता के प्रभावों का भी अध्ययन हुआ है। एक प्रायोगिक अध्ययन (Guetskow & Bowrnan, 1946) में कुछ ऐसे व्यक्तियों को प्रयोज्य बनाया गया जिन्हें छः महीने तक अर्द्ध-क्षुधार्त (Semistarvation) स्थिति में रहना था। इस छः माह की अवधि में प्रयोज्यों के औसत वजन में 35 पौण्ड की कमी आई। अर्द्धक्षुधार्त स्थिति का प्रयोज्यों पर भिन्न प्रकार के प्रभाव देखे गये। कुछ प्रयोज्यों ने तो इस बात को ही नकारा कि वे प्रायः भूखे रहे हैं, या वे अपनी क्षुधा को भूलने का प्रयास करते हैं। कुछ ने क्रोध में आकर कमरा छोड़ दिया। अनेक व्यक्ति उनमें ऐसे थे जो अपने को व्यस्त रखने का प्रयास करते थे ताकि उन्हें खाने की याद न आये, तो कुछ नाना प्रकार के व्यञ्जनों की कल्पना में खोए रहते। कुछ प्रयोज्यों ने अपना पर्याप्त समय पाक शास्त्र के अध्ययन में लगाया। उनमें से अनेक ने प्रेम और रोमान्स के प्रति

भी उदासीनता प्रदर्शित की। इस प्रकार इन प्रयोज्यों ने भोजन से वंचन के परिणाम स्वरूप तरह-तरह के व्यवहार प्रदर्शित किये। किन्तु सबके व्यवहार एक जैसे नहीं थे, और भोजन से वंचितता पर उनकी प्रतिक्रियायें घोर व्यक्तिगत भिन्नताओं की दर्शाती हैं। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि कुछ प्रयोज्यों में भोजन-वंचन के कारण अनुक्रिया-प्रबलता में वृद्धि हुई जब कि अन्य में यह अनुक्रिया-प्रबलता सामान्य या उससे भी कम रही। इनसे कुल मिलाकर इतना अवश्य कह सकते हैं कि प्रत्यक्षीकरण में आवश्यकता उदोलन और उससे व्युत्पन्न अनुक्रियायें व्यक्तिगत भिन्नताओं के प्रभाव को प्रदर्शित करती हैं।

2. **अनुक्रिया-गुण** (Response salience)—अनुक्रिया गुण व्यक्ति की एक निश्चित अनुक्रिया करने की एक प्रवृत्ति है। (Response dispostion is a tendency of the individual to make a certain response rather than other–Secord & Backman, 1964) सामान्य शब्दों में अनुक्रिया गुण को "आदत" (Habit) कहते हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत हम "प्रत्यक्षित आदतों" (Perceptual habits) पर सामाजिक कारकों के प्रभावों को जानने में रुचि रखते हैं। हमारा प्रत्यक्षीकरण सामाजिक कारकों से निर्धारित होता है। ऐसे सामाजिक कारकों में मूल्य, पुरस्कार और दण्ड आदि प्रमुख हैं—

(A) अनुक्रिया-गुण पर मूल्य का प्रभाव (Effect of Value Upon Response Disposition)—पोस्टमैन, ब्रूनर, तथा मैकगिनीज (Postman, Bruner & Mc Ginnies 1948) ने अपने प्रायोगिक अध्ययन से व्यक्ति के मूल्यों की प्रबलता और प्रात्यक्षिक संवेदनशीलता के सम्बन्धों को प्रदर्शित किया। अन्य बातों के समान होने पर मूल्य के कारण "मूल्य से सम्बद्ध" अनुक्रिया अधिक तत्परतापूर्वक घटित होती है। दूसरे शब्दों में इनकी उपकल्पना यह थी कि व्यक्तिगत मूल्य से सम्बन्धित शब्दों के प्रति प्रयोज्य की संवेदनशीलता अधिक होगी। अध्ययन में यह भी जानने का प्रयत्न किया गया कि वह मूल्य व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर जितने महत्वपूर्ण होंगे, प्रयोज्य का सामाजिक प्रत्यक्षीकरण उतना ही अधिक प्रभावित होगा। अध्ययन में सर्वप्रथम प्रयोज्यों के व्यक्तिगत मूल्यों की प्रबलता आलपोर्ट-वर्नन मूल्य परीक्षण द्वारा निश्चित की गई। इस मूल्य प्रश्नावली में प्रयोज्यों के मूल्य प्रणाली का निर्धारण छः क्षेत्रों—सैद्धान्तिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सौन्दर्य में करते हैं। इन सभी मूल्यों से सम्बद्ध छः छः शब्दों को अत्यन्त अल्प समय के लिये प्रस्तुत किया गया। अनावरण काल को धीरे-धीरे उस समय तक बढ़ाया गया जब तक कि प्रयोज्य को उनकी शुद्ध प्रत्यभिज्ञा होने लगे। परिणामों से प्रयोग की उपकल्पना सत्यापित हुई। प्रयोग के परिणामों

से ज्ञात हुआ कि प्रयोज्य के लिये महत्व रखने वाले मूल्यों से सम्बद्ध शब्दों की प्रत्यभिज्ञा देहली कम थी, अर्थात उनकी पहचान, अनावरणकाल कम होने पर अधिक हुयी और शीघ्र हुयी। इसके विपरीत कम महत्वपूर्ण मूल्यों से सम्बद्ध शब्दों की प्रत्यभिज्ञा देहली अधिक प्राप्त हुई। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रयोज्य के लिये महत्वपूर्ण मूल्यों से सम्बद्ध शब्दों के प्रति उसमें अधिक प्रात्यक्षिक संवेदनशीलता देखी गई। अतः यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण उन मूल्यों द्वारा अधिक प्रभावित होता है, जिन्हें व्यक्ति अधिक महत्व देता है। वेण्डरप्लास और ब्लेक (1949) ने ध्वनि सम्बन्धी उद्दीपक का अनुप्रयोग करके पोस्टमैन के प्रयोग का पुनरावर्त्तन किया और उसने पोस्टमैन तथा अन्य द्वारा परिणामों की पुष्टि की।

निःसन्देह चर्चित प्रयोगों से यह संकेत मिलता है कि व्यक्ति के प्रमुख मूल्यों से सम्बद्ध उद्दीपकों के प्रति संवेदनशीलता अधिक होती है। यद्यपि, मूल्य से सम्बद्ध शब्दों का शीघ्र प्रत्यक्षीकरण व्यक्ति के द्वारा पहले अनुभव की गई आवृत्ति का परिणाम भी हो सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिक मूल्य से सम्बद्ध शब्दों की द्रुत संवेदनशीलता की व्याख्या उद्दीपक शब्दों की आवृत्ति (Frequency of stimulus words) के आधार पर करते हैं। आवृत्ति के आधार पर अनुक्रिया-प्रवृत्ति की व्याख्या के कुछ रूप इस प्रकार है :—

(i) एक प्रयोग में सालोमन तथा होइस (Soloman & Howes, 1950) ने चाक्षुस प्रत्यभिज्ञा देहली की निम्नता (Lower visual recognition threshold) तथा विभिन्न शब्दों के सामान्य बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त शब्दों की आवृत्ति के बीच सम्बन्धों का अध्ययन किया। उन्होंने अपनी उपकल्पना के अनुरूप सहसम्बन्ध प्राप्त किया और बताया कि यह उपकल्पना अनावश्यक है कि व्यक्ति की मूल्य प्रणाली मूल्य से सम्बद्ध शब्दों की प्रत्यभिज्ञा को प्रभावित करती है। इसके बजाय उनके अनुसार उच्च-मूल्य-क्षेत्र से सम्बद्ध शब्दों का व्यक्ति को अधिक अनुभव होने के कारण उनकी प्रत्यभिज्ञा कम अनावरण काल में भी शीघ्र होती है। इस प्रकार, उनके अनुसार यह कहना उचित नहीं है कि मूल्य प्रणाली प्रात्यक्षिक अनुक्रिया को प्रभावित करती है।

(ii) एक अन्य प्रायोगिक अध्ययन द्वारा पोस्टमैन तथा श्नाइडर (Postman & Schneider, 1951) यह संकेत दिया कि दोनों—शब्द-प्रयोग की आवृत्ति तथा शब्दों के लिये देहली की अवधि, व्यक्ति के मूल्यों का प्रकार्य होते हैं, अथवा दोनों व्यक्ति के मूल्यों पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार इस अध्ययन से इस बात की पुष्टि हुई कि देहली शब्दों की आवृत्ति द्वारा निर्धारित एवं प्रभावित होती है। इससे

यह प्रदर्शित हुआ कि असामान्य (Uncommon) शब्दों की देहली उनके प्रति आरोपित मूल्य के अनुसार परिवर्तित होती है।

दूसरी ओर कुछ अन्य शोधकर्त्ताओं ने अनेक प्रायोगिक अध्ययनों द्वारा प्रदर्शित किया कि शब्द-आवृत्ति और शब्द-मूल्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है, अर्थात् उन्होंने शब्द-प्रयोग की आवृत्ति और उनकी मूल्य प्रणाली में सम्बन्ध प्राप्त किये। इन्होंने (Johnson, Thomson & Frincke, 1960) ने निष्कर्ष प्राप्त किया कि शब्द-अनुभव की आवृत्ति उनके मूल्य में वृद्धि करती है। जहाँ तक शब्द-प्रत्यभिज्ञा देहली पर आवृत्ति और मूल्य के प्रभावों का सम्बन्ध है, आवृत्ति के आधार पर सन्तुलित किन्तु मूल्य में परिवर्तित सूची—तथा मूल्य के अनुसार सन्तुलित लेकिन आवृत्ति में भिन्न सूचियों को प्रयोज्यों के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने यह देखा कि आवृत्ति को स्थिर करने पर मूल्य-प्रणाली देहली को निम्न करती है और जब मूल्य को स्थिर करते हैं तो आवृत्ति देहली को निम्न करती है।

इस तरह निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि किसी शब्द के साथ अनुभव की आवृत्ति तथा इसके मूल्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है किन्तु किसी व्यक्ति की विभिन्न अनुभूतियों के प्रति प्रतिक्रिया प्रायः उस सन्दर्भ पर निर्भर करती है जिसमें वह अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार किसी सन्देह के बिना हम कह सकते हैं कि शब्दों की आवृत्ति और मूल्य—दोनों ही प्रात्यक्षिक अनुक्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

(B) पुनर्बलन एवं प्रत्यक्षीकरण (Reinforcement and Perception)—अनुक्रिया की प्रबलता पर पुनर्बलन अर्थात पुरस्कार एवं दण्ड का भी प्रभाव पड़ता है। प्रात्यक्षिक अनुक्रियाओं को पुरस्कृत तथा दण्डित करने से प्रत्यभिज्ञा देहली परिवर्तित होती है। अतः अनेक प्रकार के प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिये हुए कि क्रमिक पुरस्कार एवं दण्ड के द्वारा प्रात्यक्षिक अनुक्रियाओं में परिवर्तन लाये जा सकते हैं।

अनुक्रिया-गुण में प्रबलता तथा धनात्मक पुनर्बलन या पुरस्कार के द्वारा कुछ प्राप्त परिणामों की उत्तम व्याख्या की जा सकती है। ऋणात्मक पुनर्बलन या दण्ड समस्या अपेक्षाकृत अधिक जटिल है।

एक महत्वपूर्ण प्रयोग (Shafer & Murphy, 1943) में परिवर्तनशील (Reversible) आकृति पृष्ठभूमि चित्र का उपयोग उद्दीपक के रूप में किया गया। शेफर तथा मर्फी ने आकृति-पृष्ठभूमि उत्क्रमण (Figure-ground reversal) पर पुरस्कार तथा दण्ड के प्रभावों का अध्ययन किया। प्रयोग के आरंभिक चरण में प्रयोज्यों के समक्ष दो अलग-अलग मुखाकृतियाँ प्रस्तुत की गई। एक

मुखाकृति के प्रत्यक्षीकरण पर प्रयोज्य पुरस्कृत किए गये। दूसरी मुखाकृति के प्रत्यक्षीकरण पर प्रयोज्यों को दण्डित किया गया। यह आरंभिक चरण प्रशिक्षण के लिये था। इस तरह एक विशेष मुखाकृति को देखने पर पुरस्कार तथा अन्य के देखने पर दण्ड का प्रशिक्षण देने के उपरान्त परीक्षण किया गया। परीक्षण के समय दोनों मुखाकृतियों को संयुक्त रूप में प्रस्तुत किया गया। इस सम्पूर्ण चित्र को टैचिस्टाकोप की सहायता से अत्यन्त अल्प समय के लिए दिखाया गया। परीक्षण के समय प्रयोज्यों ने प्रायः उसी मुखाकृति का प्रत्यक्षीकरण किया जिसे प्रशिक्षण काल में पुरस्कृत किया गया था। प्रयोज्यों ने अपुरस्कृत मुखाकृति का प्रत्यक्षीकरण पृष्ठ-भूमि के रूप में किया। इससे यह विदित होता है कि प्रत्यक्षीकरण पर पुनर्बलन का प्रभाव पड़ता है। साथ ही प्रत्यक्षीकरण में चयनात्मकता (Selectivity) भी पुनर्बलन से प्रभावित होती है। पुरस्कृत प्रात्यक्षिक अनुक्रियायें दुहरायी जाती हैं और दण्डित अनुक्रियायें नहीं दुहरायी जाती।

इन परिणामों की व्याख्या अनुक्रिया प्रबलता में विचलन के आधार पर नहीं की जा सकती क्योंकि प्रयोज्यों को विभिन्न प्रकार के उत्तेजक उपलब्ध नहीं होते।

इन अध्ययनों के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। यही नहीं इन परिणामों के अतिरिक्त हुए अन्य प्रयोग-परिणामों ने समस्या को और भी विवादास्पद बना दिया है। एक अन्य अध्ययन में प्रत्यक्षीकरण या पुरस्कार एवं दण्ड के प्रभावों का अन्वेषण किया गया। (Beatty, Damern & Green 1959)। परिणामों से ज्ञात हुआ कि प्रत्यभिज्ञा देहली पर दण्ड का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन स्मिथ तथा हॉचबर्ग (1954) ने अपने प्रयोगिक उपलब्धि से यह प्रदर्शित किया कि दण्ड से प्रत्यभिज्ञा सीमान्त प्रभावित होता है। रॉक और फ्लेक (Rorke & Fleck, 1950) ने भी इसकी पुष्टि अपने परिणामों द्वारा की। इसी तरह अन्य प्रायोगिक अध्ययनों से भी इस विषय में परस्पर विरोधी परिणाम प्राप्त हुए। अतः इस विषय में और अध्ययनों की आवश्यकता है। दण्ड द्वारा प्रत्यक्षीकरण के प्रभावित होने के विषय में परिणामों में संगति का अभाव है।

प्रात्यक्षिक सुरक्षा
(Perceptual Defence)

प्रत्यक्षिक सुरक्षा का गोचर एक अत्यन्त नाटकीय उपलब्धि है। इससे यह ज्ञात हुआ है कि सामाजिक प्रत्यक्षीकरण पर सामाजिक—सांस्कृतिक कारकों और निषेधों का भी प्रभाव पड़ता है। दैनिक जीवन के अनुभवों से विदित होता है कि समाज और संस्कृति से सम्बद्ध उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण कुछ देर से होता है जबकि तटस्थ उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण अपेक्षाकृत कम समय में ही हो जाता है। व्यक्ति

उन उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण नहीं करना चाहता जो असुखद होते हैं या अप्रिय घटनाओं से सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार समाज और संस्कृति द्वारा वर्जित एवं निषिद्ध उद्दीपकों एवं असुखद संवेगों को उत्पन्न करने वाली उत्तेजनाओं के प्रत्यक्षीकरण से बचाव या सुरक्षा की प्रक्रिया ही प्रात्यक्षिक सुरक्षा कहलाती है। सिकांर्ड तथा बैकमैन (1964) ने प्रात्यक्षिक सुरक्षा में निहित तीन प्रक्रियाओं की चर्चा की है :—

(i) तटस्थ उद्दीपकों की अपेक्षा सांवेगिक रूप से विघ्नकारी एवं धमकीपूर्ण उद्दीपकों की प्रत्यभिज्ञा देहली अधिक होती है। (ii) वह उद्दीपक जो व्यक्ति के लिये दुःखद; भयोत्पादक एवं धमकीपूर्ण होते हैं, व्यक्ति में वैकल्पिक प्रत्यक्षीकरण (Substitute Perception) उत्पन्न करते हैं। ऐसा प्रत्यक्षीकरण (वैकल्पिक) व्यक्ति को असुखद अनुभवों से सुरक्षा प्रदान करता है। (iii) यह क्रान्तिक उत्तेजक व्यक्ति में सांवेगिक प्रक्रियायें व्युत्पन्न करते हैं, चाहे प्रत्यक्षकर्त्ता दुःखद एवं भयावः उत्तेजकों का सही प्रत्यक्षीकरण न कर पा रहा है।

प्रात्यक्षिक सुरक्षा की प्रायोगिक विशेषताएँ
(Experimental Characteristics of Perceptual Defense)

प्रात्यक्षिक सुरक्षा पर एक आरम्भिक प्रयोग (Mc Ginnies, 1949) ने टैचिस्टास्कोप द्वारा प्रयोज्यों के 11 तटस्थ शब्द (Neutral words) और 7 निषेधित शब्द (Tabood words) जो असुखद थे, प्रस्तुत किये। निषेधित शब्दों में कुतिया, वेश्या, बलात्कार आदि शब्द थे। प्रारम्भ में अनावरण काल बहुत ही कम था, जिसे धीरे-धीरे बढ़ाते गये, ताकि शुद्ध प्रत्यभिज्ञा हो सके। प्रत्येक शब्द के लिये गैल्वेनिक त्वक अनुक्रिया (G. S. R.) का मापन किया गया। प्रयोज्यों को टैचिस्टास्कोप द्वारा देखे गये शब्दों को बताना था। मुख्य 3 बातें यह दृष्टिगोचर हुई (i) जब निषेधित शब्द अत्यन्त अल्प समय के लिये प्रदर्शित किये गये कि उनको पहचानना कठिन था, परन्तु उनके प्रति गैल्वेनिक त्वक अनुक्रिया (G. S. R.) प्राप्त हुई और इनकी प्रत्यभिज्ञा देहली भी बढ़ गयी। दूसरे शब्दों में निषिद्ध शब्दों से और अप्रिय संवेगों से सम्बन्धित पदों की प्रत्यभिज्ञा के पहले ही प्रयोज्य सांवेगिक हो जाते हैं, जिसका ज्ञान जी० एस० आर० के द्वारा होता है। (ii) निषिद्ध शब्दों की प्रत्यभिज्ञा देहली तटस्थ शब्दों से अधिक प्राप्त हुई (iii) प्रदर्शन काल कम होने पर भी प्रयोज्यों ने निषिद्ध पदों के प्रति लगभग वैसी त्रुटिपूर्ण अनुक्रियायें की जैसी तटस्थ शब्दों के प्रति घटित हुई। तटस्थ पदों का अनुमान करने में स्थानापित शब्द ऐसे थे—"Trade" के स्थान पर "Trace", जबकि निषिद्ध पदों में यह अनुमान संरचनात्मक रूप से असमान थे जैसे "Belly" के स्थान पर

"Roared"। मैकगिनीज ने निषिद्ध शब्दों की प्रत्यभिज्ञा देहली अधिक होने की व्याख्या यह कहते हुये की है कि ऐसे शब्दों की पुनरावृत्ति सामान्य व्यक्तियों के दैनिक जीवन में कम होती है। इस अध्ययन के परिणाम पहली झलक में बड़े नाटकीय एवं रोचक प्रतीत होते हैं, किन्तु इसमें एक विरोधाभास निहित है। व्यक्ति किसी उद्दीपक या किसी शब्द का प्रत्यक्षीकरण किये बिना भी उसकी अपेक्षा या अवहेलना कैसे करता है? इसकी व्याख्या के रूप में कहा जा सकता है कि प्रयोज्य शब्दों का प्रत्यक्षीकरण करते हुए भी उनको बताने में असफल रहता है।

इस विरोधाभास की अनेक व्याख्यायें दी गई है :—

(A) निषेधित शब्दों की प्रत्यभिज्ञा देहली अधिक होने का एक संभाविक कारण यह हो सकता है कि व्यक्ति सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण इन पदों का प्रत्याख्यान करने में अपने को असमर्थ पाये। अतः इनकी देहली बढ़ जाती है और जी० एस० आर० में भी वृद्धि आती है।

(B) इस दिशा में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि निषिद्ध शब्दों के लिये अनुक्रिया प्रबलता कम होती है, क्योंकि एक छात्र मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में गन्दे या अश्लील/अभद्र शब्दों के प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं करता। ऐसा इसलिये है कि निषिद्ध शब्दों की आवृत्ति दैनिक जीवन में कम होती है। लेखक अपने पड़ोस के कुछ लोगों को बीसों वर्ष से जानता है, जो आपस में एक दूसरे को प्रायः गाली दिया करते हैं। पिता पुत्र को जगाता है, दो तीन बार केवल नाम लेकर जगाने पर यदि पुत्र नहीं उठता तो फिर नाम के पहले एक अपशब्द लगाकर पुकारा है। यदि ऐसे लोगों को निषिद्ध शब्द दिखाये जायँ तो संभव है कि न तो देहली में वृद्धि होगी नहीं जी. एस. आर. में।

(C) निषिद्ध शब्दों की प्रत्यभिज्ञा देहली अधिक होने का एक तीसरा स्पष्टीकरण भी है, इसके अनुसार शब्दों की आवृत्ति महत्वपूर्ण है। दैनिक जीवन में निषिद्ध शब्दों की आवृत्ति नगण्य या न्यूनतम होने के कारण भी इनकी प्रत्यभिज्ञा देहली अधिक हो सकती है।

पोस्टमैन तथा अन्य (1953) ब्राइटेलेकर, गिलक्रिस्ट और फ्रिशर (1952) भी प्रात्यक्षिक सुरक्षा से सम्बद्ध परिणामों की पुष्टि की है। इन्होंने प्रयोज्यों में निषेध से सम्बद्ध शब्दों को प्रोत्साहित तथा अन्य प्रायोज्यों में हतोत्साहित किया यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि प्रयोज्य गण प्रायः निषेध से सम्बद्ध शब्दों को देखने से बचाव करते हैं। लेकिन अन्य शोधों द्वारा अनुक्रिया विन्यास (Response salience) के महत्व की पुष्टि हुई है (Biltermans & Kniffin, 1953; Freeman, 1954; Kleiner. 1959 etc.)।

प्रत्यभिज्ञा देहली का संशोधन, अधिगम कारकों द्वारा
(Modification of Recognition Threshold by Learning Factors)

पोस्टमैन (1953 a) के अनुसार प्रतिस्पर्द्धक अनुक्रिया गुणों द्वारा भी निषेध सम्बन्धी शब्दों की उच्च प्रत्यभिज्ञा देहली की व्याख्या हो सकती है मानलें "Wh–e" का प्रत्यक्षीकरण होता है। उद्दीपक शब्द वास्तव में "Whore" है, किन्तु प्रायः प्रयोज्य इसे "Where" प्रत्यक्षीकृत करते हैं।

निषेध से सम्बद्ध शब्दों की उच्च प्रत्यभिज्ञा देहली का एक अन्य स्पष्टीकरण परिहार अधिगम (Avoidance learning) का उपयोग करता है। परिहार अधिगम में किसी अनुक्रिया के घटित होने की समान्यता में दण्ड से परिहार के कारण वृद्धि आती है। अधिगम का यह सिद्धान्त सामाजिक परिस्थितियों में लागू होता है जब कोई बच्चा शरारत या गलती करने पर 'Sorry" कहता है। यदि माँ दण्ड को रोक देती है तो क्षमा याचना की क्रिया इससे पुनर्बलित होती है।

ऐरिकसन तथा ब्राउनी (1956) के प्रयोग से ज्ञात हुआ कि जब उद्दीपक शब्द को चिन्ता से अनुबंधित कर देते हैं तो उच्च प्रत्यभिज्ञा देहली प्राप्त होती है। डुनेली (1957) ने अपने अध्ययन से प्रमाणित किया कि परिवार अधिगम उपयुक्त दशाओं में भयावः उद्दीपकों के प्रति सुरक्षा या संवेदनशीलता (Defense or sensitization) उत्पन्न करती है।

उद्दीपक सांवेगिकता तथा प्रत्यभिज्ञा देहली
(Stimulus Emotionality & Recognition Threshold)

अनेक अध्ययनों के परिणाम यह दर्शाते हैं कि सांवेगिक शब्द प्रत्यभिज्ञा देहली को उच्च करते हैं (Bruner & Postman, 1947, Ericksen, 1951, 1952) जबकि अन्य अध्ययनों ने प्रमाणित किया है कि सांवेगिक शब्द प्रत्यभिज्ञा देहली को निम्न करते हैं। इनमें से प्रथम प्रात्यक्षिक सुरक्षा के तथा बाद वाले प्रत्यक्षिक संवेदिता (Sensitization) का समर्थन करते हैं। ब्राउन (1961) के तर्कानुसार तटस्थ उद्दीकों की तुलना में सांवेगिक शब्द प्रत्यभिज्ञा देहली को बढ़ाते, किन्तु सांवेगिकता के प्रबल स्तर पर वे प्रात्यक्षिक सुरक्षा के स्थान पर संवेदनशीलता (Sensitization) उत्पन्न करते हैं, अतः देहली निम्न हो जाती है।

प्रात्यक्षिक सुरक्षा में व्यक्तिगत भिन्नताएँ
(Individual Differences in Perceptual Defense)

प्रात्यक्षिक सुरक्षा पर हुए अनेक अध्ययनों में व्यक्तिगत भिन्नताओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। कुछ लोग निषेध-शब्दों का अनुप्रयोग बड़े धैर्य और शांत-

चित्त के साथ अपने दैनिक जीवन में करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके लिये कोई विशेष बात नहीं है। अन्य में व्यक्तिगत स्वभाव या अभिप्रेरणा के कारण कुछ निषेध सम्बन्धी शब्दों के प्रति विशेष प्रकार की अभिवृत्ति हो सकती है, जबकि कुछ लोगों को निषेध शब्दों को सुनकर अघात पहुँचता है। इसी प्रकार निषेध शब्दों से उत्पन्न चिन्ता या संवेगिकता का सामना करने के अपने अलग उपाय हो सकते हैं। अतः इसमें पर्याप्त व्यक्तिगत भिन्नता देखी जाती है।

प्रात्यक्षिक बल (Perceptual Accentuation)—इसका अभिप्राय यह है कि वह उद्दीपक जो व्यक्ति की आवश्यकताओं से जुड़े तथा सामाजिक सन्दर्भ में मूल्यवान होते हैं, व्यक्ति उनके आकार / महत्व का अत्यांकन (over/estimation करता है। इस विषय में ब्रूनर तथा गुडमैन (Bruner & Goodman 1947) ने प्रायोगिक साक्ष्य प्राप्त किए हैं। विभिन्न आर्थिक स्तर के दस वर्षीय बालकों को पर्दे पर पड़ती हुई गोल प्रकाशाकृति (circular light spot) को कुछ यंत्रों की सहायता से इस तरह समायोजित करना था कि यह आकृतियाँ विभिन्न सिक्कों के आकार के बराबर हो जायँ। सिक्कों का मूल्य बढ़ाया गया। जैसे-जैसे सिक्कों का मूल्य बढ़ा उसके अनुसार बच्चों द्वारा बनायी गयी आकृतियों का आकार भी बढ़ता गया। ब्रूनर तथा गुडमैन ने निष्कर्ष निकाला कि प्रयोज्यों ने सिक्कों के आकार के मूल्यांकन में अत्यांकन (overestimation) किया। यह स्थिति निर्धन परिवार के प्रयोज्यों में विशेष रूप से स्पष्ट थी। ब्रूनर तथा पोस्टमैन (1948) ने भी समान परिणाम प्राप्त किए। क्लाइन तथा अन्य (Klein et al 1951) ने देखा कि प्रयोज्यों ने सिक्कों के आकार का अत्यांकन किन्तु स्वास्तिक चिह्न का अत्यांकन नहीं किया। इसे प्रात्यक्षिक बल कहा जाता है जो सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का प्रमुख निर्धारक है। इसमें व्यक्तिगत भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

अन्तःक्रमिक तथा अन्तर्क्रमिक प्रभाव (Inter Serial & Intraserial effects) :—इन प्रभावों का अन्वेषण हेनरी ताजफेल (Henary Tajfel, 1957) द्वारा किया गया है। उसने दो प्रमुख निष्कर्ष प्राप्त किए।

उसके अनुसार अन्तःक्रमिक प्रभाव एक ही श्रेणी के उद्दीपकों के मूल्य और आकार से सम्बद्ध होता है। यदि किसी श्रेणी में दो आकार—बड़े तथा छोटे उद्दीपक प्रस्तुत करते हैं तो व्यक्ति बड़े उद्दीपकों का अत्यांकन तथा छोटे उद्दीपकों का न्यूनांकन करते हैं।

अन्तर्क्रमिक प्रभाव के विषय में उसने देखा कि दो उद्दीक श्रेणियों में से एक श्रेणी के उद्दीपक मूल्यांकन मूल्य से सम्बद्ध होते हैं। जबकि अन्य कोटि के उद्दीपक तटस्थ होते हैं। ताजफेल के अध्ययनों से विदित हुआ कि तटस्थ की

अपेक्षा मूल्यवान उद्दीपकों के विषय में निर्णय में अत्यांकन प्रदर्शित हुआ। साथ में उसने यह भी पाया कि जब उद्दीपक के आकार का सम्बन्ध धनात्मक मूल्यों से होता है तो प्रात्यक्षिक बल अपेक्षाकृत अधिक होता है किन्तु जब उद्दीपक ऋणात्मक मूल्यों से सम्बद्ध होता है तो प्रात्यक्षिक बल कम होता है।

सामाजिक सहमति (Social Consensus):—ऐश (Asch, 1952) के अनुसार सामाजिक सहमति / दबाव भी प्रत्यक्षीकरण का एक प्रमुख निर्धारक है। उसने अपने एक सुविख्यात प्रयोग द्वारा यह दर्शाया था कि समूह दबाव व्यक्तिगत निर्णय को प्रभावित करता है। उसने अपने प्रयोग में 87 में से 50 प्रयोज्यों को प्रायोगिक समूह में तथा शेष को नियंत्रित समूह में रखा। उसने प्रयोगात्मक समूह के सदस्यों को एक स्क्रीन के समक्ष अर्द्धवृत्ताकार स्थिति में बैठाकर स्क्रीन पर विभिन्न आकार की रेखाओं के आकार का तुलनात्मक अध्ययन प्रयोज्यों द्वारा कराया। बाद में एक नया प्रयोज्य प्रयोगात्मक समूह में शामिल किया गया। अन्य पुराने प्रयोज्यों के निर्णय से सहमत न होते हुए भी इस नए प्रयोज्य ने उनके समान उत्तर दिया और अपनी समझ के अनुसार सही उत्तर नहीं दिया। अतः ऐश ने प्रमाणित किया कि प्रयोज्यों का व्यक्तिगत निर्णय समूह निर्णय द्वारा प्रभावित होता है। उसके इस प्रयोग में 74% प्रयोज्यों ने दूसरों के निर्णय के प्रभाव में गलत निर्णय किया।

अध्याय 6

व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण

(Person Perception)

हमारे आस-पास दूसरे लोग भी रहते हैं। हमारे जीवन का अधिकांश भाग अन्य व्यक्तियों से अन्तःक्रिया करते हुए बीतता है। व्यक्ति की क्रियायें एवं व्यवहार उसके इर्द-गिर्द मौजूद लोगों के विषय में उसके ज्ञान और उनकी प्रत्याशाओं पर निर्भर करता है। हमारे लिये यह आवश्यक है कि अन्य व्यक्तियों की विशेषताओं, अभिवृत्तियों, इच्छाओं, प्रत्याशाओं, गुणों, उद्देश्यों और अभिप्रेरणाओं को समझें और भली प्रकार जानें, क्योंकि उनके प्रति हमारा व्यवहार इससे प्रभावित एवं निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त एक सामाजिक प्राणी होने के नाते भी मनुष्य अन्य लोगों के विषय में जानकारी चाहता है। व्यक्ति यह भी जानने के लिए उत्सुक रहता है कि अन्य लोग उसके विषय में क्या सोचते हैं—पसन्द करते हैं या नापसन्द, भविष्य में या वर्तमान समय में उसके लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं या हानिकारक, किसी कार्य के करने में सक्षम हैं अथवा नहीं, इत्यादि। व्यक्ति यह भी सोचता है और जानना चाहता है कि कोई व्यक्ति विशेष बेइमान है या इमानदार, बुद्धिमान है या मुर्ख, दिखावटी है या असली, दयालू है या निर्दयी, विनम्र है या आक्रामक आदि।

व्यक्ति इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर अन्य लोगों के साथ अन्तःक्रिया करता है और तदनुसार व्यवहार करता है। इस प्रकार यह कह सकते है कि व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार इसपर निर्भर करता है कि वह दूसरों के गुणों-अवगुणों का प्रत्यक्षीकरण कैसे करता है। इसी कारण मानव निरन्तर अपने परिवेश में विद्यमान लोगों की विशेषताओं, उद्देश्यों, मन्तव्यों, योग्यताओं, पसन्द-नापसन्द, रुचियों और अभिप्रेरणाओं के बारे में ज्ञानार्जन करने में प्रयत्नशील रहता है। हम कहीं जाते समय देखें कि एक अपरिचित व्यक्ति हमारी ओर आ रहा है, तो यह आवश्यक है कि भविष्य कथन करें कि आगन्तुक कोई भिखारी है या चोर जो हमसे कुछ मांगना चाहता है या हमारा सामान लूटना चाहता है। यदि हम उचित समय पर सही पूर्व कथन कर लेते हैं तो भविष्य में होने वाले कष्टों और विपदाओं से बच जाते हैं। अन्य लोगों के विषय में हमारा संज्ञान हमारे सामाजिक जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण है। अतः अन्य व्यक्तियों के बारे में हमारा ज्ञान हमारे लिये अति आवश्यक है। व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण में यह ज्ञान और भी महत्वपूर्ण है।

व्यक्ति-प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप एवं अर्थ

मनोविज्ञान में प्रत्यक्षीकरण का अनुप्रयोग प्रत्यक्ष संवेदी सूचनाओं की व्याख्या के रूप में करते हैं। समाज-मनोविज्ञान में अन्य व्यक्तियों के गुणों-अवगुणों की जानकारी के अर्थ में प्रत्यक्षीकरण का उपयोग किया जाने लगा है। अन्य लोगों के विषय में हमारा संज्ञान प्रत्यक्षज्ञान के अतिरिक्त सूचना प्राप्ति के अन्य कारकों पर भी निर्भर करता है—जैसे किसी व्यक्ति के विषय में अन्य लोगों के विचार, उसका धर्म, जाति निवास स्थान, तथा सामाजिक-आर्थिक स्तर आदि।

सिकार्ड तथा बेकमैन (1974) ने व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण के अर्थ को बताते हुए कहा है कि "व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण उस प्रक्रिया पर ध्यान देता है जिससे अन्य लोगों के विषय में प्रभाव, धारणायें, मत एवं अनुभूतियाँ निर्मित होती हैं।" (Person perception focusses on the processes by which impressions, opinions, or feelings about other persons are formed.") इस प्रकार व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हम अन्य व्यक्तियों के विषय में संज्ञान प्राप्त करते हैं और तदनुसार प्रभावांकन करते हैं, जो भविष्य में उनके साथ हमारी अन्तःक्रिया को प्रभावित एवं निर्धारित करता है। राबर्ट बैरन एवं डान बायर्नी (Robert Baron & Don Byrne) ने कहा है कि व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हम अपने आसपास के व्यक्तियों को समझने या जानने का प्रयास करते हैं (The process through which we attempt to understand the persons around us is known as person perception.)

दूसरों के विषय में हमारा संज्ञान मुख्यतः निम्नलिखित 3 बातों पर निर्भर करता है—

(i) दूसरों के विषय में निर्णय करने के लिये प्रत्यक्षकर्ता को उपलब्ध सूचना की मात्रा।

(ii) अन्य व्यक्ति और प्रत्यक्षकर्ता के मध्य अन्तःक्रिया की मात्रा।

(iii) अन्य व्यक्ति तथा प्रत्यक्षकर्ता के बीच स्थापित सम्बन्ध की मात्रा।

हम अपने दैनिक जीवन में अन्य लोगों के विषय में प्रभाव निर्मित करते या निर्णय करते हैं। हमारे प्रभावांकन को यह बात प्रभावित करती है कि निर्णय लेने के लिये कितनी सूचना उपलब्ध है, अन्य व्यक्ति से कितनी अन्तःक्रिया हुई है तथा उन दोनों में किस मात्रा में सम्बन्धों की स्थापना हुई है। दूसरों के बारे में हमारा निर्णय इन तीनों बातों पर निर्भर करता है। इस प्रकार व्यक्ति-प्रत्यक्षीकरण एक जटिल किन्तु महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सामाजिक अन्तःक्रियाओं को समझने में सहायता मिलती है।

प्रभावांकन के साधन
(Sources of Impression Formation)

व्यक्ति प्रत्यय आयु में वृद्धि के साथ-साथ धीरे-धीरे विकसित होते हैं। सम्भवतः आयु में वृद्धि के साथ अन्य व्यक्तियों के बारे में हमारा संज्ञान तथा सूझ-बूझ में वृद्धि होती है, जिससे दूसरों को समझने में आसानी भी बढ़ती है और उनके व्यवहार की प्रत्याशा करने की क्षमता भी। इन प्रत्ययों की प्रकार्यता (Functioning) के द्वारा अन्य व्यक्तियों को जानने और मूल्यांकित करने की प्रक्रिया में सूचना के तीन मुख्य साधन निहित होते हैं—

1. परिस्थिति (The situation)
2. उद्दीपक व्यक्ति या लक्ष्य व्यक्ति (The stimulus or target person)
3. प्रेक्षक (The observer)

1. परिस्थिति (Situation)—प्रेक्षक और परीक्षित व्यक्तियों की अन्तःक्रिया को परिप्रेक्ष्य प्रदान करने वाली परिस्थिति सूचना का एक प्रमुख साधन है। परिस्थिति के अनेक लक्षण इस विषय में महत्वपूर्ण होते हैं। हर अन्तःक्रिया दोनों व्यक्तियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। सामाजिक संज्ञान में प्रत्येक अन्तःक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह प्रायः एक प्रकार की भूमिका वर्ग (Role category) होती है, जिसके साथ हम कुछ प्रत्याशाएँ सम्बद्ध कर लेते हैं। जैसे सेल्समैन की भूमिका में व्यक्ति से यह प्रत्याशा की जाती है, वह बातचीत में नर्म, हँसमुख और सामान की प्राप्ति में ग्राहक को सहायता देगा। ज्यों ही हम किसी स्टोर में प्रवेश करते हैं, एक व्यक्ति बढ़ता है, हम उसकी पहचान सेल्समैन के रूप में करते हैं और उससे यह उम्मीद करते हैं कि वह नर्मी से पेश आयेगा, वस्तुओं को उपलब्ध करायेगा और उनके विषय में और सूचना देने में भी सहायक होगा।

ऐसी व्यावसायिक भूमिकाएँ जिनमें अधिक जन-सम्पर्क वाञ्छित होता है, हमारे मन में उन भूमिकाओं के प्रति बहुत स्पष्ट व्यवहार सम्बन्धी प्रत्याशाएँ होती हैं—जैसे माता, पिता, भाई, बहन, लड़का, लड़की, मानसिक रोगी आदि। इन भूमिकाओं के साथ भी कुछ निजी विशेषताएँ और व्यवहारपरक प्रत्यशाएँ आबद्ध होती हैं।

यह सत्य है कि भूमिका निर्वाह के समय व्यक्ति को देखकर जैसे एक पुलिस-कर्मी, सेल्समैन या अध्यापक को उनके कर्तव्य पालन के समय देखकर उनके विषय में प्रभावांकन करते हैं। यह अंशतः भूमिका प्रत्याशा के द्वारा होता है, किन्तु यह सम्पर्क बहुत ही अल्प समय के लिए होता है, जिससे हम प्रभावांकनमें गुमराह भी हो सकते हैं, क्योंकि भूमिका-प्रत्याशायें कभी-कभी व्यक्ति के वास्तविक स्वभाव को छिपा

देती है। थोड़े समय के सम्पर्क में व्यक्ति अपनी भूमिका प्रत्याशा के अनुरूप व्यवहार समय प्रायः अपने स्वभाविक व्यवहार का दमन करता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए जोन्स तथा डेविस (Jones and Davis, 1965) ने सुझाया था कि भूमिका-व्यवहार से व्यक्ति के वास्तविक जीवन के विषय में बहुत थोड़ी सूचना मिल पाती है, जबकि भूमिका से परे जो व्यवहार किये जाते हैं, व्यक्ति के विषय में कहीं अधिक सूचना प्रदान करते हैं। (In role behaviour a person produces little information about what a person is really like, while behaviour that deviates from role tells us much about him.) इस तथ्य के समर्थन में प्रायोगिक साक्ष्य भी उपलब्ध है। (Jones, Davis & Gergen, 1961; Alexander & Epsteim, 1969; Martin, 1970). लेकिन जब प्रेक्षक और परीक्षित व्यक्ति में सम्बन्ध बहुत समय से होते हैं तो भूमिका के बाहर के व्यवहार प्रभावांकन में क्षणिक विचलन मानकर छोड़ दिये जाते हैं।

परिस्थिति का एक और अभिप्राय भी है। परिस्थिति का वर्गीकरण इसका अन्तर्वस्तु के आधार पर भी करते हैं—जैसे समस्या समाधान, कार्योन्मुख परिस्थिति है या वह परिस्थिति जब कोई व्यक्ति नगर में किसी स्थान को ज्ञात करने के लिये दिशा निर्देश प्राप्त करता है कभी-कभी सम्बन्ध मात्र सामाजिक विनिमय होता है, जैसे हवाई जहाज में यात्रा कर रहे दो व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। यह कारक भी व्यक्ति के मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य में अपर्याप्त श्रम के कारण असफल रहता है तो उसे उस परिस्थिति में असफलता के लिये उत्तरदायी मानते हैं किन्तु जब कार्य के कठिन होने के कारण वह असफल रहता है तो उसे उत्तरदायी नहीं मानते, परिस्थिति के यह पक्ष भी प्रभावांकन को प्रभावित करते हैं।

2. उद्दीपक व्यक्ति या लक्ष्य व्यक्ति (Stimulus or target person)

सूचना का दूसरा साधन उद्दीपक या लक्ष्य व्यक्ति है, जिसका निरीक्षण किया जाता है। निरीक्षित व्यक्ति के रंग-रूप, उसकी क्रियायें, तथा गुणों द्वारा प्रभाव निर्मित होते हैं। निरीक्षित व्यक्ति का रंग रूप तथा गुणों का निर्धारण अनेक कारकों द्वारा होते हैं, जैसे प्रेक्षक और लक्ष्य में पूर्व अन्तःक्रिया की मात्रा, भूमिकावर्गी के अनुसार परिस्थिति के संरचित होने की मात्रा तथा अन्तःक्रिया की अन्य विशेषतायें व्यक्ति के रंग रूप और गुणों के महत्व को निर्धारित करती है। अपरिचित व्यक्ति के साथ आकस्मिक अन्तक्रिया में, व्यक्ति के रंग रूप तथा क्रियायें प्रभाव निर्माण को निर्धारित करती हैं। किन्तु जब लक्ष्य व्यक्ति पुराना परिचित या पुराना मित्र होता है, तो उसके रंग रूप या तात्कालिक गुणों का प्रभावांकन पर न्यूनतम प्रभाव पड़ता है।

3. प्रेक्षक (Observer) :—सूचना का तीसरा और अन्तिम साधन स्वयं प्रेक्षक होता है। यह प्रत्याशा कि अन्य व्यक्ति कैसा व्यवहार करेगा, उस अन्य व्यक्ति के विषय में प्रेक्षक की भावना, संज्ञान तथा मनोवृत्तियों पर निर्भर करेगा। कुछ लोग दूसरे लोगों पर विश्वास नहीं करते, जब कि अन्य व्यक्ति हर एक को विश्वसनीय समझ लेते हैं। कुछ व्यक्ति किसी से सहायता का आग्रह करने में संकोच नहीं करते, तो अनेक लोग किसी के आगे हाथ फैलाना या किसी पर निर्भर करना सर्वथा अनुचित समझते हैं। किसी व्यक्ति के किसी वर्ग विशेष के लोगों के विषय में कुछ निश्चित विचार होते हैं जैसे असभ्य, आक्रामक, दयालु, जातूनी, गन्दे आदि। कुछ लोग उनके विरुद्ध होते हैं, जो अधिकार रखते हैं। वे अपनी विरोध भावना का प्रकाशन भी अपने व्यवहार एवं क्रियाओं द्वारा करते हैं। कुछ बालक माता-पिता; अध्यापकों तथा अन्य अधिकार रखने वालों के प्रति विरोधी व्यवहार एवं अभिवृत्तियों का प्रदर्शन करते रहते हैं। इसका कारण उनकी अधिकार विरोधी अभिवृत्ति होती है।

इस क्षेत्र के शोध कर्त्ताओं ने प्रभावांकन में सहायक सूचना के तीनों साधनों पर समान रूप से ध्यान नहीं दिया है। प्रेक्षकों की सामान्य विशेषताओं की ओर अधिक ध्यान दिया गया है जबकि प्रभावांकन में प्रेक्षकों की व्यक्तिगत विशेषताओं की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। यद्यपि प्रभाव निर्माण में प्रेक्षकों की सामान्य विशेषताओं की अपेक्षा निजी गुण अधिक प्रमुख होते हैं।

सामाजिक रुढ़ियुक्तियाँ

(Social Stereotypes)

हम अपने दैनिक जीवन में अनेक व्यक्तियों के बारे में केवल यह जानते हैं कि वह अमुक संस्कृति-प्रदत्त वर्ग का सदस्य है, जैसे यह कि कोई व्यक्ति सिक्ख है, सिपाही है, या हरिजन है। अन्य सूचनाओं के अभाव में या न्यून होने पर केवल इतना संज्ञान कि वह अमुक संस्कृति प्रदत्त वर्ग के अन्तर्गत आता है, के आधार पर उसका प्रत्यक्षीकरण करने लगते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के संस्कृति प्रदत्त वर्ग की जानकारी उसके प्रत्यक्षीकरण को काफी प्रभावित करती है। जब किसी व्यक्ति के गुणों का प्रत्यक्षीकरण उसकी जाति, धर्म, देश या किसी संस्था की सदस्यता के आधार पर करते हैं तो इसे सामाजिक रुढ़ियुक्ति कहते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिन गुणों का प्रत्यक्षीकरण हम उसके संस्कृति प्रदत्त वर्ग के आधार पर कर रहे हैं, वह उसमें विद्यमान हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति पर उसके संस्कृति प्रदत्त वर्ग, जाति, धर्म या संस्था का प्रभाव पड़ता है किन्तु यह नहीं हो सकता कि व्यक्तिगत भिन्नताएँ उस पर प्रभाव न डालें। रुढ़ियुक्ति शब्द का प्रयोग

सबसे पहले वाल्टर लिपमैन (Walter Lipman, 1922) ने किया था। उसने इस शब्द का प्रयोग उन विचारों और प्रवृत्तियों को इंगित करने के लिए किया है जिन्हें उद्दीप्त करने पर उसी प्रकार की विभिन्न प्रतिमाएँ मानसिक स्तर पर सृजित होती हैं।

किन्तु आधुनिक समाज मनोविज्ञान में व्यक्ति के संस्कृति प्रदत्त वर्ग के रूप में होता है, जिसके अन्तर्गत वह आता है। हमें इस आधार पर उसके विषय में थोड़ी सूचना उपलब्ध होती है और हम उसके विषय में अनेक बातें न जानते हुए भी केवल उसके संस्कृति प्रदत्त वर्ग विषयक ज्ञान के आधार पर उसका मूल्यांकन करते हैं। यह व्यक्ति वर्ग व्यक्तियों के मूल्यांकन में मौलिक स्थान रखते हैं। इस प्रकार के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित मूल्यांकन उन व्यक्तियों के साथ हमारी अन्तक्रिया को भी प्रभावित करते हैं। इस प्रकार किसी व्यक्ति के वर्ग, जाति या धर्म मात्र की जानकारी के आधार पर व्यक्ति का प्रभावांकन या मूल्यांकन रूढ़ियुक्ति कहलाता है। सिकार्ड तथा बैकमैन (Secord & Backman, 1974) के अनुसार "जब व्यक्ति के विषय में अन्य सूचनाएँ न्यूनतम होती हैं, ऐसा ज्ञान (वर्ग का) प्रभावशाली रूप में उसके विषय में हमारे प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करता है। यह व्यक्ति वर्ग व्यक्तियों के बारे में हमारे मूल्यांकन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और उनके साथ हमारी अन्तःक्रिया को भी प्रभावित करते हैं। इन्हीं व्यक्ति वर्गों को सामाजिक रूढ़ियुक्त कहते हैं।" (Where other information about him is minimal, such knowledge strongly affects our evalulation of him. These person—categories oecupy a fundamental place in our evaluation of persons and in our interactions with them. If the focus of interest is on evaluation, the person category is generally thought of as a social stereotype".)

Schuttz (1964) ने हमारे दैनिक जीवन में व्यक्तियों के वर्गीकरण के महत्व को दर्शाते हुए कहा है कि "An individual uses a whole network of typifications. The sum-total of these typifications constituete a frame of reference in terms of which, not only socio cultural, but also the physical world has to be interpreted". उनके अनुसार व्यक्तियों का वर्गीकरण अपरिहार्य है, क्योंकि जीवन में इसकी प्रकार्यात्मक (Functional) उपयोगिता है।

किम्बल यंग (Kimball Young, 1960) ने कहा है कि "रूढ़ियुक्ति को सर्वोत्तम रूप से परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि यह एक मिथ्या वर्गी-

करण करने वाला प्रत्यय है, जिसके साथ पसन्द, नापसन्द, स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रबल सांवेगिक भाव सम्बद्ध रहता है।'

(It is best to define it as false classification concept to which as a rule, some strong emotional feeling tone of like, dislike, approval or disapproval is attached".)

यह परिभाषा रूढ़ियुक्ति की दो विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। प्रथम यह कि रूढ़ियुक्ति गलत वर्गीकरण उत्पन्न करती है। द्वितीय इसका सम्बन्ध पसन्द, नापसन्द, स्वीकृति या अस्वीकृति की भावना से होता है।

कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy, 1961) के अनुसार "व्यापक रूप में रूढ़ियुक्ति को त्रुटिपूर्ण या गलत वर्गीकरण करने वाले प्रत्यय के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जिसमें व्यक्तियों को अन्य समूहों के विषय में कोई प्रबल सांवेगिक भाव जुड़ा रहता है।" (In a broad way, we can define the stereotypes as a false classificatory concept with strong feeling tones regarding other groups of people)"

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि रूढ़ियुक्ति का अर्थ किसी व्यक्ति या समूह के विषय में एक गलत या त्रुटिपूर्ण धारणा है जिसमें उसके वर्ग, धर्म या जाति के आधार पर धारणायें निर्मित करते हैं। इससे प्रबल सांवेगिक भाव जुड़े रहते हैं। उदाहरण के लिए नीग्रोज जो संगीत प्रेमी, जर्मनों को उद्यमी, मास्टर को निर्धन और दया का पात्र, ब्राह्मण को मूर्ख (पोंगा पंडित) हरिजन को गन्दा, चीनी को क्रूर आदि कहते हैं।

रूढ़ियुक्तियों की प्रकृति

(Nature of Stereotypes)

समाज-वैज्ञानिकों ने रूढ़ियुक्तियों के अध्ययन में विशेष रुचि प्रदर्शित की है। रूढ़ियुक्तिकरण एक सामाजिक-सांस्कृतिक गोचर है, क्योंकि यह एक संस्कृति के सभी लोगों में लगभग समान रूप से पायी जाती है। रूढ़ियुक्तिकरण में लोग सामान्य रूप से तीन क्रियायें करते है, जिन्हें रूढ़ियों की विशेषता भी कहते हैं—

(i) व्यक्तियों का वर्गीकरण, या श्रेणीकरण,

(ii) प्रदत्त गुणों पर सहमति,

(iii) प्रदत्त एवं वास्तविक गुणों में विसंगति।

1. व्यक्तियों का श्रेणीकरण—रूढ़ियुक्तिकरण में लोग सर्वप्रथम व्यक्तियों का श्रेणीकरण करते हैं जैसे पुलिसमैन, या हिप्पीज। विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-

भिन्न लक्षण या गुण भिन्न-भिन्न मात्रा में देखे जाते हैं। व्यक्तिगत भिन्नता के कारण कोई भी दो व्यक्ति दूसरे के बिल्कुल समान नहीं होते। किन्तु विभिन्न समूहों, समुदायों, आदि की पहचान के लिए समाज कुछ गुणों का चयन कर लेता है। ये लक्षण या गुण व्यक्तियों के भौतिक विशेषताओं—जैसे मुखाकृति की बनावट, आयु, यौन, विशेष वेश-भूषा या प्रजातीय लक्षण हो सकते हैं। यह गुण, समूह की सदस्यता, संगठन या समाज जैसे व्यवसायिक, धर्म या राष्ट्रीयता से भी सम्बद्ध हो सकते हैं या यह व्यवहार के कुछ विशिष्ठ संरूपों पर आधारित हो सकते हैं। कैम्पबेल तथा लेवाइन (Campbell & Levine) के संकेतानुसार किसी गुण के विषय में दो समूहों में जितना अधिक विरोध होता है, उस गुण के रूढ़ियुक्ति प्रतिमा में अभिव्यक्त होने की सम्भावना भी उतनी ही अधिक होती है। इस प्रकार रूढ़ि-युक्तियाँ व्यक्ति की मात्र वह अनुक्रियायें हैं, जो वह यह जानने के बाद करता है कि वह व्यक्ति विशेष अमुक वर्ग या श्रेणी से सम्बद्ध है, अर्थात् केवल किसी व्यक्ति की श्रेणी का ज्ञान होने पर उसका मूल्यांकन रूढ़ियुक्ति कहलायेगा। अतः रूढ़ियुक्ति एक विशिष्ठ प्रकार का श्रेणीकरण है जिसमें केवल किसी समूह या वर्ग के अन्तर्गत व्यक्ति की सदस्यता का ज्ञान पर्याप्त समझा जाता है। इस ज्ञान के आधार पर यह मान बैठता है कि उस श्रेणी के सभी गुण उस व्यक्ति में मौजूद हैं।

बेवन, कैट्ज और सिकार्ड (Bevan & Kitz, 1956; Secord, 1959) ने अपने अध्ययनों में प्रयोज्यों के समक्ष चित्र प्रस्तुत किये। उन चित्रों में जातीय लक्षणों से सम्बद्ध गुण अगले चित्रों में धीरे-धीरे कम होते हुए दर्शाये गये। परिणामों से ज्ञात हुआ कि यदि प्रयोज्य ने चित्र के व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण किसी विशिष्ठ प्रजाति के सदस्य के रूप में किया तो, चाहे प्रजातीय गुण स्पष्ट रूप में व्यक्त न हों तो भी वे उस प्रजाति से सम्बद्ध सभी रूढ़ियुक्ति गुण उसमें आरोपित कर देते हैं। अतः श्याम त्वचा वाला होने पर श्वेत लोग किसी व्यक्ति की रूढ़ियुक्ति का लक्ष्य बनाते हैं, या इसके विपरीत किसी की श्वेत त्वचा उसके प्रति श्वेतों को प्रदत्त सभी गुण आरोपित करने के लिए पर्याप्त होती है।

2. प्रदत्त गुणों में सहमति—रूढ़ियों की एक अन्य विशेषता यह है कि बिना सोचे समझे किसी श्रेणी विशेष के सदस्यों में लगभग एक तरह के लक्षणों का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। किसी वर्ग या समूह के व्यक्तियों में यदि किसी प्रकार की एक पहचान भी होने पर प्रायः यह मान लेते हैं कि उसका व्यवहार एक जैसा होगा। उदाहरण के लिये हम सभी ऐसे युवकों को, जिनके कपड़े गन्दे-फटे हुए हों और बाल बढ़े हुए हों, एक श्रेणी में रखते हैं, और उन्हें 'हिप्पी' कहते हैं। हिप्पीज के विषय में यह धारणा रखते हैं कि ये सभी प्रकार के अधिकारों के प्रति

विद्रोह भावना रखते हैं और अभौतिकवादी हैं। वृद्ध व्यक्तियों को रूढ़िवादी, पुराने विचारों वाले, तथा पुराने फैशन का मानने हैं, तो प्रोफेसरों को शून्यचित्त (Absentminded) । ऐसी ही यह धारण भी है कि भारतीय धार्मिक एवं आध्यात्मवादी होते हैं। यह कहना कि सभी भारतीय धार्मिक आध्यात्मवादी होते हैं, निर्णय या आरोपित गुणों में सहमति का परिचायक है, जो रूढ़ियुक्ति की दूसरी प्रमुख विशेषता है। प्रदत्त गुणों में सहमति का अभिप्राय यह है कि ऐसे सभी व्यक्तियों में जो रूढ़ियुक्ति का शिकार होते हैं, उस विशिष्ठ श्रेणी के शीलगुणों में सहमति होती है।

कैट्ज तथा ब्रेली (Katz & Braly, 1932), गिलबर्ट (Gilbert, 1951), और कार्लिन, कॉफमैन तथा वाल्टर्स (Karlin Coffman & Walters, 1967) के अध्ययन परिणाम रूढ़ियों में सहमति को अलंकृत करते हैं। 10 प्रजातीय समूहों की सूची जिसमें 84 शब्दों द्वारा व्यक्तिगत विशेषताएँ दी हुई थीं, प्रस्तुत करने पर 100 प्रयोज्यों ने उस सभी विशेषताओं को चिह्नित किया जो किसी प्रजातीय समूह के शीलगुण माने जाते थे। प्रयोज्यों के मूल्यांकन में श्रेणी विशेष के शील गुणों में सहमति की पुष्टि हुई।

3. प्रदत्त एवं वास्तविक गुणों में विसंगति—रूढ़ियों के स्वरूप की चर्चा से यह स्पष्ट है कि रूढ़ियाँ अंशतः असत्य होती हैं। इसका कारण यह है कि रूढ़ियों में किसी व्यक्ति के गुणों को अत्यधिक सामान्यीकृत कर देते हैं। अतः वे गुण, जो आरोपित किये जाते हैं, किसी व्यक्ति में वास्तव में होते ही नहीं हैं। प्रदत्त एवं वास्तविक गुणों की विसंगति रूढ़ियों के स्वभाव में ही निहित होती है। किसी श्रेणी के कुछ व्यक्तियों में उपस्थित गुण उस श्रेणी के सभी व्यक्तियों में आरोपित कर दिये जाते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी समूह के सभी सदस्यों में समान गुण होंगे। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में दूसरे व्यक्तियों से भिन्न होता है, इसलिए जिन गुणों के आधार पर रूढ़ियाँ निर्मित होती हैं, वे भी उस वर्ग के सभी व्यक्तियों में समान रूप में नहीं विद्यमान होती। जैसे यह रूढ़ियुक्ति कि सिक्ख अक्खड़ी होते हैं या आतंकवादी हैं। सभी सिक्ख न तो अक्खड़ी होते हैं, न तो सारे आतंकवादी हैं। अधिकांश सिक्ख भी वैसे ही राष्ट्रप्रेम रखते हैं जैसा कि अन्य भारतीय रखते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि रूढ़ियों के आरोपित गुण उस वर्ग या श्रेणी के सभी व्यक्तियों में समान रूप में नहीं होते। जो प्रत्यक्षकर्ता व्यक्तियों में व्यक्तिक भिन्नताओं की उपस्थिति से अवगत होते हैं, वे रूढ़ियों के प्रभाव से किसी हद तक परिचित होते हैं और उनके प्रत्यक्षीकरण में अशुद्धि की सम्भावना अपेक्षाकृत कम होती है। किन्तु जो लोग एक वर्ग के सभी व्यक्तियों में कुछ गुण आरोपित करते हैं; उनके प्रत्यक्षीकरण में अशुद्धि की

सम्भावना अधिक होती है । प्रत्यक्षीकरण की इन अशुद्धियों के दो मुख्य कारण हैं। पहली किसी वर्ग या समूह के विषय में धारणा निर्मित करते समय विभेदन करने की योग्यता, और दूसरी, उस आदमी का अशुद्ध प्रत्यक्षीकरण जिसके प्रति रूढ़ियाँ निर्मित करने वाला व्यक्ति अन्तःक्रिया करता है। जब किसी व्यक्ति के विषय में मात्र यह जानते हैं कि वह अमुक श्रेणी का है, तथा अन्य सूचनाओं का अभाव होता है, तो व्यक्तिगत भिन्नताओं की भूमिका उसकी दृष्टि से ओझल हो जाती है और ऐसी दशा में उसके प्रति प्रतिक्रियायें उस विशेष व्यक्ति के प्रति न होकर उस वर्ग के प्रति होती हैं जिसका वह सदस्य है। हाटर्ले (1946), ब्रूनर तथा अन्य (1954) ने अपने अध्ययनों द्वारा चर्चित तथ्यों की पुष्टि की है।

उद्दीपक व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करने वाले कारकों में एक प्रमुख कारक है उद्दीपक व्यक्ति तथा प्रेक्षक के बीच अन्तर्क्रिया या मुखोन्मुख (Face to face) सम्बन्ध। प्रायः हम जब किसी व्यक्ति से अन्तर्क्रिया करते हैं अनेक गलत धारणायें हमारे दिमाग से निकल जाती हैं, अर्थात् रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों का प्रभाव अन्तर्क्रिया के कारण घटता जाता है और तदनुसार श्रेणीकृत अनुक्रिया का प्रभाव भी कम होता है। रूढ़ियों का प्रभाव, ज्ञान की वृद्धि के कारण दब जाता है।

रूढ़ियों का एक और पक्ष भी है। रूढ़ियों के कारण किसी विशेष वर्ग के लोगों में देखी जाने वाली विशेषताओं के विषय में प्रत्यक्षकर्त्ताओं की सहमति की उत्पत्ति कुछ विशेष सामाजिक प्रक्रियाओं के कारण होती है जो उस वर्ग के विषय में एक निश्चित दिशा में सोचने के लिये अभिप्रेरित करती है। यही सहमति रूढ़ियों का आधार होती है।

रूढ़ियों की सत्यता-असत्यता

(Truth or Falsity of Stereotypes)

समाज–मनोवैज्ञानिक रूढ़ियों की असत्यता पर बल देते हैं, अर्थात् रूढ़ियों को असत्य मानते हैं। इसकी परिभाषा में भी इसकी अशुद्धता व्याप्त है। जब परिभाषा में यह कहते हैं कि रूढ़ियों का अर्थ किसी व्यक्ति के विषय में मात्र श्रेणी की जानकारी के आधार पर यह समझना कि उस श्रेणी के सभी गुण व्यक्ति में मौजूद होंगे। इससे स्पष्ट है कि रूढ़ियुक्त शीलगुण किसी श्रेणी के सभी लोगों में समान रूप से विद्यमान नहीं होते। अतः रूढ़ियों को अतिशयोक्तिपूर्ण और भ्रामक माना जाता है। रूढ़ियों के एक लक्षण—"कि किसी समूह की सदस्यता शीलगुणों के आरोपण के लिये पर्याप्त है" में ही यह बात निहित है कि रूढ़ियाँ प्रायः अशुद्ध होती है। जब प्रेक्षक को व्यक्ति की सांस्कृतिक पहचान के अतिरिक्त अन्य सूचनाओं का अभाव होता है तो वह व्यक्तिगत भिन्नताओं की उपेक्षा करके निर्णय करने के

लिये बाध्य होता है। अतः अधिकांश रूढ़ियाँ अतिशयोक्तिपूर्ण और अति सामान्यीकरण पर आधारित होती हैं। यह तथ्य अनेक अध्ययनों के परिणामों (G. W. Allport, 1955, Katz & Stotland, 1959, Lindgren 1969) से स्पष्ट हुआ है। यह या तो अतिशयोक्तिपूर्ण होती हैं या पूर्णरूप से निराधार। तर्क के आधार पर यह प्रायः गलत होती हैं। रूढ़ियाँ, अतार्किक, अनुपयुक्त एवं अति सामान्यीकृत ज्ञान पर आधारित होने के कारण झूठी होती हैं।

हम प्रायः देखते हैं कि दो समूहों में एक सी विशेषतायें होते हुये भी प्रत्येक समूह के लोग अपने गुणों को अच्छे शब्दों में तथा अन्य लोगों के लक्षणों को खराब शब्दों में वर्णित करते हैं।

किन्तु कुछ समाज-शास्त्रीय तथ्य यह संकेत देते हैं कि रूढ़ियाँ बिलकुल निराधार नहीं होतीं, वरन् उनमें सत्यता का थोड़ा अंश होता है जिसे अतिरंजित कर देते हैं। मानव शास्त्रीय अध्ययनों से प्रमाणित हुआ है कि अनेक रूढ़ियाँ वास्तविक विशेषताओं पर आधारित होती है (Campbell, 1967) अतः हम कह सकते हैं कि कुछ रूढ़ियों में सत्यता का अंश होता है, जिसे लोग भाषा शैली के लोच द्वारा तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। इस तरह आरोपित गुण कुछ मात्रा में विद्यमान हो सकते हैं, क्योंकि समाज रूढ़ियों के पनपने और विकसित होने की उपयुक्त दशाएँ प्रदान करता है।

गुणारोपण सिद्धान्त
(Attribution Theories)

दूसरों की भावनाओं तथा व्यवहार का ज्ञान प्रभावपूर्ण अन्तर्क्रिया में सहायक होता है। हम प्रायः अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाकृत स्थापित विशेषताओं को जानने में रुचि रखते हैं। इनमें भी व्यवहार के कारणों का ज्ञान प्राप्त होता है और व्यवहार के कारणों को जानने में, समाज-मनोवैज्ञानिक सामान्य रुचि रखते हैं। किन्हीं विशेष दशाओं में किसी व्यक्ति या व्यक्तियों ने कोई व्यवहार क्यों किया ? वह प्रक्रिया जिससे हम व्यवहार के कारणों को जानने का प्रयत्न करते हैं, गुणारोपण कहलाती है। अनेक दशकों से यह समाज मनोवैज्ञानिकों की रुचि का केन्द्र रही है। कोई व्यक्ति बहुत मैत्रीपूर्ण और दयालु है तो अन्य बड़ा क्रूर, कंजूस, या उदार क्यों हैं ? हम किसी के आन्तरिक विचारों को तो नहीं जान सकते, किन्तु हम उसके व्यवहार के निरीक्षण से कुछ तथ्यों तक अवश्य पहुँच सकते हैं। कोई बात या कोई चीज क्यों होती है, के विषय में लोगों के विश्वासों का अध्ययन गुणारोपण सिद्धान्त करते हैं। (Attribution theory is the study of people's belief's about why things happen.—Perlman & Cozby; 1983)

चूँकि गुणारोपण एक जटिल प्रक्रिया है, अतः अनेक सिद्धान्तों का विकास मानव व्यवहार के कारणों के समझने के लिये हुआ है। इनमें कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा की जायगी।

तुलनात्मक अनुमान का सिद्धान्त
(Theory of Correspondent Inference)

इस सिद्धान्त के विकास का श्रेय जोन्स तथा डेविस (Edward, E, Jones & Keith E. Davis, 1965) को है। तुलनात्मक अनुमान से क्या अभिप्राय है? किसी के विषय में किया गया अनुमान तुलनात्मक उस समय कहलाता है जब कर्त्ता की क्रियाओं और व्यक्तित्व शीलगुणों (दोनों के लिये) समान विशेषणों का प्रयोग किया जा सके, अर्थात् जब कोई प्रेक्षक किसी कर्त्ता की मात्र एक क्रिया को देखकर कुछ ऐसे लक्षणों का गुणारोपण कर सके। जो उसकी क्रियाओं के समान हो, तो इसे तुलनात्मक गुणारोपण कहा जाता है। इस तरह किसी प्रकार का गुणारोपण, उतने ही विश्वास से किया जाएगा, तुलनात्मकता जितनी अधिक होगी। एक उदाहरण द्वारा तुलनात्मक गुणारोपण स्पष्ट हो सकता है। मानलें दो व्यक्ति "अ" और "ब" आपके कार्यालय में आए। "ब" से "अ" को धक्का लगा और "अ" गिर पड़ा। क्या आप "ब" के व्यवहार को देखकर उसके व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओं का गुणारोपण कर सकते हैं? क्यों आप "ब" को आक्रामक, असभ्य या अवांछनीय कह सकेंगे? यदि उसका उक्त व्यवहार आपको "असभ्य" लगता है, और इसके अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व में असभ्यता के शीलगुणों का आभास होता है, तो यह अनुमान तुलनात्मक होगा। जब प्रेक्षक किसी व्यक्ति की केवल एक क्रिया को देखकर उसके व्यक्तित्व के कुछ ऐसे लक्षणों का गुणारोपण करे जो उसकी क्रियाओं के बिल्कुल अनुरूप हो, तो ऐसे अनुमान को तुलनात्मक कहते हैं तुलनात्मक की मात्रा जितनी अधिक होगी, गुणरोपण में विश्वास की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी।

अनुमान की प्रक्रिया के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक क्रिया के कुछ परिणाम होते हैं। हमारे उदाहरण में मानलें 'ब' द्वारा 'अ' को धक्का देने के दो परिणाम होते हैं। (i) गिरते समय 'अ' का कलम गिर पड़ा, (ii) 'अ' जहाँ गिरा मेज पर वहीं काँच का गुल्दान रखा हुआ था। यदि प्रेक्षक यह समझता है कि 'ब' ने 'अ, को जानबूझकर गिराया था, तो 'ब' के व्यक्तित्व का गुणारोपण सरल होगा। अनुमान ऐसी दशा में तुलनात्मक हो सकते हैं, क्योंकि प्रेक्षक समझता है कि 'ब' ने 'अ' को उपरोक्त परिणामों की प्राप्ति के लिये गिराया था। परन्तु यदि प्रेक्षक का विचार यह है कि 'ब' ने 'अ' को नहीं देखा था और अनजाने में धक्का लगा था, तो गुणारोपण में उन परिणामों को आधार नहीं बनाएगा। दूसरी दशा

में अनुमानों में तुलनात्मकता की मात्रा कम मानी जाएगी, क्योंकि चर्चित परिणाम 'ब' के व्यक्तित्व से प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध नहीं हैं। इस स्थिति में प्रेक्षक 'ब' में असभ्यता, आक्रामकता आदि विशेषताओं का गुणारोपण नहीं कर सकेगा। हाँ, उसे 'असावधान' की संज्ञा दे सकता है।

अनुमान प्रक्रिया की विस्तृत व्याख्या से संकेत मिलता है कि गुणारोपण—प्रक्रिया में कर्त्ता की क्रियाओं में निहित "उद्देश्यों" का बोध प्रेक्षक में सहायक होता है। अनुमान प्रक्रिया पर दृष्टपात करने से कर्त्ता के उद्देश्यों को जान सकते हैं तथा परिणामों से हम निर्णय करते हैं कि उसमें (कर्त्ता) किन परिणामों को उत्पन्न करने की योग्यता और ज्ञान है। इसी के द्वारा कर्त्ता के 'उद्देश्यों' (Intentions) का निर्णय किया जा सकता है। हमारे पूर्व चर्चित उदाहरण में, मानलें, 'ब' 'अ' को ढकेलने के बाद उसके कीमती कलम को गिरते समय ध्यान से देख रहा था। उसकी नजर से लालच का संज्ञान भी हो रहा था। 'ब' की ऐसी क्रियाओं से प्रेक्षक निर्णय करता है कि उसने 'अ' को अवश्य ही जानबूझकर गिराया था, तो वह यह भी सोच सकता है कि 'ब' असावधान, आक्रामक या असभ्य ही नहीं वरन् गिरहकट या जेबकतरा है और 'अ' को गिराने का उद्देश्य उसकी जेब काटना था।

कर्त्ता के 'उद्देश्यों' का अनुमान करने के बाद, अगली प्रक्रिया—'स्वभाव' (Disposition) का अनुमान करते हैं। दुर्भाग्य से इस तथ्य की ओर लेखकों ने कम ध्यान दिया है। जोन्स के अनुसार अन्य व्यक्ति के व्यवहार स्वभावपरक कारणों का अनुमान करने की प्रवृत्ति इस बात से भी प्रभावित होती है कि हम शुरुआत में कर्त्ता से किन क्रियाओं की अपेक्षा करते हैं (जोन्स एवं मेकगिल्लिस, 1976) यदि कर्त्ता प्रत्याशा के विपरीत व्यवहार करता है तो प्रेक्षक इसका कारण कर्त्ता के व्यक्तित्व में तलाश करता है। यदि हम उस अप्रत्याशित व्यवहार के परिप्रेक्ष्य से अवगत होते हैं तो हमारा गुणारोपण अधिक सबल होगा।

गुणारोपण में निहित तुलनात्मक अनुमान पर चर्चित कारकों के अतिरिक्त अनेक अन्य कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। यह कारक तुलनात्मक अनुमान की प्रबलता का निर्धारण करते हैं। किसी अनुमान में हमारे विश्वास की मात्रा क्रिया के दो प्रमुख कारकों के अनुसार परिवर्तित होती है। प्रथम हैं, क्रिया द्वारा उत्पन्न परिणामों की संख्या और द्वितीय क्रिया की सामाजिक वांछनीयता। मानलें आप सफल चिकित्सक हैं। आपको बम्बई में नई नौकरी मिलती है। आप इस समय बनारस में हैं, तो आप विभिन्न विकल्पों पर विचार करते हैं और बम्बई जाने का निर्णय करते हैं। बम्बई जाने की क्रिया के अनेक परिणाम हो सकते हैं। (i) रहने के लिए एक अच्छा फ्लैट

(ii) चिकित्सक की अच्छी नौकरी, (iii) अधिक धन कमाने का अवसर। दूसरी ओर बनारस में ही रहने पर, (i) रहने के लिये मकान, (ii) एक औसत दर्जे की नौकरी (iii) सामान्य आमदनी। इस उदाहरण में प्रथम दो स्थितियाँ समान है, तीसरी स्थिति में अन्तर है, अतः दो परिणाम समान और तीसरा असमान है। इस तरह तीसरे परिणाम के आधार पर ही हम गुणारोपण करेंगे, जो असमान है। जोन्स एवं डेविस (1965) के विचार में कर्त्ता की क्रियाओं से उत्पन्न 'असमान परिणामों' की सम्भावना जितनी कम होती है, उसका गुणारोपण उतना ही सहज और विश्वास पूर्ण हो सकेगा। दूसरी ओर असमान परिणामों की संख्या जितनी अधिक होगी, कर्त्ता के उद्देश्यों तथा उसकी निजी विशेषताओं का संज्ञान भी उतना ही जटिल एवं अविश्वसनीय होता जायगा।

सारांश के रूप में कह सकते हैं कि जोन्स और डेविस के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के व्यवहार से स्थिर शीलगुणों का आभास होता है अर्थात् उनके विषय में उस समय तुलनात्मक अनुमान करने की सम्भावना होती है जब यह क्रियायें (i) स्वतन्त्र चयन द्वारा घटित होती हैं, (ii) असमान परिणाम प्रदान करती हैं और (iii) सामाजिक वांछनीयता में भिन्न होती हैं। (According to this theory proposed by Jones and Davis, when other's behaviour produces non common effects, appears to be freely chosen, and is low in social desirability, we attribute it to their traits of personal dispositions.

कारणात्मक गुणारोपण (Causal Attribution)—हेराल्ड केली (Harold Kelley, 1969, 1971) कारणात्मक गुणारोपण में विश्वास करता था। मान लें आप किसी सामाजिक संगठन की सदस्यता हेतु आवेदन करते हैं जो रद्द कर दिया जाता है, या अप्रत्याशित पदोन्नति आपको मिलती है। इन दो परिस्थितियों में आपके मन में क्या प्रश्न उठते हैं? ऐसी दशा में सामान्य लोगों के मन में आने वाला उत्तर होता है, "क्यों?" आपको आश्चर्य होगा कि सामाजिक संगठन ने आपका सदस्यता आवेदन क्यों रद्द कर दिया, या आपका बास क्यों आपको पदोन्नति दे रहा है। जीवन की अनगिनत परिस्थितियों, हमारे समक्ष यह केन्द्रीय या प्रमुख गुणारोपण-संकृत्य होता है। हम प्रायः जानना चाहते हैं कि अन्य व्यक्तियों ने कोई व्यवहार क्यों किये। ऐसे ज्ञान का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि यदि हम उनके व्यवहार या क्रियाओं के पीछे निहित कारणों को जानने के बाद, उसके अनुसार अनेक व्यवहार को अभियोजित कर सकते हैं, और अपने सामाजिक जगत को सार्थक रूप दे सकते हैं। अन्य व्यक्ति के व्यवहार के दो कारण हो सकते हैं : (i) आन्तरिक कारण, (ii) बाह्य कारण। जब व्यवहार, किसी कर्त्ता

के व्यक्तित्व की निजी विशेषताओं—प्रेरकों, रुचियों, मन्तव्यों या उद्देश्यों द्वारा उत्पन्न होता है, तो क्रिया का कारण आन्तरिक माना जाता है। किन्तु जब क्रिया का कारण सामाजिक या भौतिक वातावरण में निहित होता है, तो इसे क्रिया का बाह्य कारण कहते हैं। इस प्रकार गुणारोपण करते समय प्रेक्षक यह सोचता है कि कर्त्ता की यह क्रिया क्या उसके व्यक्तित्व की किसी स्थाई गुण का परिणाम है या परिस्थिति विशेष में निहित किसी कारक के कारण हुई। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि कर्ता को प्रदत्त अपेक्षाकृत स्थायी विशेषता में शुद्धता तभी सम्भव है, जब उसकी क्रियाओं का कारण स्वयं उसके व्यक्तित्व में निहित हो। यहाँ समस्या यह आती है कि ऐसी कौन-सी प्रक्रियाएँ हैं, जिनसे किसी व्यक्ति की क्रियाओं के कारणों का निर्धारण होता है। अपने सिद्धान्त में केली ने इन्हीं प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

केली के अनुसार प्रेक्षक एक वैज्ञानिक के समान है, जो व्यक्ति की क्रियाओं के द्वारा उनके कारणों का संज्ञान करता है। मान लें एक चुटकुला आप सुनाते हैं; जिसे सुनकर एक विद्यार्थी जोरों से हँस पड़ता है। प्रेक्षक यह जानना चाहता है कि विद्यार्थी के हँसने का कारण क्या था? क्या वह स्वभाव से हँसमुख है या हास्य के प्रति अधिक संवेदनशील है या वह चुटकुला (जोक) ही इतना हास्यपूर्ण था कि हँसी को नहीं रोक सका। जब यह निश्चित कर लेंगे कि वह विद्यार्थी अपने हास्य के प्रति अधिक संवेदनशीलता के कारण हँसा, तब उसके व्यक्तित्व का गुणारोपण हो सकेगा। केली के अनुसार गुणारोपण हेतु निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक होगा।

(i) यह बालक क्या अन्य सभी चुटकुले सुनकर भी वैसे ही जोर से हँसता है? या केवल उसी चुटकुले को सुनकर हँसा था? यदि वह हास्य के प्रति अति संवेदनशील है तो सभी चुटकुले उसमें हास्य उत्पन्न करेंगे, लेकिन यदि वह केवल उसी चुटकुले को सुनकर खिलखिला कर हँसा था तो उसके हास्य का कारण उस चुटकुले (बाह्य परिस्थिति) में निहित है, न कि बालक के व्यक्तित्व में।

(ii) क्या उस कक्षा में उपस्थित सभी विद्यार्थी उस चुटकुले को सुनकर हँसे थे? यदि ऐसा था तो उसकी हँसी का कारण बाह्य वातावरण में निहित था।

(iii) क्या उसी के समान कोई अन्य चुटकुला सुनकर वह विद्यार्थी हँसता है? यदि नहीं तो हँसी का कारण बाह्य वातावरण में है और व्यक्तित्व में नहीं निहित है। इस प्रकार (Kelly) के अनुसार कारणात्मक गुणारोपण करते समय प्रेक्षक तीन बातों को ध्यान में रखता है—

(1) पृथक्कीकरण (Distinctiveness)—प्रथम मौलिक कारक है जो

व्यवहार या क्रिया के कारण को समझने में अति आवश्यक है। इसकी मात्रा अधिक होने का अभिप्राय बाह्य गुणारोपण होता है, जिसकी चर्चा कुछ समय पूर्व चुटकुले वाले उदाहरण के प्रथम बिन्दु के अन्तर्गत की जा चुकी है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्त्ता उसी प्रकार की अनुक्रिया अन्य उद्दीपकों या घटनाओं के प्रति करता है। यदि हाँ तो किस मात्रा में।

(2) सहमति (Consensus)—क्या सभी व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करते हैं, जैसे हमारे चुटकुले वाले उदाहरण में कहा गया है? क्या उस चुटकुले को सुनकर कक्षा के सभी छात्र छात्राएँ हंसने लगे थे? यदि अनुक्रिया, सभी की सहमत अनुक्रिया है, तो इसकी सम्भावना अधिक होगी कि व्यवहार (हँसी) उस चुटकुले के कारण हुआ? यदि केवल एक ही छात्र हँसा, अन्य चुप रहे तो इसका तात्पर्य यह होगा कि उसकी हँसी का कारण उस छात्र के व्यक्तित्व में निहित है। उच्च सहमति (उदाहरण में सभी छात्रों का हँसना) से बाह्य गुणारोपण उत्पन्न होता है जब कि क्रिया की विशिष्टता से आन्तरिक गुणारोपण उत्पन्न होता है।

(3) संगति (Consistency)—क्या उसी के समान अन्य चुटकुले भी उस छात्र में वैसी ही हँसी व्यस्फुटित करते हैं। यदि "हाँ", तो उसमें संगति होगी, यदि "नहीं" तो संगति का अभाव होगा। उच्च संगति, आन्तरिक एवं बाह्य गुणारोपण के लिये अति आवश्यक है।

केली (Kelley) के अनुसार गुणारोपण के समय तुलनात्मक अनुमान के सिद्धांत में चर्चित मानसिक प्रक्रियायें क्रियाशील होती हैं। जोन्स व डेविस (1965) जोन्स, डेविस एवं गरगेन (1961) तथा मैकार्थर (1972) ने केली प्रारूप (Kelley's model) के आधार पर प्रायोगिक जाँच के पश्चात् केली के कारणात्मक गुणारोपण का सामान्य समर्थन किया।

हीडर (Heider, 1944, 1958) ने केली के सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए एक शोधपत्र में कहा है कि इस सिद्धान्त में गुणारोपण करते समय परिस्थिति जन्य कारकों की उपेक्षा की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। कारणात्मक गुणारोपण सिद्धान्त व्यवहार के कारणों को व्यक्तित्व में तलाश करता है। जोन्स तथा हैरिस (1967) ने एक प्रयोग के पश्चात स्वयं भी इस न्यूनता को स्वीकार किया है।

सफलता और विफलता का गुणारोपण

(Attribution of Success & Failure)

बर्नार्ड वाइनर (Bernard Weiner) ने गुणारोपण के एक ऐसे प्रारूप का विकास किया है जो व्यवहार के अत्यधिक विशिष्ठ क्षेत्रों की ओर इंगित करता है। इस प्रकार का गुणारोपण वह है जो सफलता और विफलता की अनुभूतियों

में निहित होता है। इसमें किसी कार्य विशेष में व्यक्ति की सफलता या असफलता का स्पष्टीकरण देते हैं। प्रेक्षक, कर्त्ता द्वारा प्राप्त सफलता और असफलता का गुणारोपण करता है (वाइनर तथा अन्य, 1971) और उसी के अनुसार उसके व्यक्तित्व शील गुणों का गुणारोपण किया जाता है। उदाहरण के लिए क्रिकेट के एक खिलाड़ी ने पृथ्वी पर गिरकर कैच कपड़ा, अर्थात् उसने कार्य में सफलता प्राप्त की। उसके इस कैच के बारे में विभिन्न लोगों की अलग-अलग राय है। जैसे कोई कहता है कैच का कारण यह है कि संयोग से गेंद हाथ में आ गई, एक व्यक्ति कहता है कि खिलाड़ी के विशेष प्रयत्न के कारण ऐसा हुआ, कोई अन्य व्यक्ति कहता है कि कैच बहुत आसान था, चौथा कहता है कि खिलाड़ी ने अपनी विशेष योग्यता से कैच लिया। यदि कैच बहुत आसान था, या वह संयोग से पकड़ में आ गया तो खिलाड़ी की सफलता का कारण वह खिलाड़ी नहीं है लेकिन यदि कैच खिलाड़ी के प्रयत्न से या विशेष योग्यता एवं शैली से पकड़ा गया तो सफलता का कारण उस खिलाड़ी में निहित माना जायेगा लेकिन प्रेक्षक उस खिलाड़ी में कोई स्थाई विशेषता या लक्षण का गुणारोपण नहीं करेगा। किन्तु आगे के खेल में भी वही खिलाड़ी एक-दो और भी वैसी ही कोशिश करके कैच प्राप्त कर लेता है तो इसके आधार पर उस खिलाड़ी में साहस, स्फूर्ति, उद्यम, सावधानी आदि लक्षणों का गुणारोपण किया जायेगा, अर्थात् यह देखने का प्रयास करते हैं कि क्या सफलता या असफलता उस खिलाड़ी की स्थायी विशेषता है अथवा नहीं। फ्रीज तथा वाइनर (Frieze & Weiner, 1973) ने अपने एक प्रायोगिक अध्ययन द्वारा ऐसी दशाओं की चर्चा की जिनमें गुणारोपण की आन्तरिकता या कारणों का बाह्य परिस्थिति में निहित होना स्थापित होता है। दूसरे शब्दों में उन्होंने अपने प्रयोग द्वारा सिद्धान्त की पुष्टि की।

गुणारोपण सिद्धान्तों की तुलना एवं वैषम्य

(Comparing & Contrasting Attribution Theories)

जोन्स तथा डेविड (1965) का तुलनात्मक अनुमान का सिद्धान्त, केली (1967, 1971) का कारणात्मक गुणारोपण का सिद्धान्त तथा वाइनर (1971) का सफलता और असफलता पर आधारित गुणारोपण—सभी समान तथ्यों पर निर्भर करते हैं। हर सिद्धान्त तार्किक है, प्रत्येक प्रारूप का आरम्भ निरीक्षित व्यवहार से होता है और हर एक ऐसे नियमों को स्थापित करता है जिनके द्वारा प्रेक्षक अपेक्षाकृत स्थायी स्वभावों या गुणों का गुणारोपण कर सकता है। प्रत्येक सिद्धान्त का नियम कर्त्ता के व्यवहार के पर्याप्त कारणों को खोजने का प्रयास करता है।

किन्तु इन सिद्धान्तों में कुछ भिन्नतायें भी हैं। सर्वप्रथम, जोन्स तथा डेविस के व्यवहार विश्लेषण की इकाई वह क्रिया है जो किसी निश्चित समय में घटित होती है, उनका सिद्धान्त विभिन्न समयों और विभिन्न परिस्थितियों में कर्त्ता के व्यवहार पर विचार नहीं करता। जबकि केली तथा वाइनर समय को एक प्रमुख कारक मानते हैं। वे यह देखते हैं कि क्या विभिन्न परिस्थितियों तथा विभावों पर क्रिया में संगति पाई जाती है? इस दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि केली तथा वाइनर एवं अन्य के सिद्धान्त कहीं जोन्स एवं डेविस के गुणारोपण सिद्धान्त से अधिक व्यापक हैं।

दूसरी ओर जोन्स एवं डेविस इस पर ध्यान देते हैं कि कौन से गुण व्यक्ति में आरोपित किये जाते हैं जबकि केली की प्राथमिकता केवल इस पर है कि व्यवहार का कारण आन्तरिक है या बाह्य। एकबार आन्तरिक गुणारोपण हो जाने के बाद केली का सिद्धान्त इस बात पर मौन हो जाता है कि किस विशेष गुण के कारण व्यवहार उत्पन्न हुआ। वाइनर तथा अन्य का सिद्धान्त मात्र सफलता और असफलता के गुणारोपण तक सीमित रह जाता है। इस प्रकार, जोन्स तथा डेविस के सिद्धान्त में यह महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति के किस गुण के कारण क्रिया हुई वहां केली के सिद्धान्त का लक्ष्य केवल यह निर्धारित करने में है कि क्या व्यवहार का कारण कोई आन्तरिक कारक था या नहीं?

गुणारोपण सिद्धान्त का व्यावहारिक उपयोग
(Practical Applications of Attribution Theory)

हाल के वर्षों में सामाजिक प्रत्यक्षीकरण के इस पक्ष का व्यापक व्यावहारिक उपयोग आरम्भ हो गया है। इसके उपयोग का क्षेत्र इतना व्यापक है कि यहाँ केवल कुछ प्रमुख क्षेत्रों की चर्चा ही संभव है।

प्रथम, गुणारोपण सम्बन्धी मौलिक ज्ञान गम्भीर अपराधों जैसे बलात्कार की शिकार महिलाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं को जानने में किया जा रहा है (कानेकर, पिण्टो तथा मजुमदार, 1985)। दुर्भाग्यवश इन व्यक्तियों को किसी न किसी रूप में उनके साथ हुये घातक व्यवहार के लिए उत्तरदायी माना जाता है—जैसे सतर्कता नहीं बर्तती थी, बहुत फैशन करती थी आदि। इन प्रतिक्रियाओं के कारण अनेक बलात्कार की शिकार महिलाएँ इस अपराध की रिपोर्ट पुलिस में दर्ज नहीं कराती हैं।

द्वितीय, आजकल गुणारोपण सिद्धान्तों को अन्तर्व्यक्तिक द्वन्द्व को घटाने में किया जाने लगा है (बैरन, 1985)। इस सन्दर्भ में यह देखा गया है कि जब बातचीत होती है तो ज्ञात होता है कि वास्तविकता का बोध होने पर द्वन्द्व में कमी आती है

और सहमति की संभावना बढ़ जाती है। सहमति की संभावना में वृद्धि से द्वन्द्व की सम्भावना घटती है। गुणारोपण सिद्धान्त ऐसी तकनीकें प्रदान करते हैं जिनसे द्वन्द्व घटाये जा सकते हैं।

तृतीय, वैवाहिक कठिनाइयों (Marital difficulties) को समझने और सुलझाने गुणारोपण सम्बन्धी ज्ञान बहुत सहायक होता है (होल्जबर्थ, मुनरो तथा जैकबसन, 1985)। ऐसे विवाहित जोड़े जो इस कुसमायोजन में ग्रस्त होते हैं वे समायोजित जोड़ों की अपेक्षा अपने पार्टनर्स में नकारात्मक गुण देखने की प्रवृत्ति अधिक रखते हैं। वे इन गुणों को अपेक्षाकृत स्थायी स्वभाव मानते हैं अतः उनके अनुसार इनमें परिवर्तन की आशा नहीं होती। इस विषय में शोध परिणामों से संकेत मिलता है कि यदि जोड़े एक दूसरे के व्यवहार के कारणों के प्रत्यक्षीकरण को परिवर्तित कर दें।

अन्त में गुणारोपण का उपयोग व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान में किया जा रहा है। अर्थात् इसका उपयोग व्यक्तिगत उपचार के रूप में किया जा रहा है। छात्रों के द्वारा अध्ययन की समस्याओं के समाधान में इसका व्यापक उपयोग हुआ है। (विल्सन तथा लिनबिले, 1982)। ऐसे छात्रों द्वारा समस्या का गुणारोपण अपनी योग्यता के अभाव के रूप में करने की प्रवृत्ति होती है जबकि कई बार इसका कारण बाह्य एवं अस्थायी होता है।

इस प्रकार अशुद्ध गुणारोपण अनेक समायोजन की विकृतियों के पीछे होता है। ऐसे लोग अपनी सफलता का कारण तो स्वयं को नहीं मानते किन्तु विफलता का कारण अपने आपको मानते हैं। जिन व्यक्तियों में आत्मादर (Self esteem) बहुत न्यून होता है वे अपनी असफलता का कारण अपनी अयोग्यता को मानते हैं। यदि ऐसे लोगों को उनके निष्पादन के कारणों का गुणारोपण परिवर्तित कर दिया जाए तो उनकी समस्याओं का समाधान हो जाता है। उनको उनके ऋणात्मक आत्म प्रत्यय द्वारा उत्पन्न दुष्चक्र से बचने में गुणारोपण सिद्धान्त उपयोगी हो सकते हैं। (Brokner & Guare, 1983)

स्व-प्रत्यक्षीकरण
(Self Perception)

स्व-प्रत्यय मनोविज्ञान का प्राचीनतम प्रत्यय है, किन्तु इसका महत्व आज भी पहले ही जैसा है। आरम्भिक दार्शनिक कहते थे कि "अपने को जानो" (Know thyself)। आधुनिक लेखकों और विचारकों ने सैकड़ों पुस्तकों की रचना आत्म-ज्ञान के उपायों के विषय में की है।

स्व सर्वदा व्यक्ति के साथ रहता है और सभी व्यक्ति को कुछ न कुछ अपनी

अनुभूतियों का ज्ञान रखते हैं। इसमें व्यक्ति का ध्यान आन्तरिक रूप से 'स्व' की ओर केन्द्रित रहता है। व्यक्ति आत्मचेतना द्वारा यह जानता है कि वह दुःख या सुख का अनुभव कर रहा है। व्यक्ति अपने विचारों और भावों को जानने का प्रयत्न करता है। स्व-प्रत्यक्षीकरण के अन्तर्गत व्यक्ति अपने ही गुणों, विचारों, भावनाओं और विशेषताओं को जानने का वैसा ही प्रयास करते हैं जैसे अन्य व्यक्तियों के जानने के प्रयास करते हैं। इस प्रकार स्व-प्रत्यक्षीकरण में विभिन्न प्रकार की उद्दीपक सूचनाओं की व्याख्या और संकलन करते हैं।

स्व-प्रत्यक्षीकरण का सिद्धान्त (Theory of Self Perception) :— डेरिल बेम (1967, 1972) ने अपने स्व-प्रत्यक्षीकरण सिद्धान्त में सुझाया है कि हमें अपने विषय में जानकारी अपनी क्रियाओं और अपने व्यवहार पर दृष्टि-पात करने से होती है इसके अनुसार हम अपनी अभिवृत्तियों, संवेगों और आन्तरिक दशाओं का अनुमान अपने व्यवहार के निरीक्षण के द्वारा करते हैं। As Bem has described this process, "Individuals come to 'know' their own attitudes, emotions, and other internal states partially by inferring them from the observations of their own overt behaviour and or the circumstances in which the behaviour occurs" कहने का अभिप्राय यह है कि लोगों को अपने विषय में आन्तरिक सूचना बहुत ही न्यून होती है। वे किसी बाह्य प्रेक्षक के समान स्वयं अपनी क्रियाओं और व्यवहार का अवलोकन कर उन क्रियाओं के कारणों का अनुमान लगाते हैं।

बेम का सिद्धान्त मुख्यतः बी०एफ० स्किन्नर के उस व्यवहारवादी सिद्धान्त पर आधारित है जो पुनर्बलन की निर्भरता (Reinforcement contingencies) के नाम से विख्यात है। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि हम सामान्य रूप से व्यवहार को प्रभावित करने वाली पुनर्बलन निर्भरताओं (Reinforcement contingencies) से अवगत होते हैं। उदाहरण के लिये मान लें आप शारीरिक भार को घटाने के लिये प्रतिदिन दो घण्टे व्यायाम करते हैं। प्रश्न यह है कि आप ऐसा क्यों कर रहे हैं और इससे आपके बारे में क्या मालूम होता है ? आप रुकते हैं और सोचते हैं। सम्भवतः आप यह पसीना इसलिये बहा रहे हैं कि आपके मित्र ने कहा था कि वह केवल दुबले-पतले लोगों को पसन्द करती/करता है। इस दशा में आपके व्यायाम का बाह्य पुनर्बलन (मित्र का कथन) आपके व्यवहार का मुख्य कारण था। कोई अन्य व्यक्ति व्यायाम नियमित रूप से करता है। उसके इस व्यवहार का कारण यह हो सकता है कि वह शारीरिक स्फूर्ति और स्वास्थ्य के लिये व्यायाम करता है। इस प्रकार स्वयं अपने व्यवहार के निरीक्षण द्वारा स्व के विषय में अनुमान करते हैं जिसे हम समाज-मनोविज्ञान में स्व-प्रत्यक्षीकरण कहते हैं।

निःसन्देह हम अपने व्यवहार और क्रियाओं के आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने विषय में पर्याप्त संज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रश्न यह है कि क्या हम जो कुछ नहीं करते उसकी जानकारी से भी अपने विषय में सीख सकते हैं ? जैसे एक व्यक्ति शारीरिक स्फूर्ति के लिये प्रतिदिन प्रातःकाल दौड़ता है। एक अन्य व्यक्ति नहीं दौड़ता है। तो क्या "न दौड़ने" से भी व्यक्ति के विषय में कोई जानकारी मिलती है ? समस्या-समाधान के विषय में हुये शोधों से संकेत मिला है कि लोग किसी घटना के नकारात्मक पक्ष के बजाय धनात्मक पक्ष की ओर समस्या समाधान में ध्यान देते हैं। यही प्रवृत्ति स्व-प्रत्यक्षीकरण के विषय में भी सत्य प्रतीत होती है। अनेक शोधों से ज्ञात हुआ है कि लोग अपने लक्षणों और भावनाओं का अनुमान जो कुछ वे करते हैं, (व्यवहार क्रिया) उसके द्वारा करना पसन्द करते हैं, न कि उन क्रियाओं की व्याख्या द्वारा जो वे नहीं करते (Fazio, Sherman & Herr, 1982).

व्यक्ति के स्व-प्रत्यक्षीकरण द्वारा उसे अपनी अभिवृत्तियों का संज्ञान होता है। आत्म अभिवृत्तियों के प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया अभिवृत्ति परिवर्तन में आवश्यक होती है। बेम तथा मैकोनेल (1970) ने एक अध्ययन में मौलिक अभिवृत्तियों की भूमिका को महत्व नहीं दिया। सम्भव है कि व्यक्ति अपनी अभिवृत्तियों में स्थायित्व और निरन्तरता का संज्ञान करने की प्रवृत्ति होती है।

संवेगों का स्व-प्रत्यक्षीकरण
(Self Perception of Emotions)

बेम ने सामान्यरूप से स्व की प्रतिमाओं की ओर ध्यान दिया था, किन्तु Schachter, (1964) ने सांवेगिक अनुभूति की ओर ध्यान दिया। Schachter के अनुसार संवेगों की अनुभूति दो कारकों पर निर्भर करती है—(i) शारीरिक उदोलन की दशा और (ii) उस उदोलन के लिये संज्ञानात्मक लेबुल (Label)।

अपनी मान्यताओं की परीक्षा के लिये उसने सिंगर (1962) के साथ एक प्रयोग किया जिसमें एपीनेफरीन नामक औषधि का अनुप्रयोग किया जो उदोलन को बढ़ाती है—चेहरा तमतमा जाता है, हृदयगति बढ़ जाती है और रह रहकर कपकँपी होती है। सभी प्रयोज्यों को बताया गया कि दृष्टि-योग्यता पर किसी औषधि के प्रभावों का अध्ययन किया जा रहा है। प्रयोज्यों में से कुछ को जिन्हें एपीनेफ्रीन दी गई उन्हें उसके वास्तविक प्रभाव से अवगत करा दिया गया। शेष को गलत सूचना दी गई। इस समूह को प्रयोगकर्त्ता ने बताया कि औषधि के सेवन से उनको पैरों में संवेदना का अभाव मालूम होगा। एक तृतीय समूह को भी औषधि दी गई किन्तु उन्हें औषधि के कुप्रभावों (Side effects) की कोई जानकारी नहीं दी गई। चौथे समूह को प्लेसिबो (Placebo) दी गई जिसमें एपीनेफ्रीन का कोई अंश न था और कोई स्पष्टीकरण भी नहीं दिया गया।

प्रत्येक प्रयोज्य को औषधि या प्लेसिबो लेने के पश्चात् एक विश्राम कक्ष में लाया जाता था जहाँ उसकी दृष्टि परीक्षा (Vision test) होनी थी और वहाँ एक व्यक्ति पहले से दृष्टि परीक्षा की प्रतीक्षा कर रहा था। वह व्यक्ति कोई अन्य प्रयोज्य नहीं था वरन् प्रयोगकर्ता से सन्निबद्ध था। वह अनेक प्रकार की उल्लासोन्मादी एवं मूर्खतापूर्ण क्रियायें दृष्टि परीक्षा की प्रतीक्षा समय में करता था (जैसे कागज की नाव, कागजी हवाई जहाज बनाना आदि)।

तीन समूहों के प्रयोज्य उदोलन का अनुभव करते हैं क्योंकि उन्हें एपीनेफ्रीन नामक औषधि दी गई थी किन्तु इनमें से केवल एक समूह को उदोलन दशा की प्रत्याशा के विषय में बताया गया था। सभी चारों समूह एक संबिबद्ध साथी के साथ समय बिताते हैं जो उनमें उल्लासोन्माद उत्पन्न करता है (Schachter) की मौलिक परिकल्पना का प्रत्यास्मरण अनुचित न होगा। उसके अनुसार सांवेगिक अनुभव शारीरिक उदोलन की दशा तथा उसके लिए एक उपयुक्त लेबुल पर निर्भर करता है। जिन प्रयोज्यों को एपीनेफ्रीन सही चेतावनी के साथ दी गई थी उनके उदोलन की व्याख्या सुगम थी—उदोलन का आभास औषधि के कारण था। अन्य प्रयोज्य जिन्हें दवा तो दी गई किन्तु इससे प्रभावों की गलत सूचना दी गई, उनके उदोलन का कारण औषधि नहीं थी। उनके उदोलन का कारण उल्लासोन्मादी उमंग (Euophorie mood) थी। कहने का तात्पर्य यह है कि जब वे उदोलन का आन्तरिक रूप से व्याख्या न कर सके तो बाह्य संकेतों की तलाश हुई। प्लेसिबो दशा के प्रयोज्यों जिनमें कोई उदोलन न था, में उल्लासोन्माद भी कम था।

वास्तव में मानवीय संवेगों का हस्तादिकरण उतना सुगम नहीं है जितना Schachter और Singer ने समझा था।

अध्याय 7

सामाजिक प्रभाव: सामाजिक मानक तथा समरुपता

(Social Influence Social Norms & Conformity)

व्यवहार में पर्याप्त एकरूपता के बाद भी व्यक्ति के व्यवहार और विश्वासों में परिवर्तन भी आते हैं। वह प्रक्रियायें जिनके प्रभाव से व्यवहार एवं विश्वास परिवर्तित होते हैं, सामाजिक मनोविज्ञान में केन्द्रीय हैसियत रखती हैं, और इन्हीं को सामाजिक प्रभाव-प्रक्रियायें कहते हैं। सामाजिक मनोविज्ञान की अधिकांश समस्यायें इन प्रभाव-प्रक्रियाओं पर निर्भर करती हैं। प्रभाव-प्रक्रिया को भली प्रकार समझने में समाज-मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। सामाजिक प्रभाव उस समय घटित होता है जब एक व्यक्ति की क्रियायें अन्य व्यक्ति की क्रियाओं की शर्त होती हैं। (Social influence may be said to have occured when actions of one person are conditions for the action of another.)

इसके पूर्व कुछ अन्य अध्यायों में भी सामाजिक व्यवहार पर विचार किया जा चुका है, किन्तु यह चर्चा व्यक्ति के दृष्टिकोण से की थी---जैसे वह (व्यक्ति) दूसरों का साथ क्यों चाहता है, उसकी अन्त: क्रिया से अर्जित अधिगम आदि। सामाजिक प्रभाव के अन्तर्गत हम सामाजिक पर्यावरण तथा व्यक्ति के व्यवहार पर इसके प्रभावों पर ध्यान देंगे। इसके अन्तर्गत व्यवहार को गाइड और निदेशित करने वाली सामाजिक अधिगम जैसी प्रक्रियाओं की विवेचना का प्रयास किया जायगा।

निष्पादन का सामाजिक सुकरीकरण

(Social Facilitation of Performance)

दूसरों की उपस्थिति में जब लोग कोई कार्य करते हैं और हम उनका निरीक्षण करते हैं, तो क्या होता है? कार्य करते समय दूसरों की मात्र उपस्थिति प्रभाव का एक प्रमुख साधन है। अन्य मौजूद लोग उद्दीपन के साधन भी हो सकते हैं, या प्रतिबल के भी। मन्द उद्दीपन/प्रतिबल कार्य में सहायक हो सकता है किन्तु एक सीमा के बाद प्रतिबल का कार्य निष्पादन पर घातक प्रभाव पड़ता है। राबर्ट बी० जाजोंक (1965) ने शोधों की समीक्षा के उपरान्त बताया है कि प्रतिबल संकुल्य तथा सामाजिक परिस्थिति का एक कारण हो सकता है। कार्य जितना जटिल एवं प्रतिबल-पूर्ण होता है, दूसरों की उपस्थिति कार्य के समय उतनी ही कार्य में कम सहायक होती है। दूसरी ओर कार्य के सरल एवं कम प्रतिबल-पूर्ण होने पर दूसरों की उपस्थिति कार्य में उतनी ही अधिक सहायक हो सकती है।

परिचित एवं अपरिचित कार्य (Familiar & Unfamiliar Tasks)—सर्वप्रथम जाजोंक ने जिस अध्ययन समूह की समीक्षा की वह निष्पादन के सुकरीकरण से सम्बद्ध था। इनमें से एक अध्ययन में नेशनल गार्ड शिक्षार्थियों को सवा दो घण्टे का समय २० लाल जलते हुये दीपों (जो क्रमानुसार प्रति मिनट बाहर की दर से जलते थे) के वृत्त का परिवीक्षण (monitoring) करना था औसतन हर २$\frac{1}{3}$ मिनट पर एक लाइट अपने क्रम में नम्बर आने पर फेल हो जाती थी। प्रयोज्य को लाइट फेल होने पर दृष्टि रखनी थी और ऐसा होने का संकेत (सिगनल) देना था। नियन्त्रित समूह के प्रयोज्य इस ऊबाने वाले कार्य को अकेले करते थे, किन्तु प्रायोगिक समूह को कहा गया कि समय-समय पर एक लेफ्टिनेन्ट कर्नल या मास्टर सार्जेन्ट उनके कक्ष में आकर उनके निष्पादन का निरीक्षण करेंगे। ऐसा वे लगभग प्रत्येक आधे घण्टे पर करते थे। परिणामों से ज्ञात हुआ कि उन प्रयोज्यों के कार्य में अधिक शुद्धता देखी गयी जिनके कार्यों की निगरानी उनके श्रेष्ठ जन कर रहे थे। प्रयोग के बाद वाले चरण में नियंत्रित समूह ने 64% त्रुटि की जब कि प्रायोगिक समूह 20% त्रुटि की (बेरगम तथा लेहर, 1963)। इससे स्पष्ट है कि कार्य के समय दूसरों की उपस्थिति कार्य को प्रभावित करती है।

जाजोंक द्वारा समीक्षित अन्य अध्ययनों से प्रदर्शित हुआ कि अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति निष्पादन में गिरावट लाती है। एडर तथा टैटम (1963) के एक प्रयोग में प्रयोज्यों को कुर्सी में बैठाया गया, और अकेले छोड़ दिया गया। उन्हें प्रत्येक दस सेकेण्ड पर आधे सेकेण्ड तक विद्युत आघात दिया जाता था। प्रयोज्य के समक्ष रखी मेज पर एक लाल बटन था जिसे दबाने से आघात दस सेकेण्ड के लिये रुक जाता था, और बार-बार कुछ समय अन्तराल पर बटन दबाने से आघात की सम्भावना समाप्त हो जाती थी। सामान्य प्रयोज्य को यह सीखने में लगभग 11$\frac{1}{2}$ मिनट का समय लगता था। जब प्रयोज्यों की परीक्षा युग्मों में की गई तो ज्ञात हुआ कि बारह युग्मों में केवल दो जोड़े ही यह सीख सके कि बटन दबाने और प्राप्त होने वाले विद्युत आघात में राहत से कोई सम्बन्ध है, और उन दो ने क्रमशः 47 मिनट तथा 69 मिनट का समय इस बात के सीखने में लिया।

पशुओं में भी ऐसे प्रभावों का अन्वेषण किया गया। जब काकरोचों को अन्य काकरोचों की उपस्थिति में भूलभुलैया में दौड़ाया गया तो उनका निष्पादन उतना अच्छा न था जितना अकेलेपन में था।

किन्तु सीधी दौड़पथ में अन्य काकरोचों की उपस्थिति में अकेली दशा की अपेक्षा निष्पादन अच्छा था। अर्थात् सीधे दौड़पथ में अन्य काकरोचों की उपस्थिति ने कार्य को सुलभ किया (जाजोंक, हाइनगार्टनर तथा हर्मेन, 1969)।

जाजोंक ने दो भिन्न प्रभावों की व्याख्या इस प्रकार की है। यदि प्रयोज्य की अनुक्रिया ऐसी है जिससे वह परिचित है अथवा जो उसके अधिगमित भण्डार का एक अंग है तो अन्य लोगों की उपस्थिति कार्य को सुलभी कृत या सुकरीकृत बनाती है, किन्तु यदि अनुक्रिया नवीन है (जिससे प्रयोज्य परिचित नहीं है) अन्य लोगों की उपस्थिति का कार्य पर बाधक प्रभाव पड़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि कार्य से परिचित होने पर दूसरों की उपस्थिति कार्य में सहायक होती है, लेकिन जब हमें किसी अपरिचित कार्य का सामना करना होता है जो जटिल होता है तो उस समय दूसरों की उपस्थिति ध्यान को विचलित कर उस पर अवरोधक प्रभाव डालती है। भूलभुलैया में काकरोंच के लिए कार्य अपरिचित होता है और उस समय काकरोंच की उपस्थिति संभ्रान्ति में वृद्धि करती हैं, जबकि सीधे दौड़पथ में कार्य अधिक परिचित होने के कारण अन्य काकरोंच की उपस्थिति निष्पादन को बढ़ाती है।

मार्टेन्स (1969) के एक अध्ययन में दर्शकों की मौजूदगी में जटिल कौशल सीखते हुए प्रयोज्यों ने (केवल प्रयोगकर्ता की मौजूदगी में) अकेले वही कार्य सीखने वालों की अपेक्षा अधिक त्रुटि की। एक बार कौशल को सीख लेने के बाद दर्शकों की उपस्थिति में कार्य करने वालों का कार्य अकेले कार्य करने वाले से अधिक उत्तम था। उन्होंने यह भी प्रमाणित किया कि संकृत्य से परिचय की दशा में दूसरों की उपस्थिति में किये गये कार्य पर दूसरों की मौजूदगी उद्दीपक प्रभाव (Arousal effect) उत्पन्न करती है।

मस्तिष्क-आलोड़न प्रयोग (Brainstorming Experiments)—मस्तिष्क-आलोड़न प्रणाली के उपयोग द्वारा हुए अध्ययनों से प्रदर्शित हुआ कि अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रिया, कैसे निष्पादन को सुलभ बनाती है। विज्ञापन-कार्य में लगे हुए एक व्यक्ति एलेक्स एफ० ओसबार्न (1957) ने मस्तिष्क-आलोड़न नाम से इस क्रिया को सम्बोधित किया। यह नाम उसने एक क्रिया को दिया जिसमें अनेक व्यक्ति जिन्हें समस्या-समाधान का कार्य सौंपा गया था, आपस में मिल जाते हैं और मिलकर अनेक समाधान निकाल लेते हैं।

भागग्राहियों को निर्देश देते हैं कि अन्य साथियों के समाधान की आलोचना न करें वरन् दूसरों द्वारा प्रस्तावित समाधान को आधार मानकर उसे सुधारें और आगे बढ़ाएं। प्रत्याशित था कि इससे उच्च मात्रा में उद्दीपनशील अन्तःक्रिया उत्पन्न होगी। ओसबार्न का दावा था कि अकेले कार्य करने की अपेक्षा सामान्य व्यक्ति दूसरों के साथ कार्य करने में दुगुना चिन्तन करेंगे। यदि जाजोंक की व्याख्या को माना जाये तो दूसरों की उपस्थिति या तो निष्पादन को सुलभ करेगी या अवरुद्ध करेगी। ऐसी दशा में मस्तिष्क-आलोड़न में भागग्राहियों से अकेले कार्य की दशा में अधिक निष्पादन की प्रत्याशा की जायेगी, क्योंकि नये समाधानों का आविष्कार

काफी अपरिचित कार्य है, और दूसरों की उपस्थिति अधिगम को सुलभ करने के बजाय अवरुद्ध करेगी। कम से कम दो शीघ्र अध्ययनों, (टेलर, बेरी तथा ब्लाक, 1958, और डूनेट्टी, कैम्पबेल तथा जास्टाड, 1963) के परिणाम जाजोंक के निष्कर्षों से संगत हैं। बाद के अध्ययन का एक अन्य रोचक निष्कर्ष भी है—इस अध्ययन के आधे प्रयोज्यों ने मस्तिष्क-आलोड़न के पूर्व अकेले कार्य किया और शेष ने मस्तिष्क-आलोड़न के उपरान्त अकेले कार्य किया। दोनों ही दशाओं में अकेलेपन में प्रयोज्य अधिक उत्पादनशील पाये गये, और विशेषकर मस्तिष्क-आलोड़न के बाद अकेले कार्य करने वालों का उत्पादन मस्तिष्क-आलोड़न के पूर्व एकान्त में कार्य करने वालों की अपेक्षा अधिक था। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि मस्तिष्क-आलोड़न का नवीन समाधानों एवं नवीन विचारों तक पहुँचने में सुलभ प्रभाव होता है। लिण्डग्रेन तथा लिण्डग्रेन (1965 a, b,) ने भी अपने अध्ययनों द्वारा उपरोक्त चर्चित तथ्यों की पुष्टि की। अर्थात् यह सत्यापित किया कि मस्तिष्क-आलोड़न के कारण सृजनात्मक कार्यों की योग्यता में वृद्धि आती है।

सामाजिक मानकों द्वारा प्रत्यक्षीकरण एवं संज्ञान पर प्रभाव

(Influence on Perception abd Cogniton through Social Norm)

व्यक्ति दूसरों के व्यवहार में ऐसे संकेतों को ढूँढता है जिससे वह अपने पर्यावरण को संरचित, संगठित एवं सार्थक बनाता है। इन्हीं संकेतों से वह अभिवृत्ति, विश्वास, तथा मूल्यों को सीखता है जिनका उपयोग वह अपनी भविष्य की क्रियाओं और व्यवहार में करता है यद्यपि यह प्रक्रिया जीवन के आरम्भिक वर्षों में अधिक सक्रिय होती है किन्तु किसी न किसी मात्रा में सम्पूर्ण जीवन विस्तार में जारी रहती है। एक दूसरों के संकेतों के प्रति हमारी अनुक्रियायें व्यवहार के समूह प्रतिदर्श (Group patterning of behaviour) का आधार होती हैं जिन्हें सामाजिक मानक (Social Norms) कहते हैं। सामाजिक-मानक, अभिप्रेरक तथा व्यवहार-दोनों में लागू होते हैं और संस्कृति अथवा अपेक्षाकृत स्थायी व्यवहार, जीवन-शैली की संरचना का अंग होते हैं।

हम एक-दूसरे के व्यवहार के प्रति इतने संवेदनशील होते हैं कि बहुत शीघ्र ही मानक निर्मित कर लेते हैं। न्यूयार्क की एक गली में हुये एक अध्ययन में एक से पन्द्रह तक सन्धिबद्ध प्रयोज्यों का उपयोग किया गया। गली में एकत्र होकर उन्हें छठीं मंजिल की एक खिड़की की ओर घूरना (लगातार देखना) था। इन सन्धिबद्ध प्रयोज्यों को उक्त खिड़की की ओर ताकते देख अनेक राहगीर भी रुके और उसी ओर देखने लगे। एक सन्धिबद्ध प्रयोज्य को ताकते देखकर 40% राहगीरों ने भी यही अनुक्रिया की, और 5% तो प्रयोज्य को देखकर रुक भी गये। ज्यों-ज्यों प्रयोज्यों

की संख्या बड़ी गली में रुकने वाले राहगीरों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई, यहाँ तक कि यह संख्या 75% से 80% तक पहुंच गई, जब 5 या अधिक सन्निधिबद्ध प्रयोज्य प्रयुक्त किये गये (मिलग्राम, विकमैन, तथा बर्कोविज, 1969)। यह एक प्रकार के सामाजिक अधिगम का अनुकरण प्रवृत्ति का परिणाम था। अनुकरण की प्रवृद्धि अस्पष्ट एवं नवीन परिस्थितियों में अधिक प्रबल होती है। ऐसी परिस्थितियों में समूह के सदस्य में समूह के अन्य सदस्यों की ओर ध्यान देते हैं और देखते हैं कि अन्य लोग अस्पष्ट एवं नवीन उद्दीपनों के प्रति क्या अनुक्रिया कर रहे हैं। समूह में अधिक प्रभावशाली व्यक्ति दूसरों का अग्रणी बनकर व्यवहार संरूप का निर्धारण करता है। ऐसी परिस्थिति ने मजफ्फर शेरिफ के प्रयोगों के लिये पृष्ठभूमि प्रदान की।

मानलें, कि उद्दीपक अस्पष्ट नहीं है और अधिकांश प्रयोज्य प्रयोगकर्त्ता से मिलेहुए हैं जिसने उन्हे जानबूझकर अशुद्ध उत्तर देने का निर्देश दे रखा है। ऐसी दशा में दो प्रकार के अधिगमों में द्वन्द्व होता है। अपने जीवन भर के प्राप्त अनुभव से सीखे प्रात्यक्षिक प्रतिदर्शों और यथार्थ को समझने में दूसरों के प्रत्यक्ष के अनुप्रयोग में। व्यक्ति अपनी इन्द्रियाभूति द्वारा निर्णय करेगा या दूसरों के प्रत्यक्ष द्वारा।

सामाजिक मानक तथा समरूपता
(Social Norms and Conformity)

समाज की सुव्यवस्था तथा समुचित संचालन के लिए व्यवहार की कुछ नियमिताएँ, कुछ नियम, अथवा कानून विकसित होते हैं जो उस समूह या समाज में सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। यही नहीं व्यवहार की यह नियमितताएँ, दूसरे समूहों के साथ अन्तर्क्रियाओं को भी नियंत्रित करती हैं। व्यवहार की यह नियमिताएँ यदि न हो तो समूह एवं समाज में अराजकता फैल जाए। इन्हीं नियमितताओं को सामाजिक मानक कहा जाता है जिसके चलते सदस्यों का व्यवहार समूह में उपयुक्त समझा जाता है। समूह सदस्यों से व्यवहार की नियमितताओं के अनुपालन की अपेक्षा करता है और इनसे विचलित होने वालों पर दबाव भी डालता है।

इस प्रकार समूह व्यवहार में पाई जाने वाली व्यवहार की नियमितताएं ही सामाजिक मानक कही जाती हैं। इनके कारण समूह और समाज में सुव्यवस्था और सदस्यों के आचरण में एकरूपता पाई जाती है जो समूह अथवा समाज के समुचित संचालन के लिए आवश्यक हैं। इसे समरूपता कहा जाता है। समूह चाहे स्वतः विकसित हों या किसी उद्देश्य हेतु संरचित हों, सदस्यों के व्यवहार तथा आचरण के यह नियम अवश्य विकसित होते हैं और यह आवश्यक है क्योंकि इनसे सदस्यों के व्यवहार में समरूपता आती है।

मानक किसी समूह के सदस्यों की वे अपेक्षाएँ हैं जो विभिन्न दशाओं में व्यक्ति के व्यवहार के प्रत्याशित रूप को अभिव्यक्त करते हैं। सामान्यतया मानक स्वतः विकसित होते हैं। यह समाज में अनुशासन और स्थायित्व लाते हैं।

सामाजिक का अर्थ तथा स्वरूप
(Meaning and Nature of Social Norms)

शरीफ् तथा शरीफ् (Sherif & Sherif, 1969) ने कहा है कि, सामाजिक मानक सामूहिक अन्तर्क्रिया में निर्मित अनुभव तथा व्यवहार के आधार के आधारों की ओर संकेत करते हैं, जो किसी सम्बद्ध उद्दीपक स्थिति में सदस्यों के व्यवहार को नियमित करते हैं। ("Social norms refer to any criteria of experience and behaviour formed in group interaction which regulate the behaviour of individual members in relevant stimulus situation.") M. Sherif & C. W. Sherif, 1969.

सीकार्ड तथा बैकमैन (1974) के अनुसार, "मानक वह मानदण्ड या व्यवहारपरक प्रत्याशा है जिसमें समूह के सभी सदस्य सहभागी होते हैं और जिसके अनुसार समूह के सदस्यों के प्रत्यक्षीकरण की वैधता का निर्णय किया जाता है, तथा भावनाओं एवं व्यवहार को मूल्यांकित किया जाता है।" (A norm is a standard or behavioural expectation shared by group members against which the validily of perceptios is judged and the appropriateness of feelings and behaviour is evaluated .) P. F. Secord & C. W. Backsman, 1974.

इनाइडर (1976) के कथनानुसार मानक, "समूह के सदस्यों के आचरण के लिए मानदण्ड है, जिनके आधार पर विभिन्न दशाओं में सदस्यों के व्यवहारों की उपयुक्तता की जाँच होती है।" किसी समूह के निष्पादन को नियमित करने का कार्य मानकों द्वारा ही होता है।

मानकों के अनुरूप कार्य करना समाज में उपयुक्त समझा जाता है जबकि विचलित होने वाले पर समाज दबाव डालता है, उनका अनानुमोदन, तिरस्कार तथा कभी-कभी बहिष्कार किया जाता है। मानक के अनुसार कार्य करने वाले समाज की स्वीकृति, अनुमोदन, और प्रशंसा प्राप्त करते हैं।

मानक व्यवहार का सामाजिक नियंत्रण उन सभी क्षेत्रों में करते हैं जिनमें व्यक्ति किसी कारण समूह पर निर्भर करता है। समूह संकृत्य-जन्य आवश्यकताओं के अलावा व्यक्ति की सामाजिक सांवेगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। बच्चे माता-पिता पर आश्रित होते हैं, अतः उनके व्यवहार में नियमितता परिवार में विकसित नियमों, परंपराओं, रीतिरिवाजों आदि के द्वारा होता है।

सामाजिक मानक सदस्यों के व्यवहारों के वास्ते सन्दर्भ-साँचा (frame of reference) के समान होते हैं। वे सदस्यों को व्यवहार के उचित/अनुचित का बोध कराते हैं। मानकों को कानून का दर्जा नहीं दिया जा सकता लेकिन एक सीमित दायरे/क्षेत्र में उनका अनुसरण करना अच्छा और उल्लंघन बुरा माना जाता है। समूह मानकों की खुले आम विचलन की अनुमति नहीं होती, किन्तु ढके-छुपे या अव्यक्त रूप से विचलन को मान्य समझा जाता है। इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए शरीफ (1970) ने सामाजिक मानक को परिभाषित करते हुए कहा है कि—मानव का सामाजिक मूल्य शायद ही एक बिन्दु या व्यवहार के एक मार्ग का संकेत करते हैं। सभी प्रत्ययों के समान मानक भी व्यवहार विस्तार की एक एक सीमा को इंगित करते है, जहाँ तक समूह उन्हें सह सकता है..... सामाजिक मानक मूल्यांकन करने वाली एक मापनी है जिसपर समूह से सम्बद्ध व्यवहार, कार्य, विश्वासों अथवा किसी भी वस्तु के लिए स्वीकार्य और आपत्तिजनक सीमाएँ निश्चित करती है।" (Social values of norms seldom specify just one point or one single way of behaviour. Like all concepts, norms encompass a range of behaviour which is tolerable.....A norm is an evalutive scale designating an acceptaable lattitude and an objectionable lattitude for behaviour, activity, beliefs or any object of concern to the group.") Sherif; 1970

सीकार्ड तथा बैकमैन (1974) के अनुसार," सभी समूहों के सदस्य अपनी अन्तर्क्रिया के प्रतिमानों में एक व्यवस्था या नियमितता प्रदर्शित करते हैं और अक्सर उनका व्यवहार ऐसा होता है कि समूह के सदस्य मान्यता प्राप्त मानकों की समरूपता के लिए आपस में एक दूसरे पर दबाव डालते हैं। समूह-व्यवहार में ऐसी नियमितताओं की व्याख्या सामाजिक मानदण्डों के रूप में भी की जाती है।" ("Members of all groups exhibit certain regularities in their patterns of interaction. Further, they often involve behaviour in which members exert pressure upon one another to conform to some recognized standard. Such regularities in group behaviour have been explained in terms of social norms.") P. F. Secord & C.W. Backman 1974.

सामाजिक मानकों की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Norms)

उपर्युक्त परिभाषाओं से मानकों की कुछ प्रमुख विशेषताओं की पहचान होती है, जो निम्नवत है :

1. सामाजिक मानक सदस्यों के व्यवहार को नियमित करते हैं। इस प्रकार वे सामाजिक नियंत्रण का साधन है।
2. समूह के सामाजिक अन्तर्क्रिया प्रतिमानों में मानकों के नमूने अभिव्यक्त होते हैं।
3. मानकों का विकास सामाजिक अन्तर्क्रिया द्वारा निर्मित व्यवहार और अनुभवों के आधार पर होता है।
4. मानकों के अनुरूप व्यवहार करने के लिए बहुधा समूह दबाव डालता है।
5. किसी समाज/समूह के सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता, समानता, अनुशासन तथा स्थायित्व सामाजिक मानकों के द्वारा, विकसित होता है।
6. समाज के अनेक व्यक्ति समूह मानकों को मूल आदर्श या व्यवहार के मूलाधार मानकर अपनाते हैं।
7. मानकों के कारण किसी समाज के सदस्य अपनी अन्तर्क्रियाओं में व्यवस्था, नियमितता, आचरण-स्तर, मूल्यों तथा मानदण्डों को अभिव्यक्त करते हैं।
8. सामाजिक मानक एक सामान्य प्रत्यय है जिसमें अनेक पद सम्मिलित हैं—प्रथायें, रूढ़ियाँ, लोकरीतियाँ, परंपराएँ, कानून, धर्म, निषेध आदि।
9. सामाजिक मानकों का व्यवहार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अनेक मानक ऐसे होते हैं कि समूह के मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति उन्हीं पर निर्भर करती है।
10. कुछ समूह मानक सृजनात्मक तथा रचनात्मक (Creative and Constructive) होते हैं।
11. सामाजिक मानकों का अनुसरण ससस्यों में अनुशासन तथा कर्तव्य भावना पर निर्भर करता है।
12. सामाजिक मानकों का विकास तथा परिवर्तन दोनों मन्द गति से अर्थात् धीरे-धीरे होता है।
13. मानक, लिखित और मौखिक दोनों हो सकते हैं, किन्तु कानून के अतिरिक्त सभी मानक बहुधा मौखिक ही होते हैं।

प्रयोग सामाजिक मानकों का विकास (Experiments, Development of Social Norms)—सामाजिक-मानकों के निर्माण के विषय में शेरिफ (1936) के प्रयोगिक अध्ययन पर दृष्टिपात करना अतिआवश्यक है। प्रयोज्यों को एक कमरे में लाकर बैठाया गया। उनके समक्ष मेज पर एक 'टेलीग्राफ बटन' (Telegraph key) की व्यवस्था थी। उन्हें बताया गया कि कमरे को अँधकारमय किया जायगा तब एक प्रकाश प्रकट होगा। उन्हें प्रकाश के गतिशील

होने का संकेत देने के लिये 'टेलीग्राफ बटन' को दबाना और यह बताना होगा कि प्रकाश ने अपने मौलिक स्थान से कितनी गति की। वास्तव में प्रकाश गतिशील नहीं था, किन्तु सभी प्रयोज्यों ने गति का प्रत्यक्षीकरण किया। शेरिफ ने इस गोचर को स्वचालित प्रभाव (Autokinetic effect) कहा है। शेरिफ ने प्रयोज्यों की परीक्षा व्यक्तिगत तथा समूह की दशाओं में किया। हमारी रुचि यहाँ 'समूह-प्रभाव' में है। अंधकार-कक्ष में बिठाकर प्रयोज्यों को यह निर्देश दिया गया कि "रेडी" के संकेत के तुरन्त बाद एक प्रकाश बिन्दु प्रकट होगा। कुछ ही देर में वह प्रकाश गति करता दिखाई देगा। ज्यों ही गति दिखाई पड़े अपने सामने रखी मेज पर लगे बटन (key) को दबादें। बटन दबाते ही प्रकाश बिन्दु लुप्त हो जाएगा। अब आप यह बतायेंगे कि प्रकाश बिन्दु ने कितनी गति की। प्रयोज्य तथा प्रकाश में पाँच मीटर का फासला था।

व्यक्तिगत दशा में सामाजिक-मानक के प्रभाव में व्यक्ति अन्तर धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं। परिणामों से ज्ञात हुआ कि समूह की स्थिति में मानक तुरन्त प्रभावी हो जाते हैं और समूह के बाद 'अकेले' की दशा में भी बने रहते हैं जबकि व्यक्ति समूह की दशा में नहीं होता। समूह के सन्दर्भ में व्यक्तिगत निर्णय अपना अर्थ खो बैठते हैं और निर्णय में एक प्रकार की सहमति विकसित हो जाती है। समूह के सदस्यों के प्रगट निर्णय में पर्याप्त संगति आ जाती है। व्यवहार के नियन्त्रण के इस पारस्परिक-निर्भर सहमति (Mutually dependent agreement) को, शेरिफ मानक कहता है। In a more recent statement, Sherif (1970) defined social norm as "an evaluative scale designating an acceptable latitude and an objectionable latitude for behaviour, activity, beliefs, or any object of concern to the group".

यहाँ विशेष रूप में ध्यान देने की बात यह है कि जो प्रयोज्य समूह की स्थिति में अंधकार-कक्ष में रखे जाते हैं वे शीघ्र मानक विकसित कर लेते हैं और मानक उस समय भी उनके निर्णय को प्रभावित करता है जब वे समूह छोड़ चुके होते है और अकेले कार्य करते हैं। शेरिफ ने यह भी दर्शाया कि प्रयोज्यों को इसकी चेतना नहीं थी कि उनके निर्णय अन्य सदस्यों द्वारा प्रभावित हुए हैं अर्थात् वे यह नहीं समझते थे कि वे समूह की सहमति से उत्पन्न निर्णय को अपना निर्णय कह रहे हैं। वे यह मानते थे कि निर्णय उनका अपना है जबकि वास्तव में ऐसा न था।

शेरिफ के अध्ययन से कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आए हैं। इनमें प्रमुख निम्न हैं :—

1. अस्पष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति एक दूसरे द्वारा प्राप्त संकेतों एवं सुझावों पर निर्भर करने की उन्मुखता प्रदर्शित करते हैं।

2. यह भी प्रदर्शित हुआ कि समूह की स्थिति में जो समूह-मतैक्य स्थापित होता है, वह समूह सन्दर्भ के बाहर अथवा स्वतंत्र होकर अकेले कार्य करते समय भी वह समूह-मतैक्य व्यक्ति के निर्णय को प्रभावित करता है।

3. तीसरा यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि समूह निर्णय के द्वारा प्रभावित होने की चेतना प्रयोज्यों/व्यक्तियों को नहीं होती अथवा यह पूर्ण क्रिया प्रायः व्यक्ति की जानकारी में नहीं होती।

शेरिफ के अध्ययन ने समाज मनोवैज्ञानिकों के ध्यान और रुचि को आकृष्ट किया क्योंकि इसने स्वचालित प्रभाव (Autokinetic effect) की तथा सामाजिक मानकों की गति (Dynamics) की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की, कम से कम अस्पष्ट परिस्थितियों में तो उसकी व्याख्या बहुत ही वैध एवं सार्थक प्रतीत होती है। हाँ, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि कम अस्पष्ट परिस्थितियों में क्या यही प्रभाव प्राप्त हो सकता है ? मान लें कि प्रयोज्यों से एक ऐसी स्थिति के बारे में निर्णय कराया जाय, जिसमें वस्तुगत यथार्थ का अंश विद्यमान हो तो क्या वही प्रभाव होगा, जो अस्पष्ट एवं असंरचित परिस्थितियों में हुआ था ? क्या व्यक्ति दूसरों के मानकों के आधार पर अनुक्रिया करेंगे या स्वयं अपनी आँखों के आधार पर ? क्या व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के मिथ्यानिर्णय का उपयोग अपने मॉडल्स के रूप में प्रवृत्त करेंगे ?

सामाजिक दबाव के प्रभाव विषयक अन्य अध्ययन

(Studies of Yielding to Social Pressure)

शेरिफ के अध्ययन से सम्बद्ध उठाये गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कुछ अन्य प्रयोज्यों की आवश्यकता थी। यह शोध सालोमन ई० ऐश (1956) ने लगभग 1945 से 56 के बीच किया। इन प्रयोगों में मूल विचार एक सन्धिबद्ध प्रयोज्य समूह में (जिसे गलत निर्णय का निर्देश था) एक तटस्थ प्रयोज्य को रखकर उसके निर्णय पर समूह के दबावों का अध्ययन करना था।

ऐश के अध्ययन में प्रयोज्यों को अर्द्धवृत्ताकार स्थिति में बैठाया, सामने एक बोर्ड था जिस पर प्रयोज्यों के समक्ष रेखाएँ प्रस्तुत करते थे। बाईं ओर सर्वदा वही रेखा रहती थी, किन्तु दांयी ओर तीन अन्य रेखायें प्रस्तुत करते थे। वे क्रमानुसार "1","2","3" अंकित होता था और यह विभिन्न लम्बाई की थी। समूह के सदस्यों को बताना था कि 1,2 और 3 में कौन रेखा बाँई रेखा के बराबर थी। प्रथम प्रयास में कठिनाई का अनुभव नहीं होता क्योंकि तुलनीय रेखा 10 इंच तथा 1,2,3, क्रमशः $8\frac{3}{4}$, 10 और 8 इंच की थी और प्रत्येक प्रयोज्य बारी-बारी कहते हैं नम्बर "2"। द्वितीय प्रयास में भी कोई कठिनाई नहीं आती। तृतीय प्रयास में तुलनीय रेखा 3"

लम्बी तथा 1, 2 व 3 क्रमशः $3\frac{3}{4}$, $4\frac{1}{4}$ व 3 इंच लम्बी थी, अतः स्पष्टतः रेखा नं० 3 बराबर थी, किन्तु समूह के प्रथम सदस्य ने रेखा नं० "1" बताया और फिर सबने उसी को बराबर कहा। यह मानते हुए कि 6 के समूह में आप आठवें व्यक्ति हैं, आप क्या कहेंगे ? आप देख सकते हैं कि सही उत्तर नं० 3 है, किन्तु समूह के सभी सदस्यों ने अब तक नं० 1 को बराबर बताया है। आपको चयन करना होगा, समूह से सहमत होते हैं और जानते हुए गलत उत्तर दें समूह से हटकर सही उत्तर दें। प्रश्न है, कौन जीतेगा—समूह-दबाव या वस्तुनिष्ठता ?

परिणामों से ज्ञात हुआ कि ऐश के प्रयोज्यों में मात्र 26% ही झूठे मानक के प्रति हर प्रयास में अवरोध व्यक्त करते है। प्रयोग में कुछ 18 प्रयास हुए थे, जिसमें अधिकांश ने 12 बार गलत उत्तर दिया। लगभग एक चौथाई प्रयोज्य झूठे मानक के दबाव में बिल्कुल नहीं आये। लगभग आधे प्रयोज्य ने औसतन तीन बार समूह दबाव में गलत निर्णय किये (अर्थात् 25% प्रयासों पर), इसी प्रकार शेष एक चौथाई नौ बार अथवा 75% प्रयासों पर समूह दबाव में आये।

ऐश के चर्चित प्रयोग में एक तटस्थत प्रयोज्य को आठ व्यक्तियों की बहुमत के गलत निर्णय का सामना करना पड़ता था। ऐश ने यह भी दर्शाया कि एक तटस्थ व्यक्ति की तुलना में मात्र तीन व्यक्तियों का निर्णय भी उतना ही प्रभावशाली था। तीन के निर्णय ने भी मानक के प्रति उतनी ही समरूपता उत्पन्न की, जितनी कि आठ व्यक्तियों के गलत मानक द्वारा हुई थी। जीरार्ड, विल्हेल्मी तथा कोनोली (1968) ने इन परिणामों को चुनौती दी, जिन्होंने ऐश की प्रायोगिक परिस्थिति में ही एक तटस्थ प्रयोज्य के साथ सन्धिबद्ध प्रयोज्यों की संख्या को सात और इससे कम रखकर अनेक दशाओं में अध्ययन किया। उन्होंने अपने परिणामों द्वारा यह प्रदर्शित किया कि समरूपता सन्धिबद्ध प्रयोज्यों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ उत्तरोत्तर बढ़ती है। दोनों प्रयोगों में कुछ दशाएँ भिन्न थीं—जैसे ऐश के प्रयोज्य कालेज के पुरुष विद्यार्थी थे जब कि जीरार्ड के प्रयोज्य हाई स्कूल के दोनों यौन के छात्र थे। पुनः ऐश के प्रयोज्य मुखोन्मुख समूह स्थिति में थे, जबकि जीरार्ड तथा अन्य ने प्रयोज्यों को अलग अलग छोटे कक्षों में रखा था और ईयरफोन द्वारा उनसे सम्प्रेषण किया था। किन्तु मुख्य बात यह थी कि मिथ्या मानक के प्रति सहमति-प्रतिशत करीब-करीब ऐश के बराबर थी।

ऐश ने बहुमत के विरुद्ध संयुक्त प्रभाव (Coaliton effect) का अध्ययन किया। प्रयोगों के एक सेट में सन्धिबद्ध प्रयोज्यों के समूह के एक सदस्य को सही उत्तर देने का निर्देश दिया गया। उससे कहा गया कि प्रथम आधे पदों में सही उत्तर दे और शेष पदों के उत्तर देने में बहुमत में सम्मिलित हो जाय। ऐसा होने पर तटस्थ प्रयोज्य की त्रुटि दर (प्रथम आधे प्रयास में) 5·5% से बढ़कर 28.5% हो

गयी। एक सहयोगी की उपस्थिति को अतिआश्वासनपूर्ण पाया गया, किन्तु बहुमत की अवज्ञा/उपेक्षा की प्रवृत्ति उस समय समाप्त होती प्रतीत हुई, जब सहभागी दूसरे हाफ में बहुमत के साथ शामिल हो जाता है। विपरीत दशा में जब बहुमत का एक सदस्य समूह से अलग होकर आधे प्रयोग में अपनी समझ से सही उत्तर देता है तो एक सन्धिबद्ध व्यक्ति का समर्थन भी आश्वासन प्रभाव उत्पन्न करता है, क्योंकि त्रुटियों की संख्या उस अवधि में 32% से घटकर 8·7% हो गयी। एक अन्य अध्ययन में प्रत्येक तटस्थ प्रयोज्य को एक ऐसा पार्टनर दिया गया, जो सम्पूर्ण प्रयोग में सही उत्तर देता है तो त्रुटि प्रतिशत घटकर 5·5% आ गयी। एक अन्य दशा में तटस्थ प्रयोज्यों की संख्या बढ़ाकर दो कर दी गयी तो त्रुटियों का प्रतिशत 10·4% हो गया। यह स्पष्ट है कि एक पार्टनर की उपस्थिति से बहुमत के प्रतिरोध की इच्छा सशक्त होती है, किन्तु समूह दबाव के प्रभाव को पूर्ण रूप में समाप्त नहीं कर पाती।

ऐश द्वारा निर्मित परिस्थितियाँ छोटे पैमाने पर सामाजिक अधिगम का उदाहरण प्रस्तुत करती है। इनमें प्रयोज्य का निर्णय समूह द्वारा परिवर्तित होता है। प्रयोगविधि में समूह दबाव में आने वाले प्रयोज्य या तो अपने निर्णय पर भरोसा न करना सीखता है या तो स्वयं कोई निर्णय न करके समूह से संकेत ग्रहण करता है और समूह को अपना मॉडल समझने लगता है। समूह के साथ होने की भावना, प्रयोज्य के व्यवहार को पुनर्बलित करती है। चूँकि यह एक अस्थायी समूह है, अतः समूह द्वारा स्वीकृति या अनुमोदन की कोई वास्तविक सुविधा नहीं है और न ही यह समूह दण्ड देने में सक्षम है।

निःसन्देह, यहाँ अन्य प्रकार के अधिगम हस्तक्षेप करते हैं, क्योंकि अन्य सन्दर्भों में प्रयोज्य सीख चुके हैं कि समूह के विचलन से समूह की स्वीकृति खो सकते हैं; किन्तु इसके बाद भी कुछ प्रयोज्य समूह दबाव के प्रति प्रतिरोध करते हैं। तथ्य यह है कि प्रयोज्यों का बहुमत एक या अन्य स्थल पर समूह मत द्वारा प्रभावित होता है और समूह के अन्य सदस्यों के व्यवहार को अनुकरण द्वारा सीखता है। इस प्रकार ऐश का प्रयोग संक्षेप में किन्तु प्रभावपूर्ण रूप में दर्शाता है कि समूह अधिगम का कितना प्रभावपूर्ण साधन है।

ऐश के शोध की समीक्षा से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। क्या अन्य प्रकार की सामग्रियों के अनुप्रयोग पर भी प्रयोज्यों का निर्णय बदलेगा? रेखाओं की लम्बाई के निर्णय की स्थिति कृत्रिम है। मतों और अभिवृत्तियों के साथ क्या होगा? द्वितीय समूह द्वारा निर्णय परिवर्तन का प्रभाव उस समय क्या होगा? यदि प्रयोज्यों को इसका सन्देह या बोध होता कि प्रयोग में बेइमानी की गयी है? तृतीय प्रायोगिक उपचार का प्रभाव कितना स्थायी होगा? यदि किसी व्यक्ति से उसकी अभिवृत्ति

या मत के विपरीत निर्णय कराते हैं तो क्या यह मत प्रयोगविधि के बाद भी बना रहेगा ?

सामाजिक दबाव के अन्य अध्ययन : आइ पी ए आर प्रयोग

(Studies of Yielding to Social Pressure : IPAR experiments)

चर्चित प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, ऐश द्वारा प्राप्त प्रभावों की उत्पत्ति के कुछ अन्य प्रयोगों में कुछ भिन्न प्रणालियों का उपयोग किया गया। बकलें के व्यक्तित्व मूल्यांकन एवं शोध संस्थान (Personality Assessment and Research Institute) में रिचार्ड एस० क्रचफील्ड (1955) ने ऐश की परिस्थिति के परिमार्जित रूप का अनुप्रयोग किया जिसमें सन्दिग्ध प्रयोज्यों की आवश्यकता न थी तथा जिसमें एक समय में अनेक प्रयोज्यों पर सामाजिक दबाव के प्रभावों की जाँच संभव थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पाँच तटस्थ प्रयोज्यों को बिल्कुल मिले हुए बूथों में बैठाया गया ताकि अन्य प्रयोज्य उन्हें न देख सकें। किन्तु वे सबके साथ पर्दे पर चित्र देख सके (जो प्रोजेक्टर द्वारा दिखाये जाते थे)। प्रत्येक बूथ में क्रमांकित अनेक स्विच (बटन) थे जिससे प्रयोज्य पर्दे पर दिखाई गई सामग्री के विषय में अपने निर्णय अन्य साथियों को संप्रेषित कर सकें। प्रत्येक बूथ में प्रकाशों की मात्रा, संभवतः अन्य चार प्रयोज्यों के निर्णय का संकेत थी। हालाँकि सिगनल लाइटों का नियन्त्रण प्रायोगकर्त्ता द्वारा किया जाता है, जो प्रायोगिक स्थिति का हस्तादिकरण करके अपनी इच्छानुसार किसी भी मात्रा में मतैक्य से अन्य लोगों को अवगत करा सकता है। चूँकि हर बूथ पर "E" अंकित है अतः प्रत्येक प्रयोज्य यह समझता है कि A,B,C, और D के बाद वह रिपोर्ट करने वाला अन्तिम व्यक्ति है। इस प्रकार क्रचफील्ड विधि, ऐश विधि की अपेक्षा कम से कम समय में अधिक बड़े समूह की परीक्षा को संभव बनाती है तथा अधिक व्यापक सामग्रियों के उपयोग का अवसर भी प्रदान करती है। परिणाम पहले ही जैसे रहे।

क्रचफील्ड के कार्य से प्रथम प्रश्न का उत्तर प्राप्त होता है, कि समूह-दबाव में आत्मसम्मान सहित अन्य अभिवृत्तियों में परिवर्तन हो सकता है। द्वितीय प्रश्न का सम्बन्ध ऐसे समूह-दबाव से था जिसमें प्रयोज्यों को प्रायोगिक परिस्थिति में किसी प्रकार की बेईमानी या गड़बड़ी किये जाने का सन्देह था। क्रचफील्ड द्वारा आयोजित एक अन्य प्रयोग में 150 ये से 30 प्रयोज्यों ने संकेत दिया कि वे जानते थे कि यंत्र में गड़बड़ी की गई थी। जब इन 30 प्रयोज्यों के समरूपता फलांक की तुलना अन्य 120 प्रयोज्यों के फलांकों से की गई तो ज्ञात हुआ कि उन्होंने 30 की तुलना में दुगुनी समरूपता व्यक्त की। प्रश्न है कि गड़बड़ी से अवगत होते हुये इस प्रयोज्य समूह ने समरूपता क्यों प्रदर्शित की ? प्रयोज्यों के उत्तरों से ज्ञात हुआ कि उन्हें

यन्त्र में गड़बड़ी की आशंका तो थी किन्तु विश्वास न था। अन्य को यह चेतना थी कि उनका निर्णय दूसरों से भिन्न हो जायगा, जो उन्हें पसन्द नहीं था तो कुछ की बहुमत के साथ होना सहयोगिता का सूचक प्रतीत होता था अतः उन्होंने समरूपता प्रकट की (ऐलेन, 1966)।

हमारा तीसरा प्रश्न सबसे प्रमुख था। सामाजिक दबाव द्वारा व्युत्पन्न अभिवृत्ति या निर्णय के प्रभाव स्थायी होते हैं या नहीं। क्रेच, क्रचफील्ड तथा बेलैंकी (1962) ने क्रचफील्ड प्रणाली का उपयोग करके एक अध्ययन में प्रदर्शित किया कि मौलिक समूह दबाव का आधा प्रभाव कई सप्ताह बाद भी बना रहा, यद्यपि इसमें व्यापक व्यक्तित्व भिन्नता के प्रमाण मिले। नारमैन एण्डलर (1966) के अध्ययन ने भी समूह-दबाव के पश्चात प्रभाव का प्रमाण दिया। समूह-दबाव के अनुबिम्बित पश्चात-प्रभाव (Lingering aftereffect) के प्रमाण भी अनेक अध्ययनों से मिले हैं।

समरूपता
(Conformity)

समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए तथा समाज के संगठन एवं समुचित संचालन के लिए व्यवहार में थोड़ी समरूपता का होना किंचित आवश्यक है। व्यक्ति जब भी अन्य व्यक्तियों के साथ मुखोन्मुख सम्पर्क में आता है या जब भी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ अन्तः क्रिया करता है तो उसके निर्णय, विश्वास, और अभिवृत्तियाँ समूह के विश्वास एवं निर्णय के समरूप हो सकते हैं। ऐसी समरूपता वह समूह दबाव में लाता है जिसकी चर्चा इस अध्ययन में पहले हम कर चुके हैं।

किसी समूह या समाज में समरूपता का अभाव होने पर कुव्यवस्था, अशान्ति, दुराचरण और अनियमितता का बोल-बाला होगा और नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाएगा। अतः हर समूह में सदस्यों के व्यवहार में किसी न किसी मात्रा में समरूपता का होना अनिवार्य है। समूह के सदस्यों में सुचारु अन्तःक्रिया इसी के द्वारा संभव है।

समरूपता का अर्थ, स्वरूप व परिभाषा—व्यक्ति के सभी व्यवहार का निर्देशन संचालन तथा नियन्त्रण मानकों के द्वारा होता है और मानकों के अनुसरण से ही समरूपता आती है। समरूपता का अभिप्राय व्यक्ति एवं समूह के व्यवहार में एकरूपता या अनुरूपता से है, जो मानकों के अधिगम या समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होती है।

सामाजिक अनुरूपता कभी गहरी एवं आन्तरिक तो कभी सतही, बाहरी या दिखावा मात्र होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि कभी-कभी समरूपता वास्तविक नहीं होती वरन् मात्र व्यवहारिक होती है। इसका एक अन्य रूप भी होता है

जिसमें हम समूह मानकों एवं समूह दबावों के समरूप होने के प्रयास में अपने व्यवहार और व्यक्तिगत विश्वासों तथा अभिवृत्तियों तक को बदल देते हैं। यह समरूपता वास्तविक समरूपता कही जाती है। समरूपता की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति समूह दबावों के सामने नतमस्तक हो जाता है। अतः व्यक्ति तथा समूह वा समाज में द्वन्द्व होना समरूपता की एक आवश्यक शर्त है। केच, क्रचफील्ड तथा बेलैकी (1962) के अनुसार "व्यक्ति एवं समूह के मतों में द्वन्द्व के फलस्वरूप समूह-दबाव के द्वारा व्यक्ति में समूह के प्रति जो निर्णयात्मक एवं क्रियात्मक सहश्यता आ जाती है उसे समूह समरूपता कहते हैं' (The yielding of the individuals judgement or action to group pressure arising from a conflict between his own opinion and that maintained by the group) इससे व्यक्त होता है कि समूह-दबाव व्यक्त भी हो सकते हैं और अन्तर्निहित या अव्यक्त भी व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्षीकृत-समूह निर्णय या क्रियायें व्यक्ति के ऊपर दबाव डाल सकती हैं, क्योंकि उससे भिन्न क्रिया या निर्णय करने में व्यक्ति को शंका होती है कि वह गलत है।

रेंच (1952) के कथनानुसार "समरूपता का अर्थ है—दूसरों के प्रत्यक्षीकरण और व्यवहार के समान अपने प्रत्यक्षीकरण और व्यवहार को परिवर्तित करने से है।" (Conformity means, modifying one's perception and behaviour to achieve more similarity to the perception and behaviour of others.)

समरूपता उस समय घटित होती है जब व्यक्ति सामाजिक मानकों के अनुकरण हेतु अपने व्यवहार को परिवर्तित करते हैं। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा समूह अपने सदस्यों के व्यवहार, विश्वास क्रिया एवं विचारों को वांछित दिशा में ढालते हैं। ऐसा विचार मास्कोवीसी (1958) ने व्यक्त करते हुए कहा है—"Conformity occurs when individual change their behaviour in order to adhere to existing social norms—widely accepted rules indicating how people should behave in certain situations or under specific circumstances".

चर्चित परिभाषाओं की व्याख्या के आधार पर हम कह सकते हैं कि समरूपता व्यवहार की ऐसी प्रवृत्ति है, जिसमें व्यक्ति अपने प्रत्यक्षीकरण, व्यवहार एवं क्रियाओं को अपने समूह के मानकों या आदर्शों के अनुरूप परिवर्तित या परिमार्जित कर लेता है। अधिकांश व्यक्ति पुस्तकालय या अस्पताल में जोर से नहीं बोलते, बल्कि कानाफूसी करते हैं, जो समरूपता का एक स्पष्ट उदाहरण है। वे ऐसा इसलिये करते है, क्योंकि औपचारिक तथा अनौपचारिक नियमों के अनुसार पुस्तकालय में जोर-जोर

से बोलना अनुचित है। जीवन के अनेक सन्दर्भों में समरूपता के लिए दबाव पड़ते हैं और प्रायः सामाजिक व्यवहार पर व्यापक प्रभाव पड़ते हैं।

समरूपता के सिद्धान्त
(Theories of Conformity)

प्रश्न यह है कि लोग क्यों दूसरों के व्यवहार के अनुरूप व्यवहार करते है? किन परिस्थितियों में व्यक्ति समरूप व्यवहार करते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर हमें समरूपता विषयक दो सिद्धान्तों से मिलता है, जो "समरूपता क्यों और किन दशाओं में" आदि बातों की व्याख्या हेतु प्रतिपादित हुए हैं।

व्यक्तित्व सिद्धान्त (Personality Theory)—कुछ मनोवैज्ञानिक समरूपता के कारणों को व्यक्तित्व में निहित मानते हैं। व्यक्तित्व संरचना एवं व्यक्तित्व पूर्ववृत्तियों का अध्ययन करके समरूपता के कारणों पर प्रकाश डाल सकते हैं। बोर्कैल तथा कूपर (1979) के अनुसार कुछ व्यक्तियों के व्यक्तित्व की विशेषताएँ उनमें समरूपता की पूर्ववृत्ति (Predisposition) उत्पन्न कर देती है।

अनेक शोधकर्ताओं ने व्यवहार में समरूपता प्रदर्शित करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व लक्षणों को ज्ञात करने के प्रयास किये हैं। इस विषय में क्रचफील्ड (1955) ने एक महत्वपूर्ण अध्ययन व्यवसाय एवं सेना के अधिशासी अधिकारियों में समरूपता का अध्ययन किया है। अध्ययन के परिणामों से ज्ञात हुआ कि व्यवहार में समरूपता प्रदर्शित करने वाले अपेक्षाकृत कम बुद्धिमान होते हैं, नेतृत्व की क्षमता कम होती है और हीनता की भावना अधिक पायी जाती है। वे अपने माँ-बाप और संरक्षकों को आदर्श मानते हैं और बच्चों के पालन-पोषण में कड़ाई करते हैं। अधिक समरूप व्यवहार वालों की विशेषताओं की चर्चा करते हुए क्रचफील्ड ने बताया है कि यह कमजोर अहं शक्ति, कम अन्तर्दृष्टि, कम सहन शक्ति वाले, उत्तरदायित्व को स्वीकार न करने वाले, आवेगों को रोक न सकने वाले, स्वतः कुछ न करने वाले, पूर्वाग्रही तथा सत्तावादी अभिवृत्ति वाले होते हैं।

अनेक अध्ययनों में समरूप तथा स्वतन्त्र व्यवहार करने वालों के व्यक्तित्व में कोई भेद या अन्तर नहीं प्राप्त हुआ (मारलो तथा गरोन, 1970)। साथ ही यह सिद्धान्त विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले व्यवहार के बारे में पूर्वकथन करने में अधिक सक्षम नहीं है। यह भी देखा जाता है कि समान व्यक्तित्व गुण होते हुए भी व्यक्ति समरूप व्यवहार की मात्रा में समान नहीं होते।

समूह दबाव सिद्धान्त
(Group Pressure Theory)

व्यक्ति समूह के अन्य लोगों से अलग नहीं रहना चाहता। ऐसी दशाओं में

समूह के समान होने की प्रबल इच्छा होती है। ऐसे दबावों का कारण यह है कि समूह एवं समाज में व्यवहार करने की मुखरित और अमुखरित नियमितताएँ और आचरण के नियम होते हैं। समूह-दबाव पर आधारित उपागमों में एश (1952) केली (1952), डिचुश तथा जीरार्ड (1955), कैम्पबेल (1961) आदि प्रमुख हैं। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि व्यक्ति व्यवहार एवं विश्वासों के विषय में यथार्थ एवं उपयुक्त व्यवहार के बारे में जो जानकारी अर्जित करता है वह (i) व्यक्तिगत अनुभवों तथा सूचनाओं, और (ii) सामाजिक अथवा अन्य व्यक्तियों के अनुभवों और सूचनाओं पर आधारित होती हैं। समाज, सीखने का प्रभावशाली साधन है। इस प्रकार सूचनात्मक प्रभाव समरूपता में प्रमुख हैं जो कि समूह या समाज पर निर्भर करता है। सूचना का यह साधन आयु वृद्धि के साथ-साथ और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

सूचनात्मक प्रभाव के अलावा समूह एक अन्य प्रकार का दबाव भी डालता है जिसे डिचूश तथा जीरार्ड (Deutsch & Gerard, 1955) ने मानक-परक समूह दबाव (**Normative Social Pressure**) कहा है। यह दबाव व्यक्तियों को सामाजिक मानकों के अनुरूप होने के लिए विवश करता है, क्योंकि मानकों का अनुसरण न करने वाले समूह-अनुमोदन एवं समूह स्वीकृति तो खोते ही हैं शारीरिक और मानसिक दण्ड, चिन्ता, तनाव एवं द्वन्द्व का सामना भी करते हैं। अतः सहमत न होते हुए भी व्यक्ति समूह के मानकों के अनुरूप व्यवहार करता है।

यह निर्विवाद है कि व्यक्ति पर समूह दबाव पड़ता है और यह व्यवहार में समरूपता का एक प्रमुख कारण है। यह समूह दबाव दो रूपों में पड़ता है—(i) समूह व्यक्ति को कुछ सूचनाएँ देता है तथा व्यक्तियों से उनके समरूप बनने की प्रत्याशा करता है। (ii) समूह द्वारा दण्डित किये जाने का भय समरूप व्यवहार के लिये सदस्यों को उत्प्रेरित करता है। इनमें प्रथम प्रकार के दबाव से साधारण समरूपता तथा दूसरे प्रकार के दबाव से निजी स्वीकृति अभिव्यक्त होती है। एलेस (1965) ने इस विषय में हुए अध्ययनों की समीक्षा के बाद बताया है कि मानक सम्बन्धीदबाव से सार्वजनिक अनुपालन घटित होता है। समूह के दण्ड के भय या चिन्ता से समरूपता अवश्य आती है किन्तु वह मात्र बाह्य या दिखाने के लिये होती है, वास्तविक या आन्तरिक नहीं होती। मजबूरी वश या विवशता के कारण समरूप बनने का प्रयास व्यक्ति करते हैं किन्तु ज्योंही वह मजबूरी समाप्त होती है वे उस अभिवृत्ति या व्यवहार का समर्थन त्याग देते हैं और कभी-कभी तो आलोचना भी करने लगते हैं। दबाव/भय या चिन्ता के कारण व्यवहार या अभिवृत्ति का परिवर्तन अस्थायी होता है, अथवा वास्तव में व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता

व्यक्ति मात्र वाग्डम्बर का सहारा लेकर अन्य व्यक्तियों या समाज को बेवकूफ बनाता है ।

इस सन्दर्भ में प्रथम प्रश्न के बाद जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि समूह व्यक्ति से समरूप व्यवहार की प्रत्याशा क्यों करता है ? समूह चालन परिकल्पना (Group locomotion hypothesis) के अनुसार समूहों के पूर्वनिश्चित लक्ष्य होते हैं जिन तक पहुँचना चाहता है जैसे श्रमिकों की यूनियन का लक्ष्य श्रमिकों को अधिक वेतन समेत अन्य सुविधाएँ दिलवाना होता है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि सदस्यगण समूह के मानकों के समरूप व्यवहार करें और समूह के नियमों एवं परम्पराओं का पालन करें। ऐसे समूह निर्देशों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समूह दबाव समरूपता व्यवहार उत्पन्न करने का एक सशक्त कारण है।

समरूपता के निर्धारक
(Determinants of Conformity)

समरूप व्यवहार के कारणों को समझने के लिए समरूपता के सिद्धान्तों की चर्चा की गई किन्तु यह "समरूपता क्यों" को पूर्ण रूप में स्पष्ट नहीं करते। समरूपता को अनेक कारक प्रभावित करते हैं, जिनकी जानकारी समरूप व्यवहार के कारणों को समझने में सहायक हो सकती है। इन कारकों के विषय में हुए अध्ययनों से तीन प्रकार के कारक प्रकाश में आये हैं—व्यक्ति की विशेषतायें (Individual characteristics), समूह की विशेषतायें (Group characteristics), तथा कार्य की विशेषतायें (Task characteristics) ।

1. व्यक्ति की विशेषताएँ—सामाजिक अनुरूपता की मात्रा समूह के सदस्यों के स्वभाव और उनकी विशेषताओं से भी प्रभावित होती है। इस विषय में हुए कुछ अध्ययन दर्शाते हैं कि समूह के एक सदस्य में अन्य सदस्यों के प्रति आकर्षण की मात्रा समरूपता की मात्रा को प्रभावित करती है, अर्थात् व्यक्ति के मन में समूह के अन्य लोगों के लिए आकर्षण अधिक होने पर समरूपता अधिक होती है। (बैक, 1951; रैवेन, 1959; बर्कोविट्ज, 1957; ब्रेहम तथा फेस्टिंजर, 1957)। सामाजिक संस्थिति (Social Status) निम्न होने पर समरूपता अधिक होती है (ब्लेक तथा माउटन, 1955; रैवेन तथा फ्रेंच, 1958,)।

स्मिथ (1961), हाकबाम (1964) तथा ब्रे (1950) आदि ने यह दर्शाया कि समूह के सदस्यों में आत्मविश्वास की मात्रा समरूपता से सम्बद्ध है, अर्थात् आत्मविश्वास अधिक होने पर समरूपता कम होती है और आत्मविश्वास कम होने पर समरूपता अधिक देखी जाती है। इसके अतिरिक्त डिट्स तथा केली

(1956). केली तथा शापिरो (1954) आदि ने देखा कि जब व्यक्ति समूह द्वारा अस्वीकार किया जाता है तो वह समरूप व्यवहार अधिक करता है।

कुछ अन्य अध्ययन से यह स्पष्ट करते हैं कि व्यक्ति की कार्य में कुशलता एवं दक्षता की अधिकता समरूप व्यवहार की न्यूनता का सूचक हो सकती है रोजेनबर्ग (1961)। एक अध्ययन में मिलग्राम (1961) ने नार्वे तथा फ्रांस निवासियों में समरूपताके तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात किया कि फ्रांसीसियों की अपेक्षा नार्वे के लोग अधिक समरूप व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। इन विभिन्नताओं का कारण समाजीकरण की विभिन्न प्रणालियों का अनुसरण हो सकता है।

2. **समूह की विशेषतायें**—समूह की अनेक विशेषतायें समरूपता की मात्रा और प्रकार को प्रभावित एवं निर्धारित करती हैं। समूह की इन विशेषताओं में समूह की संसक्तता, आकार, संरचना, निर्णय की सीमान्तता तथा उत्पीड़न शक्ति आदि प्रमुख हैं। समरूपता की मात्रा एवं स्वरूप बहुत कुछ इन विशेषताओं पर निर्भर करता है। अतः इनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है।

(i) **समूह की संसक्तता** (Group Cohesiveness)—किसी समूह के अन्य समूहों से अधिक प्रभावशाली होने के कारणों में समूह संसक्तता प्रमुख है। सदस्यों में समूह के प्रति आकर्षण अधिक होने पर समरूपता भी अधिक होती है, और आकर्षण संसक्तता पर निर्भर करता है। अतः अधिक आकर्षक समूह अधिक संसक्त कहा जाता है। समूह में संसक्तता अधिक होने पर समूह, सदस्यों पर समरूपता के लिए अधिक प्रबल दबाव डालता है। (फारसिथ, 1983) संसक्तता सभी समूहों में समान नहीं होती है अतः समरूपता की मात्रा भी समान नहीं होती। फेस्टिंजर तथा अन्य (1950), लाट तथा लाट (1961) हेन्स, (1962), तथा बाकर (1962) ने अपने परिणामों से दर्शाया है कि समूह में संसक्तता की मात्रा जितनी अधिक होगी समूह मानकों के प्रति समरूपता की मात्रा भी उसी अनुपात में अधिक होगी।

(ii) **समूह का आकार**–समरूपता की प्रवृत्ति को प्रभावित करने वाले समूह विषयक कारकों में समूह का आकार एक अन्य प्रमुख कारक है। समूह के आकार तथा समरूपता का सम्बन्ध काफी जटिल है। सामान्य धारणा बिल्कुल सत्य नहीं है कि समूह आकार का बड़ा होना समरूपता को बढ़ाएगा। समूह आकार का बड़ा होना अवश्य समरूपता में वृद्धि करता है किन्तु एक निश्चित सीमा तक ही बड़ा आकार ऐसा करता है, उसके समूह आकार में वृद्धि समरूपता के लिए समूह दबाव में वृद्धि नहीं कर पाता। एक शोध (ऐश, 1951) से यह सत्यापित हुआ कि जब एक व्यक्ति का विरोध एक व्यक्ति करता है तो दबाव न्यूनतम होता है, जब विरोध में

दो-तीन व्यक्ति होते हैं तो दबाव क्रमशः बढ़ता है किन्तु चार-पाँच व्यक्तियों द्वारा विरोध किए जाने पर समूह दबाव अधिकतम होता है। अधिक दबाव का तात्पर्य समरूपता की अधिकता हैं। जब दबाव डालने की संख्या चार-पाँच से भी अधिक होती है तो समरूपता की मात्रा में कोई अतिरिक्त वृद्धि नहीं होती। शेरिफ (1935) के अध्ययन में प्रयोज्यों में स्वतन्त्र रूप से मानकों के विकसित होने के बाद समूह के रूप में अंधकार कक्ष में रखकर प्रकाश के गति की दूरी का निर्णय कराया गया तो साथ निर्णय करने में निजी मानकों में अभिमुखता (Convergence) की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ी। इस प्रकार समूह का बड़ा आकार समरूपता को अवश्य बढ़ाता है किन्तु आकार पाँच से अधिक होने पर व्यक्ति की समरूपता पर कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता।

एक अन्य प्रयोग द्वारा ऐश (1656) ने सूचनात्मक तथा मानकीय दबावों द्वारा प्राप्त विभिन्न प्रभावों को दर्शाने का प्रयास किया है।

उन्होंने देखा कि समूह का आकार चाहे बड़ा हो या छोटा, मात्र, एक व्यक्ति का विचलन समरूप व्यवहार की तीव्रता में न्यूनता लाता है किन्तु जब प्रयोज्य सूचनात्मक प्रभाव के सम्बन्ध में प्रविचार करता है तो केवल एक व्यक्ति के विचलन का समरूपता की मात्रा पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। लेकिन मानकीय-समूह प्रभाव के प्रति प्रयोज्य द्वारा प्रतिचार के समय विचलनकर्त्ता के एक होने पर समरूपता पर अधिक प्रभाव पड़ता हैं। सेना में अधिक समरूपता और नियमों की घटनायें नहीं होती हैं क्योंकि ऐसी दशा में विचलन का कोर्टमार्शल और कठोर दण्ड का प्राविधान होता है।

(iii) **समूह-संरचना**—समरूपता समूह की संरचना द्वारा भी प्रभावित होती है। जब समूह के कुछ व्यक्ति किसी बात को लेकर निरोध करते हैं तो व्यक्ति विरोधियों से अपनी तुलना करता है—व्यक्ति स्वयं विरोधियों से किसी विशेष ज्ञान के कारण श्रेष्ठ है, समतुल्य है या निम्न है। यदि विरोधियों में क्षमता/योग्यता अधिक है तो उनके निर्णय हमें प्रभावित करते हैं और हम समरूप व्यवहार करते हैं। समतुल्य या समकक्ष व्यक्तियों द्वारा जब किसी समूह का निर्माण होता है तो व्यक्ति और समूह में भिन्नताएँ उनमें द्वन्द्व को बढ़ा देती है।

समूह में अपरिचित व्यक्ति भी हो सकते हैं और परिचित भी शामिल हो सकते हैं और इसका भी समरूपता पर विभेदक प्रभाव पड़ सकता है। यह सम्बन्ध काफी जटिल हो सकता है। समूह के सदस्यों में परिचितों या मित्रों के होने से अधिक आत्मीयता, अपनेपन का आभास तथा अधिक सांवेगिक सुरक्षा का अनुभव होता है। साथ ही साथ मित्रों एवं परिचितों के निर्णयों से शीघ्र प्रभावित होने और तदनुसार अधिक समरूता की अपेक्षा की जाती है।

(iv) समूह सहमति की मतैक्यता (Unanimity of Group Consensus) :—समूह मतैक्य समरूपता को प्रभावित करने वाला एक अन्य प्रभावशाली कारक है। ऐश (1951) ने अपने एक अध्ययन में सामाजिक समर्थन तथा सामाजिक दबाव के प्रति प्रतिरोध के महत्व पर प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। ऐश ने दो स्थितियों में तुलनात्मक अध्ययन किया, एक प्रायोगिक दशा में प्रयोज्य पर सर्वसम्मति का दबाव था और दूसरी दशा में प्रयोज्य को समूह के केवल एक अन्य व्यक्ति का समर्थन प्राप्त था, और बाकी सदस्य उसके विरोधी थे। निष्कर्षों से प्रगट होता है कि प्रथम दशा में अधिक समरूपता प्राप्त हुई जिसका स्पष्ट कारण समूह की सर्वसम्मति थी। दूसरी दशा में समूह के केवल एक व्यक्ति का समर्थन प्राप्त होने के कारण समरूपता की मात्रा न्यून हो गई इसमें स्पष्ट है कि जोरदार ढंग से विरोधी विचार व्यक्त किये जाने पर सहमत व्यक्तियों पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इसके द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि विरोधी मत के प्रकाशन से विश्वासों और विचारों में परिवर्तन चाहे न हो, विरोधी विचारधारा और दृढ़ होती है। कुछ अध्ययनों के अनुसार जब विकृत समूह मानक व्यक्ति द्वारा किये गये निर्णय विस्तार की सीमा में होते हैं तो उस विकृत मानक के प्रभाव से निर्णय की सादृश्यता में वृद्धि आती है या समरूपता में वृद्धि आती है, किन्तु जब विकृत समूह मानक व्यक्ति के निर्णय विस्तार की सीमा के बाहर होता है तो उसके कारण निर्णय की सादृश्यता घटती है।

(v) समूह की उत्पीड़न शक्ति (Coercive Strength) :—समूहों द्वारा विभिन्न मात्रा में उत्पीड़न शक्ति का अनुप्रयोग मानकों से विचलित होने पर किया जाता है। जिस समूह की उत्पीड़न शक्ति अधिक होती है उसमें समरूप व्यवहार अधिक देखा जाता है। मानकों के प्रति प्रतिरोध व्यक्त करने पर समूह व्यक्त या अव्यक्त दण्ड, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बल का उपयोग करते हैं जैसे धमकी या समरूपता के लिये पुरस्कार दोनों ही समरूप व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

समूह द्वारा उत्पीड़न बल का उपयोग इस पर निर्भर करता है कि व्यक्ति के विरोध से समूह की उपलब्धियाँ कितनी प्रभावित होंगी। जब विरोध का प्रभाव बहुत ही न्यून या बिल्कुल नहीं होता तो समूह उत्पीड़न बल का अनुप्रयोग नहीं करता। किन्तु जब सदस्य के विरोध से समूह की उपलब्धि प्रभावित होती है या किसी अन्य रूप में समूह का अहित होता है तो समूह विरोध करने वाले को उत्पीड़न का भय दिलाकर उन्हें समरूप व्यवहार के लिये विवश करता है।

3. संकृत्य की विशेषतायें (Task characteristics)—विभिन्न संकृत्यों के निष्पादन में व्यक्तियों की समरूपता की मात्रा निश्चित करने के उद्देश्य से भी अनेक अध्ययन हुये हैं। यह देखा गया है कि सुगम एवं सुनिश्चित संकृत्यों की तुलना

में जटिल एवं अस्पष्ट संकृत्यों में अधिक समरूपता के प्रमाण मिले हैं (ब्लेक, हेल्सन तथा माउटन, 1956)। एक अन्य अध्ययन (जिसकी चर्चा इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं) में ऐश ने विभिन्न लम्बाई की रेखायें प्रस्तुत कर प्रयोज्यों से विभेदन करने को कहा तो यह प्राप्त हुआ कि रेखाओं की लम्बाई में अन्तर कम होने पर प्रयोज्यों के निर्णय से अधिक समरूपता का परिचय मिला और रेखाओं की लम्बाई में अन्तर अधिक होने पर समरूपता में कमी आई। उसने यह प्रदर्शित किया कि सुगम की अपेक्षा संकृत्यों के जटिल होने पर अधिक मात्रा में समरूपता प्रदर्शित हुई।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? वास्तव में संकृत्य के जटिल एवं अस्पष्ट होने की दशा में प्रयोज्य समूह से अतिरिक्त सूचना प्राप्त करते हैं, दूसरी संकृत्य के सुगम होने पर मानकीय दबाव ही समरूपता उत्पन्न करने लिये काफी होता है। अतः संकृत्य का स्वरूप समूह दबाव तथा समरूपता की मात्रा—दोनों को प्रभावित करता है (डियूश तथा जीरार्ड, 1955)।

इस प्रकार समरूपता की मात्रा तथा स्वरूप पर व्यक्ति की विशेषताओं, समूह की विशेषताओं तथा कार्य की विशेषताओं का प्रभाव पड़ता है।

समरूपता के आधार
(Bases of Conformity)

हम दूसरों के समान निर्णय क्यों करते हैं? समरूप व्यवहार करेंगे या नहीं और इसकी मात्रा अनेक कारकों पर निर्भर करती है जिनमें कुछ प्रमुख कारकों की चर्चा की गई। एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि समरूप व्यवहार बहुत ही सामान्य है। अधिकांश व्यक्ति अधिकांश मानकों के प्रति समरूप व्यवहार करते हैं। इसमें एक प्रश्न उठता है ऐसा क्यों है? जैसा कि आप स्वयं समझते हैं इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल नहीं है। समरूपता के पीछे निहित प्रमुख कारकों में मनुष्य की दो बुनियादी आवश्यकतायें निहित होती है—पसन्द किये जाने की इच्छा तथा शुद्ध होने की इच्छा (इन्सको, 1985)—

(i) पसन्द किये जाने की इच्छा (The desire to be liked)—इसका सम्बन्ध मानकीय सामाजिक प्रभाव से है। प्रश्न यह है कि दूसरों में अपने प्रति पसन्द की भावना कैसे उत्पन्न करें? यह सामाजिक जीवन की एक प्राचीन पहेली है। अनेक व्यपदेश इस सम्बन्ध में कारगर हो सकते हैं। एक सर्वाधिक सफल प्रणाली के अनुसार हम दूसरों के समान होने का प्रयास करते हैं, क्योंकि समानता पसन्द उत्पन्न करने की बहुत ही लोकप्रिय तकनीक मानी जाती है। दैनिक जीवन में माता-पिता, परिवार जन तथा स्कूल में अध्यापक-गण तथा मित्र आदि समानता प्रदर्शित करने पर स्वीकृति, अनुमोदन एवं प्रशंसा की बौछार करते हैं। इस प्रकार

हम समाजीकरण के अन्तर्गत समान बनना सीख लेते हैं क्योंकि इससे स्नेह, प्रेम और समूह का अनुमोदन प्राप्त होता है। इस साधन से उत्पन्न समरूपता मानकीय सामाजिक प्रभाव कहलाती है।

(ii) सही होने की इच्छा : सूचनात्मक सामाजिक प्रभाव (The desire to be right : Informational social influence)–यदि आप किसी नगर की जनसंख्या को जानना चाहते हैं तो एटलस में या जनगणना कार्यालय में देखते हैं। इसी प्रकार यदि किसी कमरे की लम्बाई-चौड़ाई जानना चाहते हैं तो उसे नाप सकते हैं किन्तु आप विभिन्न राजनैतिक विचारों की शुद्धता कैसे निश्चित कर सकते हैं या यह कैसे शुद्धतापूर्वक निश्चित कर सकते हैं कि कौन से कपड़े सबसे आकर्षक और स्टाइलिश हैं। इन बातों/वस्तुओं के माप या परीक्षा के कोई सरल माप उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी हमें सही होने की तीव्र इच्छा होती है। इस समस्या का समाधान आसान है, हम ऐसे प्रश्नों के विषय में सूचना प्राप्त करने के लिये अन्य लोगों के मत, निर्णय या विचार ज्ञात करते हैं। हम अन्य व्यक्तियों के मतों और क्रियाओं को अपने लिए गाइड के तौर पर प्रयोग करते हैं समरूपता के इस महत्वपूर्ण साधन को सूचनात्मक सामाजिक प्रभाव कहते हैं जो दैनिक जीवन का मौलिक अंग है। अनगिनत परिस्थितियों में हम अन्य लोगों के समान सोचते और क्रिया करते हैं, क्योंकि इसमे हम अपने सही होने के विषय में आश्वस्त होते हैं।

इस प्रकार पसन्द किये जाने की इच्छा (मानकीय सामाजिक प्रभाव) और सही होने की तीव्र इच्छा (सूचनात्मक सामाजिक प्रभाव) के कारण व्यवहार की प्रामाणिक रीति अर्थात् समरूपता का प्रदर्शन करते हैं।

अनुपालन
(Compliance)

हम दूसरों के व्यवहार एवं निर्णय पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यद्यपि पूर्ण नियंन्त्रण सम्भव नहीं है तो भी अनेक विधियों का उपयोग सामाजिक प्रभाव डालने के लिये होता है। इनके द्वारा हम अपनी इच्छानुसार अन्य लोगों की अभिवृत्तियों, व्यवहार और भावनाओं में परिवर्तन लाते हैं (Cowan, Drinkard, and Mc Gavin, 1984)। इनमें सबसे महत्वपूर्ण, उभयनिष्ठ और प्रभावशाली विधियां हैं–समरूपता, अनुपालन और आज्ञाकारिता (Compliance, Obedience)।

समरूपता की चर्चा हम कर चुके हैं अनुपालन (Compliance) सामाजिक प्रभाव का बहुत प्रत्यक्ष और निजी रूप है। कभी-कभी हम दूसरों के निवेदन या आग्रह पर अपने व्यवहार परिवर्तित कर लेते हैं। इस प्रकार अन्य लोगों द्वारा आग्रह और निवेदन सामाजिक जीवन का आवश्यक अंग है। विक्रेता अपनी वस्तुएँ बेचने

के समय निवेदन/आग्रह करते हैं तो मित्र हमसे व्यवहार के विभिन्न पक्षों को परिवर्तित करने का निवेदन करते हैं और राजनैतिक नेता वोट तथा आर्थिक समर्थन की प्रार्थना करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष निवेदन द्वारा अनुपालन कराने का प्रयास सामाजिक प्रभाव का एक अति सामान्य उपाय है।

यद्यपि प्रगट रूप में अनुपालन का प्रयास बहुत सीधा और प्रत्यक्ष प्रतीत होता है किन्तु इसमें कुछ विशेष व्यपदेश और विभिन्न चरण निहित होते हैं। हम दैनिक जीवन में दूसरों से अनुपालन कराने में अनेक व्यपदेशों का उपयोग चेतन या अचेतन रूप में करते हैं, इनमें सबसे सफल व्यपदेश—(i) चाटुकारिता (Ingratiation), (ii) पारस्परिकता (Reciprocity), (iii) बहु-आग्रह Multiple request).

(i) चाटुकारिता (Ingratiation) :—अधिकांश लोगों में दूसरों द्वारा पसन्द किए जाने की तीव्र इच्छा होती है। यद्यपि इस प्रेरक की उत्पत्ति विभिन्न साधनों से होती है, इनमें सबसे सरल यह है—हमें आभास होता है कि यदि दूसरे लोग हमें पसन्द करते हैं तो वे हमारे लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। हमारी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं, विभिन्न कार्यों द्वारा हमारी सहायता कर सकते हैं और हमारे निवेदन पर "हाँ" कहेंगे। अनुपालन कराने की एक सामान्य प्रणाली चाटुकारिता के पीछे इसी मौलिक तथ्य की मान्यता निहित होती है। इस प्रणाली में सर्वप्रथम हम दूसरों में अपने प्रति पसन्द उत्पन्न कराने का प्रयास करते हैं, तब उनसे निवेदन या आग्रह करते हैं (जोन्स, 1964)। सियालडिनी (1985) दूसरों से आग्रह की अपील को बढ़ाने की अनेक विधियाँ हैं।

सर्वप्रथम, अपने प्रति पसन्द बढ़ाने के लिए हम अपनी शारीरिक रंग-रूप, की ओर ध्यान देते हैं। बर्सचाइड (Berscheid, 1985) के अनुसार अनाकर्षक की अपेक्षा आकर्षक व्यक्ति अधिक पसन्द किए जाते हैं। दूसरे, हम उन्हें आश्वस्त करने का प्रयास कर सकते हैं कि हम अनेक मायनों में उनके समान हैं। इस समानता का प्रदर्शन अभिवृत्तियों, रुचियों, विश्वासों, विचारों और शीलगुणों की उपयोग कर सकते हैं जिसमें अन्य व्यक्तियों के प्रति तरह-तरह से सम्मान व्यक्त करने और ऊँचा उठाने के प्रयास निहित होते हैं (Wortman & Linsenmeier, 1977)। जिस व्यक्ति को बाद में प्रभावित करने के प्रयास करते हैं पहले उसे तरह तरह के उपायों से प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं—हाँ में हाँ मिलाना, अभिवादन के अनेक उपाय, बात-बात पर उन्हें बधाई देना, विचारों से सहमति व्यक्त करना आदि। चौथा उपाय प्रभाव व्यवस्था (Impression management) है। इसके अन्तर्गत हम अन्य व्यक्ति को आश्वस्त करते हैं कि हमारे भीतर अनेक वांछित

शीलगुण जैसे बुद्धि, मैत्री आदि मौजूद हैं। अन्त में, हम दूसरों की पसन्द, प्रशंसात्मक घटनाओं या ऐसे व्यक्तियों से सहचारिता (जिन्हें वे पसन्द करते हैं) के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

गाडफ्रे, जोन्स तथा लार्ड (1986) ने अपने अध्ययन द्वारा इन व्यपदेशों के उपयोग के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त किये हैं। इन शोधकर्ताओं ने अपरिचित युग्मों से दो संक्षिप्त मन्त्रणा करने का आदेश दिया। हर जोड़े के एक सदस्य से कहा गया कि वह अन्य व्यक्ति में अपने प्रति अधिक से अधिक पसन्द उत्पन्न करने का प्रयास करे। नियन्त्रित समूह के प्रयोज्यों को ऐसा कोई निर्देश नहीं दिया गया। मन्त्रणा पूरी होने पर प्रयोज्यों ने एक दूसरे को अनेक विभाओं के आधार पर मूल्यांकित किया। इसके अतिरिक्त उनकी बातचीत के विडियोटेपों का कूटसंकेतन और विश्लेषण दो प्रशिक्षित मूल्यांकनकर्ताओं द्वारा कराया गया। परिणामों से ज्ञात हुआ कि प्रायोगिक समूह (चाटुकारिता द्वारा पसन्द उत्पन्न करने वालों) के प्रयोज्य अपने युग्मों में पसन्द उत्पन्न करने में सफल हुए, क्योंकि उनके पार्टनर्स ने उन्हें अधिक पसन्द योग्य मूल्यांकित किया। नियन्त्रित समूह के मूल्यांकन से प्रभाव नहीं प्राप्त हुआ। चाटुकार प्रयोज्यों ने बातचीत कम की, परन्तु अपने पार्टनर के प्रति मन्त्रणा के दूसरे दौर में अधिक सहमति व्यक्त की।

इस प्रकार चाटुकारिता की विभिन्न तकनीकों के उपयोग से हम अपने प्रति दूसरों की पसन्द को बढ़ा सकते हैं, किन्तु किसी भी चीज की अधिकता अनुचित होती है, ठीक उसी प्रकार चाटुकारिता तकनीकों का भी आवश्यकता से अधिक उपयोग उद्देश्य को न केवल पराजित करता है वरन् कभी-कभी उल्टा प्रभाव भी उत्पन्न करता है। जब भी चाटुकारिता की अधिकता हो जाती है तो लक्ष्य व्यक्ति इससे अवगत हो जाता है कि उसको मक्खन लगाया जा रहा है। अतः चाटुकारिता का लाभ उस समय अधिक होता है, जब इसका उपयोग कुशलतापूर्वक और समझ-बूझकर किया जाता है। ऐसी दशा में चाटुकारिता अनुपालन कराने का सशक्त माध्यम होता है।

(ii) पारस्परिकता (Reciprocity) :—क्या कभी आपको ऐसा उपहार मिला है, जिसे आप नहीं चाहते थे ? इसमें एक अनचाहा आबन्ध (Obligation) शामिल होता है। किन्तु एक बार इस अनचाहे उपहार को प्राप्त कर लेने के बाद किसी न किसी रूप में आप को भी उस व्यक्ति के लिए कुछ करना होगा, कोई वस्तु उपहार स्वरूप देते हैं। आपकी यह भावना सामाजिक जीवन के एक प्रमुख नियम को प्रदर्शित करती है, जिसे पारस्परिक मानक (Norm of reciprocity) कहते हैं इस नियम के अनुसार हम जो अपने लिये उचित समझते हैं, वही दूसरों के लिए भी उचित समझते हैं। यदि उन्होंने हमें लाभ पहुँचाया है तो हमें भी उन्हें

लाभ पहुँचाने का प्रयास करना चाहिये या हमारे प्रति जो अच्छी भावना रखते हैं तो हम भी उनके प्रति वैसी ही भावनाएँ रखते हैं।

यद्यपि पारस्परिकता अनेक प्रकार की सामाजिक अन्तःक्रियाओं में लाभप्रद भूमिका निभाती है, तथापि इनका उपयोग अनुपालन प्राप्ति की एक तकनीक के रूप में भी हो सकता है। दूसरों को प्रभावित करने की इच्छा होने पर हमें उसके छोटे-मोटे कार्य करना चाहिये, छोटे-छोटे उपहार आदि देना चाहिये या उस व्यक्ति का पक्ष लेना चाहिये। एक बार ऐसा कुछ करने पर लक्ष्य व्यक्ति आभारी सा हो जाता है और उसके निवेदन को ठुकराने में कठिनाई का अनुभव करता है (रेगन, 1971), सियाल्डिनी (1985) के अनुसार अमेरिका में हरेकृष्ण सम्प्रदाय वाले लोगों को पहले फूलों का उपहार देते हैं, जब लोग बिना आपत्ति इस साधारण उपहार को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उनसे अपने सम्प्रदाय के लिए साधारण दान का निवेदन करते हैं। केवल कुछ ही लोग ऐसे होते हैं, जो फूल लेकर बिना दान दिये चले जाते हैं। यह तकनीक आरम्भ में बहुत सफल रही, किन्तु शीघ्र ही लोग हरेकृष्ण मिशन के सदस्यों को जहाँ देखते, रास्ता बदल देते, ताकि उनके अनचाहे उपहार से परिहार कर सकें। इस प्रकार निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि हमें अनचाहे उपहारों से बचना चाहिये, क्योंकि हमसे अनुपालन कराने का यह पहला चरण हो सकता है।

(iii) **बहु-आग्रही तकनीक (Multiple requests)** :—लोग प्रायः अपनी इच्छाओं के अनुरूप अनुपालन चाहते हैं तो अपने प्रयासों को एक बार आग्रह तक सीमित नहीं रखते। वे प्रायः एक, दो चरणों वाली तकनीक का उपयोग अपनी सफलता की सम्भावना बढ़ाने के लिए करते हैं। इस प्रकार एक निवेदन से आरम्भ करते हैं, ताकि द्वितीय निवेदन के प्रति अनुपालन की इच्छा उसमें बढ़ जाय। ऐसी अनेक तकनीकों में द फुट इन द डोर तकनीक (The foot in the door technique), द डोर इन द फेस (The door in the face) तथा लोबालिंग तकनीक (Lowballing technique) प्रमुख हैं।

(A) **द फुट-इन-द-डोर (The foot in the door)**:—इसमें लक्ष्य व्यक्ति से आरम्भ में छोटे-मोटे निवेदन किये जाते हैं और बाद में बड़ी बातों के लिये निवेदन करते हैं। एक कहावत है कि "अँगुली पकड़ते पकड़ते पहुँचा (हाथ) पकड़ना", इसी प्रकार अमेरिका में एक कहावत है—"Give them an inch and they will take a mile" उन्हें एक इञ्च दो, वे स्वयं एक मील ले लेंगे। इसका अभिप्राय यह है कि अनुपालन का प्रयास कराने वाले आरम्भ में बहुत साधारण निवेदन करते हैं, जब यह मंजूर हो जाता है, तब अधिक बड़े या महत्त्वपूर्ण निवेदन करते हैं।

इस तकनीक की सफलता का मूल्यांकन करने के लिये अनेक अध्ययन हुये हैं। इस परिकल्पना की आरम्भिक परीक्षा हेतु फ्रीडमैन व फ्रेंजर (1966) ने दो स्नातक प्रयोगकर्ताओं की व्यवस्था की, जिसमें उन्हें उपनगरीय महिलाओं से उनके घरों में सम्पर्क करना था—पहले एक छोटा निवेदन, तब फिर एक बड़ा निवेदन करना था। पहले महिलाओं से सुरक्षित ड्राइविंग के पेटीशन या कैलीफोर्निया नगर को सुन्दर रखने के आवेदन पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। फिर दो सप्ताह बाद एक अन्य प्रयोगकर्ता ने सम्पर्क किया (प्रत्येक घर जाकर) और प्रत्येक प्रयोज्या से अपने लान में वाहन सुरक्षा विषयक एक अनाकर्षक बोर्ड दो सप्ताह तक लगाने का निवेदन किया। नियन्त्रित समूह से केवल दूसरा निवेदन किया गया (बोर्ड लगाने)। परिणामों से फुट-इन-डोर प्रभाव परिकल्पना को प्रबल समर्थन मिला—जिन प्रयोज्याओं ने पहले ड्राइविंग सुरक्षा के आवेदन पर हस्ताक्षर किये थे, वे द्वितीय निवेदन (बड़े निवेदन) का अधिक अनुपालन किया। कुछ बाद के अध्ययनों के परिणाम इतने नाटकीय नहीं रहे (बी मैन तथा अन्य 1983) तथापि इस तकनीक की अनुपालन प्राप्ति की प्रभावोत्पादकता असंदिग्ध रही (बैरन, 1973)।

प्रश्न यह है कि यह प्रभाव क्यों घटित होता है? समाज-मनोवैज्ञानिकों की व्याख्या के अनुसार यह व्यक्तियों के आत्मप्रत्यक्षीकरण के कारण होता है। एक छोटे निवेदन को स्वीकार करने के बाद प्रयोज्य अपने स्वप्रत्यक्षीकरण (Self Perception) में विचलन का अनुभव करते हैं। वे अपने आपको दूसरों के निवेदन पर सहायता करने वाले के रूप में देखने लगते हैं। अतः पुनः सम्पर्क पर पहले से बड़े निवेदन को भी स्वीकार कर लेते हैं (स्नाइडर तथा कनिंघम, 197:, देजांग, 1979)। इस व्याख्या को देजांग (1979) के अनुसार पर्याप्त समर्थन प्राप्त है। इसके घटित होने के लिए कम से कम दो दशाओं का होना आवश्यक है—प्रथम निवेदन को इतना बड़ा होना जरूरी है कि व्यक्ति अपने व्यवहार के निहितार्थों पर विचार करे, द्वितीय दशा स्वतन्त्र चयन का प्रत्यक्षीकरण है। यदि कोई व्यक्ति अनुपालन के लिये अपने को बाध्य पाता है तो आन्तरिक स्वभाव को उस व्यवहार का कारण नहीं माना जा सकता। वास्तव में अनुपालन के किसी भी बाह्य औचित्य के कारण फुट-इन-द-डोर प्रभाव को दुर्बल या समाप्त कर देगा। जो लोग प्रथम निवेदन को ही अस्वीकृत कर देते हैं, उनके विषय में स्वप्रत्यक्षीकरण स्पष्ट संकेत देता है कि वे आगे या भविष्य में भी निवेदनों को अस्वीकार करेंगे।

दूसरे स्पष्टीकरण के अनुसार संभवतः एक छोटे निवेदन के प्रति सहमत होने से प्रयोज्य सहायतार्थ परिस्थितियों के विषय में अधिक विधेयात्मक दृष्टिकोण बना लेते हैं। अतः वे भविष्य में बड़े या महत्वपूर्ण निवेदन के प्रति अनुपालन-व्यवहार प्रदर्शित करते हैं (रिंद्ल, 1981)। बाद के शोधों से इस स्पष्टीकरण की पुष्टि हुई है।

सम्प्रत में इन दो स्पष्टीकरणों में स्पष्ट चयन करना न तो संभव है, न ही आवश्यक है।

(B) द डोर-इन-द फेस (The door-in-the face)—इसमें प्रथम निवेदन बृहत तथा द्वितीय लघु होता है जो प्रथम तकनीक की ठीक विरोधी प्रतीत होती है। इसमें आरम्भ में ही किसी बड़ी बात या महत्वपूर्ण फेवर का अनुपालन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं—जिसे लक्ष्य व्यक्ति द्वारा अस्वीकृत किये जाने की संभावना अधिक होती है। प्रथम निवेदन अस्वीकृत हो जाता है तब किसी साधारण कार्य (छोटा निवेदन) का आग्रह किया जाता है। वास्तव में लक्ष्य व्यक्ति से इस दूसरे निवेदन की ही मनवाना होता है अर्थात् बन्दूक का लाइसेंस दरकार होने पर तोप का लाइसेंस मांगिये तो कम से कम बन्दूक का लाइसेन्स तो पा ही जायेंगे।

सियाल्डिनी तथा उनके सहयोगियों (1975) ने इस पद का अनुप्रयोग आरंभ किया। (Cialdini etal (1975) suggested that on some occasions people who refuse an initial request may be more likely to agree to a subsequent request) इनके अनुसार कुछ अवसरों पर जो लोग आरम्भिक निवेदन अस्वीकृत करते हैं, उनके उत्तरवर्ती निवेदन से सहमत होने की संभावना अधिक होती है। इन शोधकर्त्ताओं ने सड़क पर कालेज के विद्यार्थियों को रोक कर एक व्यापक निवेदन किया—क्या वे दो साल तक प्रति सप्ताह दो घंटे बाल अपराधियों के उपचार में अवैतनिक काउंसेलर के रूप में कार्य करेंगे? जैसा कि अत्याशित है कोई भी तैयार नहीं हुआ तो निवेदन को घटाया—क्या वे बाल अपराधियों के एक समूह को दो घन्टे के लिये चिड़ियाघर घुमाने ले जायेंगे? पचास प्रतिशत इस निवेदन के प्रति सहमत हो गए। इसके विपरीत नियंत्रित समूह के मात्र 17% व्यक्ति ही इस निवेदन पर तैयार हुए।

इस तकनीक का उपयोग लोगों के वास्तविक जीवन की बहुत सी परिस्थितियों में भी देखा जाता है। टी० वी० या अन्य फिल्म निर्माता जानबूझकर कुछ ऐसे दृश्य या ऐसी बातें अपने सीरियल या फिल्म में ठूस देते है जिसे काटकर सेन्सर बोर्ड शेष सीरियल या फिल्म को पास कर देते हैं और निर्माताओं का उद्देश्य पूरा हो जाता है (सियालडिनी, 1985)। जिन्हें 5 बोरी सीमेन्ट की आवश्यकता होती है वे 50 बोरी के परमिट के लिये आवेदन करते हैं। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? इस विषय में दो स्पष्टीकरण दिए जाते हैं :—

इनमें पहला पारस्परिक कन्सेशन (Reciprocal concession) कहलाता है बड़ी बात को ठुकराने के बाद साधारण बात को एक छोटा कन्सेशन मानकर स्वीकार कर लेते हैं। बड़ी बात के निवेदन को आग्रही का पीछे हटना मानकर समझौते के तौर पर स्वीकार कर लेते हैं।

दूसरा स्पष्टीकरण आत्म प्रस्तुति (Self Presentation) :—अर्थात दूसरों के समक्ष अपने को अच्छा साबित करने के लिये उसके द्वितीय और साधारण निवेदन को स्वीकार कर लेते हैं। जब हम किसी के बड़े निवेदन को अस्वीकार करते हैं तो इसके लिये हमारे पास तर्क होता है साथ ही हमारी आत्म प्रतिमा इससे प्रभावित नहीं होती। किन्तु उसी व्यक्ति के साधारण निवेदन को अस्वीकार करना न तो तार्किक होता है और न तो आत्मप्रतिमा को आघात पहुँचने से बचा पाता है अतः इसे स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा करने में लक्ष्य व्यक्ति अस्वीकृत—स्वीकृति तकनीक का अनुसरण करता है, क्योंकि ऐसा न करके दूसरों की नजरों में गिर सकता है। इसका समर्थन करते हुए पेण्डिल्टन और वैट्सन (1979) ने कहा कि द्वितीय निवेदन को ठुकराकर अनेक व्यक्ति अपने आपको अमैत्रीपूर्ण तथा अतार्किक अनुभव करते हैं अतः द्वितीय निवेदन को स्वीकार कर लेते हैं।

इस तकनीक के उपयोग में बड़ी कुशलता की आवश्यकता होती है। आरम्भिक निवेदन इतना सीमान्तिक नहीं होना चाहिए कि लक्ष्य व्यक्ति आग्रहकर्ता को अतार्किक मानकर उसके विषय में अनानुकूल अभिवृत्ति निर्मित कर ले (Schwarzwald, Raz, and Zvibel, 1979)।

(C) लो-बालिंग (Low-balling)—इस तकनीक में आरम्भ में नियम तथा शर्तें जो बताते हैं उन्हें कुछ समयबाद बदल देते हैं। जैसे आप कारों के किसी वेइमान डीलर के फन्दे में पड़ जाते हैं तो क्या होता है। आरम्भ में वह आपकी कार का मूल्य कम बताता है जब आप उसे खरीदने का निश्चय कर लेते हैं तो वह सारी शर्तों और पूर्व घोषित नियमों में फेर बदल करने लगता है जैसे कि आप ज्यों ही खरीदने पर सहमति व्यक्त करते हैं तो वह कहता है कि इसके दाम में अतिरिक्त टायर, टूलबाक्स, सीटकवर या कुछ और गौण सामग्रियाँ शामिल नहीं हैं।

जनसाधारण के दृष्टिकोण से आपको उस वेइमान विक्रेता से सौदा नहीं करना चाहिए, किन्तु आमतौर पर यह नहीं होता। अनेक ग्राहक नाक भौं सिकोड़ने के बाद भी सौदा मंजूर कर लेते हैं क्योंकि वे अपने शुरू के निश्चय को बदलना नहीं चाहते।

इस तकनीक का उपयोग व्यापार के अतिरिक्त अन्य परिप्रेक्ष्यों में भी होता है। इस प्रणाली की कार्य विधि निम्नवत है—सर्वप्रथम, किसी लक्ष्य व्यक्ति को उत्प्रेरित कर किसी व्यवहार के निष्पादन की वचनबद्धता प्राप्त करता है, तब परिस्थिति में ऐसा परिवर्तन करते हैं कि कुछ पूर्व घोषित लाभ या पुरस्कार हटा लिये जाते हैं जिनसे प्रेरित होकर लक्ष्य व्यक्ति वचनबद्ध होता है। लोबाल की सफलता लक्ष्य व्यक्ति के पूर्व निश्चय या वचनबद्धता के निर्वाह पर निर्भर करता है।

अनेक अध्ययनों से लो-बालिंग तकनीक की सफलता प्रमाणित होती है (बजेर तथा पेट्टी, 1981, सिवल्डिनी, 1978) । इनमें अत्यन्त रोचक एक फील्ड प्रोजेक्ट है जो पाल्लक, कुक तथा मुलीवान (1980) ने किया था। आयोवा के नागरिकों से सम्पर्क करके उनसे कहा गया कि यदि वे अपने मकानों की हीटिंग में गैस (ईन्धन) की बचत करेंगे तो इसे जन सेवा माना जाएगा और ऐसे आयोग निवासियों के नामों की सूची समाचार पत्रों में प्रकाशित की जायगी। एक महीने बाद गैस खपत की जाँच से 12% बचत का प्रमाण मिला। अब प्रयोज्यों को पत्रों द्वारा सूचित किया गया कि किसी कारण उनके नामों की समाचार पत्रों में पब्लिसिटी नहीं हो सकेगी। सामान्य बुद्धि के अनुसार उन प्रयोज्यों को ऊर्जा बचत का प्रयास त्याग देना चाहिये था, किन्तु तथ्य इसके विपरीत थे। उन्होंने गैस बचत का न केवल प्रयास जारी रखा वरन् 15% की बचत अगले मास में की। अन्य अध्ययनों के परिणामों से भी पाल्लक तथा अन्य के परिणामों की पुष्टि हुई।

इस प्रकार इन परिणामों से लोवाल तकनीक द्वारा अनुपालन प्राप्ति की सफलता सत्यापित हुई। वास्तव में एक बार वचनबद्ध हो जाने के बाद वे अपनी वचनबद्धता को तोड़ने में हिचकते हैं चाहे पूर्व-घोषित शर्तों को पूरा न किया जाए। सियाल्डिनी के अनुसार एक बार वचनबद्ध होने के बाद यह वचनबद्धता अपने आप में व्यवहार को जारी रखने के लिये अतिरिक्त समर्थन जुटा लेती है।

आज्ञाकारिता
(Obedience)

यह एक विशेष प्रकार का अनुपालन है जिसमें आदेश के द्वारा निवेदन किया जाता है। हम सभी किसी न किसी मात्रा में कुछ अधिकार के प्रतीकों की आज्ञा-पालन के लिये दबाव का अनुभव करते हैं—जैसे माता-पिता, अध्यापकों, पुलिस अधिकारियों तथा ट्रैफिक लाइट आदि के आदेशों का पालन सभी करते हैं। यह उपागम समरूपता दबाव तथा अनुपालन से कम प्रचलित है। व्यापारिक अधिशासी प्रायः अपने मातहतों को आदेश देते हैं। सेना भी इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। माता-पिता, पुलिस अधिकारी, अधिशासी अधिकारी, सेना के कमाण्डर आदि में ऐसे अधिकार (पुरस्कार तथा दण्ड) निहित होते हैं कि सभी सम्बद्ध उनके आदेशों का पालन करते हैं। आश्चर्य की बात है कि कुछ दशाओं में अपेक्षाकृत शक्तिहीन व्यक्ति भी लक्ष्य व्यक्तियों को अवपीड़न का भय दिलाकर अनुपालन प्राप्त कर लेते हैं (बुशमैन, 1984)। ऐसे प्रभावों के घटित होने का स्पष्टतम परिणाम (1963, 1974) के प्रयोगों से प्राप्त होता है।

विध्वंसकारी आज्ञाकारिता (Destructive obedience)—इन अध्ययनों में मिलग्राम ने यह पता करना चाहा कि क्या व्यक्ति प्रयोगकर्ता के आदेश पर किन्हीं

बेगुनाह अपरिचित व्यक्तियों को कष्ट एवं पीड़ा देंगे ? उसने प्रयोज्यों को बताया कि वे अधिगम पर दण्ड के प्रभावों से सम्बद्ध एक प्रयोग में भाग ले रहे हैं। उनका कार्य एक अन्य व्यक्ति की सरल अधिगम कार्य में प्रत्येक त्रुटि पर विद्युत अघात देना है (अन्य व्यक्ति सन्धिबद्ध था)। प्रत्येक त्रुटि के बाद अगली त्रुटि पर विद्युत अघात की तीव्रता बढ़ती जाती है जिसके लिये क्रमानुसार तीन स्विचों की व्यवस्था थी। विद्युत अघात 15 वोल्ट से बढ़कर 450 वोल्ट तक हो सकता था। वास्तव में सन्धिबद्ध व्यक्ति (अधिगमकर्त्ता) को कोई विद्युत अघात नहीं लगता था, किन्तु यह बात अघात देने वाले प्रयोज्य को नहीं मालूम थी। केवल स्विच नम्बर 3 के द्वारा सचमुच अघात लगता था जिसका उपयोग प्रयोज्यों को यह विश्वास दिलाने के लिये किया जाता था कि यन्त्र नकली नहीं है।

प्रयोगवधि में अधिगमकर्त्ता (पूर्वनियोजित आदेशों के अनुसार) से अनेक त्रुटियाँ होती हैं। प्रयोज्य शीघ्र ही अपने को एक उभयतः पाश या कशमकश (Dilemma) में ग्रस्त पाते हैं। क्या एक व्यक्ति को वे दण्डित करते रहे हैं जब कि हर अगली त्रुटि पर अघात की तीव्रता बढ़ती जा रही है ? या वे इस कार्य से मना कर दें ? प्रयोगकर्त्ता उनको विद्युत अघात जारी रखने के लिये दबाव डालता है। इसलिये जब भी वे अघात में विलम्ब करते हैं या हिचकिचाते हैं, तो कहता है— "कृपया कार्य जारी रखें।"

अन्त में तो उसने यह कहना आरम्भ कर दिया कि तुम्हें कोई और विकल्प नहीं है, अतः कार्य को पूर्ववत जारी रखना होगा।

चूँकि प्रयोज्य स्वेच्छानुसार प्रयोग में भाग ले रहे थे जिसके लिए उन्हें पहले ही धन का भुगतान हो चुका था; अतः आप उन्हें प्रतिरोध का भविष्य-कथन कर सकते हैं वास्तव में 65% प्रयोज्यों ने पूर्ण आज्ञाकारिता का पालन किया। इसके विपरीत नियन्त्रित समूह जिन्हें यह आदेश नहीं दिये गये थे, सामान्यतः प्रयोग सत्र में केवल हल्के विद्युत अघात का उपयोग किया।

एक अन्य प्रयोग में मिलग्राम (1965a, 1974) ने परिवर्तित परिस्थितियों में भी पहले जैसे परिणाम प्राप्त किये। अध्ययन का स्थान येल विश्वविद्यालय परिसर से हटाकर एक निकटवर्ती नगर के कार्यालय में कर दिया। प्रत्याशा की जाती थी कि स्थान परिवर्तन से आज्ञाकारिता घट जाएगी, किन्तु ऐसा न हुआ। इसी प्रकार एक अन्य परिस्थिति में सांधिबद्ध व्यक्ति ने अघात के दुःखद होने की शिकायत करते हुये प्रयोग से छोड़े जाने का निवेदन किया तो भी अधिकांश ने आज्ञापालन किया। कुछ समय बाद जार्डन, पश्चिमी जर्मनी तथा आस्ट्रेलिया से भी ऐसे ही परिणाम प्राप्त हुए (Kilhana and Mann, 1974, Shanab & Yahya, 1977)।

विध्वंसात्मक आज्ञापालन क्यों होता है ? (Why does destructive obedience occur) :—मिलग्राम के अध्ययनों की कड़ी आलोचना की गई। यह अध्ययन अनैतिक कहा जाता है, क्योंकि प्रयोज्यों से इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में रखे जाने की पूर्वअनुमति नहीं ली गई थी। इससे अलग हटकर विचार करने की बात यह है कि इन प्रयोगों में प्रयोज्यगण तथा अनेक लोग जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में विभिन्न अधिकार रखने वालों के कष्टदायी एवं द्वन्द्वात्मक आदेशों का पालन स्वेक्षानुसार क्यों करते हैं ? ऐसा इसलिए होता है कि आदेश करने वाले अधिकार एवं शक्ति रखते हैं अतः आज्ञापालन के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं होता। किन्तु मिलग्राम या उस जैसे अन्य अध्ययनों में प्रयोगकर्ताओं में कोई ऐसी शक्ति निहित नहीं थी जिसके द्वारा वे पुरस्कार या दण्ड दे पाते। दैनिक जीवन में भी लोग ऐसे आदेशों की अवज्ञा मानवीय अधिकारों या कानूनी अधिकारों के आधार पर कर सकते हैं। किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता और अधिकांश लोग कष्ट उठाकर भी आज्ञापालन स्वेक्षानुसार क्यों करते है ?

इसके पीछे कई कारण होते हैं, जिनमें प्रमुख निम्न हैं :—

प्रथम, अनेक परिस्थितियों में अधिकार रखने वाले आज्ञापालन करने वालों को उत्तरदायित्व से मुक्त कर देते हैं या स्थानान्तरित कर देते हैं।

जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में उत्तरदायित्व का स्थानान्तरण अव्यक्त होता है, किन्तु प्रयोगशाला शोधों में यह काफी स्पष्ट होता है। मिलग्राम के प्रयोगों में प्रयोज्यों को आरम्भ में ही बता देते हैं कि विद्युत अघात भोगियों के भलाई का उत्तरदायित्व प्रयोगकर्ता (अधिकार रखने वाला) पर है न कि उन पर। अतः वे आज्ञापालन करते हैं।

द्वितीय स्पष्टीकरण के अनुसार अधिकार वाले व्यक्ति प्रायः बिल्ले आदि लगाते हैं जो उनकी शक्ति एवं अधिकारों का सूचक है—जैसे पुलिस एवं सेना के अधिकारी अनेक प्रकार के बिल्ले, बैजेज, इन्साइनिया आदि विशेष प्रकार की यूनीफार्म, टोपी आदि प्रयोग करते हैं जो उनके संस्थिति पर (Status) तथा अधिकारों के द्योतक होते हैं। इन्हें देखकर इच्छा होते हुए भी लोग प्रतिरोध नहीं व्यक्त करते। शक्ति एवं अधिकार के इन चिह्नों का लोगों की आज्ञापालन वृत्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है (बुशमैन, 1984)। एक बड़े नगर की सड़क पर पैदल चलने वालों को रोककर एक अन्य जरूरतमन्द लगने वाले पैदल चल रहे व्यक्ति को पार्किंग मीटर के लिए कुछ पैसे देने थे। एक परिस्थिति में आदेश देने वाले को आग बुझाने वाले की पोशाक पहनाई गई थी तथा दूसरी दशा में एक व्यापारिक अधिशासी के वस्त्र पहनाये गये थे।

और तीसरी दशा में आदेशकर्ता को फटे पुराने कपड़े पहनाये गये थे। जैसा कि हम अनुमान करते हैं, जब आदेश देनेवाला आग बुझाने की वर्दी में था तो उसके आदेश का पालन अधिक हुआ अर्थात् बिना आपत्ति अनुपालन हुआ जब व्यक्ति अग्नि शमन कर्ता की वर्दी में था। अभिप्राय यह है कि वर्दी में निहित शक्ति या अधिकार ने अधिक अनुपालन कराया। आज्ञापालन के एक तीसरे कारण के अनुसार अनेक दशाओं में जहाँ लक्ष्य व्यक्ति प्रभाव के प्रति प्रतिरोध कर सकते थे, प्रायः आदेश अपेक्षाकृत छोटे थे, (आरम्भ में) बाद में उनका स्वरूप और क्षेत्र प्रयोज्यों को आपत्तिजनक और खतरनाक तौर पर व्यवहार की अपेक्षा करता है। उदाहरण के लिए आरम्भ में पुलिस या सेना के व्यक्तियों को प्रश्न करने, गिरफ्तार करने या धमकी देने का आदेश देते हैं। फिर उन्हें पीटने, यातना देने या मार डालने के आदेश दिये जाते हैं। प्रयोगशाला अध्ययनों में दण्ड विद्युत की बढ़ती हुई तीव्रता का अनुप्रयोग किया गया और यह देखने का प्रयास किया गया कि अधीनस्थ व्यक्ति दण्ड की तीव्रता बढ़ते जाने पर कब अवज्ञा का प्रदर्शन करते हैं। चूँकि आदेश की कड़ाई धीरे-धीरे बढ़ती है अतः अवज्ञा और आज्ञापालन के मध्य सीमा रेखा स्पष्ट रूप में नहीं खींची जा सकती।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रयोगशाला में प्रदर्शित आज्ञापालन तथा वास्तविक जीवन सन्दर्भों में आज्ञापालन में अनेक विभिन्न कारक कार्यरत होते हैं। ये कारक आपस में मिलकर एक शक्तिशाली बल का रूप ले लेते हैं—जिसके प्रति अधिकांश व्यक्तियों के लिए प्रतिरोध कठिन हो जाता है। दुर्भाग्यवश, इस विवशतापूर्ण सामाजिक प्रभाव के परिणाम अनगिनत निर्दोष व्यक्तियों के लिए घातक हो सकते हैं।

विध्वंसात्मक आज्ञापन : प्रतिरोध (Destructive obedience : Resistance) हमने अब तक अधिकार रखने वालों के आदेशों के पालन की तीव्र प्रवृत्ति के उत्तरदायी कुछ कारकों की चर्चा की है। अब हम इससे सम्बद्ध समस्या पर विचार कर सकते हैं इस प्रकार के प्रभाव के प्रति प्रतिरोध कैसे कर सकते हैं? अनेक तकनीकें कारगर पाई गई हैं।

प्रथम, आदेश प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को स्मरण करते हैं कि अधिकार रखने वाला नहीं वे स्वयं हर प्रकार की क्षति के उत्तरदायी होंगे। ऐसा बता देने की दशा में आज्ञापालन की प्रवृत्ति में तीव्र कमी की अपेक्षा की जाती है, और अनेक अध्ययनों के परिणामों से इन तथ्यों की पुष्टि हुई है (हेमिल्टन, 1978; किलहैम तथा मैन, 1974)। जब प्रयोज्यों को बता देते हैं कि शिकार बने व्यक्तियों (Victims) की सुरक्षा उनका दायित्व है तो उनकी आज्ञाकारिता का स्तर काफी कम हो गया।

द्वितीय; आज्ञापालन की प्रवृत्ति को घटाने के लिए व्यक्तियों को संकेत प्रदान किये जा सकते हैं कि इस सीमा के बाद विध्वंसक आदेशों के प्रति बिना आपत्ति आज्ञापालन अनुचित है। अनेक अध्ययनों के परिणामों से यह परिकल्पना सत्यापित हुई जिनमें प्रयोज्यों को अवज्ञाकारी प्रतिरूपों (Disobedient models) से सम्पर्क कराया गया। अनेक व्यक्तियों ने इन दशाओं में आज्ञा उल्लंघन किया (मिलग्राम, 1965b, पावर्स तथा गीन, 1972)।

तृतीय, स्पष्टीकरण के अनुसार यदि व्यक्ति अधिकार के साधनों की विशेषज्ञता एवं अभिप्रेरकों पर आपत्ति करें तो प्रभाव के प्रति प्रतिरोध आसान हो जाता है (सियाल्डिनी, 1985)।

अन्त में, अधिकार रखने वाले की शक्ति के बारे में जानकारी इस विषय में सहायक होती है। शेरमैन (1980) के अनुसार सामाजिक मनोविज्ञान शोधों के परिणामों का ज्ञान होने से व्यवहार में परिवर्तन आ सकते हैं। कुछ आशा की जाती है कि इस प्रक्रिया का ज्ञान होने से व्यक्ति में अंधी आज्ञाकारिता के प्रति प्रतिरोध की योग्यता में वृद्धि होती है।

संक्षेप में अधिकार रखने वाले की शक्ति का आज्ञापालन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। किन्तु इसके प्रति प्रतिरोध असम्भव नहीं हैं। उपर्युक्त दशाओं में इसको काट कर सकते हैं और घटा सकते हैं।

अध्याय 8

सामाजीकरण तथा सामाजिक अधिगम

(Socialization & Learning in Social Context)

मानव शिशु जन्म के समय केवल कुछ अविभेदित अनुक्रियायें करने की क्षमता रखता है। उस समय उसका मस्तिष्क एक स्वच्छ एवं साफ सुथरी स्लेट (Tabula rasa) के समान होता है। उस समय न वह सामाजिक होता है और न ही असामाजिक। उसकी शारीरिक क्षमता इतनी न्यून होती हैं कि वह निःसहाय प्रतीत होता है। वह अपनी आरीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये माता-पिता तथा अन्य परिवार जनों पर निर्भर करता है। यह सब होते हुये भी वह अपने आपको एक पूर्व निश्चित वातावरण में पाता है। वातावरण में भौतिक पक्ष के साथ ही अनेक प्रकार के विचार विश्वास, और क्रियायें भी होती है जो संस्कृति का अंग मानी जाती हैं। संस्कृतियों की अपनी-अपनी जीवन शैलियाँ होती हैं, जिनकी छाप बालक के व्यक्तित्व पर स्पष्ट दिखाई देती हैं। कहा जाता है कि "व्यक्ति अपनी संस्कृति का दर्पण है।" (Individual is a mirror of his own culture.) जैसे-जैसे आयु बढ़ती है वही निःसहाय एवं असामाजिक शिशु अपनी संस्कृति एवं परिवेश के प्रभाव से एक सामाजिक, क्रियाशील व्यक्तित्व के रूप में विकसित होता है। संस्कृति के आरंभ से ही माता-पिता के समक्ष यह प्रश्न रहा है कि बच्चों के पालन पोषण के क्या उपाय किये जायें कि वह प्रौढ़ व्यक्ति के रूप में एक योग्य सामाजिक नागरिक बन सके। इस समस्या से सभ्य समाज ही नहीं असभ्य समाज भी जूझते रहे हैं। सामाजिक जीवन शैली को सीखने या अर्जित करने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं।

समाजीकरण एक मूलभूत जटिल सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा शिशु जो जन्म के समय न तो सामाजिक होता है और न ही समाज विरोधी, एक सामाजिक प्राणी के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्ति में एक सभ्य, सामाजिक प्राणी की भूमिका निर्वाह करने की योग्यता विकसित हो जाती है।

समाजीकरण का स्वरूप

(Nature of Socialization)

समाजीकरण की प्रक्रिया में समाजशास्त्री, मानवशास्त्री, समाज मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सभी समाज वैज्ञानिक रूचि रखते हैं। इसके अध्ययन की ओर, इसी कारण वर्तमान समय में सर्वाधिक ध्यान दिया गया है, जिसके फलस्वरूप समाजी-

करण प्रक्रम तथा निर्धारकों का ज्ञान पहले से कहीं अधिक स्पष्ट एवं विकसित हो सका है।

समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समाजीकरण एक अन्तर्क्रियात्मक प्रक्रिया है। सामाजिक जीव होने के नाते व्यक्ति अपने समाज व समूह की अपेक्षाओं, आकांक्षाओं परम्पराओं, मानकों तथा मूल्यों को अर्जित करने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा बालक का व्यवहार धीरे-धीरे परिमार्जित होता है। समाज के सम्पर्क तथा सामाजिक अधिगम के द्वारा सामाजिक गुण बच्चों द्वारा सीखे जाते हैं। शिशु की अन्तर्क्रिया जन्म के समय से ही आरम्भ हो जाती है जो सामाजिक अधिगम का आधार होती है और समाजीकरण की प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है। जब जब समाज मनोवैज्ञानिक सामाजिक परिवेश के लिये लोगों की अनुक्रियाओं की बात करते हैं तो अनेक अभिग्रह लिये जाते हैं। यह कल्पना करते हैं कि लोगों ने अपने कौशलों को इतना विकसित कर लिया है कि वे अपने परिवेश के उद्दीपनों को समझ सकते हैं और उनके प्रति उपर्युक्त अनुक्रियायें कर सकते हैं। सामाजिक जीव के रूप में, हम आपस में एक दूसरे से वातावरण की घटनाओं के अर्थ को सीखते हैं। यही नहीं व्यक्ति मानकों एवं समाज के नियमों को भी सीखते हैं जो समाजीकरण का आधार बनते हैं। हम अन्य व्यक्तियों, तथा वस्तुओं आदि के बारे में मतों, विश्वासों, अभिवृत्तियों एवं धारणाओं आदि को सीखते हैं।

यह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण व्यवहारों को सीखता है, समाजीकरण कहलाती है। इस प्रकार समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहार का अर्जन करता है। व्यक्ति में, उसके समूह की आवश्यकतायें एवं आकांक्षाओं के अनुरूप व्यवहार विकसित हो जाते हैं। जोन्स तथा जीरार्ड (Jones & Gerard) के अनुसार "समाजीकरण में व्यक्ति ऐसे मूल्यों, विश्वासों तथा संसार के बोध एवं संज्ञान की विधियों को अर्जित करता है जो उसके समूह में सामान्य होती हैं" ("Socialization refers to the adoption and internationlization by individual's values, beliefs, and ways of perceiving the world that are shared by a group.") अर्थात् समाजीकृत व्यक्ति समूह के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और अपने समूह के नियमों, परम्पराओं और शैली का अनुपालन करने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति के स्वतन्त्र होकर व्यवहार करने पर प्रतिबन्ध लगता है। उसे यह ज्ञात होता है कि क्या उचित है, और क्या अनुचित। सीकार्ड तथा बैकमैन (1974) के अनुसार "समाजीकरण एक अन्तर्क्रियात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समूह के सदस्यों के व्यवहार के अनुरूप व्यक्ति के व्यवहार का परिमार्जन होता है।" (Socialization is an international process whereby a person's behaviour is

modified to conform to expectations held by the members of the group to which he belongs."

ब्रोफी (Brophy, 1977)—का कहना है कि, "समाजीकरण वह संयोगीकरण है जिसमें मानव के आन्तरिक बल पर, सामाजिक समूह इस तरह दबाव डालते हैं कि व्यक्ति समूह के नियमों और मानकों के प्रति समरूपता स्थापित करता है।" ("Socialization is a combination of the human being's unfolding potential and pressure that social group apply to attain conformity to their rules and norms.")

उपर्युक्त परिभाषाओं को मिलाकर समाजीकरण को पुनः परिभाषित किया जा सकता है। समाजीकरण इस प्रकार, वह अन्तर्क्रियात्मक प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को अधिगमित कर सामाजिक कार्यों को करने योग्य होता है। वह समाज के मूल्यों, विश्वासों, परम्पराओं, चलन, रीतिरिवाज, नियमों और मानकों आदि को सीखता और उनके अनुसार व्यवहार करता है। संक्षेप में, वह समूह के अन्य सदस्यों की प्रत्याशाओं के अनुरूप व्यवहार करना, समाजीकरण के द्वारा ही सीखता है। इस प्रकार समाजीकरण, द्वारा जैसा कि जोन्स तथा जोराई ने कहा है, व्यक्ति कुछ विशिष्ट उद्दीपकों के प्रति कुछ विशिष्ट अनुक्रियाओं का अधिगम कर लेता है। परिणाम स्वरूप उसकी व्यवहार करने की शक्ति बढ़ जाती है और वह उसका उपयोग नवीन परिस्थितियों में करता है।

सामान्य रूप से समाजीकरण का उपयोग बाल्यावस्था में सामाजिक व्यवहारों के अर्जन तक होता रहा है, किन्तु बचपनावस्था का सामाजिक अधिगम प्रौढ़ावस्था में पूर्ण रूप से उपयुक्त नहीं होता और ऐसे ही आगे की अवस्था में भी सत्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आयु में वृद्धि के साथ विभिन्न जीवन अवस्थाओं में आवश्यकतानुसार व्यक्ति को सामाजिक मूल्य, मानक और अभिवृत्तियों का अर्जन करना पड़ता है, जिनके बिना उसका सामाजिक समायोजन ठीक न होगा। समाजीकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता हर आयु समूह के लिये है, और यह जीवन पर्यन्त चलती रहती है।

सीकार्ड तथा बैकमैन (1974) के अनुसार समाजीकरण मात्र सामाजिक अधिगम पर ही निर्भर नहीं करता वरन् सामाजिक अन्तर्क्रिया पर भी निर्भर करता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा समूह, सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। सामाजिक अधिगम, आन्तरिक नियन्त्रण का कार्य अन्तरात्मा (Conscience) तथा स्व संप्रत्यय के विकास द्वारा करती है। सामाजिक भूमिकाओं की स्थापना भी इसी के अन्तर्गत आती है।

सामाजीकरण के साधन
(Agents of Socialization)

सामाजीकरण के कुछ स्रोत, साधन या माध्यम होते हैं, जिनके द्वारा अपेक्षित सामाजिक सम्पर्क स्थापित होते हैं। यह स्रोत या साधन विभिन्न प्रकार के समूह होते हैं जिनके सम्पर्क में वह आता है। इन समूहों में परिवार, मित्रगण, रिश्तेदार, विद्यालय के साथी, और क्षाभिक समूह आदि प्राथमिक समूह कहलाते हैं और समाजीकरण के प्रमुख साधन माने जाते हैं। इन समूहों के मूल्यों, मानकों, एवं अभिवृत्तियों की बहुत गहरी, एवं प्रत्यक्ष छाप बालक के समाजीकरण पर पड़ती है, क्योंकि इनमें सदस्यों की अन्तर्क्रिया बहुत प्रत्यक्ष, निजी एवं गहरी होती है। दूसरे कुछ द्वितीयक समूह जैसे समुदाय या संघ, या संगठन आदि होते हैं जिनका प्रभाव तो समाजीकरण पर अवश्य पड़ता है किन्तु प्राथमिक समूह के बराबर नहीं।

समाजीकरण पर प्राथमिक समूह के प्रभाव—बच्चों का पालन-पोषण परिवार में ही होता है अतः परिवार, मित्र, नातेदार, विद्यालय समूह आदि प्राथमिक समूह की कोटि में रखे जाते हैं और इनका सर्वाधिक प्रभाव बालक के समाजीकरण पर पड़ता है।

1. परिवार (Family)—समाजीकरण के साधनों में परिवार सबसे अधिक शक्तिशाली साधन है। परिवार रूपी समूह में ही पल कर निःसहाय नवजात शिशु एक सक्रिय सामाजिक व्यक्ति के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। समाज के मूल्य, रीति रिवाज तथा मानकों का अर्जन सबसे पहले परिवार में ही होता है। परिवार में माता-पिता तथा अन्य परिवार जनों से बालक-बालिकायें अनेक समाजोपयोगी आचरण सीखते हैं। बड़ों का आदर, अतिथि सत्कार, उठने-बैठने, बोल चाल, रहन-सहन आदि परिवार के द्वारा सर्वाधिक सीखे जाते हैं। परिवार, बच्चों को सामाजिक एवं संज्ञानात्मक परिवेश प्रदान करते हैं। परिवार द्वारा अनेक सामाजिक व्यवहार उद्दीपन प्रस्तुत होते हैं जो बच्चों के सामाजिक व्यवहार के शुरू होने में महत्वपूर्ण होते हैं। परिवारजनों के साथ अन्तर्क्रिया अथवा सम्पर्क से समाजोपयोगी व्यहारों को सीखते हैं। परिवार में जो अनुभव बच्चों को होते हैं वे उसके सामाजिक जीवन के नीव के समान होते हैं। परिवारिक प्रभाव अनेक बातों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये परिवार का आकार, सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, माता-पिता तथा भाई-बहनों के लक्षण आदि।

2. विद्यालय (School)—जब बच्चे स्कूल में प्रवेश करते हैं तो उनके मानसिक तथा सामाजिक विकास में स्कूल की भूमिका भी प्रमुख होती है। स्कूल में प्रवेश से बालकों का सामाजिक जगत व्यापक हो जाता है। नये-नये लोगों से

सामाजिक सम्पर्क के अनुभव के अवसर बढ़ जाते है। स्कूल में वय समूह से सम्पर्क का अवसर तो मिलता ही है साथ ही अध्यापकों के सम्पर्क से भी समाजोपयोगी व्यवहार विकसित होते हैं। नये प्रतिरूप (Model) प्राप्त होते हैं। आयु में वृद्धि के साथ-साथ मित्रों और अध्यापकों के प्रभाव में भी वृद्धि आती है। माता-पिता एवं अभिभावकों से स्वतंत्रता की भावना जितनी प्रबल होती है, स्कूल का प्रभाव उतना ही प्रबल होता हैं। यह प्रभाव समरूपता की आवश्यकता तथा स्व प्रत्यय पर भी बहुत हद तक निर्भर करता है। स्कूल में ही बच्चों को उनके समाज के लक्ष्यों, आदर्शों, मूल्यों और वांछनीय व्यवहार के संकेतों की जानकारी होती है। इस तरह हम देखते हैं कि परिवार के बाद स्कूल बच्चों के समाजीकरण का एक प्रमुख बहुमुखी साधन है।

3. वय समूह (Peer group)—आयु में वृद्धि के साथ-साथ बच्चों के सामाजिक सम्पर्क की परिधि भी बढ़ती है। उसका सम्पर्क माँ-बाप तथा परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त आसपास या पास पड़ोस के अन्य बच्चों के साथ भी होने लगता है। वय-समूह का अभिप्राय है उसकी आयु वाले अन्य बालकों का समूह। वय समूह का महत्व बालकों के लिये इतना अधिक होता है कि वे उसके लिये आदर्श बन जाते हैं। वय समूह मुखतः तीन कार्य करते हैं। मुख्यतः यह संस्कृति के वाहक के रूप में कार्य करते हैं। संस्कृति को वय समूह संप्रेषित करता है। केवल कुछ समूह ऐसा नहीं करते जैसे बाल अपराधियों के समूह। वय-समूह के ही द्वारा बालक-बालिकाओं को जीवन की वास्तविकताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। परिवारों के आदर्श, मूल्यों तथा संस्कारों को सहज और वास्तविक रूप देने में वय समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। बालकों को सांवेगिक स्वतंत्रता प्रदान करने में वय समूह की भूमिका अत्यन्त सराहनीय होती है। वय समूह बालक-बालिकाओं को इसका समुचित अवसर देते हैं कि वे विविध सामाजिक परिवेश का अनुभव प्राप्त कर सके जो उनके सामाजिक समायोजन को बहुत प्रभावित करता है।

4. पड़ोस (Neighbourhood)—पड़ोस भी समाजीकरण का एक साधन है। स्कूल में प्रवेश तो बच्चे 5-6 वर्ष की आयु में करते हैं किन्तु ज्यों ही वे 2-3 साल के होते हैं अपने पड़ोस के अन्य बच्चों और बड़े-बूढ़ों के सम्पर्क में आने लगते हैं। पड़ोस के लोगों के साथ सम्पर्क द्वारा बच्चे अनेक सामाजिक व्यवहार, नियमों, आदर्शों और रहन-सहन का अधिगम करते हैं। यदि पड़ोस के लोग बुरे होते हैं तो उनकी संगति बुरा प्रभाव भी डालती है।

5. धार्मिक समूह (Religious group)–हमारे समाज में धर्म का विशेष महत्व है और प्रायः साम्यवादी देशों के अतिरिक्त प्रत्येक समाज धर्म को प्रमुख

स्थान देता है। यद्यपि मूल-बातें समान होती हैं, किन्तु उपासना के तौर-तरीके विभिन्न धर्मों में अलग-अलग होते हैं। धार्मिक समूह भी बालक के व्यवहार की दिशा का निर्धारण करते हैं और इस प्रकार समाजीकरण को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते हैं।

6. **नातेदारी समूह (Kinhip group)**—हमारी अनेक लोगों से रिश्ते-दारियाँ होती हैं। यह रिश्ते-नाते हमें एक दूसरे से जोड़ते हैं। इस बंधन का प्रभाव बच्चे, बड़ों और बूढ़ों, सभी पर होता है। हमारे रिश्तेदार भी हमारे रहन-सहन, खान-पान, और दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं जिसे समाजीकरण का साधन कह सकते हैं।

द्वितीयक समूह के प्रभाव

(Influence of Secondary Group)

चर्चित समूहों के अतिरिक्त कुछ अन्य समूह भी समाजीकरण को प्रभावित करते हैं। इनका महत्व प्राथमिक समूह से कम होने के कारण कुछ लोग इन्हें गौण समूह की संज्ञा भी देते हैं। इन समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। इनमें राजनैतिक दल, आर्थिक संघ आदि आते हैं। विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं सांस्कृतिक दलों की सदस्यता व्यक्ति की अनुभूतियों को संवृद्धि प्रदान करती है और साथ ही साथ इनमें सहयोग, स्पर्द्धा, अधिकार, कर्त्तव्य, सामाजिक विरासत का संज्ञान प्राप्त होता है। राजनैतिक संस्थायें समाजीकरण का मुख्य साधन बन गई हैं। राजनैतिक संस्थायें अनेक सुधार कार्यक्रम जैसे साक्षरता अभियान, गन्दगी—विरोधी या स्वच्छता अभियान आदि चलाये जाते हैं जो समाजीकरण के साधन बन जाते हैं।

समूह की सदस्यता के आधार पर किसी व्यक्ति के व्यवहार का पूर्व कथन तो किया जा सकता है परन्तु इसमें भिन्नतायें भी देखी जाती हैं। प्रत्येक समूह जिसका कोई व्यक्ति सदस्य है, उसे समान रूप में तथा समान मात्रा में प्रभावित नहीं करते। अतः मात्र समूह-सदस्यता के आधार पर व्यक्ति के व्यवहार का भविष्य कथन तर्क संगत नहीं है। हाइमैन (1942) ने इस विषय में सन्दर्भ-समूह की चर्चा की है जिसके सन्दर्भ में कोई व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है। (Reference group is one in terms of which the individual views or evaluates himself ...) Jones & Gerard.

सन्दर्भ समूह व्यक्ति के मूल्यांकन का मानदण्ड होता है अर्थात् वह समूह है जिसके मानदण्डों का उपयोग व्यक्ति के व्यवहारों की तुलना में किया जाता है। प्रत्येक समूह व्यक्ति के लिए सन्दर्भ समूह नहीं होता। केवल वह समूह सन्दर्भ समूह बन जाता है जिसके साथ व्यक्ति का तादात्मीकरण होता है। ऐसे समूहों का

सामाजीकरण में प्रमुख हाथ होता है क्योंकि व्यक्ति इन समूहों की स्वीकृति और अनुमोदन का अभिलाषी होता है अतः इनका प्रभाव अधिक होता है। यह प्रभाव वांछित भी हो सकते हैं और अवांछित भी। अवांछित प्रभावों के कारण व्यक्ति समूह विरोधी क्रियायें करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन्दर्भ समूह समाजीकरण को बहुत प्रभावित करते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिक भाषा को भी समाजीकरण का एक साधन मानते हैं। व्यक्ति के अनुभव, आवश्यकतायें, इच्छायें, तथा सामाजिक अन्तर्क्रियायें आदि सभी भाषा पर निर्भर करती हैं। भाषा के बिना कोई सम्पर्क या विचारों का आदान-प्रदान सम्भव नहीं हैं। यदि भाषा न होती तो हम न तो अपने विचार दूसरों तक पहुँचाते न ही दूसरों के विचारों और भावनाओं को जान पाते। इस प्रकार भाषा समाजीकरण का एक मुख्य साधन है।

समाजीकरण के निर्धारक
(Determinants of Socialization)

समाजीकरण के प्रमुख निर्धारक इस प्रकार हैं—

1. **प्रारम्भिक अनुभूतियाँ (Early Social Experiences)**—मनुष्यों और पशुओं में मुख्य अन्तर यह है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है। मानवीय शिशु दूसरों के सम्पर्क से समाजीकृत बनता है अथवा समाज द्वारा अपेक्षित या वांछित व्यवहारों को सीखता है। यदि किसी व्यक्ति को मानवीय सम्पर्क से वंचित कर दिया जाए तो उस व्यक्ति में मानवीय गुणों का अभाव होगा। सामाजिक अनुभवों में भी आरम्भिक अनुभव अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। दो लड़कियों को डेविस (1940, 1947) ने सामाजिक अनुभवों से वंचित करने के लिए अलग-अलग कोठरी में बन्द रखा। जीवित रखने के लिए उन्हें थोड़ा खाना-पीना दिया जाता था। उसमें से एक 5 वर्ष की आयु में ही बोलने और चलने फिरने में असमर्थ पाई गई और 4 वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गयी। जबकि दूसरी बच्ची साढ़े छ साल की आयु में छोटे बच्चों के समान व्यवहार करती थी। लेकिन जब उसके लिए विशेष शिक्षण की व्यवस्था की गयी तो उसने सीखने में असामान्य प्रगति प्रदर्शित की और तेजी से सीखा इसका अभिप्राय यह है कि सामाजिक विलगाव के कारण सामाजिक विकास कुण्ठित हो जाता है। शिशु-गृहों में तथा अनाथालयों में पोषित बच्चे मातृत्व सम्बन्धी सम्पर्क से वंचित होने के साथ सामाजिक वंचन के प्रभावों का प्रदर्शन करते हैं। उन्हें सीखने के केवल सीमित अवसर मिलते हैं अतः उनका समाजीकरण कुण्ठित हो जाता है। यही नहीं उसमें अनेक प्रकार की मानसिक और व्यवहार सम्बन्धी विकृतियाँ भी प्रगट होती हैं। इन तथ्यों से ऐसा

प्रतीत होता है कि आरम्भिक सामाजिक अनुभूतियाँ समाजीकरण में मुख्य भूमिका निभाती हैं।

अनेक प्रायोगिक अध्ययन यह प्रमाणित कर चुके हैं कि आरम्भिक सामाजिक, अनुभव, समाजीकरण को प्रभावित करते हैं। (Halversion, 1974; Jennings, 1975; Sears; 1970) बन्दरों में जन्म के समय से उनके बच्चों को माताओं से पृथक कर दो वर्षों तक सामाजिक एकान्तता (Social isolation) में पोषित किया। उन्हें हर प्रकार के उद्दीपनों में पूर्ण रूप से वंचित कर दिया गया था। भोजन और जल उनको इस प्रकार स्वतः उपलब्ध कराया जाता था कि वे मानव का प्रत्यक्षीकरण न कर सकें। दो वर्षों के वंचन करने के बाद हार्लो (1962) ने जाँच करने के बाद यह पाया कि सामाजिक एवं मानसिक तौर पर वे कुण्ठित एवं असमायोजित थे। यद्यपि उनका शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम था। हार्लो ने निष्कर्ष के रूप में बताया कि जन्म के बाद प्रथम वर्ष में सामाजिक अलगाव सभी मानसिक क्षति उत्पन्न करता है। बाउलबी (Bowlby, 1952) ने भी जीवन के आरम्भिक वर्षों के सामाजिक वंचन के प्रभावों के अध्ययन के उपरान्त यह देखा कि जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्ष मानसिक विकास में महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिक भूमिका निभाते हैं। उन्होंने मानवीय शिशुओं में प्रथम ढाई वर्षों के अनुभवों को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताया है। परिवार में बच्चों को मिलने वाला स्नेह, पुरस्कार, दण्ड एवं नाना प्रकार की सुविधायें उनके समाजीकरण पर विशेष प्रभाव डालती हैं। सामाजिक अनुभवों से वचन से समाजीकरण कुण्ठित होता है।

2. भौतिक पर्यावरण (Physical Environment)—वातावरण दो प्रकार के होते हैं—सामाजिक तथा भौतिक। भौतिक वातावरण सामाजिक वातावरण को भी प्रभावित करता है। व्यक्ति जिस भौतिक वातावरण में रहता है, उसका प्रभाव बहुत हद तक उसके समाजीकरण पर भी पड़ता है। व्यक्ति के निवास-स्थल, तथा परिस्थिति आदि उसके अभिगम-अवसर को प्रभावित ही नहीं वरन् नियन्त्रित भी करते हैं। टुण्ड्रा के बर्फीले क्षेत्र, राजस्थान के मरुस्थल या बम्बई में चौपाटी, एक दूसरे से भिन्न प्रकार का परिवेश कहे जायेंगे। इन चर्चित स्थानों में रहने वालों की आदतें, आचार, खान-पान, रहन-सहन, मूल्य और परम्परायें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होंगी। टुण्ड्रा प्रदेश के निवासियों तथा बम्बई निवासियों के सामाजिक व्यवहार एक जैसे होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। भौगोलिक परिस्थितियाँ—मौसम या जलवायु तथा अन्य भौतिक कारक सामाजिक व्यवहार को बड़ी हद तक नियंत्रित करते हैं। बड़े नगरों (महानगरों) तथा छोटे नगरों, और ग्रामों में उपलब्ध भौतिक वातावरण समान नहीं है, अतः इनमें समाजी-

करण के लिए उपलब्ध अवसर भी समान नहीं होते। महानगरों में रहने वाले अनेक लोग रात में देर से नगर बस या उपनगरीय रेल द्वारा आते हैं और प्रातः काल अपना टिफिन बाक्स सँभालते हुए घर से निकल जाते हैं, क्योंकि आवास की समस्या के कारण अधिकांश लोग नगर से पचासों कि० मी० दूर रहते हैं। ऐसे अनेक लोग हैं जो केवल इतवार के दिन ही अपने बच्चों से बातचीत का अवसर पाते हैं। क्या इन बच्चों का समाजीकरण वैसे ही होगा जैसा कि छोटे नगरों या ग्रामों में रहने वाले बच्चों का होता है जिनके माता-पिता पर्याप्त समय अपने बच्चों एवं परिवार जनों के साथ व्यतीत करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भौतिक वातावरण भी समाजीकरण को प्रभावित करता है।

3. जैविक-कारक (Biological Factor)—व्यक्ति के समाजीकरण को कुछ जैविक कारक भी प्रभावित करते हैं। इसमें दो कारक मुख्य रूप से आते हैं—स्वास्थ्य और शारीरिक बनावट।

(i) स्वास्थ्य (Health)—समाजीकरण पर व्यक्ति के स्वास्थ्य का भी काफी प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ्य बच्चे, अस्वस्थ्य बच्चों की अपेक्षा अधिक प्रसन्न रहते हैं और अधिक गति से विकसित होते हैं। अस्वस्थ्य बच्चे खेल कूद से भी पीछे रह जाते हैं अतः वे अन्य बच्चों की अपेक्षा सम्पर्क का अवसर कम पाते हैं। अतः उनके समाजीकरण के कुण्ठित होने और कभी-कभी असमायोजित होने की सम्भावना बढ़ जाती है। उनकी भाषा का विकास भी द्रुत गति से नहीं हो पाता। अस्वस्थ्य बच्चे प्रायः शर्मीले, और अन्तर्मुखी हो जाते हैं, इसलिए उनमें समाजोपयोगी व्यवहार समुचित रूप से विकसित नहीं हो पाते हैं।

(ii) शारीरिक बनावट (Physical Structure)—व्यक्ति की शारीरिक बनावट का भी समाजीकरण पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। कुछ बच्चों में जन्म से ही कुछ शारीरिक विकृतियाँ होती है जैसे—काने, अन्धे, लँगड़े या लूले होते हैं। अन्य जन्म के बाद, बहरे, लूले या लँगड़े हो जाते हैं। ऐसे बच्चों का समाजीकरण उतना सुन्दर नहीं होता जितना सामान्य बच्चों का होता है। इसके कारण शारीरिक भी होते हैं और मनोवैज्ञानिक भी। अंग-भंग अथवा किसी प्रकार के शारीरिक अभाव के कारण समाजीकरण के सभी अवसर न तो प्राप्त होते हैं और न तो लाभान्वित ही हो पाते हैं। ऐसे बालकों में नाना प्रकार की भावना ग्रन्थियाँ तथा हीन भाव विकसित हो जाते हैं जो उनके समाजीकरण को प्रभावित करते हैं। उनमें आत्म विश्वास, आत्मबल और स्वतन्त्रता का अभाव होता है जिसका मूल्य वे अपने कुण्ठित समाजीकरण द्वारा चुकाते हैं। दूसरी ओर सामान्य शारीरिक संरचना वाले बालक उपलब्ध अवसरों से भरपूर लाभ उठाने में सक्षम होने के कारण सामाजिक व्यवहारों का अर्जन शीघ्र करते हैं।

4. सांस्कृतिक कारक (Cultural Factor)—व्यक्ति जिस संस्कृति का सदस्य होता है अथवा जिस सांस्कृतिक वातावरण में विकसित होता है, उसका व्यक्तित्व उससे प्रभावित होता है। व्यक्ति को उसकी संस्कृति का दर्पण कहा जाता है। रेंच (Wrench, 1969) के कथनानुसार "व्यवहार तथा विचार के वह संरूप जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अधिगम द्वारा हस्तान्तरित होते हैं, संस्कृति कहलाते हैं"। (By culture we mean the patterns of thought and behaviour transmitted from generation to generation by learning.")

रैल्फ लिण्टन (Ralph Linton, 1936) ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा था कि, एक विशिष्ट समाज के सदस्यों में उपस्थित सम्प्रेषित किये गये सामान्य व्यवहार संरूप, अभिवृत्तियों और मूल्यों के समुच्चय मात्र को उसकी संस्कृति कहते हैं। (Culture is sum total of behaviour patterns, attitudes and values, shared and transmitted by the members of a given society.)

हेनरी क्ले लिण्डग्रेन (H. G. Lindgren, 1971) के अनुसार, संस्कृति के अन्तर्गत मूल्य, विश्वास, मानक, कौशल, संकेत आदि प्रणालियाँ आती हैं जो किसी समाज द्वारा विकसित होती हैं तथा सदस्यों में सामान्य रूप से पाई जाती हैं।" ("Culture consists of the sytems of Values, beliefs, norms, artifacts and symbols that have been developed by a society and are shared by its members")

ह्वाइट (White, 1959) ने कहा है कि प्रतीकों पर आधारित वस्तुओं और घटनाओं के अमूर्त प्रत्ययों के वर्ग को संस्कृति कहते हैं। (Culture is a class of things and wants dependent upon symbolizing, considered in extrasomatic context.")

इनके अनुसार संस्कृति का स्पष्ट बोध इसके तीन पक्षों द्वारा होता है। (i) मनुष्य के संज्ञान, अभिवृत्तियों, संवेगों और विश्वासों के रूप में, (ii) व्यक्तियों की सामाजिक अन्तक्रिया के रूप में, और (iii) सामाजिक क्रिया में प्रयुक्त भौतिक पदार्थों के सन्दर्भ में। संस्कृति के महत्व का आभास मानव शास्त्रीय अध्ययनों द्वारा होता है, जो स्पष्ट दर्शाते हैं कि अलग-अलग संस्कृतियाँ अलग व्यवहार विकसित करती हैं, अर्थात् व्यवहार की भिन्नता का एक कारण सांस्कृतिक भिन्नता भी है।

मार्गरेट मीड (Margaret Mead, 1953) के अनुसार संस्कृति केवल यह निश्चित करती है कि व्यक्ति किस प्रकार के भोजन करते हैं वरन् यह भी कि उसके भोजन करने का ढंग, अनुशासन, पुरस्कार एवं दण्ड की व्यवस्थायें तथा प्रणालियाँ भी इसी के द्वारा नियंत्रित होती हैं। अतः विभिन्न संस्कृतियों में पले-बढ़े

व्यक्तियों से व्यवहार एक दूसरे से काफी भिन्न होते हैं। मीड, रुथ बेनेडिक्ट तथा मैलिनोस्की ने न्यूगिनी के चाम्बुली (Tchambuli) मुन्डुगूमर, (Mundugumar) तथा अबरोजिन आदिवासियों के ऊपर हुए अध्ययनों के आधार पर बताया है कि संस्कृति व्यक्तियों के व्यक्तित्व, व्यवहार, रीति-रिवाज, खान-पान, वेशभूषा तथा अनुशासन आदि को बहुत प्रभावित करती है। अतः विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न सामाजिक-व्यवहार सरूप प्रगट होते हैं। उपरोक्त तथ्यों से संस्कृति का महत्व स्पष्ट होता है और यह भी ज्ञात होता है कि समाजीकरण में संस्कृति की भूमिका अति महत्वपूर्ण है।

सामाजिक सन्दर्भ में अधिगम
(Learning in Social Context)

अनुभव के द्वारा प्राणी के व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थायी परिवर्तनों को मनोविज्ञान में अधिगम कहा जाता है। यह एक प्रक्रिया है। परिपक्वता, संवेदी अनुकूलन, चोट, शल्यकर्म, औषधि, थकान या बीमारी के कारण व्यवहार में आए परिवर्तन अधिगम का परिणाम नहीं होते। मनुष्य का अधिगम उसके सामाजिक परिवेश में घटित होता है। व्यक्ति अपने परिवेश के व्यक्त या अव्यक्त प्रभावों के द्वारा नाना प्रकार के व्यवहार अर्जित करता है। मानव एक सामाजिक जीव है अतः अपने जीवन की सुरक्षा तथा उद्दीपन, अर्थ एवं परिचय के लिये दूसरों से सम्बन्ध रखने की सामान्य प्रवृत्ति द्वारा उत्प्रेरित होता है। अधिगम सिद्धान्तों की शब्दावली में दूसरों के साथ सहचारिता को लक्ष्य मान सकते हैं और इस लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता दूसरों के साथ रहने से सम्बद्ध व्यवहार को पुनर्बलित करता है। हम समाज के ऐसे लोगों का ध्यान प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं जो कुछ चुने हुये व्यवहार को पुनर्बलित करने में सक्षम होते हैं। पुरस्कृत व्यवहार शीघ्र सीख लिये जाते हैं। पुरस्कार के अनेक प्रभाव हमारे व्यवहार पर पड़ते हैं। अन्य लोग हमें अनेक प्रकार से तथा अनेक रूपों में पुरस्कृत करते हैं जिनके विभेदक प्रभाव व्यवहार पर पड़ते हैं।

दूसरों का ध्यान पुनर्बलक के रूप में (Other's attention as a reinforce)—ध्यान से देखना भी एक प्रकार का पुरस्कार है। ध्यान प्राप्ति का उद्दीपक प्रभाव और इसमें हमें पुनर्बलन का अनुभव होता है। अनावधान, दूसरी ओर अपुनर्बलक, अवसादी और कभी-कभी तो विघ्नकारी होता है।

यदि ध्यान प्रबलनकारी है तो कोई भी यह भविष्यकथन कर सकता है, तो जिनके व्यवहार में परिवर्तन लाना हो यदि उनकी ओर सामान्य से अधिक ध्यान देकर उनके व्यवहार को परिवर्तित किया जा सकता है। एलिस बैटेन पेज (1958) के अनुसार उनके शोधों से इस भविष्यकथन की पुष्टि हुई है। उनके अध्ययन में

हाईस्कूल और जूनियर हाईस्कूल के छात्रों ने व्यवहार-परक परिवर्तन के सन्दर्भ में क्लास रूम की सामान्य परिस्थिति में प्रश्न-पहेलियों का समाधान किया। पेज ने 74 यादृच्छिक रूप से चयनित अध्यापकों से वस्तुनिष्ठ परीक्षा के समय प्रयोग में तीन में से एक उपचार छात्रों को देने को कहा। जब अध्यापकों ने प्रश्नपत्रों का मूल्यांकन कर लिया तो उन प्रश्नपत्रों को यादृच्छिक रूप से तीन समूहों में बाँटने का आदेश दिया। इनमें से एक समूह के पत्र छात्रों को बिना लिखित टिप्पणी के लौटा दिये केवल फलांक तथा ग्रेड लिखा था। दूसरे समूह के पत्रों पर ग्रेड के अनुरूप टिप्पणी अंकित करके लौटाया गया जैसे "सी" और अच्छा करने का प्रयास करें। तीसरे समूह के प्रश्नपत्रों पर मुक्त टिप्पणी की गई थी जिसमें अध्यापक अपनी इच्छानुसार मुक्त टिप्पणी के लिये स्वतन्त्र थे। यह तीन प्रकार के उपचार (Treatment) ध्यान के तीन स्तरों—"कोई टिप्पणी नहीं" समूह, न्यून ध्यान का प्रतिनिधित्व करता है तथा "मुक्त टिप्पणी" समूह सर्वाधिक ध्यान का।

उससे बाद की परीक्षा में अध्यापकों द्वारा अनुदानित ग्रेड्स अनाश्रित चर के रूप में प्रयुक्त हुये थे—छात्रों के व्यवहार के ऊपर तीन प्रकार के उपचारक प्रभाव के माप थे। परिणामों से ज्ञात हुआ कि जिन छात्रों के प्रश्नपत्रों पर "मुक्त टिप्पणी" की गई थी। (अधिकतम ध्यान समूह) में द्वितीय परीक्षा में सार्थक दृष्टि से उच्च अंक प्राप्त किए। जिस समूह के प्रश्नपत्रों पर मानकीकृत टिप्पणी (मध्यम ध्यान समूह) थी ने द्वितीय परीक्षा में कुछ प्रगति प्रदर्शित की, तथा जो छात्र "कोई टिप्पणी" नहीं की कोटि में (ध्यानाभाव) थे, उन्होंने द्वितीय परीक्षा में कोई प्रगति नहीं प्रदर्शित की।

रोचक बात यह है कि टीचर्स को इसका कोई आभास न था कि उनकी टिप्पणी कितनी प्रभावशाली होगी। पेज का शोध दो बातें दर्शाता है, ध्यान में पुरस्कार मूल्य होता है, ध्यान की मात्रा में वृद्धि करके व्यवहार में परिवर्तन ला सकते हैं।

एक अन्य अध्ययन जो क्लास रूम से भिन्न सन्दर्भ में तथा जिसमें व्यवहार में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले चिह्न (Authority figure) नहीं थे। ऐलेन डी० कालिन (1962) ने अपनी मनोविज्ञान कक्षा के छात्राओं से प्रयोगकर्ता की भूमिका निभाने को कहा—जिसके अन्तर्गत उन्हें लंच के समय नीला वस्त्र पहने हुए सभी लड़कियों को बधाई देना था। उसके एक दिन पूर्व वह नीला वस्त्र 25% लड़कियाँ पहने हुये थी जो बधाई दिवस के ठीक दूसरे दिन 37% हो गई। जब बधाई देने का कार्य बन्द कर दिया गया तो यह संख्या कम होकर 27% हो गई। तब प्रयोगकर्ताओं ने लाल वस्त्र पहने हुये बालिकाओं की प्रशंसा की इसके एक

दिन पूर्व 12% बालिकाएँ लाल वस्त्र पहने थी, प्रशंसा के बाद यह संख्या 22% हो गई और फिर 18% पर ठहर गई।

दोनों—पेज तथा काल्विन के अध्ययन दर्शाते हैं कि व्यक्तियों को उस समय व्यवहार परिवर्तन के लिये उत्प्रेरित कर सकते हैं जब अन्य लोग इनकी ओर ध्यान देते हैं। कुछ अन्य शोध यह इंगित करते हैं कि जब पुरस्कार एक व्यक्ति के बजाय समूह द्वारा प्रदान किये जाते हैं तो भी ऐसे ही प्रभाव प्राप्त होते हैं। एब्बाट स्कॉट (1957) के प्रयोग में प्रयोज्यों के युग्मों ने सार्वभौम सैनिक प्रशिक्षण, फुटबाल के महत्व पर कम बल, आदि शीर्षकों पर वादविवाद प्रतियोगिता में भाग लिया। प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्व घोषित पोजीशन के विरोध में बोलना था। वाद-विवाद के समापन पर विजेताओं का निर्धारण करने के लिए श्रोताओं के मत प्राप्त किए, इस तरह वोटों के द्वारा जीतने और हारने वालों की घोषणा हुई। इसके बाद प्रयोज्यों (डिबेटर्स) से पूछा गया कि इस समस्या पर उनकी पोजीशन अब क्या है अर्थात् क्या उनके विचार वही हैं जिनका प्रतियोगिता में कर चुके हैं या उसके विपरीत है। परिणामों से ज्ञात हुआ कि विजेताओं के मत में परिवर्तन व्यक्त हुये किन्तु पराजितों में अपने पूर्व मत पर कायम रहने की प्रवृति देखी गई।

यदि ध्यान और अनुमोदन में व्यक्ति के लिये क्षणात्मक मूल्य होता है तो इनको रोकने का ऋणात्मक मूल्य होना चाहिए।

पुनर्बलन तथा अधिगम
(Reinforcement and Learning)

पद पुनर्बलन तथा पुरस्कार का उपयोग बहुत ही सामान्य हो गया है। बी० एफ० स्किनर ने शब्द पुनर्बलन के उपयोग को अपने अधिगम सिद्धान्त की चर्चा में वरीयता दी है। वे पुरस्कार शब्द को अधिक व्यापक मानते थे। प्रबलनकारी घटना में अधिगम कर्त्ता के लिये पुरस्कार मूल्य निहित प्रतीत होता है, क्योंकि सामान्यतः अनुमोदन का प्रकाशन सुखद माना जाता है। पुरस्कार वाली सभी घटनायें प्रबलनकारी नहीं होती। पेज के अध्ययन प्रशंसक शब्दों का अनुप्रयोग सामाजिक रूप से वंचित प्रयोज्यों के लिये बहुत अधिक प्रबलनकारी (Reinforcing) था किन्तु सामाजिक रूप से तुष्ट (Satiated) व्यक्तियों के लिए ऐसा न था।

बी० एफ० स्किनर (1963) के अधिगम प्रत्यय में पुनर्बलन केन्द्रिय महत्व रखता है। उनके क्रिया प्रसूत या नैमित्तिक अनुबन्धन (Operant or Instrumental conditioning) का आधार पुनर्बलन है। इस उपागम का सबसे बड़ा आकर्षण इसकी सादगी है जिसमें उसने बताया है कि पुनर्बलन कैसे अधिगम को प्रभावित करता है।

"By arranging a reinforcing consequence we increase the rate at which a response occurs; by eliminating the consequence, we decrease the rate. These are the processes of operant conditioning and extinction.")

अर्थात् पुनर्बलन के व्यवस्था से सम्बद्ध अनुक्रिया के घटित होने की दर में वृद्धि आती है तथा पुनर्बलन को हटा लेने या समाप्त कर देने पर अनुक्रिया के घटित होने की दर घट जाती है। इस सिद्धान्त को काल्विन के अध्ययन में लागू करने में नीला वस्त्र पहनने पर प्रशंसित बालिकाओं के नीले वस्त्र पहनने की क्रिया जारी है। क्योंकि इसे प्रशंसा द्वारा पुनर्बलित किया गया था। जब प्रशंसा बन्द कर दी गई तो नीला वस्त्र पहनने की दर कम हो गई। अर्थात् नैमित्तिक अनुबन्धन की क्रिया उल्टी करने से सीखी हुई अनुक्रिया विलुप्त हो गई।

प्रतिरूप अथवा अनुकरण द्वारा सामाजिक अधिगम

(Social Learning Through Model or Imitation)

यद्यपि नैमित्तिक अनुबन्धन के सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं किन्तु प्रयोगशाला के बाहर अनेक व्यवहार के परिवर्तनों की व्याख्या में पूर्ण सक्षम नहीं प्रतीत होता है।

व्यक्ति प्रायः प्रतिरूप के व्यवहार को देखकर तदनुसार व्यवहार करने का प्रयास करता है अर्थात् प्रतिरूप के व्यवहार के समान व्यवहार करते हैं प्रतिरूप के व्यवहार का अनुकरण कभी तो आकस्मिक और कभी सचेत या एच्छिक हो सकता है। व्यक्तियों का उठना-बैठना, तौर-तरीका, बात-चीत, लोकाचार, आदर्श प्रथाएँ, परम्पराएँ तथा फैशन आदि सभी अनुकरण द्वारा सीखे जाते हैं। टार्डे (1903) ने अनुकरण के महत्व को समझते हुए कहा था कि "समाज अनुकरण है।" मैक्डूगल (1908) इसे अनुकरण की मूल प्रवृत्ति कहा था अतः वह इसे जन्मजात प्रवृत्ति मानता था। किन्तु अनुकरण के जन्मजात होने के वैज्ञानिक प्रमाण नहीं उपलब्ध हैं। यह स्थापित हो चुका है कि अनुकरण एक प्रकार का अधिगम है। अनुकरण द्वारा सीखने के लिये निम्न दशायें आवश्यक हैं—

1. **प्रतिरूप का निरीक्षण**—अनुकरण के लिये प्रतिरूप के व्यवहार की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिये प्रयोज्य के समक्ष प्रतिरूप की उपस्थिति आवश्यक है अन्यथा निरीक्षण संभव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त प्रतिरूप के व्यवहार में प्रकार्यता (Functionality) का होना आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति उन व्यवहारों का अनुकरण करता है जिसके लिए उपयोगिता होती है। प्रतिरूप में आकर्षण और व्यवहार शैली ऐसे कारक हैं जो प्रतिरूप द्वारा अधिगम में निरीक्षण क्रिया को बहुत प्रभावित करते हैं।

2. प्रेक्षित व्यवहार को याद रखना—व्यवहार के निरीक्षण से उसकी प्रतिमा बनती है जो व्यक्ति की स्मृति का आधार होती है। इसके अतिरिक्त वाचिक संकेत प्रणाली भी प्रतिरूप अधिगम में सहायक होती है। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि व्यक्ति वाचिक संकेतों, शब्दों आदि के द्वारा प्रतिरूप के व्यवहार को सीखता है (बैन्डुरा, ग्रूसेक, तथा नेमलव, 1969)। इसी प्रकार प्रतिरूपित व्यवहार की धारणा में मानसिक रिहर्सल से सहायता मिलती है।

3. व्यवहार की क्षमता—प्रतिरूप द्वारा अधिगम में प्रतिरूप से सीखे गये व्यवहार को निष्पादित करने की क्षमता एवं कुशलता आवश्यक है।

4. अधिगम तथा अनुकरण के लिए अभिप्रेरणा—प्रतिरूप अधिगम एक प्रकार का प्रेक्षण अधिगम है जिसके लिए अधिगम कर्ता में अभिप्रेरणा का होना आवश्यक है। मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार जन्म के बाद पहले वर्ष में माँ तथा बच्चे में प्रतिपोषक सम्बन्ध विकसित होता है तो बच्चे में स्नेह की कमी से चिन्ता विकसित होती है। माँ का स्नेह प्राप्त करने के लिए मां के व्यवहार का अनुकरण करने के लिए अभिप्रेरित होता है। इस प्रकार के अधिगम को निर्भरता की आवश्यकता कहा गया है। लेकिन सियर्स तथा अन्य (1965) के अध्ययनों से इस तथ्य का समर्थन नहीं हुआ।

एल्बर्ट बैन्डुरा तथा वाल्टर्स (1963) यह मानते हैं कि पूर्व अर्जित व्यवहार के घटित होने की व्याख्या करने में नैमित्तिक सिद्धान्त वैध हैं किन्तु नवीन व्यवहार की उपयुक्त व्याख्या में यह सफल नहीं है। स्किनर (1953) नई अनुक्रियाओं के प्रकाशन की व्याख्या "शेपिंग" (Shaping) रूपी अनुक्रिया के द्वारा की है। उसके अनुसार कबूतरों को टेबुलटेनिस खेलना या फौजी कार्य जैसे मिजाइल को गाइड करना या बमवर्षा करना भी सिखाया जा सकता है, यदि प्रयोगकर्ता निष्पादित किए जाने वाले कार्य से सम्बद्ध किसी व्यवहार को पुनर्बलित करता है। उच्च पशुओं और मनुष्यों द्वारा अधिगम में विशेष रूप से अनुकरण का उपयोग किया जाता है। दूसरों के व्यवहार के निरीक्षण और अनुकरण द्वारा अधिगमकर्ता अनेक व्यर्थ व्यवहार एवं उटपटांग गतियों को छोड़ते हुए वांछित व्यवहार का पुनरुत्पादन कर सकता है। भाषा का अधिगम इसका एक उपयुक्त उदाहरण है। छोटे बच्चे शब्दों और वाक्यों का अनुप्रयोग माता-पिता द्वारा कुछ ध्वनियों के पुनर्बलन के द्वारा उतना नहीं सीखते जितना कि दूसरों की वाणी के अनुकरण द्वारा सीखते हैं।

बैन्डुरा तथा वाल्टर्स ने जूलियन बी० राटर (1954) के समाजिक अधिगम सिद्धान्त की भी आलोचना की है। राटर ने कहा था कि किसी विशिष्ठ परिस्थिति में किसी व्यवहार के घटित होने की संभावना दो कारकों पर निर्भर करती

है : (A) व्यवहार के पुनर्बलित होने के विषय में व्यक्ति की प्रत्याशा, (B) व्यक्ति द्वारा पुनर्बलक को दिया जाने वाला महत्व या मूल्य। बैन्डुरा तथा वाल्टर्स के अनुसार यह सिद्धान्त उन अनुक्रियाओं की व्याख्या नहीं कर सकता जिनकी उत्पत्ति ही न हुई हो—जैसे एक बच्चा जो चाइनीज भाषा बिल्कुल नहीं जानता वह उस भाषा का एक वाक्य भी नहीं बोल सकता जबकि वह जानता है कि ऐसा करने में वह मन चाहा पुरस्कार प्राप्त करेगा, क्योंकि उसके समक्ष चाइनीज बोलने वाला कोई प्रतिरूप (Model) नहीं था।

बैण्डुरा (1971) के अनुसार पुनर्बलन सिद्धान्तों की परिकल्पना के अनुसार अधिगम के घटित होने के लिये प्रयोज्य की अनुकरण अनुक्रिया का पुनर्बलित होना आवश्यक है। अर्थात् अधिगम के लिये मॉडेलिंग अति आवश्यक है। इनके अनुसार प्रतिरूप (मॉडेल) का व्यवहार ऐसा उद्दीपक है जो अधिगमकर्ता में अनुक्रिया उत्पन्न करता है। यह प्रबलकारी उद्दीपक सीखी जाने वाली अनुक्रिया को पुनर्बलित करता है। बैण्डुरा के सामाजिक अधिगम सिद्धान्त के अनुसार मॉडेलिंग इससे अधिक जटिल अनुक्रिया है। अधिगमकर्ता सर्वप्रथम प्रतिरूप (मॉडेल) के व्यवहार का निरीक्षण करता है, इसलिए कि प्रायः वह पुनर्बलन की संभावना की प्रत्याशा करता है। तब अधिगमकर्ता सांकेतिक, कूट संकेतन, संज्ञानात्मक संगठन और वास्तविक या मानसिक रिहर्सल (Rehearsal) के द्वारा इस प्रक्रिया को सँवारता, सजाता है। इसके परिणाम स्वरूप अनुक्रिया-अधिगम घटित होता है।

बैण्डुरा के सिद्धान्त में प्रत्याशित पुनर्बलन आवश्यक दक्षा नहीं सुलभकारी (Facilitative) मानता है, क्योंकि अनुक्रिया परिणाम (प्रबलन) के अतिरिक्त अन्य कारक भी व्यक्ति की क्रिया का निर्धारण करते हैं। उनके शोध से प्रदर्शित हुआ कि टेलीविजन पर क्रिया अनुक्रमों को देख रहे बच्चे चाहे पहले से शुद्ध अनुकरण के प्रवलित किये जाने की सूचना मिली हो न मिली हो, समान मात्रा में अनुकरणात्मक अधिगम का प्रदर्शन करते हैं (बैण्डुरा, ग्रूसेक तथा मेनलव, 1966)।

एक अन्य अध्ययन में बैण्डुरा तथा मैक्डानल्ड (1963) ने पुनर्बलन-युक्त तथा पुनर्बलन रहित दशाओं में अनुकरण के प्रभावों का अध्ययन किया। इस प्रयोग में पियाजे (1948) द्वारा बालकों के नैतिक विकास के शोधों में प्रयुक्त कहानियों के समान संक्षिप्त कहानियों के जोड़ों (Pairs) का अनुप्रयोग किया। पियाजे ने ज्ञात किया था दुराचार के प्रति अभिवृत्ति के विषय में बच्चे दो सरलतापूर्वक पहचान योग्य वैकासिक अवस्थाओं से गुजरते हैं। प्रथम अवस्था में जिसे वह वस्तुनिष्ठ उत्तरदायित्व कहता है। बच्चे दुराचार का मूल्यांकन, उससे हुई क्षति की मात्रा द्वारा करते हैं और व्यक्ति के मन्तव्यों (Intentions) पर ध्यान नहीं देते। इस प्रकार जब उन्हें कोई दो कथायें सुनाता है—एक में एक बालक आकस्मिक रूप से

15 प्याले तोड़ देता है। वह प्याले ट्रे में दरवाजे के दूसरी ओर रखे हुये थे और दिखाई नहीं देते थे। रात्रि भोज के लिये द्वार खोलते ही प्याले गिरे और टूट गए। दूसरी कथा में एक बालक एक रूप मर्तबान से टाफी चुराते समय तोड़ देता है। वे बच्चे जो अब भी वस्तुनिष्ठ उत्तरदायित्व की अवस्था से गुजर रहे हैं कहेंगे कि 15 प्याले तोड़ने वाला बालक अधिक शरारती एवं दुराचारी है, किन्तु वे जिनका नैतिक विकास आत्मनिष्ठ उत्तरदायित्व (Subjective responsibility) की अवस्था तक पहुँच चुका है कहेगा कि टाफी चुराते हुये एक प्याला तोड़ने वाला बालक अधिक दुराचारी है।

वैण्डुरा तथा मैकडानल्ड ने 5 से 11 वर्षीय बालकों की परीक्षा पियाले जैसी कथाओं के जोड़ों पर की। उसने प्रयोज्यों को दो समूहों में बाँटा—एक में वे बच्चे थे जिनसे वस्तुनिष्ठ उत्तरदायित्व के अनुसार नैतिक निर्णय करने की संभावना अधिक थी, और दूसरा वह जिसके प्रयोज्यों से आत्मनिष्ठ उत्तरदायित्व के अनुरूप नैतिक निर्णय की अपेक्षा थी। इन दो समूहों को फिर छः समूहों में विभक्त किया और अलग-अलग दशाओं में रखा गया। पूर्वचर्चित कथाओं के समान बारह-जोड़ी कहानियाँ अलग-अलग प्रयोज्यों को एक-एक कर सुनाई गई। एक दशा में एक ऐसे प्रौढ़ प्रतिरूप (model) की उपस्थिति में कहानियाँ पढ़ी गई जिसने बच्चे द्वारा आरम्भिक परीक्षण परिस्थिति में किये निर्णय के ठीक विपरीत निर्णय किया। प्रतिरूप के निर्णय के पुनर्बलन हेतु प्रयोगकर्ता 'बहुत अच्छा' कहता था। जब बच्चा भी वैसी अनुक्रिया करता था तो उसे भी पुनर्बलित करते थे। दूसरी दशा पहली दशा के समान थी सिवाय इसके कि प्रतिरूप के निर्णय को नहीं करते थे। तृतीय समूह में कोई प्रतिरूप उपस्थिति नहीं था, किन्तु आरम्भिक परीक्षण सत्र की अनुक्रिया के विपरीत अनुक्रिया पर बच्चे को पुनर्बलित करते थे। सभी दशाओं में प्रयोगकर्ता बच्चे से पूर्व परीक्षण सत्र के विपरीत अनुक्रिया को या तो पुनर्बलन द्वारा, या प्रतिरूप के पुनर्बलन द्वारा, या दोनों उपायों द्वारा पुनर्बलित करता था प्रायोगिक उपचार (Experimental treatment) के बाद बालक को एक अन्य सेट की दो कहानियाँ सुनाई गई और बिना प्रतिरूप तथा बिना पुनर्बलन उससे निर्णय कराया गया। इस प्रकार प्रयोग द्वारा यह निश्चित करने का प्रयास किया गया कि अधिगम में पुनर्बलन अधिक महत्वपूर्ण है या प्रतिरूप।

परिणामों से निश्चित प्रमाण मिले कि प्रतिरूप का व्यवहार बालकों के व्यवहार पर पुनर्बलन से कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। वास्तव में पुनर्बलन के नगण्य प्रभाव का ही प्रमाण मिला जो किसी स्तर पर सार्थक नहीं था। जिन बच्चों के निर्णय के समय कोई प्रतिरूप नहीं था केवल पुनर्बलन दिया गया था, उनके व्यवहार में अपेक्षाकृत कम परिवर्तन आए। इसी तरह वस्तुनिष्ठ मौलिक निर्णय करने

वाले बच्चों के व्यवहार पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं था, क्योंकि पुनर्बलन सत्र के समापन पर वे अपने मौलिक स्थिति में लौट आये थे।

प्रतिरूप के व्यवहार के प्रभाव की आंशिक व्याख्या प्रतिरूप के साथ उनके तादात्मीकरण द्वारा की जाती है अर्थात् वे अपने तथा प्रतिरूप में समानता का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। अतः वे अस्पष्ट परिस्थिति में प्रतिरूप की अनुक्रिया के अनुकरण द्वारा सुरक्षा का अनुभव करते हैं। बैण्डुरा तथा वाल्टर्स (1963), वास्तव में अनुकरण तथा तादात्मीकरण में कोई अन्तर नहीं है।

यह भी कहा जा सकता है कि अनुकरण एक विशेष प्रकार का पुनर्बलन है क्योंकि सफल अनुकरण करने वाला व्यक्ति अपने आप में प्रबलनकारी होता है। किन्तु शैक्षकताओं की समस्या इन अभिग्रहों द्वारा नहीं हो पाती।

रॉटर के सामाजिक अधिगम सिद्धान्त को अनुकरण की व्याख्या में कुछ सुविधायें हैं जो अन्य उपागमों में उपलब्ध नहीं हैं। एक बात जो अध्ययनों से स्पष्ट है कि बच्चे जिन प्रतिरूपों को स्वीकार करते हैं ऐसों की भूमिका के अनुकरण की संभावना अधिक होती है (Flanders & Thistlethwaite, 1970), या फिर उन प्रतिरूपों की भूमिका का अनुकरण करते हैं जो उनके अनुसार पुरस्कृत करने में सक्षम होते हैं। (Grusec & Mischel, 1966)।

रॉटर ने विभिन्न परिस्थितियों प्रतिरूपों का उपयोग करके अन्य शोधों से प्रमाणित किया कि परिस्थितियों को परिभाषित करने में प्रतिरूप सहायक होते हैं (Henker & Rotter, 1968)। D. H. Meichenbaum (1971) ने स्नातक स्तर की ऐसी महिलाओं का अध्ययन किया जिन्होंने बिना विष के साँपों के प्रति अत्यन्त सीमान्तिक एवं अवास्तविक भय प्रकट किया था। उन्हें टी० वी० द्वारा तीन प्रतिरूपों को पाँच फुटे सर्पों को छूते, पकड़ते दिखाया गया। कुछ प्रयोज्याओं को दिखाया कि प्रतिरूप निःसंकोच सर्प को छूता, पकड़ता या उठाता है। कुछ अन्य को दर्शाया गया कि आरम्भ के थोड़े भय को वे नियन्त्रित कर सर्प को उठा लेते हैं। इसके बाद फिर प्रयोगकर्त्ता ने प्रयोगशाला में प्रयोज्याओं की मुठभेड़ सर्प से करायी तो जिन महिलाओं ने प्रतिरूप को भय को दूर करते देखा था उन्होंने भी वैसे ही किया अर्थात् कुछ समय में ही वे सर्प को छूने-उठाने लगीं। दूसरे शब्दों में भयावः परिस्थिति का मुकाबला (Cope) करने वाले प्रतिरूप से परिस्थिति को परिभाषित या स्पष्ट करने में प्रयोज्यों को मदद मिलती है। अतः वे ऐसे प्रतिरूपों से तादात्मीकरण करते हैं और उनके व्यवहार का अनुकरण करते हैं। जीवन की अनेक परिस्थितियों में अधिगम, बिना किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा प्रदत्त पुनर्बलन के ही घटित होता है। यदि कोई प्रबलनकारी है तो वह स्वयं अधिगमकर्त्ता है और

उसके अतिरिक्त कोई और नहीं होता। जैसा कि बैण्डुरा ने कहा है कि सामाजिक अधिगम सिद्धान्त में स्वमूल्यांकन तथा स्वप्रबलनकारी (Self reinforcing) प्रकार्यों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। Bandura (1971) Points out, "Self-evaluative and self-reinforcing functions assume a prominent role in social learning theory" हम सबको अनुभव है कि हम अपने प्रति इस तरह प्रतिक्रिया करते हैं मानों हम अन्य व्यक्ति हैं जो हमारे अपने व्यवहार का निरीक्षण, प्रशंसा तथा निन्दा करता है। यह प्रतीकात्मक अन्तःक्रिया (Symbolic interaction) द्वारा अधिगम का एक अन्य उदाहरण है।

प्रतिरूप अधिगम में आरम्भिक पुनर्बलन

(Early Reinforcement in Model Learning)

सामाजिक अधिगम पहचान का आधार है। हम जो कुछ भी हैं, वह अधिगम का ही परिणाम हैं। यह प्रक्रिया बहुत शीघ्र (जन्म के बाद) आरम्भ हो जाती है। आरम्भ के कुछ ही महीनों में शिशु शारीरिक सन्तोष प्रदान करने वाली क्रियायें सीख लेता है।

इसमें कुछ अधिगम सरल और सहज-क्रियात्मक है, किन्तु सम्पूर्ण नहीं। बच्चे के रोने से माता-पिता चिंतित हो जाते हैं क्या पेट में दर्द है, वस्त्र भीगा है, भूख लगी है, गर्मी लग रही है आदि माता-पिता के मात्र ध्यान देने पर कई शिशु रोना बन्द कर देते हैं किन्तु ज्यों ही माता-पिता उसे कमरे में छोड़कर जाते हैं वह पुनः रोना आरम्भ कर देते हैं। वे फिर कमरे में आकर शिशु के पास आ जाते हैं। ऐसा करके माता-पिता अज्ञात रूप में रोने-चिल्लाने को पुनर्बलित करते हैं। पालन पोषण और शिशुओं की देख भाल की न्यूनताएँ उनको शोर मचाने चिल्लाने, रूठने तथा तरह-तरह की माँग करने वाले व्यवहार के अर्जन को सुलभ, बना देते हैं, परिणाम स्वरूप शांत, प्रसन्न, रचनात्मक व्यवहार विलुप्त हो जाते हैं। ध्यान इतना प्रबलनकारी है कि अनुपयुक्त व्यवहार पुनर्बलित और अनात्मक व्यवहार अपुनर्बलित रह जाते हैं। दुराचार एवं अनुचित व्यवहार की ओर अवधान और केवल अच्छे व्यवहार की ओर ध्यान देना चाहिये।

सन्दर्भ समूह द्वारा प्रतिरूप अधिगम

(Model Learning by Reference Group)

बच्चे माता-पिता के अतिरिक्त तेरह से उन्नीस वर्ष की आयु में समूह के अन्य व्यक्तियों का भी अनुकरण करते हैं जो प्राथमिक या द्वितीय समूह के सदस्य नहीं होते। यह समूह सन्दर्भ समूह कहे जाते हैं। जिनसे प्रतिरूप संबद्ध होते हैं। बच्चे इस समूह के सदस्य न होते हुए भी प्रतिरूप के चयन में इसके किसी सदस्य को चुन

लेते हैं। संदर्भ समूह वह होता है जिसकी सदस्यता की इच्छा बालक में होती है जिसके सन्दर्भ में वह अपना मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के व्यवहार के मूल्यांकन का मापदंड होता है। (Reference group is one in terms of which the individual views or evaluates himself, One whose standards are used as comparison point for the individual behaviours.' —Jones and Gerard)

इस तरह सन्दर्भ समूह वह है जिसके साथ व्यक्ति अपना तादात्मीकरण कर लेता है। वही उसका आदर्श बन जाता है। शेरिफ (1963) के अनुसार, सन्दर्भ समूह वह है, जिसका, कोई व्यक्ति अपने आपको अंग मानने लगता है या मनोवैज्ञानिक रूप से जिसके साथ अपने को सम्बन्धित करने की आकांक्षा करता है। दैनिक जीवन की भाषा में सन्दर्भ समूह वह समूह है जिसके साथ व्यक्ति तादात्मीकरण करता है या करना चाहता है। (Reference groups are..... groups to which an individual relates himself or aspires to relate himself as a part psychologically)

सन्दर्भ समूह अभिवृत्तियों तथा मूल्यों के साधन हो सकते हैं जिनका वह अनुकरण करता है और जो आगे सामाजिक अधिगम का आधार हो सकते हैं। वास्तव में ऐसे समूह की अभिवृत्तियाँ तथा व्यवहार व्यक्ति के व्यवहार तथा अभिवृत्तियों का निर्धारण करती हैं। बैण्डुरा (1971) ने इसी तथ्य को ध्यानगत करके कहा है कि हम अपने व्यवहार का नियंत्रण, आत्ममूल्यांकन तथा आत्मपुनर्बलन द्वारा करते हैं जो सन्दर्भ समूह प्रतिष्ठित सदस्यों की वास्तविक या प्रत्याशित प्रतिक्रियाओं द्वारा प्रभावित होता है। (As Bandura (1971) points out, "we tend to control our own behaviour through standards of self evaluation and Self reinforcement that, in turn, are influenced by the real or anticipated reactions of admired or respected members of reference groups")

प्रभावित होने के लिये व्यक्ति की सन्दर्भ समूह की सदस्यता आवश्यक नहीं है। लोकप्रिय संगीतज्ञ अनेक युवक/युवतियों के लिये सन्दर्भ समूह होते हैं यद्यपि वे संगीतज्ञ नहीं होते। दूसरी ओर, समूह जिसके वे सदस्य होते हैं उसके लिए सन्दर्भ समूह हो सकता है इसलिये कि वे उनका उपयोग अनेक अभिवृत्तियों और व्यवहार से सीखने में आधार के रूप में करते हैं। सन्दर्भ समूह के द्वारा ही व्यक्ति में अपनी पहचान विकसित होती है।

सामान्य परिस्थितियों में माता-पिता अपने बच्चों के लिये सन्दर्भ समूह के रूप में कार्य करते हैं, विशेषकर जीवन के उन वर्षों में जब वे अनुकरण आरम्भ

करते हैं। पाठशालीय अवस्था में आने पर वे अन्य सन्दर्भ समूहों के साथ तादात्मीकरण करने लगते हैं जैसे टी० वी० के कलाकार, कॉमिक के चरित्र, अध्यापक तथा बड़े भाई बहन आदि।

सन्दर्भ समूह तथा व्यवहार की जटिलता :—जैसे-जैसे बच्चों की आयु बढ़ती है उनके व्यवहार की भिन्नता एवं जटिलता भी बढ़ती जाती है। शिशुओं के व्यवहार में अधिकतम समानता और परिवर्तनशीलता देखी जाती है। यद्यपि उनके क्रियाओं और स्वभाव में भी भिन्नताएँ होती हैं, विकास के इस स्तर पर नवजात शिशुओं में भविष्य की अपेक्षा समानतायें अधिक होती हैं—उन्हें निद्रा की बहुत आवश्यकता होती है, वे केवल नर्म और तरल भोजन ही पचा सकते हैं, और शरीर के व्यर्थ पदार्थों जैसे मलमूत्र के त्याग पर नियंत्रण का अभाव होता है। ज्यों-ज्यों उनका विकास होता है और नए व्यवहार का अर्जन होता है, परिवर्तनशीलता प्रकट होने लगती है। एक वर्ष की आयु होने पर जन्म की अपेक्षा कहीं अधिक व्यवहार सम्बन्धी भिन्नतायें प्रकट होती हैं। चूँकि उनका पालन-पोषण अलग-अलग माता-पिता करते हैं और वे माँ-बाप के कुछ व्यवहारों का अनुकरण करने लगते हैं, अतः व्यवहार की भिन्नतायें बढ़ती हैं। जब वे स्कूल में प्रवेश करते हैं, विभिन्न प्रकार के सन्दर्भ समूहों के प्रभाव से व्यवहार की भिन्नताएँ और भी बढ़ जाती हैं। 13 से 19 वर्ष की आयु में सन्दर्भ समूहों (जिनसे वे तादात्मीकरण करते हैं और सीखते हैं) की संख्या काफी बढ़ जाती है और तदनुसार व्यवहार में अतिरिक्त भिन्नताएँ अभिव्यक्त होती हैं।

जब बालक, बालिकाएं किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में पहुँचते हैं तो आधुनिक जटिल, नागरिक एवं औद्योगिक समाज में सन्दर्भ समूहों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। किसी व्यक्ति के सन्दर्भ समूहों की संख्या जितनी अधिक होती है, उसका व्यवहार उतना ही जटिल हो जाता है और व्यवहार सम्बन्धी भिन्नताएँ भी उतनी अधिक होती हैं।

वे अपने सन्दर्भ समूहों से अनेक प्रकार की समजोपयोगी बातें सीखते हैं। किसी एक सन्दर्भ की सारी बातों का अनुकरण नहीं किया जा सकता। व्यक्ति सन्दर्भ समूह से कुछ विशेषताओं या पक्षों का चयन अनुकरण हेतु करता है। प्रायः व्यक्ति अधिक केन्द्रीय विशेषताओं का चयन करता है, किन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता। यह चुनी हुई विशेषता समूह का प्रतीक होती है। अनेक व्यक्ति अपने सन्दर्भ समूह की केन्द्रीय विशेषताओं के अतिरिक्त या केवल वेशभूषा, शैली, अभिवृत्तियों और मूल्यों का अनुकरण करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभिवृत्ति और मूल्य सन्दर्भ समूह से सीधी बातों में सबसे महत्वपूर्ण हो सकते हैं, क्योंकि वे सामाजिक

व्यवहार के आधार का कार्य कर सकते हैं। अन्य प्रकार की व्यक्तिगत भिन्नताओं समान, अभिवृत्तियाँ और मूल्य भी सीखे जाते हैं।

सामाजिक अधिगम में प्रात्यक्षिक कारक

(Perceptnal Factors in Social Learning)

अभिवृत्ति और मूल्यों का निर्धारण प्रत्यक्षीकरण द्वारा बहुत प्रभावित होता है और प्रत्यक्षीकरण का निर्धारण बहुत कुछ अभिवृत्ति और मूल्यों द्वारा प्रभावित होता है। अभिवृत्तियों और मूल्यों तथा दूसरी ओर प्रात्यक्षिक शैली में घनिष्ठ पारस्परिक प्रबलनकारी सम्बन्ध होता है।

बाल्यावस्था में ही सीखते हैं कि क्या उपेक्षा योग्य है और क्या महत्वपूर्ण है, और यह अधिगम भविष्य की अभिवृत्ति एवं मूल्य संरचना के आधारों में एक प्रमुख आधार है। जापानी बालक अपने शरीर की गन्दगी के प्रति असहनशील होता है। किन्तु यह भी सीख लेता है कि सार्वजनिक स्थानों पर इसे सहन करना है। त्वचा के सम्पर्क में गन्दगी को खतरनाक समझते हैं किन्तु सड़कों और गलियों में एकत्रित गन्दगी की ओर ध्यान नहीं देते। जापानी बालक में सत्तावादी सामाजिक संरचना में निहित मूल्यों के सीखने की संभावना भी होती है जो संस्थिति (Status) में भिन्नताओं पर बल देता है। इन मूल्यों के कारण वह अपने तथा अन्य लोगों के सम्बन्धों को स्तरीकृत स्थितियों (Stratified positions) के आधार पर प्रत्यक्षीकरण करने लगता है, और दूसरों के व्यवहार का प्रत्यक्षीकरण इन मूल्यों की वैधता को सत्यापित करता है।

अमेरिकी बालक द्वारा सीखी गई मूल्य प्रणाली भी किसी भाषा में सामाजिक स्तरीकरण (Social stratification) की परिचायक है। इनसे सम्बोधन के उपयुक्त व्याकरणात्मक रूपों का भी बोध होता है—अति औपचारिक, औपचारिक, अर्धा परिचित।

यद्यपि यह मूल्य प्रणाली, अन्य प्रकार के सांस्कृतिक मूल्य सेट से विपरीत है तो व्यक्तिक समता (Personal equality) को सामाजिक गुण मानती है। अतः अमेरिकी के लिए सामाजिक भिन्नतायें धुँधली और संभ्रान्तिक हैं। पूर्वी देशों या यूरोपीय देशों के विपरीत एक अमेरिकी बच्चा प्रौढ़ों को उनके प्रथम नाम से संबोधित करता है। अमेरिकी प्रौढ़ों के व्यवहार से वहाँ के बालकों द्वारा अपने तथा प्रौढ़ों में सामाजिक दूरी को प्रत्यक्षित न करने के व्यवहार को पुनर्बलन प्राप्त होता है। अतः वे प्रौढ़ों से ऐसा व्यवहार करते हैं जैसा अपने देश में बराबर वालों से करते हैं।

प्रतिरूपों में निहित पुरस्कार भिन्नतायें

(Reward Differences in Models)

ज्यों-ज्यों अमेरिकी बच्चों की आयु बढ़ती है वे बच्चों और बड़ों में संस्थिति

भिन्नताओं (Status differential) से अवगत होते हैं। वे यह समझने लगते हैं कि संस्थिति और शक्ति में बालक तथा प्रौढ़ एक दूसरे से भिन्न है। वे इसके महत्व और वास्तविकता से भी परिचित हो जाते हैं। प्रौढ़ों की उच्च संस्थिति का अर्थ यह है कि बच्चों पर लागू पुरस्कार प्रणाली पर प्रौढ़ों का नियन्त्रण स्पष्ट हो जाता है। जोएन ग्रूसेक तथा वाल्टर मिस्चेल (1966) ने बच्चों की प्रौढ़ों के साथ अन्तःक्रिया के समय घटित होने वाले अधिगम का अध्ययन किया। यह सभी प्रौढ़ पुरस्कृत करने की क्षमता रखते थे। दो प्रकार के प्रतिरूप (Models) प्रयोग में प्रयुक्त हुये थे। बच्चे चार वर्षीय थे जिनमें से एक-एक से व्यक्तिगत रूप से एक प्रकार के प्रतिरूप ने कहा कि वह उनकी नई नर्सरी स्कूल अध्यापिका है और उसने कुछ समय उसके साथ आकर्षक खिलौनों के साथ खेलने में बिताया तथा उसके प्रति स्नेह का प्रकाशन किया। इसके पीछे बच्चे को यह जताने का उद्देश्य था कि उसके पास बच्चे के लिये अति आकर्षक साधन हैं अथवा वह बच्चे को पुरस्कृत करने में सक्षम है। अन्य प्रकार के प्रतिरूप ने कुछ टूटे-फूटे खिलौने बच्चों को दिये, स्वयं बैठ गई यह कहकर कि उसे कुछ आवश्यक कार्य निबटाना है और उसने बच्चे से अन्तःक्रिया आरम्भ करने का कोई प्रयास नहीं किया। उसने यह प्रदर्शित किया कि वह न्यून पुरस्कार देने में सक्षम है। उन्मुक्तता के आरम्भिक सत्र के पश्चात, प्रत्येक प्रतिरूप ने बालक के साथ एक खेल में भाग लिया जिसमें मार्चिंग, गिनती गिनना, सिर पर हैट रखकर पोज देना आदि व्यर्थ क्रियायें शामिल थीं। एक सन्निबद्ध व्यक्ति जो इस क्रीड़ा के समय लक्ष में बराबर उपस्थित था, प्रतिरूप के जाने के पश्चात्, बालक से पूछता है कि प्रतिरूप की कितनी क्रियायें उसे याद हैं और किनका वह अनुकरण कर सकता है। परिणामों से ज्ञात हुआ कि प्रथम प्रकार के प्रतिरूप की अधिक क्रियायें प्रयोज्यों को याद थीं। इस प्रकार वह महिला जो बालक से कहती थी कि वह उनकी नयी अध्यापिका है, और जिसने यह प्रभाव दिया कि भविष्य में उन्हें पुरस्कृत कर सकती है, ऐसी प्रतिरूप थी जिससे बच्चों ने अधिक तत्परतापूर्वक सीखा।

बच्चों के साथ ग्रूसेक एवं मिस्चेल का परिणाम प्रौढ़ों पर भी लागू होते हैं अर्थात् भविष्य में जिन व्यक्तियों द्वारा पुरस्कृत या पुनर्बलित किये जाने की आशा होती है, उनके व्यवहार के अनुकरण की संभावना अधिक होती है। हम ऐसे प्रतिरूप को वरीयता देते हैं जिनमें पुरस्कृत करने की क्षमता निहित होती है। प्रतिरूप या अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रिया में प्रबलनकारी या पुनर्बलित व्यवहार का अनुकरण किया जाता है। सामाजिक अधिगम बहुत कुछ पुनर्बलन तथा प्रतिरूप पर निर्भर करती है।

भूमिका अधिगम
(Role Learning)

निःसन्देह सामाजिक अधिगम में अनुकरण का विशेष महत्व है किन्तु अधिकांश सामाजिक अधिगम सरल अनुकरण से अधिक जटिल है। भूमिका-अधिगम सामाजिक अधिगम का कहीं अधिक स्पष्ट उदाहरण है। समूह के सदस्यों का समूह में निश्चित दर्जा या स्थान होता है और प्रत्येक स्थान के लिये अलग-अलग भूमिका प्रत्याशायें होती हैं। भूमिका अधिगम से अभिप्राय, व्यवहार, भाव और अपने भूमिका वर्ग के अन्य व्यक्तियों के समान संसार के प्रति दृष्टिकोण आदि के अधिगम से है। भूमिका व्यवहार के अन्तर्गत किसी भूमिका विशेष से सम्बद्ध व्यवहार की प्रत्याशाओं का अध्ययन करते हैं। अनेक व्यक्ति अपने जीवन में अनेक प्रकार की भूमिकाएँ निभाते है। कभी-कभी एक साथ व्यक्ति विभिन्न भूमिकाए निभाते है। एक व्यक्ति मंत्री की भूमिका निर्वाह सचिवालय में करता है, पार्टी के कार्यालय में पार्टी द्वारा प्रदत्त पद के अनुसार भूमिका निभाता है तो घर में वह पिता, पति; भाई, चाचा आदि की भूमिकायें भी निभाता है। हर भूमिका के सहयोगी, अधिकार, कर्तव्य; आदि एक दूसरे से पृथक होते हैं, और हर भूमिका के साथ व्यवहार अपेक्षाएँ सम्बद्ध होती हैं। यह भूमिका विषयक व्यवहार सोद्देश्य अधिगम (Intentional learning) अथवा आकस्मिक अधिगम (Incidental learning) द्वारा सीखे जाते हैं समाज लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार और क्रियाओं के करने की ट्रेनिंग प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, अथवा व्यक्त, अव्यक्त रीति से देता है। जन्म से कुछ ही वर्ष बाद बालक-बालिकाओं के पालन पोषण में अन्तर किया जाने लगता है ताकि यौन के अनुरूप भूमिकायें उनमें विकसित हो सकें। अनेक व्यवहार बालकों में वांछित समझे जाते हैं और उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता है जब कि वही व्यवहार बालिकाओं में अवांछित मानते हुये दण्डित किया जा सकता है। इस प्रकार बालक-बालिकाएँ, भूमिका से सम्बद्ध, मानकों, मूल्यों एवं कौशलों का अधिगम करते हैं।

इस प्रकार भूमिका अधिगम का तात्पर्य अपनी संस्थिति के किसी व्यक्ति के अनुभव, क्रिया और परिवेश के प्रत्यक्षीकरण की प्रणाली का सीखना है। इसमें तीन बातों का विशेष उल्लेख है :—

(i) भूमिका से सम्बद्ध मूल्यों एवं मानकों का सीखना,
(ii) भूमिका कौशलों एवं प्रणालियों का सीखना,
(iii) भूमिका पहचान का सीखना,

(i) भूमिका से सम्बद्ध मूल्यों एवं मानकों का अधिगम—सफल सामाजिक अन्तक्रिया हेतु यह आवश्यक है कि समूह के सदस्य अपने भीतर समूह मानकों

एवं मूल्यों को विकसित करें, अन्यथा वे भूमिका निर्वाह के समय समूह के अन्य सदस्यों के साथ सफल अन्तर्क्रिया नहीं कर सकते। एक डाक्टर की भूमिका, रोगियों, नर्सों, कम्पाउण्डरों, अन्य डाक्टर मित्रों के साथ अलग-अलग होती है। एक डाक्टर से रोगियों के प्रति सहानुभूति पूर्ण व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। हर व्यक्ति अपनी भूमिका के समरूप मूल्यों, मानकों, एवं अभिवृत्तियों आदि का अर्जन कर लेते हैं।

(ii) **भूमिका कौशलों का अधिगम**—किसी भी भूमिका का निर्वाह बिना आवश्यक कौशलों के दुर्लभ होगा। अधिकांश भूमिकाओं में विशिष्ठ कौशलों और प्रणालियों का अधिगम आवश्यक होता है। किसी कार्य में लगे हुए दक्ष एवं अनुभवी व्यक्ति की तुलना में उसी कार्य के करने में नये अनानुभवी व्यक्ति द्वारा अनुभव की गई कठिनाई इसका उदाहरण है। भूमिक निर्वाह में व्यक्ति के लिये दो कौशलों का जानना आवश्यक है। प्रथम, वह कौशल जो व्यक्ति की विशिष्ट भूमिका निर्वाह में आवश्यक होते हैं तथा दूसरे, वे कौशल जो भूमिका सहभागियों के साथ व्यक्ति की अन्तर्क्रिया के सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं।

(iii) **भूमिका परिचय का अधिगम (Learning role identities)**—व्यक्ति भूमिका-परिचय का अधिगम करता है जो व्यक्ति के स्वप्रत्यय का अंग बन जाते हैं। भूमिका परिचय का अनुलम्बन (Maintenance) या परिवर्तन अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तर्क्रिया पर निर्भर करती है। भूमिका के साथ अपना परिचय बना लेने के बाद व्यक्ति प्रायः उसी भूमिका के अनुरूप घर में भी व्यवहार करने लगता है जैसे एक दारोगा, अपनी इस भूमिका परिचय का अपने स्वप्रत्यय का अभिन्न अंग बना लेने के कारण परिवार जनों से भी वैसे ही बात करता है, मानो वह दारोगा की भूमिका निभा रहा हो।

भूमिका अधिगम में वस्तुतः सभी प्रकार के अधिगम निहित होते हैं। सामाजिक घटनाओं अथवा उद्दीपकों से प्रभावित होकर व्यक्ति सामाजिक अधिगम के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की अनुक्रियायें अर्जित करता है। पुरस्कार एवं दण्ड के द्वारा यह अनुक्रियायें प्रबल या निर्बल होती हैं। पुनर्बलित अनुक्रियाओं को व्यक्ति भविष्य में दुहराता है और दण्डित अनुक्रियाओं का विलोप हो जाता है। नैमित्तिक अनुक्रियायें इस सम्बन्ध में मुख्य भूमिका निभाती हैं। भूमिका प्रत्याशा के अनुरूप व्यक्ति अपनी क्रियाओं और व्यवहार को निर्धारित करना सीख जाता है। बालक अनेक क्रियायें एवं व्यवहार आकस्मिक रूप में सीखते हैं। अर्थात अनेक व्यवहार का अर्जन आकस्मिक होता है। बच्चे खेल-खेल में कतिपय भूमिकाओं को अनचाहे रूप में अपना लेते हैं। भूमिका अधिगम में स्वतन्त्र चिन्तन एवं कल्पना का भी

योगदान होता है। इन विभिन्न साधनों से भूमिकाओं की शैलियों और मूल तत्वों को अपनाते हैं। इसी प्रकार तादात्मीकरण भी भूमिका अधिगम में महत्वपूर्ण है। तादात्मीकरण वातावरण में उपलब्ध प्रारूप ((Model) पर निर्भर करता है। सियर्स (1957) ने इसकी व्याख्या निर्भरता-सिद्धान्त द्वारा की है। उनके अनुसार निर्भरता समाजीकरण का आधार है। ह्वाइटिंग (1960) के अनुसार बच्चा अपने पिता के साथ तादात्मीकरण करता है, क्योंकि पिता के नियन्त्रण एवं अधिकारों के प्रति ईर्ष्या की भावना से प्रेरित होता है। तादात्मीकरण की व्याख्या में स्टाटलैण्ड (1961) समरूपता-सिद्धान्त (Conformity-theory) का उपयोग किया है। अर्थात कोई व्यक्ति या बालक पर्यावरण में उपस्थित उस व्यक्ति के साथ तादात्मीकरण करता है जिससे कुछ समान होता है।

भूमिका अधिगम को प्रभावित करने वाले कारक
(Factor Affecting Role-Learning)

भूमिकाओं के अधिगम की प्रक्रिया अनेक कारकों पर निर्भर करती है। इन कारकों में व्यक्ति की विशेषतायें और परिवेश से सम्बद्ध निर्धारक आते हैं। यह कारक भूमिका-अधिगम में सहायक भी होते हैं और बाधक भी। भूमिका-अधिगम के और ज्ञान हेतु इन कारकों की परीक्षा आवश्यक है।

(1) स्पष्टता तथा सहमति (Clarity & Consensus)—भूमिका के सीखने में भूमिका प्रत्याशाओं की स्पष्टता बड़ी महत्वपूर्ण होती है। भूमिका के विषय में समूह के अन्य लोगों की अपेक्षायें जितनी स्पष्ट होती हैं, भूमिकाओं का सीखना उतना सुगम होता है। जैसे माँ-बाप बच्चों से अपेक्षा करते हैं कि वह मेहनत से पढ़ेगा, तुरन्त सवेरे उठेगा, अपने सोने के कमरे को साफ-सुथरा रखेगा, तो बच्चे को भूमिका का सीखना आसान होगा। साथ ही माँ-बाप तथा अन्य परिवार जनों में बच्चे की भूमिका प्रत्याशाओं के बारे में सहमति का होना भी आवश्यक है, अन्यथा उसे भूमिका अर्जन में कठिनाई होगी। भूमिका प्रत्याशाओं में सहमति होने पर उपयुक्त व्यवहार के लिये पुरस्कारों में संगति की संभावना अधिक होती है और फलस्वरूप भूमिका का सीखना सुलभ होगा।

(2) प्रत्याशाओं की सहस्थिति (Compatibility of Expectations)—अनेक अवसरों पर व्यक्ति भिन्न भिन्न भूमिकाओं का निर्वाह करता है। एक समय में अनेक भूमिकायें तथा एक के बाद दूसरी भूमिका आदि भी भूमिका के अधिगम को प्रभावित करती है। इस दशा में व्यक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार की अपेक्षायें की जाती हैं और उन अपेक्षाओं में जितनी समानता होती है, भूमिका अधिगम तथा निर्वाह उतना सुगम होता है। दूसरी ओर विभिन्न भूमिका प्रत्याशाओं में विविधता

अन्यथा कठिनाई होती है। अनेक व्यक्ति किसी भूमिका को ग्रहण करने के पहले ही उसे सीख लेते हैं। लेकिन भूमिका में सम्बद्ध व्यक्तित्व गुण तथा क्षमता जब व्यक्ति में निहित होते हैं केवल तभी यह कार्य सुगम होता है।

(7) **परिस्थिति-जन्य विशेषतायें (Situational characteristics)**—कुछ समूहों में समाजीकरण द्वारा सीखने वालों के व्यवहार में नाटकीय परिवर्तन आते हैं जब कि अन्य में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आते। यदि विभिन्न समूहों जैसे धार्मिक समूह, सैनिक अकादमी, सर्विस क्लब या ऐसे अन्य समूहों में विद्यमान समाजीकरण की तुलना करें तो स्पष्ट रूप में विदित होगा कि समाजीकरण पर परिस्थिति जन्य विशेषताओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। कुछ दशाओं में ये भिन्नतायें स्वयं भूमिका के स्वरूप को दर्शाती हैं। कुछ भूमिकायें अन्य की अपेक्षा अधिक व्यापक होती हैं। कुछ समूहों में समाजीकरण अन्य से अधिक होता है। इस दृष्टिकोण से विसमाजीकरण-प्रक्रम बहुत प्रभावशाली होता है। कुछ दशाओं में सीखने वाला उस व्यक्ति से अलग कर दिया जाता है जिन्होंने उसकी आवश्यकताओं की संतृप्ति की हो तथा जिसने उसके गत पद को समर्थन दिया हो यदि समूह का पुरस्कार तथा दण्ड पर नियंत्रण अधिक और व्यक्ति के समक्ष विकल्प कम होते हैं, तो समाजीकरण अधिक तीव्र होता है। ऐसा होने का कारण यह है कि ऐसी दशा में व्यक्ति समाज पर अधिक निर्भर होता है।

परिस्थिति ही भूमिका अधिगम के लिये वांछित तादात्मीकरण के अवसर प्रदान करती है। इस प्रकार परिस्थिति की विशेषतायें भूमिका-अधिगम के निर्धारण में बहुत सहायक होती हैं। अनेक परिस्थितियाँ समाजीकरण को प्रबल करती हैं।

जितनी अधिक होती है उनका अधिगम व निर्वाह उतना दुर्लभ होता है। इस विषय में प्रायोगिक साक्ष्यों का अभाव है।

(3) भूमिका प्रवेश से पूर्व का अधिगम (Learning before entering the role) —भूमिका के अनेक तत्व उस भूमिका के ग्रहण किये जाने के पूर्व सीख जाते हैं। प्रथम, इन्हें बचपन के खेल या कल्पना में सीखा जाता है। द्वितीय, समान भूमिकाओं का अधिगम, नवीन भूमिका को सुलभ बनाता है। तृतीय सम्बद्ध भूमिकाओं का धारण करना, भूमिका सहभागियों से भूमिका से परिचय कराने में सहायक होता है। जैसे नर्स का प्रशिक्षण ले रही महिला, जो संभवतः रोगी की भूमिका अदा कर चुकी है, और इस तरह नर्स की भूमिका के अनेक तत्वों को सीख चुकी होती है।

(4) भूमिका की व्यापकता (Pervasiveness of a role)—कुछ भूमिकाएँ अन्य की अपेक्षा अधिक व्यापक होती हैं। इन व्यापक क्षेत्र वाली भूमिकाओं में विविध प्रकार के व्यवहार शामिल होते हैं। इस प्रकार की भूमिकाओं का सीखना अपेक्षाकृत जटिल होता है। दूसरी ओर सीमित क्षेत्र वाली भूमिकाओं का अधिगम सुगम होता है। जैसे पादरी की भूमिका बड़ी व्यापक होती है और इसका सीखना अधिक कठिन होता है और इसके अधिगम में परिश्रमयुक्त समाजीकरण वांछित होता है।

(5) भूमिका क्रियान्वयन (Role Enactment) से सम्बद्ध पुरस्कार तथा कीमत—भूमिकाओं में भिन्नता का एक अन्य आधार है उनके साथ सम्बद्ध पुरस्कार तथा मूल्य विभिन्न भूमिकाओं के क्रियान्वयन के साथ विभिन्न मात्रा के पुरस्कार आबद्ध होते हैं और ठीक इसी तरह विभिन्न भूमिकाओं के साथ विभिन्न मात्रा में मूल्य चुकता करने पड़ते हैं। जो भूमिकायें पुरस्कार से जुड़ी होती हैं, वे अपेक्षाकृत शीघ्र सीखी जाती है। वह भूमिकायें जिनके व्यक्ति को अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, वे विलम्ब से सीखी जाती हैं। अतः भूमिकाओं के सीखने की क्रिया, सम्बद्ध पुरस्कार तथा मूल्य द्वारा प्रभावित होती है।

(6) व्यक्ति की विशेषतायें—सीखने वाले व्यक्ति की विशेषतायें भी भूमिका निर्वाह को निर्धारित करती हैं। प्रत्येक भूमिका के निर्वाह के लिये अलग-अलग विशेषताओं या क्षमताओं की आवश्यकता होती है। भूमिकाओं के अधिगम में वांछित, कुशलता, क्षमता, स्व प्रत्यय तथा व्यक्तित्व लक्षण जरूरी होते हैं, और उनके विद्यमान होने पर सीखना सुलभ होता है। जैसे डाक्टर एवं अध्यापक की भूमिकाओं में अलग-अलग लक्षणों की आवश्यकता होती है। यदि किसी व्यक्ति में भूमिका के अनुरूप गुण होते हैं तो वह आसानी से उस भूमिका को सीख लेता है,

अध्याय 9

सामाजिक संस्थिति एवं सामाजिक भूमिका

(Social Status and Social Roles)

हिमालय की खोह या किसी सुनसान मैदान, पहाड़ी आदि पर तपस्या में तल्लीन साधुओं और फकीरों के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति समाज से जुड़े होते हैं। सभी व्यक्ति अन्य लोगों का साथ चाहते हैं। इसी नाते मनुष्य किसी समूह या अनेक समूहों और समाज से सम्बद्ध होते हैं। समूह में व्यक्ति का विशेष स्थान अथवा संस्थिति (Status) होती है और उस संस्थिति से सम्बद्ध उसकी कुछ भूमिकाएँ होती हैं। अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की अनेक विमाओं में एक विमा सामाजिक संस्थिति (Social Status) है। वैज्ञानिक, प्रोफेसर्स, स्पोर्ट्स पर्सन्स, चिकित्सक, सफल व्यापार कार्यपालक आदि को सभी सम्मान देते हैं। अध्यापक, पुलिसमैन आदि की सामाजिक संस्थिति और सम्मान से सम्बद्ध उनकी भूमिकाएँ भी होती हैं। एक व्यक्ति अपने जीवन में अनेक भूमिकाएं निभाता है—जैसे अध्यापक या पुलिसमैन को लें। अध्यापक विद्यालय में शैक्षणिक कर्त्तव्यों या भूमिकाओं का निर्वाह करता है और घर में बच्चों का पिता, पत्नी का पति और इसी प्रकार विभिन्न भूमिकाएँ निभाता है।

रैल्फ लिण्टन (Ralph Linton; 1945) ने कहा है कि "किसी विशिष्ट व्यवस्था में किसी निश्चित व्यक्ति को किसी समय विशेष में जो स्थान/पद प्राप्त होता है, वही उस व्यवस्था के सन्दर्भ में उसकी संस्थिति कही जाएगी।" ("The place in a particular system which a certain individual occupies at a particular time will be referred to as his status with respect to that system.")

किम्बल यंग (Kimball Young, 1960) के अनुसार, "प्रत्येक समाज एवं प्रत्येक समूह में प्रत्येक सदस्य के कुछ कार्य या क्रियाएं होती हैं जिनसे वह सम्बद्ध होता है और शक्ति एवं प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा उससे सम्बद्ध होती है, जो उसकी संस्थिति का संकेत देती है"। (In every society and every group each member has some function with which he is associated and which carries with it some degree of power or prestige. The degree of prestige or power we refer to as his status.")

आगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff) ने कहा है, "एक व्यक्ति

की संस्थिति, समूह में उसका स्थान एवं दूसरों के सम्बन्ध में उसका क्रम है।" ("A person's status is his group standing or ranking in relation to others.")

संस्थितियों के प्रकार

(Types of Social Status)

रैल्फ लिण्टन (1945) के अनुसार सामाजिक संस्थितियाँ निम्न प्रकार की होती हैं—

(1) **आयु-यौन वर्ग (Age & Sex groups)** : इसमें शिशु, बच्चा, बालक, बालिका, युवा, युवती, पुरुष, महिला, वृद्ध-वृद्धा आदि आएंगे।

(2) **परिवार, सम्बन्धी या घरेलू समूह (Family Kinship & Household group)**--ऐसे संस्थिति वर्ग में माँ-बाप, भाई-बहिन, दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, मालिक-नौकर, मामा-मामी, भैया-भाभी आदि प्रमुख हैं।

(3) **संस्थिति या प्रतिष्ठा समूह (Status or Prestige group)**—इस वर्ग की संस्थिति में प्रिंसिपल, कुलपति, ग्राहक, अध्यक्ष, चपरासी आदि आते हैं।

(4) **व्यावसायिक वर्ग (Occupational group)**—डाक्टर, सैल्सपर्सन टीचर, वकील, मजदूर आदि इस वर्ग के कुछ उदाहरण हैं।

(5) **मैत्रीय एवं समान रुचि (Friendship & Common Interest groups)** :—इसके कुछ प्रमुख उदाहरण हैं किसी रत्न, क्लब आदि के सदस्य, फुटबाल या हाकी टीम के सदस्य, मित्र आदि।

हेनरी क्ले लिण्डग्रेन (Henary Clay Lindgren, 1973) का मत है कि लिण्टन के वर्गीकरण का आधार आदिम समाज के उनके अध्ययनों पर आधारित है। लिण्डग्रेन ने एक छठा वर्ग भी बढा दिया है—संगठनात्मक वर्ग (organisational group) और उसके उदाहरण के रुप में वह जनसम्पर्क अधिकारी, स्वागतकर्त्ता, किसी बोर्ड के सदस्य, नियंत्रक आदि।

संस्थिति के निम्न प्रकारों की चर्चा यहाँ वांछित है :—

1. **अभिरोपित संस्थिति (Ascribed Status)**—यह संस्थिति व्यक्ति को उसके समूह या समाज द्वारा प्रदत्त होती है। यह संस्थिति बिना प्रयास प्राप्त होती है क्योंकि यह परम्परागत या प्राकृतिक होती है। परिवार में माँ-बाप, चाचा चाची, आदि की संस्थितियाँ ऐसी ही हैं। यह सभी अभिरोपित अथवा परंपरागत हैं।

2. **उपार्जित संस्थिति (Ascribed Status)**—जैसा कि इसके नाम से जाहिर है ऐसी संस्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अनेक प्रकार के प्रयास करने पड़ते हैं तब कहीं जाकर यह संस्थिति उसे मिलती है। एक बार प्राप्त होने के

बाद उसे बनाए रखने या कायम रखने के लिए भी व्यक्ति को अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं—जैसे डाक्टर, इन्जीनियर, प्रोफेसर आदि की संस्थितियाँ उपार्जित होती है।

3: **विशिष्ठ संस्थिति (Special Status):**—इस प्रकार की संस्थिति को स्पष्ट करते हुए लापियरे (Lapierre 1954) ने कहा है कि "यह अपेक्षाकृत कम व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत की जाती है जो किसी व्यक्ति को व्यक्तिगतरूप से जानते हैं। इससे भी अधिक उसको किसी निश्चित श्रेणी वर्ग के सदस्य के रूप में जानते पहचानते हैं जिसका आदर उसके लिए स्नेहयुक्त तथा दूरस्थ होता है। उदाहरण के लिए माँ की संस्थिति बेटे के लिए अथवा बेटे के लिए माँ की संस्थिति, अर्थात् माँ अपने बेटे की माँ और बेटा अपनी माँ के लिए बेटा ही होता है।

4. **कल्पित संस्थिति (Assumed Status) :**—जब व्यक्ति प्रयास और परिश्रम के बाद भी किसी संस्थिति तक पहुँचने में सफल नहीं होता तो उसे कल्पना जगत में प्राप्त करने का प्रयास करता है। उस संस्थिति को कल्पना में प्राप्त करके आनन्द का अनुभव करता है। ऐसी दशाएँ अस्थायी और कभी-कभी तो क्षणिक होती हैं। यह प्रायः कुण्ठित व्यक्तियों में देखा जाता है जिनका समायोजन ठीक नहीं होता किन्तु व्यक्ति अधिक महत्वाकांक्षी होता है।

संस्थिति : स्वरुप तथा विशेषताएँ
(Status : Nature and Characteristics)

संस्थिति समूह या व्यक्तियों के वर्ग द्वारा आँका गया महत्व या मूल्य (worth) है। अधिकतर व्यक्ति को प्राप्त संस्थिति सामाजिक वर्ग अथवा उसकी पोजीशन से आविभूत होती है।

कभी-कभी इसको वह अपनी भूमिका जैसे समूह का नेतृत्व से प्राप्त करता है। व्यक्ति के इस महत्व/मूल्य के आँकलन का आधार उसकी विशेषताएँ, गुण, उसकी उपलब्धियाँ, साजसामान, धन सम्पत्ति, भूमिकाएँ भी समूह या व्यक्ति वर्ग (जो उसे संस्थिति प्रदान करता है) अपनी आवश्यकताओं के सन्दर्भ में करता है।

कौन गुण संस्थिति में कितना योगदान करता है, का निर्धारण संस्थिति मूल्यांकन कर्त्ता पर निर्भर करता है। सामाजिक संस्थिति की कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं :—

1. व्यक्ति की समाज में अनेक संस्थितियाँ होती हैं, जो उसके सामाजिक सांस्कृतिक नियमों के अनुरूप होती हैं। इन सामाजिक संस्थितियों से कुछ भूमिकाएँ सम्बद्ध होती हैं।

2. सामाजिक संस्थिति सापेक्षिक होती है अर्थात् इसका आकलन दूसरों की संस्थितियों के द्वारा किया जाता है। इसका मापन भी सापेक्षिक (relative) होता है क्योंकि इसकी कोई इकाई (unit) नहीं होती।

3. किसी व्यक्ति की समूह में सामाजिक संस्थिति, समूह में उसके पद या पोजीशन के आधार पर करते हैं।

4. व्यक्ति अपनी विभिन्न संस्थितियों से जुड़ी भूमिकाओं को अदा करने के लिए उनमें सन्तुलन कायम करता है। इस कार्य में वह अपने विवेक अनुभव और योग्यता का अनुप्रयोग करता है।

5. विभिन्न सामाजिक संस्थितियों के साथ कुछ सम्मान या प्रतिष्ठा जुड़ी होती है। जैसे भारतीय समाज में माँ को अत्यन्त ऊँची संस्थिति प्राप्त है।

6. केवल वह गुण जिन्हें समूह या समाज समान रूप से महत्वपूर्ण मानता है, वही संस्थिति में योग देते हैं। किसी व्यक्ति में अभूतपूर्व गुण हो जो समाज के एक दो लोगों के लिए महत्वपूर्ण हो तो सामाजिक संस्थिति की विशेषता उसे नहीं मानेंगे।

संस्थिति के निर्धारक
(Determinants of Social Status)

संस्थिति गुण, समाजमिति अथवा शक्ति के गुणों के समान विनिमय सिद्धान्त के अनुसार समझे जा सकते हैं। संस्थिति के विभिन्न आधारों में—जिनसे अन्तर्क्रिया करता है उन्हें पुरस्कृत करने की क्षमता, क्षमता का अभाव, पुरस्कार प्राप्ति की मात्रा, हानियाँ जो बर्दाश्त करता है उनके प्रकार तथा उसके निवेश (investments)।

1. उच्च संस्थिति व्यक्तियों का पुरस्कार मूल्य (Reward Value of High Status Persons)—समूह या समाज व्यक्तियों को उच्च संस्थिति उस मात्रा में प्रदान करता है जिस मात्रा में उनके गुण या व्यवहार समूह के पर्याप्त सदस्यों के लिए प्रबलनकारी होते हैं। तात्पर्य यह है कि समाज उस व्यक्ति को उस मात्रा में ऊँची संस्थिति देता है जिस मात्रा में समूह के काफी सदस्यों को वह पुरस्कृत कर सकता है। वह गुण जो समूह के अधिकतम सदस्यों को अधिकतम पुरस्कार प्रदत्त करते हैं, समाज का अधिकतम अनुमोदन प्राप्त करते तथा उच्चतम संस्थिति से सम्बद्ध होते हैं। साथ ही साथ इन पुरस्कार सम्बन्धी गुणों का दुर्लभ (Rare) होना भी एक अतिरिक्त अनिवार्यता है। कुछ निश्चित क्रियाएँ समूह के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं किन्तु बहुधा सभी सदस्य उन कार्यों को सम्पादित कर लेते हैं तो गुण दुर्लभ नहीं कहा जाएगा और उसके कारण उच्च संस्थिति के उपार्जन में समूह के किसी सदस्य को सुविधा नहीं देगा। केवल दुर्लभ गुणों की उपस्थिति व्यक्ति को संस्थिति प्रदान करती है। किसी फुटबाल टीम के औसत योग्यता वाले सदस्य उस खिलाड़ी को उच्च संस्थिति देते हैं जो फील्ड गोल करने में अति सक्षम है, या जो पेनालिटी कार्नर से गोल करने में विशेष रूप से दक्ष है। इसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में गहरी अन्तर्दृष्टि रखने वाले व्यक्ति को उसकी

अद्वितीय योग्यता के कारण उसके सहयोगी उसे उच्च संस्थिति दे सकते हैं, क्योंकि वह अत्यन्त कठिन शीघ्र समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है जो अन्य नहीं कर पाते।

विनिमय सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ब्लाउ (Blau, 1964 a) ने सुझाया है कि दुर्लभ किन्तु महत्वपूर्ण संसाधनों के आधार पर बहुमूल्य योगदान करने वाले व्यक्तियों का मुकाबला करने में व्यक्तियों की अयोग्यता से संस्थिति मूल्यांकन उत्पन्न होते हैं इन संसाधनों को प्राप्त करने वाले व्यक्ति उस व्यक्ति का ऋणी बनाते हैं। यह सदस्यगण दुर्लभ संसाधनयुक्त व्यक्ति के ऋण से उऋण होने के लिए उसके प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं और उच्च संस्थिति प्रदान करते हैं यही सम्मान और संस्थिति इन दुर्लभ योग्यता वालों को समूह में बरकरार रहने के लिए प्रेरित करती है। मानव समाजों में असमान प्रतिष्ठा तथा सम्मान का अचेतन रूप से अविर्भाव होता है ताकि सबसे महत्वपूर्ण पद/स्थान सबसे योग्य व्यक्तियों द्वारा भरा जाए (Davis & Moore; 1945)।

2. प्राप्त किए गए पुरस्कार (Rewards Received)—व्यक्ति द्वारा प्राप्त किए पुरस्कार की मात्रा भी समाज द्वारा प्रदत्त संस्थिति को प्रभावित करती है हमारे समाज में मूल्यवान समझी जानेवाली वस्तुएँ रखने वाले व्यक्ति को उच्च संस्थिति प्राप्त हो सकती है। एक अच्छा गुण रखने वाले में अन्य गुण प्रेक्षक स्वयं प्रदत्त कर देते हैं; क्योंकि व्यक्ति में एक ऐसी प्रवृत्ति होती है जिसके कारण वह अन्य व्यक्तियों का संगत और समग्र अथवा कुल मिलाकर मूल्यांकन करता है। वेतन के समान आदर भी एक प्रकार का पुरस्कार है अन्य व्यक्ति द्वारा कोई व्यक्ति जितना सम्मानित/आदरणीय प्रत्यक्षित होता है संस्थिति में उतनी ऊँची श्रेणी में रखा जाता है। जब कोई व्यक्ति यह जानता है कि अमुक व्यक्ति ने समाज की लोकप्रियता प्राप्त की है तो वह उसे उच्च संस्थिति प्रदान कर सकता है।

3. अनुभव की गयी हानि (Costs Experienced):—पुरस्कार के समान हानि का अनुभव करने वालों का उसके अनुसार मूल्यांकन किया जाता है। एक सैनिक द्वारा वीरचक्र प्राप्त करना उसके द्वारा त्याग, बलिदान और जोखिम का प्रतीक है जो प्रायः मरणोपरान्त प्राप्त होता है और संस्थिति का प्रतीक माना जाता है। किन्तु सभी प्रकार की हानियाँ संस्थिति का सूचक नहीं होती। केवल वह हानियाँ जो समूह मूल्यों की प्राप्ति में अनुभव की जाती है उच्च संस्थिति से सम्बद्ध होती हैं। कोई सैनिक जो अनावश्यक रूप से स्वयं को शत्रुओं द्वारा सुभेद्य बनाता है उसे पदक के बजाए दण्डित किया जा सकता है। किसी व्यवसाय की विशेषताएँ जैसे दायित्व और परिश्रम में दायित्व निर्वाह उच्च संस्थिति उपार्जित करती है।

4. निवेश (Investments) होमैन्स (Homans, 1961) के अनुसार उच्च संस्थिति का एक अन्य सहचरी लक्षण व्यक्ति का निवेश है। जहाँ पूर्वचर्चित

गुणों में पुरस्कार मूल्य (reward value) निहित होता है, वहाँ निवेश में अन्तर्निहित मूल्य भी हो सकता है और नहीं भी । बिना निहित मूल्य वाले निवेश मतैक्य (consensus of opinion) द्वारा मूल्य अर्जित कर सकते हैं। ऐसे निवेश के उदाहरण प्रजाति, परिवार सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, और यौन हैं। वरिष्ठता (seniority) एक ऐसा निवेश है जिसमें मूल्य निहित होता है। वरिष्ठता के आधार पर कोई कर्मचारी ऐसी सुविधाएँ मांग सकता है जो किसी नए कर्मी को नहीं प्राप्त होती जैसे उच्च वेतन, अवकाश की सुविधा, उत्पादन में मन्दता के समय छटनी में न रखे जाने आदि ।

सारांश यह है कि संस्थिति अन्तर्क्रिया से उत्पन्न होती है। व्यक्ति, जिसके गुण समूह के सदस्यों के लिए पुरस्कार मूल्य रखते हैं उन्हें उसी अनुपात में उच्च संस्थिति प्रदत्त की जाती है। ऐसे गुणों का अपेक्षाकृत दुर्लभ (rare) होना भी आवश्यक है। अधिक पुरस्कार प्राप्तकर्त्ता अधिक उच्च संस्थिति प्राप्त करता है। इसी प्रकार दुर्लभ हानियाँ जो समूह लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सही जाती हैं, उच्च संस्थिति उपार्जित करती हैं। किसी व्यक्ति की पृष्ठभूमि या पूर्व इतिहास—उसके निवेश भी संस्थिति की प्राप्ति में योगदान करते हैं।

सामाजिक भूमिका

(Social Roles)

अर्थ एवं स्वरूप—सामाजिक व्यवस्था (Social System) के अन्तर्गत अनेक संस्थियाँ और उनसे सम्बद्ध अनेक भूमिकाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए अध्यापक, छात्र, दारोगा, क्लर्क, चपरासी, माता, पिता, पुत्र, भाई, बहिन आदि भूमिकाएँ। प्रत्येक सामाजिक पोज़ीशन (Social position) से कुछ व्यवहार सम्बन्धी प्रत्याशाएँ सम्बद्ध होती हैं, जिसे सामाजिक भूमिका कहा जाता है। समाज में अनेक व्यक्ति विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं निभाते हैं। एक व्यक्ति जो अध्यापक है, घर में पिता, पति आदि की भूमिकाएं निभाता है। प्रत्येक भूमिका से अलग-अलग प्रत्याशाएँ सम्बद्ध होती हैं।

सीकार्ड तथा बैकमैन (Secord & Backman, 1974) ने कहा है, कि "अधिक सामान्य पद सामाजिक भूमिका से तात्पर्य किसी पोज़ीशन (Position) तथा उससे सम्बद्ध प्रत्याशाओं दोनों से होती है"। (The more general term social role is used to refer to both a position and its associated expectations.")

किम्बल यंग (Kimball Young, 1960 के अनुसार "व्यक्ति जो कुछ करता है या निष्पादित करता है उसे हम उसकी भूमिका कहते हैं।" (What the individual does or perform, we call his role.)

सार्जेण्ट (Seargent, 1954) के अनुसार, "व्यक्ति की भूमिका एक प्रकार का सामाजिक व्यवहार या प्रतिमान है जो उस समूह की आवश्यकताओं और आशाओं के अन्तर्गत परिस्थिति के अनुसार उसे उपयुक्त प्रतीत होता है।"

(A person's role is a pattern or type of social behaviour which seems situationally, appropriate to him in terms of the demands and expectations of those in the group.)"

रेबर (Reber, 1986) के अनुसार, "समाज मनोविज्ञान में भूमिका से तात्पर्य सामान्यतः किसी ऐसे व्यवहार से होता है जिसमें कुछ अधिकार (rights) आभार (obligations); कर्त्तव्य (duties) सम्मिलित होते हैं तथा जिसे व्यक्ति एक दी हुई सामाजिक परिस्थिति में करने के लिए प्रत्याशित, प्रशिक्षित तथा प्रोत्साहित होता है।" (In Social Psychology role refers generally to certain rights, obligations, and duties which an individual is expected, trained and indeed, encouraged to perform in a given social situation.")

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से भूमिका के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। इससे निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते है :—

(i) सामाजिक भूमिका सामाजिक व्यवस्था का एक प्रमुख अंग है। इसका सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक पोजीशन (Position) से है।

(ii) भूमिका के साथ कुछ प्रत्याशाएँ सम्बद्ध होती है। इस प्रत्याशा में दो मुख्य विशेषताएँ निहित होती हैं।

(अ) यह प्रत्याशाएं पूर्वाभासी (anticipatory) होती हैं। भूमिका धारक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार करेगा। पूर्वाभासी विशेषता व्यक्ति के व्यवहार को निर्देशित करती है। क्योंकि भूमिका निर्वाह करने वाला व्यक्ति यह पूर्वाभास करेगा कि दूसरे लोग उसके व्यवहार के प्रति कैसी कैसी प्रतिक्रिया कर सकते हैं और वह अपने व्यवहार को तदनुसार पूर्व-नियंत्रित करता है।

(ब) इन प्रत्याशाओं में मानकों के गुण होते हैं अर्थात् भूमिका प्रत्याशाएं मानक परक (normative) होती हैं। यह प्रत्याशाएं व्यक्ति को इस बात का बोध कराती हैं कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह व्यक्ति के व्यवहार को नियमित और नियंत्रित करती हैं। मानकीय प्रत्याशा (normative expectation) के विपरीत व्यवहार करने पर समाज का लांछन बर्दाश्त करना पड़ता है और अन्य लोगों में उसके प्रति क्रोध और विरक्ति के संवेग उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए पिता की भूमिका को लें। पिता से प्रत्याशा

की जाती है कि वह अपने बच्चे के भोजन, वस्त्र, शिक्षा स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। एक पिता अपनी दूसरी पत्नी के प्रभाव में बेटे को घर से निकाल देता है जो आटे की चक्की में मजदूरी करता है और उसी नगर में पिता शान का जीवन व्यतीत करता है। हम कह सकते हैं कि वह व्यक्ति पिता की भूमिका प्रत्याशा के अनुरूप व्यवहार नहीं कर रहा है।

(iii) भूमिकाएँ अधिगमित अथवा अर्जित होती हैं।

(iv) कुछ भूमिकाएँ अपेक्षाकृत स्थायी तो अन्य अस्थायी होती हैं।

भूमिका से सम्बद्ध प्रत्यय

(Concepts Related with Roles)

कुछ संप्रत्यय सामाजिक भूमिका से सम्बद्धित हैं जिन्हें भली प्रकार जाने बिना सामाजिक भूमिका का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

1. भूमिका श्रेणी या भूमिका पोजीशन (Role category or position)
2. भूमिका प्रत्याशा (Role expectation)
3. भूमिका व्यवहार (Role behaviour)

(1) भूमिका श्रेणी या भूमिका पोजीशन—(Role category or position)—भूमिका श्रेणी या पोजीशन का तात्पर्य व्यक्तियों के समूहन या समूहीकरण से है जिनसे समाज व्यवहार की प्रत्याशाएँ की जाती हैं। भूमिका श्रेणी में भूमिका अदा करने वाले व्यक्ति को भूमिका-अभिकर्त्ता या अभिकर्त्ता (Role player or actor) कहा जाता है। किसी भूमिका श्रेणी में व्यक्तियों के समूहन के तीन आधार हैं—(1) किसी सामाजिक व्यवस्था या सामाजिक सम्बन्ध में एक पद पर आसीन सभी व्यक्तियों को एक भूमिका श्रेणी में रखते हैं। (2) वे किसी छोटे समूह में वह सभी एक ही पद पर आसीन होते हैं। (3) उनके गुण एक प्रकार का निर्माण करते हैं। इनमें से प्रथम सर्वाधिक सामान्य है। उदाहरण के लिये परिवार में माता की श्रेणी से व्यवहार की व्यापक प्रत्याशाएँ होती हैं। व्यापक रूप से सहमत समूहन का एक उदाहरण आयु यौन पोजीशन है जैसे छोटा लड़का, छोटी लड़की, युवा-पुरुष, युवती-महिला, वृद्ध व्यक्ति, वृद्ध महिला आदि। व्यवसाय के आधार पर अध्यापक, सर्जन, पुलिस आदि वर्ग हो सकते हैं।

द्वितीय प्रकार की भूमिका श्रेणी में अधिकांश छोटे समूहों में ऐसे पद (Positions) होते हैं जो उन्हीं में विशेष रूप से पाये जाते हैं। बेन्नी तथा शीट्स (Bennie & Sheats, 1948) ने ऐसे छोटे समूह की भूमिकाओं के उदाहरण बताये हैं, जैसे जोकर, विशेषज्ञ, डिक्टेटर आदि।

भूमिका श्रेणी में वर्गीकरण के तीसरे आधार में भूमिका धारक के गुणों पर ध्यान केन्द्रित होता है जैसे "जी हाँ" कहने वाला या चमचा।

(2) भूमिका प्रत्याशाएँ (Role expectations)—प्रत्याशाओं का अभिप्राय अन्तर्क्रिया के पूर्वाभासी और मानकीय विशेषताओं से है। भूमिका प्रत्याशायें वह प्रत्याशायें हैं जो किसी भूमिका श्रेणी से जुड़ी होती हैं। जैसे यौन-आयु पोजीशन।

कुछ भूमिका प्रत्याशायें ऐसी होती हैं जिनमें भूमिका अभिकर्त्ताओं में पर्याप्त सहमति होती है। दूसरी ओर कुछ प्रत्याशाएँ कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को पसन्द होती है। आज के बदले हुये परिप्रेक्ष्य में पति और पत्नी दोनों से कार्य करने तथा परिवार की आय में योगदान की प्रत्याशा की जाती है।

(3) भूमिका व्यवहार (Role behaviour)—भूमिका व्यवहार का अभिप्राय किसी भूमिका श्रेणी में अभिकर्त्ता के उन व्यवहारों से है जो उसकी भूमिका प्रत्याशा के अनुरूप होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि व्यवहार सर्वदा भूमिका के अनुरूप हो। कभी कभी व्यक्ति का व्यवहार भूमिका प्रत्याशा से विसंगत भी होता है। उदाहरण के लिए किसी प्रोफेसर से प्रत्याशा की जाती है कि वह किसी विषय का स्पष्ट विवेचन करेगा परन्तु वह भूमिका प्रत्याशा के अनुरूप नहीं कर पाता है। यह उसका भूमिका व्यवहार तो कहा जायगा यद्यपि यह उसकी भूमिका प्रत्याशा के अनुरूप नहीं है।

सामाजिक भूमिकाएँ तथा सामाजिक अन्तक्रिया

(Social Roles and Social Interaction)

भूमिका तथा सामाजिक अन्तक्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अन्तःक्रिया के बिना कोई व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता। समाज मनोवैज्ञानिकों ने सामाजिक अन्तक्रिया की व्याख्या सामाजिक भूमिका के आधार पर की है। सामाजिक अन्तक्रिया की परिस्थितियों में परिवर्तन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भूमिका निर्वाह में पर्याप्त भिन्नताएँ आ जाती है। भूमिका निर्वाह को गाइड करने वाले स्रोतों में चार प्रमुख समझे जाते हैं।

(1) परिस्थिति परक मांगे (Situational Demands)—सारबिन एवं ऐलेन (Sarbin & Allen, 1969) के अनुसार अनेक परिस्थितियाँ व्यक्ति से विशिष्ट प्रकार के भूमिका निष्पादन की माँग करती हैं। परिस्थिति के इन तत्वों को भूमिका मांगे (Role demands) कहते हैं। इन परिस्थिति की मांगों के साथ अन्तक्रिया के आधार पर अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। क्रोगर (Kroger, 1967) ने अपने अध्ययन में प्रयोज्यों के व्यावसायिक रुचि और सौन्दर्यपरक वरीयताओं का अन्वेषण दो भिन्न दशाओं/परिस्थितियों में किया। एक परिस्थिति में परीक्षण प्रशासन सैनिक अधिकारी तथा अन्य में एक मनोवैज्ञानिक द्वारा मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में किया गया जिसमें अनेक प्रकार की

कला विषयक वस्तुएँ उपलब्ध थीं। परिणामों से ज्ञात हुआ कि सैनिक अफसर द्वारा प्रशासित परिस्थिति में छात्रों ने इसे सेना से सम्बद्ध परीक्षण मानकर तदनुसार भूमिका निष्पादन किया। परन्तु कलात्मक परिस्थिति में संचालित उसी परीक्षण को छात्रों ने कलात्मक योग्यता का परीक्षण मानकर भूमिका क्रियान्वयन किया। इन परिणामों से परिस्थिति की मांगों तथा भूमिका निर्वाह का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। इससे संकेत मिला कि परीक्षक, परिप्रेक्ष्य, तथा परीक्षण के नाम ने परिस्थिति की मांगे उत्पन्न की और परिणामों को प्रभावित किया।

(2) **व्यक्तित्व कारक तथा भूमिका कौशल** (Personality & Role Skills)—भूमिका क्रियान्वयन को संचालित करने का अन्य स्रोत व्यक्तित्व कारकों तथा भूमिका कौशलों से उत्पन्न होता है। उसकी अभिक्षमता, आत्मप्रत्यय, अभिवृत्तियाँ, आवश्यकताएँ तथा भूमिका पहचान उसके भूमिका क्रियान्वयन को प्रभावित करते हैं। भूमिका पहचान का तात्पर्य-भूमिका निष्पादन के विषय में आदर्श धारणा से है। इसलिए भूमिका पहचान द्वारा भूमिका निर्वाह करने वाले के आत्मप्रत्यय के प्रमुख एवं संगत पक्षों की अभिव्यक्ति होती है। मैककाल एवं सिम्मन्स (Mccall & Simmons, 1966) के अध्ययन से व्यक्त हुआ है कि भूमिका अभिकर्त्ता द्वारा भूमिका निष्पादन से काफी प्रभावित होता है। भूमिका प्रत्याशा और व्यक्तित्व लक्षणों में विसंगति की दशा में व्यक्ति भूमिका तनाव का अनुभव करता है।

(3) **अनाधिकारिक भूमिकाएँ** (Intruding Roles)—किसी भूमिका अभिकर्त्ता के व्यवहार शायद ही कभी मात्र एक भूमिका से प्रभावित होते हों। वह एक साथ अनेक भूमिका श्रेणियों को धारित करता है। अतः उससे कई प्रकार की भूमिका प्रत्याशाएँ की जाती हैं। किसी परिस्थिति विशेष में एक भूमिका प्रत्याशा प्रबल होती है और अन्य अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली होती हैं। इस दशा में भूमिका अभिकर्त्ता का व्यवहार प्रबल भूमिका से अधिक और अन्य कमजोर भूमिका से कम मात्रा में प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए एक पुरुष अध्यापक और एक महिला अध्यापक में भिन्नता व्यक्त होती है, कारण यह है कि अध्यापक की भूमिका में यौन भूमिका हस्तक्षेप करने लगती है।

4. **भूमिका समझौता** (Role Negotiation)—भूमिका अभिकर्त्ता तथा उसके भूमिका सहयोगी आपस में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सौदेबाजी करते हैं और यह निश्चित कर लेते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति में वह कैसे व्यवहार करेंगे। इस सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष प्रक्रिया में भूमिका अभिकर्त्ता तथा उसके सहयोगियों में धीरे-धीरे अर्न्तदृष्टि विकसित होती है। जिसके चलते वे अज्ञात और अचेतन रूप

से किसी प्रकार का भूमिका समझौता कर लेते हैं जिससे कुछ परिस्थितियों में भूमिका व्यवहार बहु प्रभावित होता है। भूमिका समझौता निम्न कारकों पर निर्भर करता है :—

(i) दोनों पार्टियों की भूमिका पहचान, (ii) परिस्थिति की मांगे, (iii) दोनों की सामाजिक शक्ति—संसाधन, निर्भरताएं, तथा विकल्प, (iv) दोनों पक्षों के अन्तर्वैयक्तिक कौशल और (v) सौदेबाजी के परिणाम पर तीसरे पक्ष के प्रभाव।

भूमिका समझौता किसी मात्रा में प्रत्येक सम्बन्ध में घटित होता है किन्तु निम्न दशाओं में यह भूमिका व्यवहार का प्रमुख निर्धारक है :—

(i) जहाँ भूमिका की सीमाएँ इतनी व्यापक होती हैं कि विशिष्ट भूमिका निष्पादन को स्पष्ट किए बिना छोड़ देती है।

(ii) जहाँ भूमिका अभिकर्त्ता और उसके सहयोगी की भूमिका प्रत्याशाएं आपस में मेल नहीं खातीं,।

(iii) जब भूमिका अभिकर्त्ता अपनी विशेषताओं के कारण सामान्य रूप से अपनी भूमिका को निष्पादित करता है।

(iv) जहाँ परिस्थिति की मांगे भूमिका क्रियान्वयन में हस्तक्षेप करती हैं।

(v) जहाँ अन्य भूमिकाएं निष्पादन में घुसपैठ करती हैं।

(vi) जहाँ भूमिका अभिकर्त्ता तथा सहयोगियों की सामाजिक सत्ता में विषमता इतनी अधिक नहीं होती कि किसी समझौते की आवश्यकता हो।

भूमिका संघर्ष तथा भूमिका तनाव के अर्थ
(Meaning of Role Conflict and Role Strain)

भूमिका संघर्ष एवं भूमिका तनाव का अभिप्राय किसी भी भूमिका से सम्बद्ध प्रत्याशाओं के अनुपालन में आई हुई कठिनाइयों से है। परन्तु भूमिका संघर्ष उस समय होता है जहाँ भूमिका अभिकर्त्ता को परस्पर विरोधी या प्रतिद्वन्द्वात्मक प्रत्याशाओं का सामना करना पड़ता है। जब एक ही भूमिका के भीतर कई तरह की प्रतिद्वन्द्वता पूर्ण प्रत्याशाएं होती हैं तो इनसे जो स्थिति होती है वह अन्तः भूमिका (Intra role conflict) कहलाती है—जैसे किसी प्राचार्य से शिक्षक, शिक्षकों के हित की बातें, छात्र, छात्रहित की बातें और प्रबंधतंत्र अपने हित की प्रत्याशाएँ करता है तो प्राचार्य को जिस प्रकार के भूमिका संघर्ष का सामना करना होगा वह अन्तः भूमिका संघर्ष कहा जाएगा। दूसरी ओर कभी-कभी किसी व्यक्ति को अपनी अनेकानेक भूमिकाओं में सम्बद्ध प्रत्याशाओं को पूरा करने में भूमिका संघर्ष का अनुभव होता है तो इसे अन्तर भूमिका संघर्ष (Inter role conflict)—कहा जाता है। उदाहरण के लिए प्राचार्य की भूमिका में नकल करने से रोकने

की प्रत्याशा की जाती है। जब स्वयं उसका पुत्र नकल करता है तो पिता की भूमिका तथा प्राचार्य की भूमिका प्रत्याशाओं में संघर्ष हो सकता है।

भूमिका तनाव अधिक व्यापक शब्द है। इसके अर्न्तगत वह सारी परिस्थितियाँ आती हैं जिसमें व्यक्ति अपनी सामाजिक भूमिका से सम्बद्ध प्रत्याशाओं को पूरा करने में कठिनाई महसूस करता है। सीकोर्ड, बैकमैन (Secord & Backman, 1974) के अनुसार भूमिका तनाव का तात्पर्य, "किसी विशिष्ठ भूमिका के निष्पादन में व्यक्ति द्वारा अनुभव की गई कठिनाई से है।" (Role strain refers to the difficulties that persons experience in performing a particular role.)

भूमिका तनाव के कारण
(Causes of Role Strain)

समाजवैज्ञानिकों के अध्ययनों द्वारा भूमिका तनाव के कतिपय कारणों का बोध प्राप्त हुआ है, जिन्हें निम्न वर्गों में रखा जाता है :—

1. सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न भूमिका तनाव—
   (Role strain originating from social systems)
2. व्यक्तित्व लक्षणों से उत्पन्न भूमिका तनाव—
   (Role strains originating from personality traits)
3. सांस्कृतिक से उत्पन्न भूमिका तनाव—
   (Role strains originating from cultural factors)

1. सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न भूमिका तनाव :—(Role Strains Originating from Social Systems) समाजशास्त्री भूमिका तनाव की उत्पत्ति में सामाजिक व्यवस्था को महत्व दिया है। वह भूमिका अभिकर्त्ताओं के पारस्परिक सम्बन्धों की विशेषताओं के आधार पर भूमिका निष्पादन में उत्पन्न तनावों की व्याख्या करते हैं।

सामाजिक व्यवस्था से जो लक्षण भूमिका तनाव उत्पन्न करते हैं वह इस प्रकार हैं।

(i) अस्पष्ट प्रत्याशाएँ (Vogue expectations) :—भूमिका क्रियान्वयन में उस समय सहमति का अभाव होता है जब किसी सामाजिक व्यवस्था में भूमिका प्रत्याशाएँ अस्पष्ट होती हैं। विभिन्न भूमिका अभिकर्त्ताओं में सहमति के अभाव में भूमिका प्रत्याशाओं के विषय में संभ्रान्तियाँ होती हैं। भूमिका प्रत्याशाओं में स्पष्टता के अभाव के कतिपय कारण हो सकते हैं। किसी भूमिका विशेष में नई भूमिकाओं के विकास से भूमिका प्रत्याशाओं में अस्पष्टता आती है (Schwarty 1957) भूमिकाओं में क्रमिक परिवर्तन से भी भूमिका प्रत्याशाओं में अस्पष्टता आती है (Rose, 1951)।

(ii) संघर्षात्मक एवं प्रतिद्वन्द्वात्मक प्रत्याशाएं—(Conflicting & competing role expectations) :—किसी सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप के कारण भूमिका प्रत्याशाओं में संघर्ष एवं द्वन्द्व उत्पन्न होने के कारण अभिकर्त्ता भूमिका तनाव का अनुभव करते हैं। भूमिका से परस्पर संघर्षात्मक तथा प्रतिद्वन्द्वात्मक प्रत्याशाएं उत्पन्न होकर भूमिका तनाव को विकसित करती हैं । यह संघर्ष या द्वन्द्व एक ही या अनेक भूमिका सहभागियों के व्यवहार से सम्बद्ध हो सकती हैं। उदाहरण के लिए यह जानते हुए भी कि बच्चों को दण्ड देना उचित नहीं है एक अध्यापक प्रायः बच्चों में अनुशासन कायम रखने के लिए उन्हें दण्डित करता और भूमिका तनाव अनुभव करता है। भूमिका प्रत्याशाओं में विरोध के कारण भी तनाव उत्पन्न हो सकता है (ग्रॉस तथा अन्य, 1958) ।

(iii) अनुक्रमिक भूमिकाएं (Successive roles)—जब भी एक भूमिका अभिकर्त्ता एक के बाद अन्य भूमिका अदा करता है तो उनके साथ सम्बद्ध प्रत्याशाओं में अन्तर और उनके क्रमानुसार एक के बाद अन्य भूमिका के निर्वाह में तनाव उत्पन्न होता है । उदाहरण के लिए बच्चे से परस्पर विरोधी भूमिका विरोधी प्रत्याशाएं की जाती है—कभी उसे बच्चा कहकर बड़ों की बात में दखल देने से मना किया जाता है तो कभी उससे कहा जाता है कि "अब तुम बड़े हो गए हो अमुक स्थान तक अकेले नहीं जा सकते।" ऐसी दशा में वह नहीं समझ पाता कि वह बच्चा है या बड़ा और फलस्वरूप भूमिका तनाव अनुभव करता है। इन बातों पर बिडवेल (Bidwel, 1961) ने अपने अध्ययनों द्वारा प्रकाश डाला है। बच्चे से बड़े के परागमन (transition) के कारण उपर्युक्त उदाहरण में भूमिका तनाव उत्पन्न होते हैं।

(iv) दो या अधिक भूमिका पद (Two or more role positions) जब कोई व्यक्ति दो या अधिक पोजीशन्स (Positions) धारण करता है तो इन दोनों में उससे अलग-अलग प्रत्याशाएँ की जाती हैं। इन प्रत्याशाओं में निहित विरोध के कारण भूमिका अभिकर्त्ता तनाव महसूस करता है (Gross etal; 1958) ।

(v) आभार और अधिकार (Obligations & rights)—प्रत्येक भूमिका में आभार या कर्त्तव्य और अधिकार निहित होते हैं। इसके कारण व्यक्ति अपनी भूमिका प्रत्याशाओं के अनुरूप व्यवहार नहीं कर पाता है जिसके परिणाम स्वरूप उसे भूमिका तनाव का सामना करना पड़ सकता है। किसी भूमिका में निहित कर्त्तव्यों और अधिकारों में सन्तुलन का अभाव भी भूमिका तनाव उत्पन्न करता है (Evan, 1962) ।

(vi) लक्ष्य प्राप्ति में बाधा (Hindrance in attainment of goals)—

कभी-कभी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति द्वारा किए जा रहे प्रयासों से लक्ष्य प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न होता है जो उसमें भूमिका तनाव उत्पन्न करता है। फ्रासकेट (Foskett, 1960) ने इस बिन्दु को अपने अध्ययनों द्वारा दर्शाया है।

2. **व्यक्तित्व लक्षणों से उत्पन्न भूमिका तनाव**–(Role Strain from Personality traits)—कुछ दशाओं में भूमिका तनाव की उत्पत्ति भूमिका अभिकर्त्ता की कुछ विशेषताओं के कारण होती है। यह लक्षण निम्न हैं :—

(i) **निश्चित योग्यता का अभाव** (Lack of certain abilities)—किसी व्यक्ति में किसी निश्चित योग्यता का (जो उस विशिष्ट भूमिका के लिए जरूरी हो) अभाव हो सकता है जो भूमिका तनाव उत्पन्न कर सकता है। यह लक्षण व्यक्तिगत शारीरिक लक्षण, कौशल, अभिक्षमताएँ या व्यक्तित्व लक्षण आदि हो सकते हैं। इनके अभाव से भूमिका व्यवहार के सम्पादन में अवरोध के कारण भूमिका तनाव उत्पन्न हो सकता है। स्टर्न, स्टेन तथा ब्लूम (Stern, Stein & Bloom, 1956) ने अपने अध्ययन में सत्ताधारी व्यक्तित्व वाले प्रयोज्यों को उन मूल्यों से सम्बद्ध क्रियाओं के निष्पादन में उत्पन्न भूमिका तनाव तथा विपरीत उन्मुखता वाले व्यवहारों के प्रभावों का अन्वेषण किया। परिणामों से ज्ञात हुआ कि कालेज छोड़ने वाले छात्रों ने अपनी सत्तावादी विशेषता के विपरीत व्यवहार करने के कारण अपेक्षाकृत अधिक भूमिका तनाव महसूस किया था। अतः भूमिका तनाव की उत्पत्ति में व्यक्तित्व लक्षणों का प्रमुख योगदान होता है।

(ii) **आत्म सम्प्रत्यय से टकराव** (Confrontation with self concept)—दूसरों के साथ व्यवहार व्यक्ति के आत्म प्रत्यय के अनुरूप करता है तथा दूसरे भी उससे विशेष प्रकार का व्यवहार करते हैं। कभी-कभी व्यक्ति के प्रयास के बाद भी भूमिका व्यवहार तथा आत्म सम्प्रत्यय में टकराव होने पर व्यक्ति भूमिका तनाव का अनुभव कर सकता है। उदाहरण के लिए एक इमानदार कर्मचारी को यदि अपने अधिकारी के दबाव में घूस लेना पड़े तो उसे भूमिका तनाव का अनुभव होगा क्योंकि उसका भूमिका व्यवहार उसके आत्म सम्प्रत्यय से टकरा रहा है। इन तथ्यों की पुष्टि रेकिल्स तथा अन्य (Reckles etal, 1956) और बैकमैन एवं सीकार्ड (Backman & Secord, 1968) के अध्ययन परिणामों से होती है।

(iii) **अभिवृत्ति तथा आवश्यकताओं द्वारा अवरोध** (Interference due to attitudes and needs)—कभी-कभी व्यक्ति की अभिवृत्तियाँ तथा आवश्यकताओं की प्रकृति किसी भूमिका व्यवहार के निष्पादन में अवरोध उत्पन्न कर सकती है जिससे भूमिका तनाव के उत्पत्ति की संभावना बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति में अधिकारी विरोधी अभिवृत्ति प्रबल हो तो वह एक

अच्छा सहायक नहीं सिद्ध होगा क्योंकि मातहत या अधीनस्थ की भूमिका अदा करने में उसकी उक्त विरोधी अभिवृत्ति भूमिका तनाव उत्पन्न करेगी। ऐसे ही यदि व्यक्ति किसी भूमिका का निष्पादन विवशता पूर्वक करता है जिससे उसकी आवश्यकता, क्षमता एवं कुशलता की अभिव्यक्ति नहीं होती तो वह भूमिका तनाव अनुभव करेगा। उदाहरण के लिए किसी चिकित्सक से यदि कार्यालय का कार्य कराया जाय तो उसमें भूमिका तनाव उत्पन्न हो सकता है।

(iv) **सांस्कृतिक कारकों से उत्पन्न भूमिका तनाव (Role strain due to cultural factors)**—जब किसी व्यक्ति को ऐसी भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है जो उसके सांस्कृतिक विश्वासों के विपरीत होती है तो उसे भूमिका तनाव का सामना हो सकता है। उदाहरण के लिये किसी मुसलमान को शराब की दुकान पर शराब बेचने का कार्य करना पड़े तो उसे भूमिका तनाव का अनुभव हो सकता है क्योंकि उसके सांस्कृतिक विश्वासों को इस भूमिका के निष्पादन से ठेस पहुँचती है।

उपर्युक्त विवेचना उन कारकों को इंगित करती है जिनसे व्यक्ति को भूमिका तनाव का अनुभव हो सकता है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व से सम्बद्ध कारकों द्वारा भूमिका तनाव की उत्पत्ति को तथा समाजशास्त्रियों ने सामाजिक व्यवस्था में निहित कारकों को प्राथमिकता दी है।

भूमिका तनाव का समाधान
(Resolution of Role Strain)

भूमिका तनाव की उत्पत्ति सामाजिक व्यवस्था (Social systems), व्यक्तित्व और सांस्कृतिक कारकों के कारण होती है। इसे ध्यान में रखकर समाज मनोवैज्ञानिक भूमिका तनाव के समाधान में तीन प्रकार के सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध समाधान, व्यक्तित्व परक समाधान, तथा सांस्कृतिक कारकों से सम्बद्ध उपाय किये जाते हैं जिनकी चर्चा यहाँ की जायेगी—

(1) सामाजिक व्यवस्था से जुड़े समाधान (Resolutions related with social systems)—समाजशास्त्री सामाजिक व्यवस्था पर आधारित भूमिका तनाव-समाधानों को प्रमुखता देते हैं और इससे सम्बद्ध निम्न उपायों द्वारा भूमिका तनाव के समाधान पर बल देते हैं—

(i) **मतैक्य में वृद्धि (Consensus increasing mechanisms)**—विभिन्न भूमिका अभिकर्त्ताओं में विभिन्न भूमिका प्रत्याशाओं के विषय में बहुधा मतैक्य के अभाव के कारण भूमिका तनाव आविर्भूत हो सकते हैं। अतः मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि भूमिका तनाव के समाधान हेतु यदि विभिन्न भूमिका प्रत्याशाओं में मतैक्य उत्पन्न करें। भूमिका प्रत्याशाओं में वांछित सहमति अथवा

मतैक्य विकसित करने के लिए समन्वय समितियाँ (coordination committees) का गठन, नवीन भूमिकाओं को स्पष्ट रूप में व्यक्त करना, नवीन भूमिकाओं से सम्बद्ध प्रशिक्षण, कर्त्तव्यों और अधिकारों का स्पष्ट बोध कराने की व्यवस्था की जाती है। इससे भूमिका तनाव में कमी आने की अपेक्षा की जाती है।

(ii) **प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशाओं में कमी (Reduction in competing expectations)**—प्रतिद्वन्द्वात्मक भूमिका प्रत्याशाएं बहुधा भूमिका तनाव का कारण होती हैं। ऐसी स्थिति में इन प्रत्याशाओं में कमी लाकर भूमिका तनाव को घटाया जा सकता है।

कुछ अन्वेषकों ने इस विषय में देखा कि जब किसी भूमिका के साथ सम्बद्ध कर्त्तव्य प्राथमिकता के आधार पर समान होते हैं तो उनसे भूमिका तनाव की उत्पत्ति होती है। अतः मेर्टन (Merton, 1957), पार्सन (Parson, 1951) और टोबी (Toby, 1952) ने दर्शाया कि यदि समान प्रत्याशाओं को वरीयता क्रम में व्यवस्थित कर दें तो भूमिका तनाव के स्वतः समाधान की उम्मीद कर सकते हैं।

ऐसे ही विभिन्न भूमिका सहयोगियों में सत्ता या शक्ति असमान कर देने पर स्थान अथवा समय के अनुसार वह एक-दूसरे से पृथक करके उनके भूमिका तनाव का समाधान सम्भव है। इस प्रकार यदि भूमिका सहभागियों के बीच शक्ति में असमानता उत्पन्न करदें तथा किसी एक व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की भूमिका श्रेणियों में न रखे तो भूमिका तनाव घट सकता है या समाप्त हो सकता है।

(iii) **भूमिका श्रेणियों में स्वतः पारगमन (Automatic transition in role positions)**—एक भूमिका से अन्य भूमिका में पारगमन (Transition) यदि स्वतः होने लगे तो भूमिका तनाव का समाधान हो सकता है। ऐसा इसलिए सम्भव है क्योंकि पारगमन (Transition) में निहित अनीश्चितता के होने से व्यक्ति तनाव का अनुभव करता है ? यह अनिश्चितता समाप्त करने के लिये पारगमन (Transition) अथवा भूमिका परिवर्तन का स्वतः होना श्रेयस्कर होता है क्योंकि यह भूमिका तनाव की संभावना को घटाता है।

(iv) **अधिकारों और कर्त्तव्यों में पुर्नसमायोजन—(Re-adjustment of rights and obligations)**—जब कभी भूमिका सहभागियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों में सन्तुलन का अभाव होता है तो भी व्यक्ति भूमिका तनाव का अनुभव करता है। अतः भूमिका सहभागियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों में पुर्नसमायोजन स्थापित कर उनके भूमिका तनाव का समाधान हो सकता है।

2. **व्यक्तित्व से सम्बद्ध समाधान—(Personality based resolutions)**—व्यक्तित्व के अनेक वैयक्तिक लक्षण जैसे व्यक्ति की मूल्य प्रणाली

(Value system), अहम् प्रक्रम (Egomechanisms) भूमिका प्रत्याशाओं की वैधानिकता आदि उसके भूमिका तनाव को बढ़ाते हैं। अतः व्यक्ति की मूल्य प्रणाली में सुव्यवस्था, अहम प्रतिरक्षक मनोरचनाओं का अनुप्रयोग, भूमिका प्रत्याशाओं को कानूनी-गैरकानूनी रुप देकर भूमिका तनाव का समाधान कर सकते हैं। ग्रास तथा अन्य (Gross et al; 1958) ने अपने अध्ययनों द्वारा व्यक्तित्व से सम्बन्धित समाधान के उपायों के महत्व को प्रदर्शित किया है।

3. सांस्कृतिक कारकों से सम्बद्ध समाधान (Resolution based on cultural factors)—कुछ सांस्कृतिक कारकों पर आधारित समाधान भी भूमिका तनाव घटाने में प्रयुक्त होते हैं। यदि एक जैसी भूमिका श्रेणियों के व्यक्तियों द्वारा भूमिका व्यवहार में समान रुप से तनाव उत्पन्न होते हैं तो वह लोग आपस में मिलकर ऐसे आदर्श-विचार, एवं विश्वास विकसित कर लेते हैं कि तनाव का एक मानकीय समाधान आविभूत होता है। ऐसा विश्वास भूमिका प्रत्याशाओं के पुनर्निमाण तथा नयी मूल्य प्रणालियों के विकास से सम्बद्ध हो सकता है। कोहेन (Cohen, 1955) ने अपने अध्ययनों के आधार पर देखा कि अनेक व्यक्ति जब किसी भूमिका व्यवहार को सामाजिक मानकों या सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरुप नहीं बना पाते तो वह लोग आपसी अन्तर्क्रिया के द्वारा नई प्रत्याशाएं विकसित कर भूमिका तनाव का समाधान कर लेते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भूमिका तनाव को घटाने के अनेक उपाय उपलब्ध हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के उपायों को एक साथ उपयोग से भूमिका तनाव को यदि समाप्त नहीं तो कम अवश्य किया जा सकता है।

भूमिका तनाव समाधान के सिद्धान्त

(Theories of Conflict Resolution)

समाज मनोवैज्ञानिकों ने भूमिका तनाव के समाधान की व्याख्या के उद्देश्य से कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनमें दो प्रमुख सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(i) ग्रास तथा अन्य का भूमिका संघर्ष समाधान सिद्धांत (Gross's Theory of Role conflict resolution)।

(ii) गुडे (Goode's) का भूमिका सौदेबाजी सिद्धान्त (Goode's Role Bargaining Theory)।

(i) भूमिका संघर्ष के समाधान का सिद्धान्त (Theory of Role Conflict Resolution)—ग्रास, मेसन, एवं मेकएकर्न (Gross, Mason & Mc Eachern, 1958) का यह सिद्धान्त के अनुसार भूमिका संघर्ष का सामना कर रहे व्यक्ति अपनी भूमिका प्रत्याशा को यथार्थ या वैध मानते हैं और जब यह

समझते हैं कि उनके भूमिका सहयोगी को ऐसी प्रत्याशा का अधिकार है तो वह या तो किसी एक प्रत्याशा की संपुष्टि करते हैं, या दोनों प्रत्याशाओं की आंशिक पूर्ति द्वारा उनमें समझौता करते हैं, या फिर दोनों में से किसी की पूर्ति नहीं करते। ग्रास तथा अन्य के अनुसार ऐसी स्थिति में भूमिका अभिकर्त्ता का चयन तीन परिवर्त्यों का प्रकार्य होगा।

(i) प्रत्याशा की प्रत्यक्षित यथार्थता (perceived legitimacy of expectation), (ii) प्रत्येक प्रत्याशा की अनानुरूपता के प्रति अनुमोदन की प्रत्याशित शक्ति (perceived strength of sanctions), और (iii) सापेक्ष्य वैधता और अनुमोदन की उन्मुखता (the orientation of relative legitimacy and sanction)। इन तीनों चरों की चर्चा यहाँ की जाएगी।

(i) **यथार्थता** (Legitimacy)—जब व्यक्ति अपनी भूमिका प्रत्याशा को यथार्थ कर्त्तव्य (Legitimate obligation) मानता है अर्थात् यह मानता है कि उसके भूमिका सहयोगी को ऐसी प्रत्याशा करने का अधिकार है जैसे किसी अध्यापक का उसके छात्रों की प्रत्याशा कि वह कोर्स को पढ़ाएगा, यथार्थ प्रत्याशा है। लेकिन कोई अन्य व्यक्ति उससे यह प्रत्याशा करे तो वह अयथार्थ होगी। ग्रास तथा सहयोगियों के अनुसार यथार्थ प्रत्याशा (legitimate expectation) के प्रति व्यक्ति अनुपालन प्रदर्शित करता है जबकि अयथार्थ (illegitimate) प्रत्याशा के प्रति अनुपालन का प्रदर्शन नहीं करता।

यदि दो प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशाओं में एक यथार्थ (Legitimate) है तो अभिकर्त्ता यथार्थता वाली प्रत्याशा के अनुरूप व्यवहार करेगा। यदि दोनों प्रत्याशाएँ यथार्थता रखती हैं तो भूमिका अभिकर्त्ता उनमें समझौता करता है।

(ii) **अनुमोदन** (Sanctions)—अनुमोदन का तात्पर्य उन क्रियाओं से जिनके निष्पादन से भूमिका सहभागी या भूमिका अभिकर्त्ता की अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि या असन्तुष्टि होती है। आवश्यकता को सन्तुष्ट करने वाली क्रियाओं का धनात्मक अनुमोदन (Positive sanction) और आवश्यकता सन्तुष्टि न प्रदान करने वाली क्रियाओं का ऋणात्मक अनुमोदन (Negative sanction) होता है। यदि दो प्रत्याशाओं में एक के प्रति प्रबल ऋणात्मक अनुमोदन होने पर अभिकर्त्ता अन्य प्रत्याशा के अनुसार भूमिका व्यवहार करता है। जब दोनों प्रत्याशाओं के प्रति समान रूप से प्रबल ऋणात्मक अनुमोदन होता है तो वह दोनों प्रत्याशाओं के अनुरूप व्यवहार करता है अर्थात् दोनों में समझौता करता है। जब दोनों प्रत्याशाओं के प्रति अनुमोदन क्षीण होता है तो ऐसी स्थिति के कोई पूर्वकथन संभव नहीं है।

(iii) उन्मुखता (Orientation)—इसके अनुसार भूमिका प्रत्याशा के

यथार्थता एवं वैधता तथा अनुमोदन के लिये अभिकर्त्ता में भिन्न-भिन्न होती है। यह उन्मुखताएँ निम्न प्रकार की होती है—

(अ) **नैतिक उन्मुखता** (Moral Orientation)—जिन व्यक्तियों में ऐसी उन्मुखता होती है वह इस बात पर विशेष ध्यान देते हैं कि भूमिका प्रत्याशाएँ यथार्थ परक / वैध (legitimate) हैं या नहीं। तात्पर्य यह है कि नैतिक उन्मुखता वाले व्यक्ति प्रत्याशाओं को जब वैध मानते हैं तभी उन्हें स्वीकार करते हैं अन्यथा उनके प्रति अनुरूपता नहीं अभिव्यक्त करते। यदि वह प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशाओं का सामना करते हैं और दोनों ही को वैध मानते हैं तो दोनों के बीच का मार्ग तलाश करते हैं अथवा उनमें समझौता करते हैं।

(ब) **कार्य-साधक उन्मुखता** (Expedient Orientation)—कार्य साधक उन्मुखता वाले भूमिका अभिकर्त्ता भूमिका प्रत्याशा की वैधता या यथार्थता को अनुमोदन के ऊपर वरीयता देते हैं। अतः वह उन भूमिका प्रत्याशाओं को चुनते हैं जिसके अनुपालन न करने से तीव्रतम नकारात्मक अनुमोदन प्राप्त होता है।

ग्रास तथा अन्य ने इस सिद्धान्त का उपयोग नाना प्रकार की परिस्थितियों में उत्पन्न भूमिका तनाव के घटाने की व्याख्या में किया है। स्कूल अध्यक्षकों के द्वारा अनुभव की गई भूमिका तनाव में आयी कमी की सफल व्याख्या की है। शूल तथा मिल्लर (Shull & Miller 1960) ने व्यावसायिक प्रशासकों के दो अलग-अलग समूहों में भूमिका तनाव में कमी की व्याख्या हेतु किया और पूर्व कथन में 71% शुद्धता के परिणाम प्राप्त किए।

(2) **भूमिका सौदेबाजी सिद्धान्त** (Role Bargaining Theory) गूडे (Goode, 1960) के इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने भूमिका तनाव में कमी लाने के लिए भूमिका सौदेबाजी का सहारा लेता है। कुछ मायनों में यह विनिमय सिद्धान्त के समान है। इसके अनुसार कोई व्यक्ति अपने भूमिका सहभागियों की सभी प्रत्याशाओं की पूर्ति कई कारणों से नहीं कर सकता अतः वह एक प्रकार की सौदेबाजी (Bargaining) प्रक्रिया के द्वारा अपने भूमिका तनाव को घटाने का प्रयास करता है। वह यह तय करता है कि किस सहभागी की कौन सी प्रत्याशा और किस मात्रा में पूरी करेगा, तथा ऐसा करने में उसे क्या लाभ-हानि होगी। ऐसी दशा में भूमिका सहभागी की प्रत्याशाओं की पूर्ति निम्न तथ्यों पर आधारित होगी।

(i) वह प्रत्याशाएं जिनके अनुरूप व्यवहार करने से उसे संतोष प्राप्त होगा और उसके मूल्यों के अनुरूप होगा ?

(ii) भूमिका सहभागियों द्वारा उसका कौन व्यवहार किस मात्रा में पुरस्कृत या दण्डित होगा ?

(iii) अभिकर्ता के लिए महत्वपूर्ण व्यक्ति कहाँ तक उसके भूमिका व्यवहार को आदर या अनादर प्रदान करेंगे ?

उपर्युक्त में अन्तिम कारक 'मुक्त भूमिका' सौदेबाजी की सीमा निश्चित करता है। किसी मात्रा में चालू भूमिका मूल्य के विषय में अभिकर्त्ताओं में सहमति होती है। ऐसी परिस्थितियाँ जिनमें कोई पक्ष कड़ा सौदा करता है, तो बाह्य पक्ष द्वारा पुराने सम्बन्ध को बनाए रखने का दबाव पड़ सकता है। जहाँ तक संस्थागत या संगठनात्मक भूमिकाओं, का प्रश्न है यह अन्तर्क्रिया पर हमारे तनाव घटाने के प्रयासों के प्रभावों को आच्छादित कर देती है।

जब व्यक्ति के पद के साथ सम्बद्ध कर्तव्य या प्रत्याशाएँ पूरी नहीं होती तो वे जानी पहचानी प्रतिरक्षक मनोरचनाएँ—यथा युक्तिकरण, रुग्णता द्वारा पलायन आदि का उपयोग करते हैं।

अध्याय 9

अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण

(Interpersonal Attraction)

सामाजिक अन्तर्क्रिया एक जटिल एवं बहुआयामीय प्रक्रिया है जिसके कारण अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का समझना कठिन हो जाता है। अतः समाज मनोवैज्ञानिक अन्तर्क्रिया के अनेक अमूर्त लक्षणों की पहचान तथा व्याख्या में रूचि लेते हैं। यह अन्तर्क्रिया अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण का आधार भी है। पसन्द, स्नेह, मित्रता तथा प्रेम से सम्बद्ध अन्तर्क्रिया ही व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का केन्द्र है। ऐसी अन्तर्क्रिया साधारण बातचीत से लेकर रोमांचकारी प्रेम तक विस्तृत हो सकती है। सामाजिक व्यवहार में भागग्राहिता से अनुमोदन, स्वीकृति सम्मान तथा सुरक्षा की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। सामाजिक-विनिमय प्रबलनकारी होता है अतः भागग्राहियों में आकर्षण उत्पन्न करता है। इससे साहचर्य और सम्बन्धन में वृद्धि होती है अतः इसके परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे पसंद, मित्रता और प्रेम का विकास होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों में अन्तर्क्रिया ही आकर्षण का रूप ले लेती है। एक-दूसरे से अपरिचित व्यक्तियों में भी अन्तर्क्रिया होती, सम्बन्धों में पारस्परिकता आती है जो निकटता, घनिष्ठता और मित्रता का रूप ले लेती है। कुछ व्यक्तियों के प्रति पसन्द तो अन्य के प्रति अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप नापसन्द भी विकसित होती है। पसन्द को आकर्षण, नापसन्द को विकर्षण कहते हैं। प्रत्येक समूह की संरचना में आकर्षण-विकर्षण के भाव कार्यरत होते हैं। पसन्द या आकर्षण का अभिप्राय किसी व्यक्ति का धनात्मक मूल्यांकन (Positive evaluation) और नापसन्द, अरुचि और विकर्षण का अर्थ है ऋणात्मक मूल्यांकन करना। चूँकि आकर्षण बहुपक्षीय प्रक्रिया है अतः इसमें संज्ञानात्मक, मूल्यांकनात्मक तथा व्यवहार परक घटक (Cognitive, evaluative and behavioural components) निहित होते हैं।

आकर्षण के निर्धारकों की पहचान के अतिरिक्त समाज मनोवैज्ञानिक की रूचि व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों के विकास तथा परिवर्तन में बढ़ती जा रही है (डक तथा गिलमूर, 1981; डक, 1985; हैटफील्ड तथा वाल्सटर, 1985)। बैरल तथा बायर्नी (1987) के अनुसार अन्य व्यक्तियों के प्रति पसंद की मात्रा ही आकर्षण है जो अन्तर्वैयक्तिक मूल्यांकनों की दिशा और प्रबलता पर निर्भर करती है (Attraction is the degree to which we like other individuals. It is based on the direction and the strength of interpersonal evaluations)।

सामाजिक व्यवहार प्रचलनकारी होता है और इस कारण यह आकर्षण उत्पन्न करने में सक्षम होता है, जो साहचर्य स्थापित करने के लिए व्यक्ति को अभिप्रेरित करता है और फलस्वरूप इसी साहचर्य से दो या अधिक व्यक्तियों में आकर्षण विकसित होता है (सीकार्ड तथा बैकमैन, 1964)। समूह के निर्माण तथा विकास में आकर्षण का बड़ा महत्व है। जिस समूह में आकर्षण नहीं होता उसमें संसक्तता (Cohesiveness) का अभाव होता है जिसके कारण सदस्यों में समूह के प्रति विश्वास तथा भरोसा कम होता है और समूह बहुत प्रभावशाली नहीं रह जाता। मानव समाज में आकर्षण सदा महत्वपूर्ण रहा है। सामाजिक जीव होने के नाते मनुष्य सर्वदा दूसरों से सम्बन्ध रखता आया है क्योंकि उसकी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति पारस्परिक आकर्षण पर निर्भर करती है। मैकडूगल ने इसके महत्व को देखते हुए इसे 'समूह में रहने की मूलप्रवृत्ति' की संज्ञा दी थी। बोर्वेल तथा कूपर (1979) के अनुसार आकर्षण से हमारा अभिप्राय एक व्यक्ति की अन्य के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति से है। (By attraction, we mean a positive attitude held by one person about another).

इस अध्याय में सर्वप्रथम हम उस प्रक्रिया पर ध्यान देंगे जिसके द्वारा अपरिचित व्यक्तियों में शारीरिक निकटता (Physical Proximity) संवेगों, तथा सम्बन्धन की आवश्यता जैसे परिवर्त्यों के कारण परिचय (पहचान) होता है। इसके बाद ध्यान देंगे कि आकर्षण क्यों और कैसे विकसित होता है। यहाँ एक मूल प्रश्न यह होता है कि हम किसे जानें, किसे न जानें, किसे पसंद करें और किसे नापसंद? यह प्रश्न अपरिचित व्यक्तियों के मूल्यांकन से सम्बद्ध हैं।

अपरिचितों का मूल्यांकन (Evaluating Strangers) संसार में रहने वाले सभी व्यक्तियों से हम परिचित नहीं हो सकते। हम सम्पूर्ण जीवन काल में कुछ ही व्यक्तियों से सम्पर्क कर पाते हैं—जिनसे शारीरिक निकटता होती है, या भावनाओं और संवेगों के कारण निकट आते हैं या सम्बन्धन की आवश्यकता के कारण सम्पर्क स्थापित करते हैं।

1. शारीरिक निकटता (Physical Proximity)—बहुधा आकस्मिक सम्पर्क के कारण जान-पहचान बढ़ती है। दो अपरिचित विद्यार्थी कक्ष में साथ-साथ बैठने के कारण, या प्रतिदिन एक समय पर एक ही स्टैण्ड से बस पकड़ते हैं। इस प्रकार की शारीरिक निकटता से धीरे-धीरे परिचितता में वृद्धि होती है। पहचान वालों के साथ आराम का अनुभव होता है अतः एक दूसरे का अभिवादन करते हैं (लेविट्ट, 1980)।

1930 के बाद हुए शोधों से स्थापित हुआ है कि पर्यावरण का कोई पक्ष जो दो व्यक्तियों में शारीरिक निकटता में वृद्धि लाता है; उनमें परिचित (जान-पहचान)

में वृद्धि लाता है और परिणाम स्वरूप उनमें पसन्द के विकास की संभावना को बढ़ाता है (फेस्टिंजर, शैक्टर तथा बैक, 1950)। कक्षा में एक दूसरे के निकट बैठने वाले या छात्रावास के एक कमरे, या निकटवर्ती कमरों में रहने वाले छात्रों में सम्पर्क, परिचय तथा पसन्द उत्पन्न होने की संभावना अधिक होती है (कौप्ल तथा फोरमैन, 1950) यह तथ्य केवल क्लास या छात्रावासों में ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी लागू होता है, शर्त केवल शारीरिक निकटता है। शारीरिक निकटता किनके साथ होगी, यह बात बिल्कुल संयोग (Chance) पर निर्भर करती है। शारीरिक निकटता प्रायः अभिवृत्तियों और रुचियों में समानता का आधार होती है। जाजोंक (1968) तथा सेगर्ट एवं अन्य (1973) ने अपने अध्ययनों द्वारा दर्शाया कि किसी उद्दीपक के बारम्बार प्रस्तुति से उसके प्रति अनुकूल अभिवृत्ति विकसित होती है अतः परिचितता एवं शारीरिक निकटता से भी पसन्द उत्पन्न होती है। इस प्रकार अन्य बातों के समान होने पर शारीरिक निकटता तथा उद्दीपक का बारम्बार अनावरण से अनुकूल अभिवृत्ति तथा पसंद की उत्पत्ति होती है। इस महत्व के बाद भी यह कारक सर्वदा धनात्मक प्रभाव नहीं उत्पन्न करते। उदाहरण के लिए किसी अजनबी व्यक्ति को बार-बार आप से मिलाया जाए जो हर मुलाकात में असुःखद क्रियायें करता है, तो इससे संभवतः मित्रता के विकास को कोई आधार नहीं मिलेगा। स्वैप (1977) ने इस परिकल्पना की परीक्षा हेतु एक अध्ययन किया जिसमें महिला स्नातक छात्राओं ने एक दूसरे के साथ एक, दो, चार या आठ बार अन्तर्क्रिया की। जब अन्तर्क्रिया घटित हुई तो अजनबी (Stranger) व्यक्ति ने प्रयोज्य को पुरस्कृत या दण्डित किया। अजनबी द्वारा बार-बार दण्ड देने वाले अजनबी (Stranger) के प्रति आकर्षण में कमी आई। इस प्रकार हम प्रत्याशा करते हैं कि असुःखद व्यक्ति से घनिष्ठ शारीरिक निकटता एवं बारम्बार सम्बन्ध के कारण नापसन्द की तीव्र भावना उत्पन्न होगी।

2. भावनाएँ तथा संवेग (Feelings & Emotions)—हम में से अधिकांश जानते हैं कि दैनिक जीवन की धनात्मक तथा ऋणात्मक घटनाएं हमारे सामान्य मूड पर तात्कालिक तथा तीव्र प्रभाव डालती हैं (स्टोन तथा नील; 1984)। शोधों से ज्ञात हुआ है कि मूड, अन्तर्व्यैक्तिक आकर्षण समेत व्यवहार के अनेक पक्षों को प्रभावित करता है।

संवेग-उत्पादक उद्दीपक और आकर्षण के सम्बन्धों का अन्वेषण हेमिल्टन (1980) ने किया। उन्होंने दर्शाया कि मन पसन्द संगीत से प्रयोज्यों में संवेग तथा संवेग के सुखद होने पर आकर्षण उत्पन्न होता है या आकर्षण में वृद्धि होती है। महिलाओं ने कुछ पुरुषों को शारीरिक रूप से अधिक आकर्षक मूल्यांकित किया जब पृष्ठभूमि संगीत उनकी पसन्द का था, किन्तु जब पृष्ठभूमि संगीत नापसन्द था

तो उन्हीं पुरुषों का मूल्यांकन कम आकर्षक व्यक्तियों के रूप में किया। इस प्रकार प्रदर्शित किया कि संगीत से मूड और मूड से अन्तर्वैयक्तिक निर्णय प्रभावित होता है।

अनेक प्रयोगों के परिणामों से संकेत मिले हैं कि धनात्मक भावना उत्पन्न करने वाली घटनायें अन्तर्व्यक्ति आकर्षण को बढ़ाती हैं जब कि ऋणात्मक घटनाएँ आकर्षण को घटाती हैं। मर्म और कष्टदायी कक्ष आकर्षण को घटाते हैं (ग्रिफिट, 1970), सुखद बनाम दुखद फिल्म (Gouaux, 1971)। इसी प्रकार अवसादी (Depressed) व्यक्ति हमें बेआरामी पहुँचाते हैं और अपेक्षाकृत कम पसन्द किये जाते हैं (वाइनर तथा अन्य, 1981)।

यहाँ तक कि आकाशवाणी और दूरदर्शन से सुने गये अच्छे और बुरे समाचार भी अन्तर्व्यक्ति आकर्षण को प्रभावित कर सकते हैं। ग्रिफिट तथा वाइट (1976) ने अपने अध्ययन द्वारा बताया कि अच्छे समाचार से प्रयोज्यों में धनात्मक सांवेगिक प्रतिक्रिया तथा अजनबी (Stranger) व्यक्ति के प्रति अधिक पसन्द उत्पन्न हुई। खराब समाचार का प्रभाव ठीक विपरीत था—अर्थात् ऋणात्मक भावनाएँ और आकर्षण में कमी।

क्लोर तथा बायर्नी (1974) के सिद्धान्त के अनुसार सांवेगिक प्रक्रियायें हमारी सभी प्रकार की पसन्द नापसन्द का आधार हैं। इसका सरल अर्थ यह है कि यदि किसी के कारण हमें अच्छा अनुभव होता है तो उसके प्रति पसन्द की अनुक्रिया और जिसके कारण बुरे अनुभव होते हैं उसके प्रति नापसंद की भावना उत्पन्न होती है। अर्थात् आकर्षण की अधिकता या न्यूनता धनात्मक या ऋणात्मक भावनाओं की उत्पत्ति पर निर्भर हैं। इसे पुनर्बलन-भाव मॉडल (Reinforcement-affect model) कहते हैं। ऐसी भावनायें उत्पन्न करने वाले व्यक्ति ही नहीं वरन् हम किसी भी व्यक्ति के प्रति आकृष्ट होते हैं जो उस भाव में सम्बद्ध हो जाता है। यह एक प्रकार से सांवेगिक अनुक्रिया या अनुबन्धन हैं उनके प्रति जो हमारे आस-पास हैं।

3. **सम्बन्ध की आवश्यकता (Need for Affiliation)**—हमारा काफी समय दूसरों के साथ अन्तःक्रिया में व्यतीत होता है। ऐसी क्रियायें जैसे नयी मित्रता की स्थापना, मित्रों के साथ सम्पर्क, और व्यक्तिगत भावनाओं में शामिल होना आदि। सम्बन्ध की आवश्कता में व्यक्तिगत भिन्नतायें पाई जाती हैं अर्थात् मित्र बनाने और मैत्रीय सम्बन्धों को बनायें रखने की इच्छा सभी लोगों में समान नहीं होती। कुछ लोग काफी समय अकेले बिताना पसन्द करते हैं तो अन्य बहुत ही सामाजिक होते हैं।

सम्बन्ध आवश्यकता एक शीलगुण के रूप में

मेरे (1938) के कार्य से आरम्भ होकर सम्बन्ध आवश्यकता के अनेक माप

विकसित हुये हैं। इस परिक्षण के साथ हुये शोध से ज्ञात हुआ है कि—सम्बन्धन आवश्यकता में उच्च पाये गये पुरुष अपेक्षाकृत आत्म विश्वासी होते हैं और सम्बन्धन में न्यून व्यक्तियों की अपेक्षा आकर्षक महिलाओं से अधिक अन्तर्क्रिया करते हैं (क्लाउस तथा मेहराबियान, 1977)। स्कूल/कालेज की कक्षा में सम्बन्धन आवश्यकता में उच्च अंक पाने वाले, न्यून अंक पाने वालों की अपेक्षा 6 माह की अवधि में ही अधिक छात्रों को मित्र बना लेते हैं (ग्रीन्डलिंजर तथा बायर्नी, 1985)।

मैकएडम्स तथा लासोक (1984) के कार्यों में सम्बद्ध की आवश्यका का शुद्धि मैत्रीय अभिप्रेरक (Frienship motivation) के रूप हुई है। इस विषय में सामान्य अभिग्रह यह है कि अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ लोग अधिक मैत्रीपूर्ण तथा स्नेहपूर्ण अन्तर्व्यक्ति सम्बन्धों के लिये अधिक प्रयास रूप में अभिप्रेरित होते हैं।

सम्बन्धन तथा मित्रता के अभिप्रेरकों के अतिरिक्त व्यक्तियों के सामाजिक कौशलों में भी व्यक्तिगत भिन्नतायें होती हैं। प्रथम जन्म क्रम वाले की अपेक्षा बाद के जन्में बच्चों में सामाजिक कुशलता अधिक होती है (आइकिस तथा टर्नर 1983)। जिनके एक बड़ा सहोदर विषमलिंगी) होता है वे विरोधी यौन (Opposite sex) के सदस्यों के साथ सर्वाधिक प्रबलनकारी अन्तर्क्रिया करते हैं। समय बीतने के साथ सम्बद्धन आवश्यकता वाले एक बार सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर न्यून सम्बधन वालों से अधिक संतुष्ट होते हैं।

सम्बधन आवश्यकता उद्दीपक परिस्थितियों की अनुक्रिया के रूप में—शैष्टर (1959) ने अपने अनेक प्रयोगों द्वारा दर्शाया है कि दुश्चिन्ता तथा भय के कारण लोगों में दूसरों के साथ संबन्ध रखने की इच्छा बढ़ जाती है। सम्बन्ध पर भय के प्रभावों के स्पष्टीकरण में कहा जाता है कि भयभीत व्यक्तियों में भयोत्पादक परिस्थिति के विषय में अन्य लोगों के साथ सम्प्रेषण की इच्छा होती हैं। अतः लोग भय की दशा में अन्य व्यक्तियों का साथ चाहते हैं चाहे वे अपरिचित ही क्यों न हों। वे उनसे जो हो रहा है, उसके प्रत्यक्षीकरण, तथा उपचार के विषय में बातचीत करते हैं। इस प्रकार की सामाजिक तुलना की प्रक्रिया के द्वारा वे अपनी चिन्ता को घटाने का प्रयास करते हैं। एक बार जब आपके भय में अन्य लोग शामिल हो जाते हैं, तो वास्तव में उसी समय आपका भय घट जाता है। मारिस तथा अन्य (1976) ने अपने अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि की है।

आकर्षण के निर्धारक

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आकर्षण क्यों और कैसे मित्रता और समूह संरचना में योगदान करता है? हाल के कुछ वर्षों में आनुभविक साक्ष्यों के संग्रह से अन्तर्व्यक्ति आकर्षण का अधिक क्रमबद्ध सम्बोधीकरण हुआ है। आकर्षण के स्पष्टीकरण

दो व्यापक वर्गों में रखे जाते हैं—(i) वह जो आकर्षण को व्यक्ति की विशेषताओं का प्रभाव मानते हैं अथवा जिनके अनुसार व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के गुणों तथा विशेषताओं के कारण आकृष्ट होता है, और (ii) जो अन्तर्क्रिया में होने वाले 'लाभ तथा हानि' पर ध्यान देते हैं। अर्थात् वे जो अन्तर्क्रिया से प्राप्त पुरस्कार या लाभ और इसमें खर्च या लागत को महत्व देते हैं।

अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण के निर्धारक

(Determinants of Interpersonal Attraction)

जब दो व्यक्ति एक-दूसरे के करीब होते हैं तो उनमें अन्तर्क्रिया की संभावना होती है दोनों व्यक्तियों का मूड (mood) भी अच्छा है तथा उनमें सम्बन्धन की आवश्यकता (n affiliation) भी प्रबल स्वर की है। इनमें अन्तर्क्रिया के घटित होने की संभावना होगी। किन्तु यह पूर्वकथन करना कठिन होगा कि उनकी अन्तर्क्रिया क्या उनमें अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण उत्पन्न कर सकेगी अथवा नहीं ? हम कह सकते है कि आकर्षण का होना या न होना कुछ कारकों या निर्धारकों पर निर्भर करेगा। अब प्रश्न यह उठता है कि वह कौन से कारक हैं जो अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण को सुलभ बना सकते हैं तथा एकबार उनमें उत्पन्न हुए आकर्षण को बनाए रख सकते हैं ? समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस प्रसंग में अनेक अध्ययन किए गए हैं जिनके परिणामस्वरूप अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण के निर्धारकों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। ऐसे ही कुछ प्रमुख निर्धारक निम्नांकित हैं :—

1. शारीरिक आकर्षकता (Physical Attractiveness)—कुछ निर्धारक लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों या विशेषताओं से सम्बन्धित होते हैं। शारीरिक आकर्षकता व्यक्तिगत विशेषताओं में एक प्रमुख निर्धारक है। शारीरिक आकर्षण सदैव ही महत्वपूर्ण रहा है। चेहरे और शरीर की सुन्दरता आकर्षण के पासपोर्ट के समान है। अन्तर्क्रिया तो बाद में होती है; पहले व्यक्ति चेहरे की सुन्दरता से आकृष्ट और मोहित होता है। सुन्दर व्यक्ति के प्रति पहली ही नजर में लोग उसे सभ्य, सुशील, प्रतिभा सम्पन्न, सद्गुण युक्त समझने लगते तथा आकृष्ट, होने लगते हैं। ऐसी मान्यताएँ भारत सहित सभी देशों में प्रचलित हैं। हजारों वर्ष पूर्व अरस्तू (Aristotle) ने कहा था कि सुन्दर चेहरा किसी प्रशस्तिपत्र का मोहताज नहीं होता। "Personal beauty is a greater recommendation than any letter of recommendation." Aristotle यही कारण है कि सभी लोग आकर्षक दीखने का प्रयास करते देखे जाते हैं। इसका प्रथम मुख्य प्रदर्शन वाल्सटर तथा अन्य (Walster et. al., 1966) ने किया तथा शारीरिक आकर्षकता के महत्व को स्पष्ट किया। इन्होंने एक कम्प्यूटर नाच आयोजित की जिसमें छात्र, छात्राओं को यादृच्छिक रीति से युग्मों (pairs) में रखा गया। संध्या का समय

उन्हें एक साथ गुजारना था। इन प्रयोज्यों के शारीरिक सुन्दरता का मूल्यांकन छुपिया तौर पर पहले कर ली थी। शाम बीतने के पश्चात् इनसे अपने-अपने साथियों के प्रति प्रयोज्यों की पसंद मापित की गई। छात्र-छात्राओं की पसंद और साथी के शरीरिक आकर्षण में उच्च सहसम्बन्ध मिला, अर्थात् पसन्द की मात्रा सुन्दरता की मात्रा पर निर्भर थी--सुन्दर छात्र-छात्राएँ अधिक पसंद किए गए। हैटफील्ड तथा स्प्रेचर 1986) ने पाया कि अन्य निर्धारकों के समान होने पर अनाकर्षक की अपेक्षा आकर्षक व्यक्ति अधिक पसंद किए गए।

इसी तरह ब्राइघम (Brigham, 1980) ने देखा कि पुरुष तथा महिलाओं में आकर्षक व्यक्ति को अधिक स्वतंत्र, सामाजिक, दिलचस्प एवं यौनिक रुप से अधिक नियंत्रित मूल्यांकित किया। काज़ तथा डेविस (Katz & Davis, 1970) ने अपने अध्ययन के आधार पर पाया कि अनाकर्षक की अपेक्षा आकर्षक महिलाओं के जीवन में रोमांस और प्रेम प्रसंग की आवृत्ति अधिक संख्या में होती है। लैण्डी एवं सिगल (1974) ने शारीरिक आकर्षकता वालों में अधिक उपलब्धि (high achievement) का गुण आरोपित किया है। एबाट (Abbott, 1992) के परिणामों से विदित हुआ है कि आकर्षक व्यक्तियों में आत्मादर (Self esteem), सामाजिक आत्मविश्वास (Social self confidence) अनाकर्षक लोगों की तुलना में अधिक होता है। वे दूसरों का सहयोग सुगमता पूर्वक प्राप्त करते है अतः अपने कार्यों में अनाकर्षक लोगों से अधिक सफल होते हैं।

हैट-फील्ड तथा स्प्रेचर (Hatfield & Sprecher, 1986) ने बताया है कि कुछ दशाओं में आकर्षक व्यक्तियों में निषेधात्मक गुणारोपण भी होता है जैसे अधिक सुन्दर महिलाएँ, घमण्डी, अहंकारी, एवं दुर्बल चरित्र कही जाती है।

2. शारीरिक आकर्षकता तथा न्याय प्रक्रिया (Physical Attractiveness & justice)—शारीरिक आकर्षण एवं अनाकर्षण का महत्व लक्ष्य व्यक्ति के विषय में सम्बद्ध व्यक्ति के निर्णयों को प्रभावित करता है। न्यायालय भी एक ऐसा स्थल है जहाँ मुल्जिम का मूल्यांकन तथा उसके विषय में महत्वपूर्ण निर्णय किए जाते हैं। न्याय करने वाले किसी व्यक्ति का अनुकूल मूल्यांकन करते हैं तो मुल्जिम के साथ उदारता दिखाते हैं, और जब उसे नापसंद करते हैं तो उसके प्रति अनुदारता का परिचय देते हैं इफ्केन (1974) ने सुन्दर और असुन्दर बच्चों द्वारा परीक्षा में अनुचित साधन प्रयोग के आरोप का ज़िक्र करते हुए अलग-अलग प्रयोज्यों के समूहों के सामने प्रस्तुत कर उनसे निर्णय कराया। एक ही अपराध का इल्ज़ाम होते हुए भी प्रयोज्यों ने सुन्दर बच्चों की अपेक्षा असुन्दर बच्चों के लिए अधिक कठोर दण्ड की संस्तुति की। डायन (1972) के परिणाम भी ऐसे ही थे। प्रयोज्य आकर्षक अपराधियों के अपराध का दायित्व परिस्थिति और समय की प्रतिकूलता

पर डालते तथा असुन्दर बालकों के व्यक्तित्व लक्षणों को उत्तरदायी ठहराते हैं। अतः असुन्दर बालकों के लिए कठोर दण्ड की संस्तुति किया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि न्याय करने वाले आकर्षक व्यक्तियों में अच्छे गुणों का आरोपण करते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि "सुन्दर अच्छा", (Beauty is good)।

3. शारीरिक आकर्षण तथा शारीरिक सान्निध्य (Physical Attraction and Physical Proximity)—सुन्दर एवं आकर्षक व्यक्तियों के साथ रहने से व्यक्ति की अपनी महत्ता बढ़ती है। भौतिक सान्निध्य अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण का एक प्रमुख निर्धारक है। भौगोलिक निकटता या सान्निध्य आकर्षण की एक पुरानी परिकल्पना है। सान्निध्य से एक ओर आकर्षण और मित्रता तथा दूसरी ओर शत्रुता और अनाकर्षण का विकास भी हो सकता है। समाजशास्त्रियों के परिणामों के अनुसार अधिकांश लोग पड़ोस, सहकर्मी या सहपाठियों से विवाह करते हैं। (Bossard, 1932, Clarke, 1952, Burr, 1973, Katz & Hill, 1958)। साथ कार्य करने वालों को अधिकांश लोग पसन्द करते हैं बनिस्बत उनके जिनसे भौगोलिक दूरी होती है (Gullahorn, 1952, Kipnis, 1957, Zander & Havelin, 1960)।

वास्तव में भौगोलिक दूरी या सान्निध्य अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है। इस सान्निध्य या दूरी से अन्तर्क्रिया सुलभ या दुर्लभ हो सकती है, अन्तर्क्रिया की प्रत्याशा, तथा मात्र प्रकाशन या अनावरण (mere exposure) का अवसर मिलता है जो अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण को प्रभावित करता है।

(अ) अन्तर्क्रिया—शारीरिक या भौगोलिक सान्निध्य से अन्तर्क्रिया की संभावना बढ़ती है। जो लोग एक दूसरे के जितने समीप रहते है उनमें एक-दूसरे से बातचीत, सम्पर्क आदि की संभावना उतनी ही ज्यादा होती है। (Monge & Kirste, 1980)। मित्रता निर्माण में भौगोलिक सान्निध्य अपने आप में लाना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि अन्तर्क्रिया का अवसर महत्वपूर्ण है। (Chester Insko and Midge wilson 1977)। इसका निहित अर्थ है कि भौगोलिक निकटता अन्तर्क्रिया का अधिक अवसर देती है जिससे आपसी आकर्षण की संभावना बढ़ जाती है। यादृच्छिक रीति से आवंटित कालेज के रूमपार्टनर्स (Roompartners) में न्यूकाम्ब (Newcomb, 1961) के अनुसार, अच्छे दोस्त बनजाने की संभावना अधिक होती है।

(ब) अन्तर्क्रिया की प्रत्याशा—इसी प्रकार अन्तर्क्रिया की प्रत्याशा मात्र भी पसन्द को बढ़ा सकती है। जान डार्ली तथा ऐलेन बरकीड (John Darle & Allen Berscheid, 1976) ने अपने अध्ययन में देखा कि महिलाएँ उन आदमियों के प्रति अधिक आकृष्ट थीं जिनसे मिलने की प्रत्याशा थी। किसी के

साथ अन्तर्क्रिया की प्रत्याशा समूह भावना उत्पन्न करती है तथा मिलने की प्रत्याशा से उत्तेजित होकर अन्य व्यक्ति का सुखद और संगत व्यक्ति के रूप में प्रत्यक्षीकरण किया जाता है।

(स) **मात्र प्रदर्शन (Mere exposure)**—सान्निध्य द्वारा पसन्द की उत्पत्ति का एक अन्य कारण भी है। राबर्ट जाजोंक (Robert Zajonk) तथा अन्य ने अनेक अध्ययनों द्वारा प्रमाणित किया है कि अन्तर्क्रिया से परिचय बढ़ता है और परिचय से लगाव उत्पन्न होता है या पसन्द बढ़ती है। नवीन उद्दीपकों के बार-बार प्रदर्शन पर पसन्द करने या धनात्मक मूल्यांकन की प्रवृत्ति प्रदर्शन प्रभाव कहलाती है।

4. **समानता (Similarity)**—काफी प्राचीन कहावत है कि "(Birds of a feather flock together") अर्थात् समान पंखों वाली चिड़ियाँ एक जगह समान हो जाती है। ऐसे ही एक जैसे या समान स्वभाव वाले व्यक्ति एक दूसरे की संगत पसन्द करते हैं एक साथ एकत्र होने वालों में समानता के अनेक कारण हो सकते हैं। एक कारण यह हो सकता है कि समूह के सदस्य समरूपता प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे पर एकरूपता (Uniformity) के लिए दबाव डालते हैं। एक अन्य सम्भावना है कि लोग एक दूसरे को इसलिए पसन्द करते और साथ रहते हैं क्योंकि पसन्द करते हैं। प्रश्न यह है कि समानता क्यों होती है? समाज मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से समानता को तीन विमाओं का महत्व ज्ञात हुआ है जो निम्न है—

(i) अभिवृत्ति की समानता (Similarity of attitudes)
(ii) व्यक्तित्व की समानता (Similarity of Personality)
(iii) व्यवहार में समानता (Similarity of behaviour)

(1) **अभिवृत्ति की समानता (Simlarity of Attitude)**—डान बायर्नि (Don Byrne) ने पसन्द पर अभिवृत्ति-समानता के प्रभावों पर अधिकांश शोधों को उत्प्रेरित किया।

इनके अभिकल्प में प्रयोज्य एक अभिवृत्ति प्रश्नावली करता है और बाद उसके एक व्यक्ति के विषय में निर्णय करता है। अन्य व्यक्ति (काल्पनिक) के विषय में प्रयोगकर्ता उसे कुछ सूचनाएँ प्रदान करता है। अन्त में प्रयोज्य इस काल्पनिक अपरिचित व्यक्ति के लिये अपना आकर्षण अंकित करता है।

एक आरम्भिक अध्ययन में बायर्नि (Byrne, 1961) प्रयोज्यों ने विशेषकर अपरिचितों को उस समय पसन्द किया जब अपरिचित व्यक्ति से 26 अभिवृत्ति पदों का उत्तर हूबहू वही दिया जैसा प्रयोज्य ने दिया। केप्लान एवं एण्डरसन (Kaplan & Anderson, 1973) ने अध्ययन के आधार पर देखा कि कालेज के छात्रों में एक-दूसरे के प्रति पसन्द उस समय बढ़ जाती है जब किसी विषय या

समस्या के ऊपर उनकी अभिवृत्ति समान होती है। हुसैन तथा कुरेशी (Hussain & Kureishi, 1983) ने भी अभिवृत्ति समानता और आकर्षण में सम्बन्ध प्राप्त किया एक अन्य अध्ययन में पान्डे तथा रस्तोगी (Pandey & Rastogi, 1978) ने अभिवृत्ति समानता और आकर्षकता में धनात्मक सहसम्बन्ध प्राप्त किया। इन्हीं कारणों से व्यक्ति उन अन्य व्यक्तियों की ओर आकृष्ट होते हैं जिनकी अभिवृत्तियाँ उसकी अपनी अभिवृत्तियों के समान होती हैं।

(ii) व्यक्तित्व समानता (Personality Similarity)—हम अनुमान कर सकते हैं कि समान व्यक्तित्व वाले अर्थात् समान मूल्यों, प्रेरकों, आवश्यकताओं और व्यवहारपरक वरीयताओं वाले व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति आकर्षकता हो सकती है, और वह गहरे मित्र बन सकते हैं। इस प्रकार अभिवृत्ति की समानता की तरह व्यक्तित्व लक्षणों की समानता भी आकर्षकता को प्रभावित करती है।

कुछ व्यक्तित्व लक्षण सभी के लिए आकर्षक होते हैं—जैसे प्रभावशाली, प्रतियोगी आदि शीलगुण। पामर एवं वायर्न (Palmer & Byrne 1970) ने पाया कि प्रभावशाली व्यक्ति अन्य समान गुण वाले के लिए तो आकर्षक होते ही हैं, दब्बू, विनम्र और प्रभावहीन व्यक्ति भी उनके प्रति आकृष्ट होते हैं। मैक-एलिस्टर एवं ब्रैगमैन (Mc Alister & Bragman, 1983) ने प्रदर्शित किया कि जो व्यक्ति अनजाने लोगों को भी सूचना दे देते हैं उन्हें स्वयं सूचनाओं को गुप्त रखने वाले व्यक्ति भी वरीयता देते हैं और उनकी ओर आकृष्ट होते हैं।

रिस्किण्ड एवं विल्सन (Riskind & Wilson, 1982) ने दर्शाया कि प्रतियोगी लक्षण वाले लोगों की ओर स्त्री-पुरुष दोनों ही यौन वाले आकृष्ट होते हैं। हिल तथा स्टल (Hill & Stull, 1981) ने कालेज छात्राओं में सामाजिक मूल्यों की समानता के कारण पारस्परिक आकर्षण के प्रमाण प्राप्त किए।

ब्लेकेनशिप एवं अन्य (1984) ने अपने अध्ययन में अभिवृत्ति समानता की अपेक्षा व्यक्तित्व समानता को आकर्षकता का कम महत्वपूर्ण निर्धारक प्राप्त किया। इनके अनुसार अन्तर्क्रिया की आवृत्ति में वृद्धि व्यक्तित्व समानताओं में वृद्धि से सम्बद्ध है। फाइनबर्ग (Fienberg et. al,) तथा अन्य (1981) ने देखा है कि दो व्यक्तियों में अन्तरंगता में वृद्धि से वास्तविक व्यक्तित्व समानता के अभाव में भी यह मानते हैं कि व्यक्तित्व समानता इस प्रकार व्यक्तित्व शीलगुणों में समानता पारस्परिक आकर्षण का एक प्रमुख निर्धारक है।

(iii) व्यवहारगत समानता (Behavioural Similarity)—ऐसे व्यक्तियों को भी लोग पसंद करने लगते हैं जो उन्हीं जैसे व्यवहार किसी परिस्थिति में करते है तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों की क्रियाओं और व्यवहार की समानताएँ भी उनके पारस्परिक आकर्षण का निर्धारण कर सकती हैं। टेस्सर तथा

अन्य (Tesser et. al, 1984) ने अपने अध्ययनों द्वारा दर्शाया कि प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थी उन अन्य छात्रों से अधिक दोस्ती करते हैं जो खेलकूद, अध्ययन या अन्य शैक्षणिक योग्यताओं में उनके व्यवहार जैसे व्यवहार करते हैं कैण्डेल तथा सहयोगियों (Kandel et. al, 1976) ने एक अध्ययनों द्वारा प्रदर्शित किया कि वह विद्यार्थी जिनमें व्यवहारगत समानताएँ—जैसे परीक्षा में नकल, क्लास छोड़ना, चरित्रहीन, मदिरा या औषधि पान, सिगरेट पीने आदि होती हैं उनमें शीघ्र मित्रता हो जाती है ।

एक बात स्पष्ट है कि अभिवृत्ति, व्यक्तित्व और व्यवहारगत समानता अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण का प्रमुख निर्धारक है । प्रश्न यह है कि समानता से पारस्परिक आकर्षण में वृद्धि क्यों होती है ? प्रथम, समानता सुखदायी होने के साथ सन्तोषदायी होती है अतः व्यक्ति के विचारों और विश्वासों को संपुष्ट करती है अतः आकर्षण उत्पन्न करती है । द्वितीय, सैण्डर्स (Sanders, 1982) के अनुसार समानता एक दूसरे के लिए धनात्मक प्रतिपूर्ति (Feedback) के द्वारा सामाजिक तुलना को प्रबल बनाती है ।

5. **पारस्परिकता (Reciprocity)**—पारस्परिकता आकर्षण का एक अन्य प्रमुख निर्धारक है । पसंद की उत्पत्ति से भी महत्वपूर्ण है उसका बना रहना, जो पारस्परिकता पर बहुत हद तक निर्भर है । पारस्परिकता को बायर्नि (Byrne. 1971) ने आकर्षण का प्रमुख आधार बताया है । हेज (Hays, 1984) के अनुसार दोस्ती का आधार समानता, और शारीरिक निकटता ही नहीं वरन् उसके साथ पारस्परिक मेल, स्नेह, पसंद, रुचि आदि भी इसके प्रमुख निर्धारक हैं ।

6. **चापलूसी (Ingratiation)**—चमचागीरी, सम्प्रति में चापलूसी, या चाटुकारी से कहीं अधिक अनुप्रयुक्त हो रहा है । चापलूसी से आदमी ही नहीं लोग ईश्वर को भी राजी करलेने की बातें करते हैं । चापलूसी भी आज अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण का एक निर्धारक मानी जा रही है । मानव स्वभाव से अपनी प्रशंसा पसंद करता है । कुछ दशाओं में चाटुकारिता भी आकर्षण को बढ़ाती है । यद्यपि चाटुकारिता को समाज खराब मानता है किन्तु इसके समाज में व्याप्त होने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता । जोन्स तथा अन्य (Jones et. al, 1973) के अनुसार किसी आदमी द्वारा आपने लक्षणों की आकर्षकता के बारे में दूसरों पर प्रभाव डालने के लक्ष्य से किया गया छल से परिपूर्ण व्यवहार है । जब लक्ष्य व्यक्ति चाटुकार के उद्देश्यों को भाँप लेता है तथा उसकी संस्थिति चाटुकार से उच्च है तो चापलूसी से आकर्षण नहीं उत्पन्न हो पाता (वार्टरमैन, 1990) । जोन्स, जोन्स तथा गर्गेन (Jones, Jones & Gergen, 1964) का विचार है कि अनुभवी चापलूस लक्ष्य व्यक्ति (जिसकी चापलूसी करना है) विचारों से कभी-

कभी असहमति व्यक्त करके यह प्रभाव देता है कि वह हर बात में हाँ में हाँ नहीं मिलाता, और चापलूसी में सफल होता है और अपनी आकर्षकता को बनाए रखता है। इस प्रकार चापलूसी भी अर्तवैयक्तिक आकर्षण का एक निर्धारक है।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण अनेक कारकों शारीरिक निकटता, अभिवृत्ति, व्यक्तित्व, व्यवहारपरक समानता, पारस्परिकता, तथा चाटुकारिता पर निर्भर करता है। इनमें से कोई कारक किसी परिस्थिति विशेष में अधिक या कम कारगर हो सकता है।

आकर्षण के सिद्धान्त
(Theories of Attraction)

आकर्षण के तीन स्पष्टीकरण व्यक्तियों के बीच समानता को आकर्षण की एक आवश्यक शर्त मानते हैं, किन्तु वे इस प्रकार एक दूसरे से भिन्न हैं कि समानता से आकर्षण कैसे उत्पन्न होता है ? एक के अनुसार आकर्षण का विकास इसलिये होता है कि समानता सन्तुलित दशा (Balanced state) उत्पन्न करती हैं दूसरे के अनुसार समान व्यक्ति एक दूसरे को पुरस्कार प्रदान करते हैं और तीसरे उपागम के अनुसार समानता से पसंद किए जाने की प्रत्याशा उत्पन्न होती है। इन तीन उपागमों की चर्चा यहाँ की जायगी :—

(i) समानता तथा सन्तुलन सिद्धान्त (Similarity and balance theory) हाइडर का अनुसरण करते हुए न्यूकोम्ब (1956, 1961, 1981) ने आकर्षण के सिद्धान्त का विकास किया जिसके अनुसार किसी वस्तु के प्रति उनकी उभयनिष्ठ अभिवृत्ति के कारण व्यक्तियों में आकर्षण विकसित होता है (that relates attraction between persons to the attitudes that they hold in common toward objects)। सन्तुलन का अभिप्राय व्यक्तियों के विश्वासों, अभिवृत्तियों, स्थायीभावों, पसन्द तथा नापसन्द में संगति से है। सन्तुलित दशा वह है जिसमें संज्ञानात्मक तत्वों में अनुरूपता तथा आपसी मेल होता है। यह सिद्धान्त बहुधा ABX theory of attraction कहलाता है। सिद्धान्त के तत्व इस प्रकार हैं—अन्तक्रिया करने वाले व्यक्ति उभयनिष्ठ वस्तुओं से घिरे रहते हैं। इन वस्तुओं के साथ सम्पर्क के द्वारा वे इनके प्रति कुछ निर्दिष्ट अभिवृत्तियाँ विकसित करते हैं यह अभिवृत्तियाँ धनात्मक या ऋणात्मक हो सकती हैं। यदि दो व्यक्ति एक-दूसरे को पसन्द करते हैं और वस्तुओं के प्रति समान अभिवृत्ति रखते हैं। यदि वे एक-दूसरे को पसन्द करते हैं किन्तु वस्तु के प्रति भिन्न अभिवृत्ति रखते हैं या एक-दूसरे को नापसन्द करते हैं किन्तु वस्तु के प्रति समान अभिवृत्ति रखते हैं, तो तनाव या असन्तुलन की स्थिति पाई जाती है। असन्तुलन की स्थिति से एक या अधिक यदि परिवर्तित हो जायँ तो पुनः सन्तुलन की स्थिति स्थापित हो जाती है। व्यक्ति को

अपने सामाजिक वातावरण और प्रत्यक्षीकरण में उत्पन्न अव्यवस्थाओं को अभियोजित करना पड़ता है। सन्तुलन सिद्धान्त के ABX सिद्धान्त कहे जाने की चर्चा की गई थी। इस नाम के अनुप्रयोग का अभिप्राय यह है :—

A = आकर्षित व्यक्ति।

B = वह व्यक्ति जो आकर्षित कर रहा है।

X = सामान्य वस्तु या तथ्य।

जब इन तीनों तथ्यों ABX में समानता पाई जाती है तो इसे संतुलित दशा कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि A तथा B अभिवृत्तियाँ या विशेषतायें समान हो तथा वे दोनों वस्तु X को पसन्द या दोनों नापसन्द करते हों तो यह सन्तुलन की दशा कही जाएगी क्योंकि ABX-तीनों में परस्पर समानता है, किन्तु तीनों में से या दोनों व्यक्तियों तथा तीसरे तथ्य में से कोई भी भिन्न होगा तो इससे असंतुलन की दशा उत्पन्न होगी। जैसे A, तथा B नामक व्यक्ति एक दूसरे के प्रति समान अभिवृत्ति या भाव रखते हैं किन्तु X को कोई एक पसन्द करता है और दूसरा नापसन्द या X के प्रति उनकी अभिवृत्ति समान नहीं है तो प्रणाली असंतुलित कही जायगी। पुनः सन्तुलन की स्थापना हेतु A या B में से किसी एक को अपनी अभिवृत्ति परिवर्तित करना होगा। सन्तुलन की दशा सुखद तथा पुनर्बलक होती है। असन्तुलन की दशा असुखद होती है और व्यक्ति तनाव एवं कुण्ठा का अनुभव करता है जो व्यक्ति को अभिवृत्ति परिवर्तन के लिये प्रेरित करती हैं। कुण्ठा एवं तनाव से मुक्ति के लिये व्यक्ति को निम्न उपाय करने पड़ते हैं—

(I) A और जिनके गुण समान हैं—दोनों X के असमान गुण को नकार कर उसके साथ सम्बन्ध जारी रखें।

(II) X के प्रति कोई एक अपनी अभिवृत्ति बदल लें।

(III) X के प्रति दोनों A तथा B अपनी अभिवृत्तियों को बदल लें।

यदि समूह में सन्तुलन की दशा X के कारण उत्पन्न होती है तो ध्यान इस पर देना होगा कि समूह में X को क्या महत्व प्राप्त है। जैसे अगर X समूह में बहुत महत्व रखता है तो सामंजस्य बनाए रखने के प्रयास में A और B अपनी अभिवृत्तियों को बदल सकते हैं। लेकिन जब X महत्वपूर्ण नहीं है तो कोई परिवर्तन किसी की अभिवृत्ति में नहीं होगा और असन्तुलन की दशा ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

जब किसी सामान्य अभिवृत्ति वस्तु के प्रति दो व्यक्ति समान भाव रखते हैं और दोनों व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे को पसन्द भी करते हैं तो संज्ञात्मक प्रणाली सन्तुलित होती है, लेकिन जब तीनों तथ्यों अर्थात् दो व्यक्तियों और तीसरी वस्तु या विचार या समस्या में से कोई एक असमान होने पर प्रणाली असन्तुलित होती

हैं। व्यक्ति असन्तुलन को समाप्त करके पुनः सन्तुलन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। जैसे A और B दो छात्र हैं। दोनों साइकिल खरीदने की बात करते हैं। A हीरो-साइकिल खरीदने के पक्ष में है और B एटलस खरीदने के पक्ष में। यह दशा जिसमें निर्णय नहीं कर पा रहे हैं असन्तुलन की दशा कही जायगी। लेकिन अन्त में B अपनी अभिवृत्ति परिवर्तित कर लेता है और असन्तुलन समाप्त हो जाता है।

यदि परिस्थिति में विद्यमान तथ्यों में समानता होने की दशा में अधिक आकर्षण संभव होगा। अपने आकर्षण सिद्धान्त के आधार पर न्यूकोम्ब ने पूर्वकथन किया कि किसी समूह के अपरिचित व्यक्तियों में अन्तर्क्रिया में ज्यों ज्यों वृद्धि होगी, और एक दूसरे की अभिवृत्तियों के बारे में सूचना में वृद्धि होगी त्यों त्यों उभयनिष्ट वस्तु के बारे में समान अभिवृत्तियों/दृष्टिकोण या समान गुणों वाले व्यक्तियों में आकर्षण के बन्धन सशक्त और सुदृढ़ होंगे (न्यूकोम्ब, 1956)। उसने इस बात की जाँच के लिए दो समूह लिए। दोनों ही में कालेज के पुरुष विद्यार्थी थे जो आरम्भ में अजनबी थे किन्तु एक साथ प्रयोगकर्त्ता द्वारा दिए गए मकान में साथ रहते थे। सोलह सप्ताह के आवास अवधि में अनेक अवसरों पर अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में उनकी उन्मुखताओं, स्वयं प्रयोज्यों के गुणों तथा आकर्षण संरूपों के निरीक्षण से न्यूकोम्ब के पूर्वकथन सत्यापित हुए।

यदि वह अभिग्रह लिया जाए कि व्यक्ति अपने धनात्मक मूल्यों का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो इस सिद्धान्त के अनुसार अन्य व्यक्ति के प्रति पसन्द तथा बदले में पसंद किये जाने में घनिष्ठ सम्बन्ध मिलेगा जैसे एक व्यक्ति उन अन्य व्यक्तियों को पसन्द करता था जिनकी भावनाएँ उसकी अपने प्रति भावनाएँ थी। न्यूकोम्ब (1956) ने प्रयोज्यों के आत्म विवरण (Self description) और आकर्षण में प्रत्यक्षित सहमति (Perceived agreement) प्राप्त किया।

इन परिणामों की पुष्टि डोहर्टी तथा सीकोर्ड (1971) के अध्ययनों द्वारा हुई है। इनके अनुसार कोई व्यक्ति उसकी ओर आकर्षित होता है जो अपनी सभी विशेषतायें अन्य लोगों पर प्रक्षेपित करता है। उदाहरण के लिए यदि 'A' अपने आपको सत्यवादी समझता है तो वह 'B' को भी सच बोलने वाला मानता है। एक अन्य अध्ययन में बैकमैन तथा सीकोर्ड (1962) कि मात्र प्रत्यक्षित समानता से नहीं वरन् वास्तविक समानता से भी आकर्षण प्रभावित होता है। करी तथा इमरसन (1970) ने दर्शाया कि हम प्रायः उन व्यक्तियों को पसंद करते हैं जो हमारे प्रति अनुकूल अभिवृत्तियाँ प्रकट करते हैं।

एक अन्य अध्ययन, जिसमें आकर्षण असाश्रित चर नहीं था, प्रमाणित करता

है कि असंतुलित दशाओं के कारण प्रतिबल (Strains) उत्पन्न होते है जिनके कारण व्यक्ति अपने निर्णय परिवर्तित करते हैं (सैम्पसन तथा इन्सको, (1964)।

उपरोक्त चर्चित अध्ययनों के निष्कर्षों से व्यक्त होता है कि संज्ञान में समानता होने पर व्यक्तियों के एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होने की संभावना होती है। अभिवृत्तियों, विशेषताओं, विचारों और भावनाओं में समानता होने पर पसन्द उत्पन्न होती है जो आकर्षण का रूप ले लेती है। न्यूकोम्ब ने अभिवृत्तियों में समानता को आकर्षण का आधार माना था किन्तु असमान व्यक्तियों से अन्तक्रिया से नवीन सूचनाएँ प्राप्त होती है (गोमली, 1979) संभ्रान्ति में कमी आती है (रस्स तथा अन्य, 1980), अद्वितीय, दूसरों से भिन्न तथा स्पेशल होने की भावना उत्पन्न होती है (स्नाइडर तथा फ्रामकिन, (1980), असमानता धमकीपूर्ण होती है और लोगों की यह मान्यता है कि जो हमसे असहमत है वह नापसन्द करेगा (गोनजेलिस तथा अन्य, 1983)।

(ii) समानता पुनर्बलन के साधन के रूप में—अन्तर्व्यक्तिक (Similarity as a source of reinforcement) आकर्षण का संभवतः सबसे मौलिक स्पष्टीकरण पुनर्बलन के प्रत्यय पर आधारित है, जिसके अनुसार हम उनको पसन्द करते हैं जो पुरस्कृत करते हैं तथा दण्ड देने वाले व्यक्ति को नापसन्द करते हैं। शिशुओं तक के व्यवहार से यह तथ्य स्पष्ट है। जो लोग किसी बच्चे को गोद में लेते हैं, दुलराते हैं, टाफी, केले या अन्य वस्तुयें देते हैं बच्चे उन्हें पसन्द करते हैं तथा जो लोग तंग करते हैं, मारते, चिढ़ाते या स्नेह का प्रकाशन नहीं करते, बच्चे उन्हें नापसंद करते हैं। इस प्रकार पुरस्कार से सम्बद्ध व्यक्ति पसन्द किए जाते हैं। इस विषय में एल्वर्ट तथा वनिस लाट्ट (1968, 1974) तथा बायर्नी एवं क्लोर (1970) ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि अभिवृत्तियों की समानता में प्रबलनकारी मूल्य निहित हो सकते हैं। बायर्नी तथा क्लोर के अनुसार अन्तर्व्यक्तिक आकर्षण का संबोधीकरण मौलिक अधिगम प्रक्रिया के रूप में कर सकते हैं। व्यक्तियों की अभिवृत्तियों में जितनी अधिक समानता होती है वे एक-दूसरे के लिये उतने ही प्रबलनकारी होंगे, फलस्वरूप उनमें आकर्षण भी उसी अनुपात में होगा।

इस प्रतिरूप ((model) के अनुसार पुरस्कार से सम्बद्ध उद्दीपक धनात्मक भाव और दण्डकारी उद्दीपक ऋणात्मक भावनाए उत्पन्न करते हैं। अतः व्यक्तियों या वस्तुओं का मूल्यांकन धनात्मक या ऋणात्मक भावनाओं की अनुभूति की मात्रा के आधार पर करते हैं। कोई व्यक्ति हमारे साथ बहुत अच्छा बर्ताव करता है तो निःसन्देह यह एक धनात्मक एवं प्रबलनकारी अनुभूति होगी। बायर्नी तथा क्लोर (1970) के अनुसार इस अनुभूति का पुरस्कार मूल्य हमारे भीतर उसके प्रति

धनात्मक भावना उत्पन्न करेगा, और फलस्वरूप हम उसका धनात्मक मूल्यांकन (पसन्द) करेंगे। यहीं नहीं उस परिस्थिति से सम्बद्ध वस्तुएँ जैसे वह स्थान जहाँ अन्तर्क्रिया घटित हुई; या उस समय उपस्थित अन्य व्यक्तियों के प्रति भी अनुबंधन प्रक्रिया के कारण पसन्द किये जायेंगे।

सोचिए एक छोटी बच्ची एक चम्मच उठाती है और मुँह तक ले जाती है। उसकी माँ अत्यन्त प्रसन्नता की अनुक्रिया व्यक्त करती है—उसे चूमती है और एक टाफी बच्ची को देती है। अब चम्मच उठाना एक सुखद अनुक्रिया बन गई; चूँकि ऐसा करने पर माँ द्वारा चूमने और टाफी देने की सुखद अनुक्रिया सम्बद्ध हो गई। अब वह नन्हीं बच्ची खाने के लिए चम्मच का प्रयोग करने लगती है।

पुनर्दलन प्रतिरूप के अनुसार ठीक यही प्रक्रिया अन्तर्व्यक्तिक आकर्षण में लागू होती है। वह व्यक्ति जो आकर्षण से सम्बद्ध हो जाते हैं। (जो उसे प्राप्त होते हैं) उनके प्रति वरीयता विकसित होता है। और पसन्द किये जाने लगते हैं। इसमें निम्न चरण आते हैं—

1. **एक पुरस्कार**—व्यक्ति प्रत्येक उद्दीपक की ओर समान ध्यान नहीं देता। कुछ को वह वरीयता देता है, (आकृष्ट होता है) अन्य परिहार करता है। उन्हीं उद्दीपनों को वरीयता देते हैं जिन्हें प्रबलनकारी समझते हैं।

2. **एक भावना**—पुरस्कार से एक प्रकार की सुखद या आनन्ददायी भावना व्यक्ति में उत्पन्न होती है।

3. **एक साहचर्य**—कभी-कभी व्यक्ति पुरस्कार देता है, किन्तु बहुधा पुरस्कार किसी व्यक्ति की उपस्थिति से सम्बद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए एक विशिष्ट लिपिक ही सर्वदा किसी प्रोफेसर का वेतन चेक उसे भेजता है तो वह पुरस्कार (चेक) से सम्बद्ध हो जाता है क्योंकि वह वेतन चेक देता है। कभी-कभी लोग पुरस्कार से आकस्मिक रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं।

4. **एक निष्कर्ष**—पुरस्कार से सम्बद्ध व्यक्ति उस समय भी सुखद भाव उत्पन्न करते हैं जब पुरस्कार मौजूद नहीं होते हैं, अतः वे पसन्द किए जाते हैं।

इसी प्रकार कुछ व्यक्ति किसी असुखद भावना से सम्बद्ध हो जाते हैं जैसे एक काउन्टर-खजानची जिसे आपने सौ रुपये का नोट दिया कहता है कि पचास का ही वह नोट था, तो उसके प्रति असुखद भाव जुड़ जाता है और आप उसे नापसन्द करने लगते हैं। इन दैनिक जीवन की घटनाओं के लिए प्रायोगिक समर्थन प्राप्त हुये हैं (Kaplan and Olczak, 1970)। यह उपागम इस बात पर बल देता है कि वह व्यक्ति जो सुखद भाव से सम्बद्ध है, असुखद भाव से सम्बद्ध व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पसन्द किया जाता है चाहे वह व्यक्ति उस भावना का कारण रहा हो या न रहा हो।

बायर्नी तथा सहयोगियों (बायर्नी एवं नेल्सन, 1964, 1965, ग्रिफिट एवं गुवे, 1669, बायर्नी एवं क्लोर, 1966 बायर्नी एवं ग्रिफिट, 1966, तथा ग्रिफिट, 1970) ने अपने अनेकानेक प्रायोगिक अध्ययनों द्वारा यह प्रदर्शित किया कि व्यक्तियों की अभिवृत्तियों में समानता उनके लिए प्रबलनकारी होती है अतः अभिवृत्तियों में समानता जितनी अधिक होगी उनमें परस्पर आकर्षण भी उतना ही अधिक होगा।

किन्तु कुछ अन्य शोधों से यह संकेत मिला कि आकर्षण तथा समानता में बहुत दुर्बल या असंगत सम्बन्ध पाये जाते हैं लेविंजर (1972) लेस्टर (1965) तथा करी एवं इमर्सन (1970) के अध्ययनों से भी अभिवृत्ति-समानता-आकर्षण परिकल्पना की पुष्टि नहीं हुई।

(iii) **आकर्षण तथा पसन्द किये जाने की प्रत्याशा (Attraction and anticipation of being liked)**—सबसे प्रबल प्रायोगिक साक्ष्य यह दर्शाते हैं कि पसन्द किये जाने की प्रत्याशा द्वारा आकर्षण उत्पन्न होता है। अभिवृत्तियों की समानता के कारण आकर्षण की व्याख्या पसन्द किये जाने की प्रत्याशा द्वारा की जाती है। अर्थात् समान अभिवृत्ति वाले व्यक्तियों में पसन्द किये जाने की प्रत्याशा के कारण आकर्षण उत्पन्न होता है। वह दूसरे के प्रति आकृष्ट होता है जब उसे यह प्रत्याशा होती है कि वह भी उसे पसन्द करेगा (एरोन्सन एवं ग्रोचेंल, 1966, नेल्सन 1966, मैकक्लूटर एवं जेकर, 1967)। जब हम यह देखते हैं कि अन्य व्यक्ति में समान अभिवृत्तियाँ हैं तो यह निष्कर्ष निकल सकता है कि अन्य व्यक्ति उसे पसन्द कर सकता है या करेगा। इस प्रकार पसन्द किये जाने की प्रत्याशा पसन्द उत्पन्न करती है।

एक अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि असुरक्षा की भावना से पीड़ित व्यक्ति, अन्य असुरक्षा भाव वाले लोगों को पसन्द करते हैं (वाल्सटर एवं वाल्सटर, 1963)। इसी प्रकार एक अन्य अध्ययन से भी यह परिकल्पना सिद्ध हुई कि असुरक्षित व्यक्ति अपने जैसे (समान) ही व्यक्तियों से मित्रता करते हैं क्योंकि ऐसे ही (असुरक्षित) समान व्यक्तियों से वे धनात्मक मूल्यांकन की उम्मीद रखते हैं।

अन्य प्रकार की विशेषताएँ—अभिवृत्ति की समानता के अतिरिक्त आकर्षक व्यक्ति की शारीरिक विशेषतायें भी महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। कुछ अध्ययनों से प्रमाणित हुआ है कि व्यक्ति के शारीरिक गुण (रंग-रूप आदि) भी आकर्षण उत्पन्न करने में सहायक होते हैं (बरकोविट्ज, नोबुल एवं रांटमैन, 1971, तथा वाल्सटर, एरोन्सन एवं राटमैन, 1966)। व्यक्ति की शारीरिक बनावट लम्बाई, मोटाई, रंग रूप आदि भी आकर्षण का साधन हैं। शारीरिक विशेषताओं से व्यक्तित्व प्रभावशाली बनता है जिससे अनेक लोग उसकी ओर आकृष्ट होते हैं।

इसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक; व्यवहारिक तथा व्यवसायिक विशेषतायें भी अन्य व्यक्तियों को आकृष्ट करती हैं।

(iv) **पूरक आवश्यकताओं पर आधारित स्पष्टीकरण (Explanation based on complimentary needs)**—वस्तुतः आकर्षण का सबसे युविख्यात उपागम वह है जो दो व्यक्तियों में समानता के बजाय भिन्नताओं पर बल देता है। इसके पीछे कार्यरत विचार यह है कि दो व्यक्तियों में पूरक आवश्यकतायें आकर्षण उत्पन्न करती हैं (विन्च, 1958) उसके अनुसार व्यक्ति ऐसे अन्य व्यक्ति/व्यक्तियों की ओर आकर्षित होता है जिनकी क्षमतायें या विशेषतायें एक दूसरे की पूरक होती है। इसके पीछे मौलिक विचार यह है कि व्यक्तियों में निकटता उस स्थिति में आती है जब उनकी विशेषतायें या आवश्यकतायें एक दूसरे की पूरक होती हैं। जैसे एक व्यक्ति में प्रभुत्व का गुण है तथा अन्य में प्रभुत्व को स्वीकार करने का गुण है तो उनमें आकर्षण उत्पन्न हो सकता है क्योंकि उन दोनों की मित्रता से उनकी पारस्परिक आवश्यकताओं की तृप्ति संभव है। (विन्च 1958) ने अपने अध्ययनों द्वारा प्रमाणित किया है कि किसी विशिष्ट आवश्यकता मापनी पर उच्च अंक प्राप्त करने वाले भावी पति ऐसी महिलाओं से विवाह करते है जो उस आवश्यकता में निम्न अंक या पूरक आवश्यकता में उच्च अंक प्राप्त करती हैं। उदाहरण के लिए प्रभुत्व की विशेषता वाले व्यक्ति ऐसी महिला से विवाह करना चाहेंगे जिसमें विनम्रता की या प्रभुत्व स्वीकार करने की इच्छा होती है। यद्यपि इसके प्रमाण नहीं हैं कि पूरकता सुखद वैवाहिक जीवन की शर्त है (मेयर एवं पेप्पर, 1977, कैट्ज, ग्लूक्सबर्ग एवं क्राउस, 1960)।

अन्तर्क्रिया प्रक्रम पर आधारित स्पष्टीकरण (Explanation based on interaction process)।

इस दृष्टिकोण के अनुसार आकर्षण का आधार अन्तर्क्रिया है। दूसरे शब्दों में अन्तर्क्रिया यह निर्धारित करती है कि व्यक्ति किसकी ओर आकृष्ट होगा। उसी की ओर आकृष्ट होने की संभावना होगी जिसके साथ व्यक्ति अन्तर्क्रिया करेगा। इसके अन्तर्गत अनेक उपागम हैं, किन्तु सबसे प्रमुख आकर्षण का विनिमय सिद्धान्त है।

आकर्षण का विनिमय सिद्धान्त

(Exchange Theory of Attraction)

थीबाट एवं केली (1959), होमैन्स (1961), तथा ब्लाऊ (1964) ने विनिमय प्रक्रिया के आधार पर अन्तर्क्रिया तथा अन्तर्वैयक्तिक आकर्षण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यद्यपि इस सिद्धान्त में पुरस्कार तथा दण्ड जैसे पुनर्बलक संबोधों की चर्चा बार-बार आती है किन्तु यह अग्रिम सिद्धान्तों से दो बातों में भिन्न है।

(1) विनिमय सिद्धान्त व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर ध्यान देता है और अधिगम सिद्धान्त व्यक्ति को प्रमुख मानते हैं।

(2) विनिमय सिद्धान्त परम्परागत पुनर्बलन सिद्धान्तों की अपेक्षा संज्ञानात्मक तत्वों की भूमिका पर अधिक बल देता है। अधिगम सिद्धान्त पुरस्कार तथा दण्ड की व्याख्या पर अधिक ध्यान देते हैं जब कि विनिमय सिद्धान्त पुरस्कार तथा दण्ड के द्वारा व्याख्या में व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण को आधार मानते हैं और संज्ञानात्मक तत्वों की व्याख्या करते हैं।

विनिमय सिद्धान्त में अन्तर्व्यक्तिक आकर्षण की व्याख्या में चार मुख्य प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं :—

(i) पुरस्कार (Reward), (ii) लागत (Cost), (iii) परिणाम (Outcome), (iv) तुलनास्तर (Comparison level),

(i) **पुरस्कार** (Reward) :—यह एक अत्यन्त सुपरिचित प्रत्यय है। पुरस्कार वस्तु हैं जो अनुपालन के बाद लक्ष्य व्यक्ति को प्राप्त होती है। जिसे प्रभावित करना चाहते है उसे अनुपालन के उपलक्ष में या विनिमय में तो कुछ प्रदान करते है, वही पुरस्कार है। वह कभी कोई वस्तु होती है तो कभी प्रशंसा, अनुमोदन, सहमति या मात्र स्वीकृति होती है।

(ii) **लागत (Cost)**—लागत; एक व्यापक प्रत्यय है। किसी कार्य को करने में कष्ट, पीड़ा या दण्ड है जो क्रिया निष्पादन में झेलना पड़ता है। चिन्ता और थकान जिसका अनुभव किसी क्रिया में व्यक्ति को होता है, वह भी उस क्रिया की लागत है।

(iii) **परिणाम** (Outcome)—पुरस्कार में से लागत को घटाने से परिणाम प्राप्त होता है।

अतः परिणाम = पुरस्कार—लागत। परिणाम लाभ और हानि दोनों रूपों में हो सकता है। आपने एक स्कूटर तेरह हजार में खरीदा और पन्द्रह हजार में बेचा तो दो हजार का लाभ हुआ, यदि पन्द्रह में खरीदा और तेरह हजार में बेचा तो दो हजार की हानि हुई। किन्तु जितने में क्रय किया उतने में ही विक्रय किया तो परिणाम शून्य कहा जाएगा।

(iv) **तुलना स्तर (Comparison level)**—अंतक्रिया तथा आकर्षण के घटित होने के लिए परिणाम, प्रत्याशा के न्यूनतम मात्रा/स्तर के कुछ ऊपर होना चाहिये इसी को तुलना स्तर कहते हैं। तुलना स्तर के अन्तर्गत व्यक्ति यह निर्णय करता है कि अन्तर्क्रिया में कितना लाभ होगा। इसमें व्यक्ति के पूर्व अनुभव की भूमिका महत्वपूर्ण है। तुल्य सम्बन्धों (**Comparable relations**) में व्यक्ति के गत अनुभव के द्वारा तुलना स्तर प्रभावित होता है। तुलना स्तर में व्यक्तिगत भिन्नतायें पाई जाती हैं (अपशा, 1967)।

समानता, पारस्परिक आकर्षण और विनिमय सिद्धान्त (Similarity mutual attraction and exchange theory)—यह सिद्धांत भी इस बात को मानता है कि समानता, अन्तर्व्यक्तिक आकर्षण से सम्बद्ध है, लेकिन इसमें समानता का अभिप्राय, जाति धर्म, वर्ग, रंग रूप, संस्कृति, समाज, आयु आदि की समानता है। समानता में निहित पुरस्कार-मूल्य के कारण आकर्षण की मात्रा बढ़ती है। परिणाम या प्रतिफल कम होने के कारण लागत शून्य या बहुत न्यून होती है।

अन्य बातों के समान होने पर एक ही कक्षा में अध्ययन कर रहे या एक ही आयु वर्ग में होने पर अन्तर्क्रिया की सम्भावना अधिक होती है अन्तर्क्रिया का अवसर सम्बद्ध है आकर्षण से। इस प्रकार मित्रों की एक दूसरे के लिए समानता की उत्पत्ति इस कारण हो सकती है कि उनको अंतर्क्रिया के अधिक अवसर मिलते है, अतः उनमें मित्रता की सम्भावना भी अधिक होती है। इस प्रकार आकर्षण अन्तर्क्रिया के अवसर पर भी निर्भर करता है। दूसरे यह कि, पृष्ठभूमि विशेषताओं में समानता मूल्यों में समानता से सम्बद्ध है जो कि पुनर्बलक है क्योंकि समूह का प्रत्येक व्यक्ति कम लागत पर अन्य व्यक्ति को सहमति प्रदान करता है (ब्रैजासफील्ड तथा मेस्टान, 1954)।

योग्यता और व्यक्तित्व शीलगुणों की समानता अधिक जटिल तथ्य है, क्योंकि पुरस्कार तथा लागत अंशतः विशिष्ट योग्यता या शीलगुण पर निर्भर करते हैं। कुछ शीलगुणों या योग्यताओं के होने पर समान व्यक्तियों में आकर्षण इस पर निर्भर करता है कि इन गुणों के कारण वे ऐसी क्रियायें करते हैं जो उनके लिये पारस्परिक रूप से प्रबलनकारी होती है।

शारीरिक निकटता तथा अन्तर्क्रिया को प्रभावित करने वाले अन्य कारक पसन्द से क्यों सम्बद्ध होते हैं? यद्यपि इसकी व्याख्या व्यक्तियों की निजी विशेषताओं के द्वारा की जाती है किन्तु थीबाट तथा केली (1959) ने अनेक कारण बताए हैं—

(i) जो लोग एक दूसरे के निकट होते हैं वे कम लागत पर अन्तर्क्रिया कर सकते हैं, अतः वे ऐसे व्यवहारों को जान सकते हैं जो दोनों के पारस्परिक रूप से पुनर्बलक हों।

(ii) निकट रहने वाले प्रायः दूर रहने वालों की अपेक्षा अधिक समान होते है। मूल्यों में समानता एक दूसरे को सहमति प्रदान करती है।

(iii) जब दो व्यक्तियों में निरन्तर अन्तर्क्रिया होती है तो वे एक दूसरे के व्यवहार का भविष्य कथन करने में अधिक सक्षम होते हैं और भविष्य कथनीयता आकर्षण से सम्बद्ध है (कीसलर, 1966)।

(iv) होमैन्स, थीबाट एवं केली के अनुसार, शारीरिक रूप से निकट व्यक्तियों

में निरन्तर अन्तर्क्रिया, शारीरिक दूरी वालों के साथ अन्तर्क्रिया से कम लागत पर सम्पन्न होती है (समय और प्रभाव–दोनों दृष्टियों से) । अतः अन्य बातों के समान होने पर शारीरिक निकटता अधिक लाभप्रद होने के कारण अधिक पुनर्बलक होती है ।

(v) न्यूकोम्ब (1969) के अनुसार जब व्यक्ति अन्तर्क्रिया करते हैं या सम्प्रेषणात्मक व्यवहार (Communicative behaviour) करते हैं तो वे सूचनाओं का विनिमय करते हैं । यह (अपने आप में) उनमें समानता की मात्रा और आकर्षण में वृद्धि करती है ।

आकर्षण सिद्धान्त, मित्रता एवं प्रेम—विभिन्न प्रकार की समानताओं—भावना, अभिवृत्ति, विचार, आयु, व्यवहार, शिक्षा आदि के कारण अन्तर्क्रिया बढ़ती है और सम्बद्ध दो व्यक्तियों के लिये धीरे-धीरे आवश्यक बन जाता है तो उनमें मित्रता हो जाती है । यह आकर्षण की एक दशा है । जब मित्रता की प्रगाढ़ता बढ़ती है तो आकर्षण की मात्रा में और वृद्धि आती है और यह पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम का रूप ले लेता है । ऐसी दशा में भावनायें और तीव्र हो जाती हैं जब तुलनास्तर में भी समानता आ जाती है ।

समाजमितीय आकर्षण का मापन

(Sociometry : The measurement of Attraction)

समाजमितीय पद्धति का उपयोग सर्वप्रथम मोरेनो (1934) ने समूह संरचना के अध्ययन के लिये किया । इसके द्वारा समूह में आकर्षण का मापन, पसन्द—नापसन्द का मापन तथा अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं । मोरेनो कर्ट लेविन के क्षेत्र सिद्धान्त में आस्था रखते थे । इस विषय में हुये नाना प्रकार के अध्ययनों का संकलन समाजमिति विधि की शोध पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है । इस विधि द्वारा किसी भी समूह में पाये जाने वाले अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों का मात्रात्मक मापन कर सकते हैं । इसके अन्तर्गत समूह के प्रत्येक सदस्य से दिये गये कार्यों में भाग लेने के लिये वरीयता व्यक्त करने का निर्देश देते हैं । यह दिये गये कार्य इस तरह के हो सकते हैं—साथ पढ़ना, साथ एक कमरे में रहना, साथ खेलना, साथ पिकनिक पर जाना या साथ सिनेमा जाना आदि । सभी सदस्यों से पसन्द या नापसन्द व्यक्त करने को कहते हैं । इन सम्बन्धों को एक रेखाचित्र द्वारा दर्शाते हैं, जिसे समाज आलेख (Sociogram) कहते हैं ।

समाजमिति प्रदत्तों की व्याख्या—समाज आलेख प्रेक्षक को समूह संरचना तथा समूह के सदस्यों में आकर्षण की मात्रा का दुरुस्त ज्ञान कराता है । चूँकि यह चित्रात्मक रूप से प्रदर्शित किया जाता है अतः एक ही झलक में इससे समूह की

सामाजिक संरचना तथा सदस्यों के बीच आकर्षण और विकर्षण का पता लग जाता है। इसमें आकर्षण को सीधी रेखा द्वारा दर्शाते हैं और विकर्षण को टूटी हुई रेखा से इंगित करते हैं। तीरों से चयन की दिशा का ज्ञान होता है। समाज आलेख तैयार करने के लिए प्रत्येक सदस्य को एक गोले द्वारा दर्शाते हैं। वह जिसे पसन्द करता है, उसकी ओर (वृत्त) एक तीर खींचते हैं। पसन्द को तीरों के द्वारा प्रकट करते है, जिसकी दिशा पसन्द किए गये व्यक्ति के गोले की ओर होती है। जिस व्यक्ति के प्रति अधिक आकर्षण का आभास होता है, प्रायः उसके नाम का वृत्त केन्द्र उसके आस-पास बनाते हैं। यदि दो व्यक्तियों में आकर्षण पारस्परिक है तो उनके वृत्त निकट बनाए जाते हैं, जो एक दूसरे को पसन्द नहीं करते उनके वृत्त दूर-दूर रखते हैं। समूह में जिस व्यक्ति को सबसे अधिक पसन्द किया जाता (जिसकी ओर सर्वाधिक तीर के निशान होते हैं) वह उस समूह में सबसे आकर्षक होता है। ऐसे व्यक्ति को नायक (Star) या नेता कहते हैं। किसी-किसी समूह में एक से अधिक नायक भी हो सकते हैं। नायक में नेतृत्व के गुणों की संभावना अधिक होती है। नायक के बाद सबसे अधिक वरीयता प्राप्त करने वाले उप नायक कहे जाते हैं। जिस व्यक्ति को कोई भी सदस्य पसन्द नहीं करता उसे सामाजिक एकांकी (Social isolate) कहते हैं। जब दो व्यक्ति आपस में एक दूसरे को पसंद करते हैं या जब आकर्षण पारस्परिक होता है तो इसे पारस्परिक युग्म (Mutual pair) कहते हैं। जब समूह के तीन सदस्यों द्वारा आकर्षण की एक इकाई बनायी जाती है—जैसे A,B,C तीन सदस्यों में A, पसन्द करता है B को और B पसन्द करता है C को तो ऐसे सम्बन्ध को श्रृंखला (Chain) कहते हैं। समूह के कुछ सदस्य जिसमें पारस्परिक आकर्षण है, कभी-कभी बड़े समूह में उप समूह 'गिरोह' (Clique) बना लेते हैं और वे दलबंदी करते हैं।

जे० जी० जेंकिंस (1948) ने समाजमिति पद्धति के द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के समय नवसेना की टुकड़ियों में मनोबल (Morale) के मूल्यांकन में किया। जिस सैनिक का मनोबल ऊँचा होता है वे दल बन्दी नहीं करते और समूह के सदस्यों के प्रति ऋणात्मक भावना का प्रदर्शन कम करते हैं। उसके अध्ययन से यह भी ज्ञात हुआ कि कमांडिंग अफसर तथा अधिशासी अफसर समूह में सर्वाधिक लोक प्रिय थे। किन्तु दूसरी टुकड़ी का मनोबल न्यून था। अतः उसमें दो दल थे, जिनमें चार-चार अधिकारी शामिल थे। सदस्यों के प्रति धनात्मक भावना न्यून थी और अधिशासी अधिकारी के प्रति नापसन्द का भाव व्याप्त था।

सी० जोएन अर्ली (1968) ने कक्षा चार एवं पाँच के छात्रों में एकांकी (Isolate) छात्रों की पहचान की। समाजमिति पद्धति का उपयोग अन्य समाज मनोवैज्ञानिक शोधों में भी किया गया है—जैसे नेतृत्व की योग्यता, विध्वंसकारी

प्रवृत्तियों का पूर्वकथन, प्रभुता, आकांक्षा, राजनैतिक-उदारता-रूढ़िवादिता आदि का मापन। इसके अतिरिक्त अंतर्व्यक्तिक आकर्षण से सम्बद्ध व्यक्तित्व कारकों का मापन भी समाजमिति मापन से होता है। इससे समूह की संसक्तता (Cohesiveness) का भी ज्ञान होता है। समूह संसक्तता न्यून होने पर पारस्परिक आकर्षण, सहयोग की भावना, सामंजस्य तथा एक जुट होकर कार्य करने की प्रवृत्ति का अभाव होगा।

समाजमिति पद्धति की सुविधायें—समाजमिति पद्धति की निम्न सुविधायें हैं—

(i) इससे समूह की सामाजिक संरचना, पारस्परिक आकर्षण, विकर्षण तथा सदस्यों के आपसी सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त होता है।

(ii) इस पद्धति से समूह संसक्तता (Cohesiveness) का बोध होता है जो समूह संगठन का परिचायक है।

(iii) समूह में नेतृत्व, मनोबल आदि का परिचय प्राप्त होता है।

(iv) समूह में विघटनकारी तत्वों का बोध समूह के दलों (Cliques) के द्वारा होता है।

(v) किसी समूह में सम्प्रेषण मार्गों (Communication Channels) का पर्याप्त ज्ञान होता है।

समाजमिति पद्धति की असुविधायें—समाजमिति पद्धति में निम्न असुविधायें होती हैं—

(i) केवल इस विधि द्वारा प्राप्त पदत्तों पर विश्वास नहीं किया जाता, वरन इसका उपयोग प्रायः किसी अन्य विधि के साथ किया जाता है।

(ii) इस पद्धति का उपयोग बड़े समूहों पर संभव नहीं है। अतः केवल छोटे समूहों का अध्ययन ही इससे होता है।

(iii) इस पद्धति द्वारा प्राप्त प्रदत्त अधिक मात्रात्मक नहीं होते। अतः अनेक मनोवैज्ञानिक इसे क्रमिक एवं वैज्ञानिक पद्धति की मान्यता नहीं देते।

अध्याय 11

पूर्वाग्रह तथा विभेदन

(Prejudice and Discrimination)

अभिवृत्तियों से इसका संकेत मिलता है कि हम लोग, वस्तुओं और समस्याओं के विषय में कैसे विचार एवं भाव रखते हैं। किन्तु अभिवृत्ति प्रत्यय हमारे समाज की अति गम्भीर और व्यापक समस्याओं से भी सम्बद्ध है—पूर्वाग्रह, विभेदन और प्रजातिवाद आदि। दैनिक जीवन में ऐसे अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे प्रदर्शित होता है कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति व्यवहार व्यक्तियों के समूह की सामान्य अभिवृत्तियों द्वारा प्रभावित होते हैं। अभिवृत्ति तथा व्यवहार के संबन्धों का स्पष्ट उदाहरण पूर्वाग्रह तथा विभेदन के अध्ययन से होता है। आज संसार का कोई देश ऐसा नहीं है जिसमें पूर्वाग्रह, विभेदन आदि की समस्यायें न हों। आज संसार में व्याप्त सामाजिक बुराइयों में अनेक की उत्पत्ति पूर्वाग्रह के कारण हुई है। पूर्वाग्रह के कारण द्वन्द्व, सामाजिक तनाव, हिंसा, साम्प्रदायिक दंगे तथा वर्ग संघर्ष (Class struggle) आदि सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। आज आरक्षण विरोधी आन्दोलन, तथा बाबरी मसजिद/रामजन्मभूमि आदि समस्याओं ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को इतना प्रभावित कर रखा है कि उससे सभी भली प्रकार परीचित हैं। इन सबके पीछे पूर्वाग्रह कार्यरत है। भारत में अनेक जातियों, धर्मों तथा बीसों भाषाओं के बोलने वाले लोग रहते हैं। अतः पूर्वाग्रह एवं विभेदन जैसी ज्वलंत समस्याओं का महत्व भारतीय परिप्रेक्ष्य में और भी अधिक बढ़ गया है। पूर्वाग्रह के कारण व्यक्ति किसी समूह के सदस्य के लिये अनुकूल या अनानुकूल भाव एवं विचार विकसित करते हैं। जब हम किसी व्यक्ति के गुणों या लक्षणों को भली प्रकार जाने बिना मात्र उसकी समूह-सदस्यता के आधार पर उसके विषय में अभिवृत्ति या मत निर्मित/विकसित करते हैं तो इसे पूर्वाग्रह (Prejudice) कहा जाएगा। उच्च वर्ग वालों का शूद्रों को अछूत, गन्दा आदि कहना, हिन्दुओं का यह विचार कि मुसलमान गन्दे तथा मलेच्छ होते हैं, या मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं को काफिर (नास्तिक) कहना समाज मनोविज्ञान की दृष्टि से पूर्वाग्रहित विश्वास हैं। ऐसी भावनाएँ, विचार तथा विश्वास समाज में कई तरह की सामाजिक बुराइयों एवं समस्याओं को जन्म देते हैं और इनके परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मों, जातियों, वर्गों में द्वन्द्व, तनाव तथा सामाजिक भेदभाव उत्पन्न कर लोगों के व्यवहार और मन को दूषित करते हैं। (Prejudice) शब्द की उत्पत्ति "Prejudicium" शब्द से हुई है जिसका भावार्थ

है पूर्व निर्णय। इसमें यह तथ्य निहित है कि पूर्वाग्रह वह निर्णय है जो तथ्यों को जाने बिना किया जाता है; इसलिये पक्षपातपूर्ण होता है। यह निर्णय अपरिपक्व होता है क्योंकि बहुधा समय से पहले किया जाता है। पूर्वाग्रह व्यक्तियों के अतिरिक्त समूहों, समाजों, राष्ट्रों तथा दूसरी ओर विभिन्न वस्तुओं, आदर्शों और विचारों आदि के प्रति भी हो सकता है।

एस० एच० ब्रिट के अनुसार पूर्वाग्रह का अर्थ वास्तव में अपरिपक्व या पक्षपात युक्त मत है। ("The word prejudice actually means a premature or biassed opinion").

सीकोर्ड तथा बैकमन (1974) के कथनानुसार, पूर्वाग्रह एक ऐसी अभिवृत्ति है जो किसी व्यक्ति को किसी व्यक्ति, समूह के प्रति अनुकूल या अनानुकूल रीति से सोचने, प्रत्यक्षण, और अनुभूत करने या क्रिया करने के लिये पूर्ववृत्त (Predispose) करती हैं। (Prejudice is an attitude that predisposes a person to think, perceive, feel, and act in favourable or unfavonrable ways toward a group or its individual members).

कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों ने पूर्वाग्रह को परिभाषित करते हुये कहा है कि यह किसी अन्य समूह के लोगों के प्रति असहिष्णु, अनुचित या अनानुकूल अभिवृत्ति हैं। (Prejudice refers to an intolerant, unfair, or unfavourable attitude toward another group of people." Harding, Proshansky, Kunter and Chein, 1969).

राबर्ट ए० बैरन तथा डॉन बायर्नी (1988) के अनुसार पूर्वाग्रह, केवल सदस्यता के आधार पर किसी समूह के सदस्यों के प्रति एक अभिवृत्ति है जो प्रायः ऋणात्मक होती है। ("Prejudice is an attitude (usually negative) toward the members of some group based solely on their membership in that group. In other words, when we state that a given person is prejudiced against the members of some social group, we generally mean that she or he tends to evaluate its members in some characteristic manner (again, usually negatively) merely because they belong to that group. Their individual traits or behaviour plays little role, they are liked or disliked simply because they belong to a specific social group")

जब हम पूर्वाग्रह को एक विशेष प्रकार की अभिवृत्ति मानते हैं तो इसमें दो प्रमुख तथ्य निहित होते हैं। (1) अभिवृत्तियाँ बहुधा समाकृति (Schemata) के रूप में कार्य करती हैं अर्थात् अभिवृत्ति में संगठन के संज्ञानात्मक सांचे, व्याख्या तथा

सूचना के प्रत्याह्वान की क्रियायें निहित होती हैं (फिस्क तथा टेलर, 1984)। इसलिए, जब व्यक्ति किसी समूह के सदस्यों से पूर्वग्रहित होते हैं, तो वे सूचनाओं की ओर ध्यान देते हैं, स्मृति में भण्डारित करते हैं और उपयुक्त अवसर पर उसका प्रत्यास्मरण करते हैं (Bodenhausen and Wyes, 1985)। (II) अभिवृत्ति के रूप में पूर्वाग्रह के संबोधीकरण में इसमें भावनात्मक, संज्ञात्मक तथा व्यवहारात्मक पक्ष निहित है। भावात्मक पक्ष के कारण पूर्वग्रहित व्यक्ति किसी विशिष्ट समूह के सदस्यों की उपस्थिति में ऋणात्मक भावनाओं या संवेगों की अनुभूति करते हैं। कभी केवल उनके विषय में चिन्तन मात्र से भी ऋणात्मक भाव की उत्पत्ति होती है। इन समूहों के विषय में विश्वासों तथा प्रत्याशाओं से संज्ञानात्मक तत्वों का बोध होता है, अर्थात् अन्य समूह के सदस्यों के प्रति विश्वास तथा प्रत्याशाएँ संज्ञानात्मक तत्व की उपस्थिति की द्योतक हैं। व्यवहारात्मक पक्ष के कारण पूर्वाग्रह का शिकार समूह के प्रति ऋणात्मक रूप से पूर्वग्रहित व्यक्ति क्रियायें करते हैं या क्रिया करने का इरादा रखते हैं। जब इन प्रवृत्तियों या ऋणात्मक इरादों को क्रियान्वित करते हैं तो यह विभेदन या भेदबोध (Discrimination) का रूप ले लेता है। इस प्रकार पूर्वाग्रह में प्रात्यक्षिक, संज्ञानात्मक तथा भावनात्मक पक्ष निहित होते हैं और जब व्यक्ति इनके आधार पर अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार या क्रिया करने लगता है तो पूर्वाग्रह को विभेदन या भेदबोध (Discrimination) कहा जाता है।

विभेदन या भेद बोध
(Discrimination)

विलियम्स (1947) के अनुसार किसी विशिष्ट समूह के सदस्य समझे जाने वालों के प्रति असमता का वर्ताव करना विभेदन है। (Discrimination is the inequitable treatment of individuals considered to belong to a particular group) सिम्पसन इंगर (1965) के कथनानुसार, विभेदन, पूर्वाग्रह का प्रकट या व्यवहारिक प्रकाशन है, जिसमें केवल किसी समूह की सदस्यता के आधार पर किसी व्यक्ति के साथ भेद-भाव किया जाता है। (Discrimination is ordinarily the overt or behavioural expression of prejudice, it is the categorical treatment of a person because of his membership in a particular group. Simpson & Yinger) सिम्पसन इंगर ने यह भी देखा कि बिना पूर्वाग्रह की भावना के भी विभेदन कर सकते हैं—जैसे कोई व्यापारी अल्पसंख्यक वर्ग के किसी सदस्य का नाम अपने संरक्षकों की सूची में व्यापार को क्षति पहुंचने के भय से नहीं रखना चाहता।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अभिवृत्तियाँ सर्वदा व्यवहार द्वारा अभिव्यक्त नहीं होती। बहुधा व्यक्ति के विचार और उसकी क्रिया या वास्तविक व्यवहार

में अन्तर होता है। पूर्वाग्रह के साथ भी ऐसा कुछ होता है। अनेक बार पूर्वाग्रहित व्यक्ति बहुत से समूहों के सदस्यों के प्रति ऋणात्मक अभिवृत्तियाँ रखते हुए उन्हें प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करने में असमर्थ होते हैं। कानून, सामाजिक दबाव, या बदला लिये जाने के भय से उन्हें खुलकर ऋणात्मक अभिवृत्तियों के प्रकाशन से रोकते हैं। कभी-कभी ऐसे अवरोध अनुपस्थित भी होते हैं। तब ऋणात्मक भावनाएँ विश्वास तथा व्यवहार प्रवृत्तियाँ बाह्य क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। ऐसे विभेदक व्यवहार कई रूप लेते हैं। सबसे हल्के स्तर पर ऐसे व्यवहार के कारण नापसन्द व्यक्तियों का परिहार किया जाता है। तीव्र स्तर पर इसके कारण नौकरियों से नापसन्द व्यक्तियों को बाहर रखने, शिक्षा का अवसर न देने और पड़ोस में न रखने जैसी क्रियायें व्यक्त होती हैं और सबसे सीमान्तिक रूप विवेदन के द्वारा इसका प्रकाशन होता है, जिसमें लक्ष्य समूह का नुकसान होता है। इस प्रकार विभेदन क्रिया रूप में पूर्वाग्रह है। (Discrimination is prejudice in action)

विभेदन के रूप—कट्टर लोग लक्ष्य व्यक्तियों का अहित बिना किसी लागत के करने का प्रयास करते हैं। वे कैसे यह उद्देश्य प्राप्त करते हैं? एक उपाय सूक्ष्म विभेदन (Subtle form of discrimination) के उपयोग द्वारा सम्भव होता है—क्योंकि यह उनके ऋणात्मक विचारों को छिपाने में सहायक होते हैं। यहाँ हम उनमें से तीन की चर्चा करेंगे—(i) जरूरत मन्दों की सहायता रोकना, (ii) विभिन्न प्रकार के प्रतीकवाद/टोकेनवाद (Tokenism). (iii) विपर्यस्त विभेदन (Reverse discrimination).

(i) सहायता में आनाकानी (Reluctance to help)—इसमें पहले व्यपदेश में पूर्वग्रहित व्यक्ति जरूरत मन्दों को जिन्हें नापसन्द करता है सहायता देने में आनाकानी करता है। किन्तु स्पष्ट यह नहीं कहते कि वे अमुक समूह के प्रति पूर्वग्रहित होने के कारण सहायता नहीं करेंगे वरन् इसके लिए कोई उचित बहाना ढूँढ़ते हैं, विशेषकर उन परिस्थितियों में जब अन्य व्यक्ति भी उपस्थित होते हैं। (Gaertner & Dovidio, 1977) । इसके कारण सरल हैं : जब अन्य मदद करने वाले मौजूद होते हैं तो पूर्वाग्रहित व्यक्ति अपनी विफलता का गुणारोपण इस विश्वास के द्वारा करते हैं कि यह अन्य व्यक्ति आवश्यक कार्यवाही करेंगे।

(ii) टोकेनवाद (Tokenism)—सूक्ष्म विभेदन का दूसरा रूप वह है जिसमें विभेदन में टोकेनवाद निहित होता है। पूर्वाग्रहित व्यक्ति नापसन्द समूह के सदस्यों के लिये छोटे-मोटे धनात्मक कार्य अपने सद्भाव के प्रदर्शन हेतु करते हैं। वे इसका उपयोग अपने आगे आने वाले भेदभाव के लिए करते हैं। चैंको (1982) ने अपने अध्ययनों द्वारा प्रमाणित किया कि टोकेनवाद का प्रभाव प्रायः नकारात्मक होता है।

(iii) **विपर्य्यस्त विभेदन** (Reverse Discrimination)—इस प्रकार के सूक्ष्म विभेदन में यह कहावत लागू होती है, 'एक हाथ से देना दूसरे हाथ से लेना। अनेक पूर्वग्रहित लोग पूर्वाग्रह के पात्रों को अनावश्यक लाभ पहुँचाते हैं जो भविष्य में अपने आप उनके लिए घातक हो जाते हैं, क्योंकि अनावश्यक लाभ से आशायें बढ़ जाती हैं जो भविष्य में पूरी नहीं होती। इस प्रकार अवास्तविक प्रत्याशायें व्यक्ति के लिये घातक सिद्ध होती हैं।

पूर्वाग्रह की उत्पत्ति एवं प्रकार्य

(Origins of Prejudice)

पूर्वग्रह अर्जित किये जाते हैं। हम सभी सामाजिक समूहों के प्रति अभिवृत्तियाँ अपने समाज से अर्जित करते हैं। यह समाजीकरण द्वारा होता है। अनेक अभिवृत्तियाँ दूसरों के सम्पर्क से सीखी जाती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा माता-पिता, भाई बहनों, परिवार जनों तथा अधिकार चिह्नों जैसे अध्यापकों, नातेदारों; टी० वी० रेडियो, समाचारपत्रों, तथा वय समूहों से अपने तथा अन्य समूहों के अस्तित्व और स्वभाव के विषय में अनेक अभिवृत्तियाँ अर्जित करते हैं। अधिकांश सूचनायें समूहों के बीच सम्बन्धों पर आधारित होती हैं। अन्तर्समूह सम्बन्धों का दीर्घ कालिक इतिहास हो सकता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक भूमिकायें जो समूह निभाते हैं; उनकी नागरिक या ग्रामीण उत्पत्ति, तथा समूहों की सामाजिक वर्ग सबस्यता प्रमुख हैं।

(1) **ऐतिहासिक अन्तर्समूह सम्बन्ध**—अन्तर्समूह सम्बन्धों का इतिहास बहुत पुराना है। अमेरिका काले गोरों के बीच पूर्वाग्रह शताब्दियों से चले आ रहे अन्तर्समूह सम्बन्धों के कारण है। आलपोर्ट के अनुसार कालों के विरुद्ध पूर्वाग्रह की जड़ें अमेरिका की प्राचीन दास प्रथा में मिलती हैं। मालिक दासों के साथ अमानवीय व्यवहार करते थे। उनसे कष्ट, उत्पीड़न एवं दबाव में अत्यधिक कार्य लिया जाता था, और बदले में न्यूनतम मजदूरी मुश्किल से मिलती थी। उन्हें शिक्षा के अवसरों से वंचित रखा जाता था। भारत में दास प्रथा तो न थी किन्तु हरिजनों, तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों के प्रति कुछ दासों का सा बर्ताव किया जाता था। हरिजनों को कुएं से पानी लेने की अनुमति न होना, उनकी आबादी गाँव या नगर के बाहर की ओर होना, उनके प्रति छुआ-छूत आदि अभिशाप पूर्वाग्रह के ही लक्षण थे। उनके साथ ऐसा बर्ताव प्राचीन काल से होता आ रहा था। देश की स्वतन्त्रता के बाद उनकी दशा में सुधार शुरू हुआ और उनके प्रति पूर्वाग्रह में कमी आने लगी। इस प्रकार अन्तर्समूह सम्बन्धों का दीर्घ कालीक इतिहास हो सकता है।

2. **सामाजिक वर्गीकरण** (Social categorization)—प्रायः व्यक्ति अपने सामाजिक जगत का वर्गीकरण दो पृथक वर्गों में करते हैं। "हम" और 'वे'।

संक्षेप में वे किसी व्यक्ति को अन्तः समूह (Ingroup) या बाह्य समूह (Outgroup) का सदस्य मानते हैं। इस प्रकार की भिन्नता करने में बहुधा लोग विशेष दक्षता रखते हैं। व्यक्तियों के वर्गीकरण के कारण ही अन्तः समूह तथा बाह्य समूह का पक्षपात उत्पन्न होता है। अन्तः समूह के प्रति अच्छी भावनाएँ, अभिवृत्तियाँ तथा विचार और बाह्य-समूह के साथ अनानुकूल अभिवृत्तियाँ, बुरी भावनाएँ तथा नकारात्मक विचार सम्बद्ध कर लिये जाते हैं और उनमें नाना प्रकार अवांछित शीलगुण आरोपित किये जाते हैं। अतः उनके प्रति नापसन्द की भावना बिल्कुल स्वाभाविक है। (हेमस्टोन एवं जैस्पर्स, 1982) सामाजिक जगत को दो विरोधी वर्गों में विभाजित करने की प्रबल प्रवृत्तियों के प्रमाण अनेक शोधों से प्राप्त हुये हैं (लाकस्ले, ओरटिज, तथा हेपबर्न, 1980, ताजफेल तथा टर्नर, 1979)। इन सभी अध्ययनों में प्रयोज्यों ने सामान्य रूप से बाह्य समूहों के प्रति अधिक ऋणात्मक अभिवृत्तियाँ प्रकट की तथा अन्तः समूह के सदस्यों की अपेक्षा इनके प्रति अधिक अनानुकूल बर्ताव किया।

प्रश्न यह है कि व्यक्ति अन्तः समूह तथा बाह्य-समूह का विभाजन क्यों करते हैं? ताजफेल तथा सहयोगी (1982 a) के अनुसार विशिष्ट सामाजिक समूह के साथ तादात्मीकरण के द्वारा वे अपने आत्मसम्मान (Self esteem) में वृद्धि करते हैं। वे इस प्रक्रिया को सामाजिक-स्पर्द्धा (Social competition) कहते हैं। एक आधुनिक अध्ययन (Meindl and Werner, 1985) के तर्कानुसार असफलता की अनुभूति के कारण आत्मादर या आत्मसम्मान की आवश्यकता तीव्र होती है। उन्होंने यह भविष्य कथन भी किया कि विशेष रूप से तत्काल अनुभूति असफलता के कारण बाह्य समूह के सदस्यों का और भी अनानुकूल मूल्यांकन होता है। इन सभी परिणामों से इस विचार को समर्थन मिलता है कि सामाजिक जगत को दो भागों—अन्तः समूह (हम) तथा बाह्यसमूह (वे) में विभक्त करने की प्रवृत्ति-बहुधा प्रजातीय (Racial), जातीय (Ethnic) तथा धार्मिक पूर्वग्रह की उत्पत्ति और विकास में प्रमुख भूमिका निभाती है।

3. **आर्थिक भूमिकायें**—पूर्वग्रह की उत्पत्ति के कुछ उपागम आर्थिक भूमिकाओं पर बल देते हैं। कार्लमार्क्स के अनुयायियों के अनुसार पूर्वग्रह शासकों द्वारा श्रमिक वर्ग के शोषण का एक रूप है। जैसा कि (Cox 1948) का कथन है, "Race prejudice is a social attitude propagated among the public by an exploiting class for the purpose of stigmatizing some group as inferior so that the exploitation of either group itself or its resources may both be justified."

अमेरिकी गृह युद्ध के पूर्व काले दासों का शोषण आर्थिक भूमिकाओं के कारण

था। भारत में हरिजनों, मेहतरों आदि के प्रति पूर्वाग्रह की उत्पत्ति भी आर्थिक भूमिकाओं के कारण ही हुई। श्रमिक वर्ग विशेषकर न्यून स्तर के श्रम करने वालों को उनकी आर्थिक भूमिका के कारण निम्न समझा जाने लगा। भारत में सम्प्रत में अन्य पिछड़े वर्गों को मण्डल कमीशन की सिफारिशों के अनुसार आर्थिक सुरक्षा प्रदान किए जाने पर आन्दोलन तथा आत्मदाह जैसी घटनायें भी आर्थिक भूमिकाओं में परिवर्तन की आशंका का प्रतीक हैं। इस कारण उत्पन्न स्थिति ने वर्ग संघर्ष का रूप ले लिया है।

पूर्वाग्रह तथा विभेदन : सैद्धान्तिक उपागम

(Prejudice and Discrimination : Theoretical Approaches)

पूर्वाग्रह तथा विभेदन के कारणों को स्पष्ट करने के लिए अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। गार्डन आल्पोर्ट ने अपनी पुस्तक "The Nature of Prejudice" (1959) में विभिन्न कारकों/उपागमों की चर्चा की है। इसमें प्रमुख उपागम निम्न हैं।

1. सामाजिक-सांस्कृतिक उपागम (Sociocultural approach)– समाजशास्त्री तथा मानवशास्त्री इस उपागम के द्वारा पूर्वाग्रह तथा विभेदन को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। वे इन कारकों को पूर्वाग्रह का निर्धारक मानते हैं। इनमें निम्न प्रमुख हैं–

(i) नगरीकरण, (Urbanization), मशीनीकरण (Mechanization) और सामाजिक जटिलताओं में वृद्धि,

(ii) कुछ समूहों की ऊपर की ओर गतिशीलता, (Upward mobility of certain groups);

(iii) दक्षता एवं प्रशिक्षण पर अधिक बल तथा नौकरियों के अभाव में स्पर्द्धा में वृद्धि;

(iv) बढ़ती हुई जनसंख्या,उपयोगी भूमि का अभाव तथा आवासीय कठिनाइयाँ;

(v) अनेक व्यक्तियों द्वारा आन्तरिक मापों के विकास में अयोग्यता, दूसरों पर भरोसा तथा समरूप व्यवहार में वृद्धि;

(vi) परिवार की भूमिका और प्रकार्यों में परिवर्तन तथा इसमें सम्बद्ध नैतिकता के मापदण्डों में परिवर्तन।

1970 के बाद इंग्लैण्ड के श्रमिक वर्ग द्वारा प्रजातिवाद का बाह्य प्रकाशन, बड़ी संख्या में पाकिस्तानी, भारतीय, व वेस्टइण्डियन्स के आगमन के कारण रोजगार को उत्पन्न खतरे के कारण हुआ जो इसी सामाजिक-सांस्कृतिक कारक के एक रूप था (Esman, 1970)।

नगरीकरण में वृद्धि भी जातीय समूहों के विरुद्ध पूर्वाग्रह का एक कारण है। बाडसन (1947) ने अमेरिका में यहूदियों के विरुद्ध न्यूयार्क नगर के क्षेत्रों में व्याप्त पूर्वाग्रह में नगरीकरण को मुख्य कारक पाया। अर्नाल्ड रोज (1948) नामक समाजशास्त्री ने यहूदियों के विरुद्ध अमेरिका में व्याप्त पूर्वाग्रह को भी इसी कारण बताया। उनके अनुसार यहूदियों के विरुद्ध पूर्वाग्रह इसलिए पाया गया क्योंकि वे नगर जीवन के प्रतीक हैं।

सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से नगरीकृत अल्पसंख्यक-समूहों के प्रति पूर्वाग्रह की व्याख्या तो होती है किन्तु इसके द्वारा अनेक समूहों के प्रति प्रचलित पूर्वाग्रह की सफल व्याख्या संभव नहीं है। भारत में हिन्दुओं में मुसलमानों या मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति पूर्वाग्रह की व्याख्या संभव नहीं हैं। भारत के इन दो प्रमुख वर्गों की सामाजिक दशा या सांस्कृतिक धरोहर एक है और इस आधार पर उनमें कोई विषमता नहीं देखी जाती।

कुछ समूहों की ऊपर की ओर गतिशीलता (upward mobility) भी पूर्वाग्रह और विभेदन को जन्म देती है। जब कोई पिछड़ा समूह प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ने लगता है तो तरह-तरह के पूर्वाग्रह उसके विरुद्ध विकसित होने लगते हैं। हरिजनों को आरक्षण से जो प्रगति का अवसर मिला उसे देखकर पिछड़े वर्ग के लिए वर्तमान में मण्डल कमीशन की रिपोर्ट के लागू किये जाने की घोषणा पर युवकों का भावनात्मक आक्रोश और भी तीव्र हो गया है।

इसी प्रकार स्वतन्त्रता के बाद विज्ञान तकनीकि की प्रगति से नौकरी के लिए विशेष कुशलता एवं दक्षता आवश्यक हो गई है साथ में नौकरी/रोजगार के अभाव में बढ़ती हुई बेकारी और बेरोजगारी ने स्पर्द्धा में वृद्धि करती है।

भारतीय परिस्थितियों में भी यह कारक कार्यरत प्रतीत होता है। द्रुतगामी विकास एवं तकनीकी प्रगति ने प्रशिक्षण के महत्व को बढ़ा दिया है। इस प्रवृत्ति के कारण तथा कम्प्यूटर के बढ़ते हुए उपयोग ने प्रशिक्षण के महत्व को बढ़ा दिया है। नौकरियों के अभाव में युवक युवतियों में स्पर्द्धा में वृद्धि का ज्वलंत उदाहरण वर्तमान आरक्षण विरोधी एवं आरक्षण समर्थक आन्दोलन हैं। इस विषय में भारतीय परिस्थितियों में अध्ययनों का अभाव है।

जनसंख्या में वृद्धि होती जा रही है, जिससे अनेक समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं। एक ओर कृषि योग्य भूमि की कमी है तो दूसरी ओर आवास की समस्या जटिल होती जा रही है। इन बढ़ती हुई समस्याओं के कारण भी नाना प्रकार के पूर्वाग्रह विकसित हो रहे हैं।

समाज की प्रगति के कारण जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ रही हैं और जन जीवन अधिकांश जटिल होता जा रहा है। समाज की बढ़ती हुई जटिलताओं के कारण

अनेक व्यक्ति आन्तरिक मापदण्डों के विकास में असक्षम होने के कारण पूर्वाग्रह के सामाजिक मानकों के प्रति समरूपता में वृद्धि करते जा रहे हैं। पूर्वाग्रह समूह द्वारा समर्थन के कारण समाज फैल रहा है क्योंकि बाह्य समूह के प्रति हर समाज में अनेक पूर्वाग्रह एवं विभेदन मानक का रूप धारित करते जा रहे हैं। समूह सदस्यों से अन्य मानकों की भाँति पूर्वाग्रह मानक के प्रति समरूपता की प्रत्याशा करता है। अतः अनेक लोग पूर्वाग्रह मानक के प्रति समरूपता व्यक्त करते जा रहे हैं (वर्क तथा पेट्टीग्रियु, 1958)। पेट्टीग्रियु (1958) ने प्रमाणित किया है कि समूह का समर्थन करने की प्रवृत्ति जिन व्यक्तियों में अधिक होती है वे अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक पूर्वाग्रहित होते हैं।

पूर्वाग्रह की उत्पत्ति में परिवार की भूमिका तथा इसके कार्यों में परिवर्तन आते जा रहे हैं। इससे सम्बद्ध नैतिकता के मापदण्डों में बदलाव की प्रवृत्ति बढ़ रही है जो पूर्वाग्रह तथा विभेदन के विकास में सहायक होती है। सामाजिक परिवर्तनों के कारण परिवार की भूमिका और प्रकार्यों में परिवर्तन आ रहे हैं। इस परिवर्तन के कारण माता-पिता एवं परिवार के लोगों का अधिक समय कार्य में व्यतीत होने के कारण बच्चों के पालन-पोषण में पहले की अपेक्षा कम समय देते हैं। अतः बच्चों की देख-रेख और पालन-पोषण की उपेक्षा होने से यह समस्या और गंभीर होती जा रही है। धनोपार्जन की बढ़ती हुई चिन्ता के कारण नैतिक पतन हो रहा है जो पूर्वाग्रह को प्रोत्साहन देता है।

2. परिस्थितिजन्य दृष्टिकोण (Situational emphasis)—पूर्वाग्रह के अनेक कारक व्यक्तिगत स्तर पर कार्य करते हैं। प्रश्न यह उठता है कि कुछ लोग पूर्वाग्रहित होते हैं किन्तु कुछ अन्य क्यों नहीं होते ? सामाजिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्या वातावरण में विद्यमान वर्तमान शक्तियों को पूर्वाग्रह का मूल कारण मानती है। समरूपता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति इनमें एक मुख्य कारक है जिसकी चर्चा हम कुछ समय पूर्व कर चुके हैं।

प्रजातीय या राष्ट्रीय समूहों के प्रति प्रचलित रूढ़ियुक्तियों में समय के साथ परिवर्तन एक प्रमुख परिस्थिति जन्य कारक है। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में अमेरिकी सरकार अपने नागरिकों में ऐसा प्रचार किया जिससे जापानियों एवं जर्मनों के विषय में ऋणात्मक रूढ़ियुक्तियाँ तथा रूस समेत अन्य सन्धिबद्ध राष्ट्र-निवासियों के प्रति धनात्मक रूढ़ियुक्तियाँ विकसित हुईं। युद्ध के आरंभिक चरण में अधिकांश अमेरिकी नागरिकों ने रूसियों को कठिन-परिश्रमी तथा वीर कहा। 1948 में जब दोनों महान शक्तियों में द्वन्द्व उत्पन्न हो गया, तो रूढ़ियुक्तियाँ काफी परिवर्तित हो गईं। परिश्रमी का विशेषण तो बरकरार रहा किन्तु 1948 में अधिक अमेरिकी अब रूसियों के लिए निर्दयी (Cruel) का विशेषण प्रयुक्त करने लगे।

मित्रता द्वन्द्व में बदली तो रूसियों के गुणारोपण में भी परिवर्तन आये और जब रूस एक विरोधी देश बन गया तो परिस्थिति के परिवर्तन से रूसियों के स्वभाव के विवरण या रूसियों के प्रत्यक्षीकरण में परिवर्तन अभिव्यक्त हुए। इसी प्रकार चीनियों के विषय में अमेरिकी नागरिकों में अनानुकूल भावों में दोनों देशों के सम्बंधों में सुधार के फलस्वरूप काफी अनुकूल अभिवृत्तियाँ विकसित हुई हैं।

भारत-चीन युद्ध के पूर्व भारतीयों में चीनियों के प्रति अनुकूल रूढ़ियुक्तियाँ विद्यमान थीं, किन्तु 1962 के युद्ध के बाद चीनियों के प्रति भारतीयों की रूढ़ि-युक्तियाँ अधिक ऋणात्मक हो गई। इस प्रकार के तथ्यों पर पटना विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों द्वारा प्रकाश डाला था। इस प्रकार परिस्थिति जन्य कारण भी पूर्वाग्रह को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

3. **मनोगतिक दृष्टिकोण** (Psychodynamic approach)–परिस्थिति-जन्य दृष्टिकोण के विपरीत पूर्वाग्रह का एक अन्य उपागम इसे पूर्वाग्रहित व्यक्ति के द्वन्द्वों तथा कुसमायोजन का परिणाम मानता है। इस सन्दर्भ में जिन सिद्धान्तों की चर्चा की जाएगी वे आवश्यक रूप में मनोवैज्ञानिक हैं, जबकि इसके पूर्व चर्चित सिद्धान्त आर्थिक, ऐतिहासिक या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों पर आधारित थे। मनोगतिक सिद्धान्तों के अनुसार पूर्वाग्रह तथा विभेदन को बदलने के लिये पूर्वाग्रहित व्यक्ति पर ध्यान को केन्द्रित करना होगा। Deaux तथा Wrightsman (1984) के अनुसार "According to these theories if you want to alter prejudice and discrimination, you must focus directly on the prejudiced person" इसका अभिप्राय यह है कि पूर्व चर्चित उपागमों की भाँति यह सिद्धान्त, इतिहास, समाज, समूह, संस्कृति और अर्थव्यवस्था में पूर्वाग्रह के कारणों को तलाश न करके पूर्वाग्रहित व्यक्ति में पूर्वाग्रह के कारणों को निहित मानते हैं तथा इनके अनुसार पूर्वाग्रह की उत्पत्ति व्यक्ति की निराशाओं, कुण्ठाओं, अन्तर्द्वन्द्वों तथा समायोजन के दोषों के कारण होती है। व्यक्ति को अपनी न्यूनताओं के कारण उसका यथार्थ का प्रत्यक्षीकरण दोषयुक्त हो जाता है और व्यक्ति रंगीन चश्मे से देखने लगता है।

इनमें से एक सिद्धान्त की मान्यता यह है कि पूर्वाग्रह की जड़ें मानव की दशाओं में निहित होती हैं, क्योंकि निराशा या कुण्ठा मानव जीवन में अवश्य-म्भावी हैं। कुण्ठा और वंचितता (Frustration and deprivation) मूलरूप में मनोवैज्ञानिक होती हैं। कुण्ठा और वचन से व्यक्ति में शत्रुतापूर्ण आवेग (hostile impulses) उत्पन्न होती हैं, जो यदि नियन्त्रित नहीं की जाती तो जातीय अल्पसंख्यकों की ओर उन्मुख एवं निर्दिष्ट हो जाती हैं। (Frustration and deprivation lead to hostile impulses, which if not controlled are likely to discharge against ethnic minorities" Allport, 1951)

(i) **शत्रुता का विस्थापन** (Scapegoating)—इसके अनुसार कुण्ठा का मूल साधन आक्रमण के लिये जब उपलब्ध नहीं होता या जब उस पर आक्रमण संभव नहीं होता तो पूर्वग्रहित व्यक्ति की शत्रुता एवं क्रोध कम शक्तिशाली समूहों के प्रति विस्थापित होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त इस अभिग्रह पर आधारित है कि व्यक्ति अपनी समस्याओं का कारण अन्य व्यक्ति या समूह को मानता है। उच्च संस्थिति (Higher status) समूह के सदस्य कम शक्तिशाली समूह को अपनी किसी विशिष्ठ समस्या का कारण मानकर उनके प्रति पूर्वग्रहित निर्णय करते हैं और इस प्रकार कमजोर समूहों को बलिदान का बकरा (Scapegoat) या अपने क्रोध का भाजन बनाते हैं। भारतीय परिस्थिति में विद्यमान पूर्वाग्रह में शत्रुता विस्थापन सिद्धान्त की भूमिका प्रमुख होने का अनुमान किया जा सकता है। अध्ययनों का अभाव होने के कारण स्पष्ट रूप में इस पर प्रभाव डालना सम्भव नहीं है। इस शत्रुता विस्थापन का उपयोग पूर्वग्रहित व्यक्ति एक प्रकार का प्रतिरक्षक प्रयास करता है जिसमें वह अपनी समस्याओं के लिये अपने आप को दोषी न ठहरा कर यह आरोप अन्य व्यक्ति या समूह पर थोपता है। यह क्रिया जितनी अधिक होगी वह उतना ही पूर्वग्रहित होगा। प्रायः निम्न वर्गों के अस्तित्व की कुण्ठा से व्युत्पन्न शत्रुता जातीय तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति विस्थापित हो जाती है।

कुण्ठा या विस्थापन सिद्धान्तों के मूल्यांकन के विषय में फेशबैच तथा सिंगर (1957) ने उभयनिष्ठ खतरे (Shared threat) तथा निजी खतरे (Personal threat) में भेद किया। उभयनिष्ठ खतरे जैसे यह संभावना कि समुद्री तूफान आ सकता है, या भूकम्प का पूर्वकथन होने पर जो लोग प्रभावित हो सकते हैं इस सामान्य खतरे के भय से अपने भेद भुलकार एक होकर उस संभावित खतरे का मुकाबला करने को तैयार हो जाते हैं। इससे अन्तसंमूह पूर्वाग्रह में फेशबैच ने कमी के प्रमाण प्राप्त किये! किन्तु निजी भय जैसे नौकरी छूटने का भय पूर्वाग्रह को बढ़ाता है, जो कि कुण्ठा सिद्धान्त के अभिग्रह के अनुरूप है।

(ii) **व्यक्तित्व दोष या दुर्बल चरित्र संरचना**—यह उपागम व्यक्तित्व दोष या दुर्बल चरित्र को पूर्वाग्रह का कारण मानता है। इसके अनुसार पूर्वाग्रह केवल उन्हीं व्यक्तियों में विकसित होता है जिनके व्यक्तित्व या चरित्र दोषयुक्त या दुर्बल होते हैं। यह उपागम पूर्वाग्रह को सामान्य नहीं मानता, वरन् इसके अनुसार पूर्वाग्रह स्नायुविकृत व्यक्तियों की तीव्र चिन्ताओं और असुरक्षा भावना के कारण उत्पन्न होता है। यह विस्थापन या बलिदान के बकरे वाले दृष्टिकोण का एक अन्य रूप है जिसमें आज्ञावादी या प्रभुत्ववादी (Authoritarian) व्यक्तित्व में विस्थापन की क्रिया घटित होती है। एक पुस्तक "The Authoritarian Personality"

(1950) समाज-मनोविज्ञान के इतिहास में मील के पत्थर के समान है। टी० डब्ल्यु० अडोरनों तथा फैंक्लि ब्रन्सरिक द्वारा रचित यह पुस्तक चालीस वर्ष पुरानी होते हुये अब भी बड़ी सार्थक है (चेरी तथा वार्ग्नी, 1977) । ऋणात्मक अभिवृत्तियों तथा यहूदी लोगों के प्रति व्यवहार द्वारा अभिव्यक्त पूर्वाग्रह तथा विभेदन के कारणों पर इस पुस्तक में विशेष ध्यान दिया गया है। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आप्तवादी व्यक्तित्व का अन्वेषण किया था (अडोर्नो, ब्रून्सविक, लेविन्सन, तथा सैनफोर्ड 1950)। उनके अनुसार आप्तवादी व्यक्तित्व वाले लोग विशेष रूप में सशक्त आप्त व्यक्ति (Powerful authority figure) के दबाव में आ जाते हैं। इनके कुछ प्रमुख शीलगुण जैसे परम्परागत मूल्यों में आस्था, अस्पष्टता के प्रति निम्न सहनशक्ति, प्रभुता-बिनम्रता में तल्लीनता, तथा अन्य व्यक्तियों में बुरे भाव एवं प्रेरकों का गुणारोपण आदि पाये जाते हैं (सैनफोर्ड, 1971)। यहूदियों के विरुद्ध जर्मनी में व्याप्त पूर्वाग्रह का मूल कारण वे आप्तवादी व्यक्तित्व को मानते हैं।

हैरिस, गफ तथा माटिन (1950) ने अपने अध्ययनों द्वारा शिशुपोषण विधियों (Child rearing practices) तथा आप्तवादी व्यक्तित्व में सम्बन्ध प्राप्त किया जिसमें माता-पिता आज्ञापालन पर बल देते हैं तथा अपने बच्चों में भय उत्पन्न करते हैं। इन शिशुपोषण विधियों द्वारा उत्पन्न कुण्ठा एवं शत्रुता को बच्चे दण्ड के भय से माता-पिता की ओर निर्दिष्ट नहीं कर पाते अतः अन्य व्यक्ति या समूह के प्रति विस्थापित कर देते हैं और उनके प्रति पूर्वग्रहित हो जाते हैं। इस विस्थापित पूर्वाग्रह के पात्र बहुधा समाज के दलित वर्ग होते हैं जो आक्रामकता का बदला लेने की स्थिति में नहीं होते।

कैलिफोर्निया के मनोवैज्ञानिक इसे स्वजातिवाद (Ethnocentrism) कहना पसन्द किया। वे पूर्वाग्रह शब्द के अनुप्रयोग पर स्वजातिवाद के अनुप्रयोग को वरीयता देते हैं क्योंकि यह मन के सापेक्षित संगत साँचे (Relatively consistent frame of mind) की ओर इंगित करता है। स्वजातिवादी व्यक्ति हर उस वस्तु को नापसंद करता है जो भिन्न है, अर्थात् वे सभी बाह्य समूहों का तिरस्कार करते हैं। ऐसे व्यक्ति विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करते हैं (डे तथा ह्वाइट; 1973)। इससे प्रदर्शित है कि पूर्वाग्रह स्वजातिवादी व्यक्ति की कुछ विशेषताओं के कारण उत्पन्न होता है, न कि किसी विशिष्ट अल्पसंख्यक समूह के गुणों के कारण ! अडोर्नो तथा सहयोगियों ने पूर्वाग्रह के मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए कहा कि आप्तवादी व्यक्तित्व (Authoritarian personality), का विकास कठोर पराक्रम (Rigid superego) आदिम इदम (Primitive id) तथा निर्बल अहं संरचना (Weak ego structure) द्वारा होता है (सैनफोर्ड, 1956),

जिसके कारण अल्पसंख्यक समूहों के प्रति ऐसे व्यवहार संरूप विकसित होते हैं जिनका पूर्वकथन किया जा सकता है।

(iii) प्रक्षेपण (Projection)—जब व्यक्ति अपने गुणों या लक्षणों को अन्य व्यक्ति या समूह पर आरोपित करते हैं तो इसे प्रक्षेपण कहते हैं। इस प्रत्यय का सर्वप्रथम फ्रायड ने उपयोग किया था। एक विशेष बात यह है कि व्यक्ति अपने अच्छे शीलगुणों का आरोपण अन्य में नहीं करते वरन् अपने केवल अवांछित गुणों को ही दूसरों पर थोपते हैं। शत्रुता स्वयं रखते हैं किन्तु उसे अन्य लोगों के सिर मढ़ देते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि वे हमारे प्रति शत्रुता रखते हैं, अतः हम भी उनके प्रति ऐसी भावना रखते हैं। गोरों-कालों के विषय में इसके प्रमाण अमेरिका में मिले हैं। इसकी संभावना भारतीय परिस्थितियों में भी लागू होने की है।

जैसा कि पेट्टीग्रिव (Pettigrew 1961) ने दर्शाया है कि पूर्वाग्रह सभी मनोगतिक दृष्टिकोण बाह्यीकरण प्रक्रिया (Externalization process) की ओर संकेत करते हैं। इसके अनुसार लोग बाह्य घटनाओं की व्याख्या अपने निजी जीवन के अनुभवों के आधार पर करते हैं। (People interpret external events in terms of their own personal lives) जैसे एक व्यक्ति जो स्वच्छ रहने के लिये विवश है अन्य कम नियमित व्यक्तियों को अस्वच्छ एवं खराब कहता है। किन्तु अनेक प्रकार के पूर्वाग्रहों की व्याख्या मनोगतिक उपागम द्वारा सम्भव नहीं है। विशेषरूप से जब पूर्वाग्रह तथा विभेदन सम्पूर्ण समाज में व्याप्त हो तो उसकी समुचित व्याख्या इन सिद्धान्तों द्वारा नहीं होती।

(iv) घटनापरक उपागम (Phenomenological Approach)—इस उपागम के अनुसार व्यक्ति के वस्तुगत संसार (Objective world) का नहीं वरन् संसार के प्रत्यक्षीकरण का अध्ययन किया जाना चाहिये। मनोगतिक दृष्टिकोण के विपरीत, जो व्यक्ति की स्थिर विशेषताओं को समझने पर बल देता है, यह उपागम व्यक्ति के तात्कालिक प्रत्यक्षीकरण पर बल देता है। किसी एक घटना की केवल एक ही नहीं वरन् अनेक व्याख्यायें संभव हैं। हमारी व्याख्या अनेक कारकों द्वारा प्रभावित हो सकती है—व्यक्ति विशेष के साथ हमारे पूर्व अनुभव, उसी परिस्थिति में अन्य व्यक्तियों परिस्थिति के वे पक्ष जिनकी ओर हम ध्यान देते हैं आदि। इन कारकों या इनके संयोग हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं। जैसे किसी अपेक्षाकृत निष्क्रिय महिला की तुलना में अन्य महिला का सक्रिय एवं आत्म प्रकाशन व्यवहार अधिक "आक्रामक" कहा जायगा। किन्तु अन्य महिला (जो मारपीट, गाली गलौज करती हैं) की तुलना में उसको सहनशील और विनम्र कहा जायगा। दूसरे शब्दों में पूर्वाग्रह का यह उपागम तात्कालिक प्रभावों पर बल देता है तथा व्यापक ऐतिहासिक कारणों की ओर अपेक्षाकृत बहुत कम ध्यान देता है।

(v) **अर्जित-ख्याति उपागम (Emphasis on earned reputation)**– इसके पूर्व चर्चित सभी उपागम प्रेक्षक में पूर्वाग्रह के कारण को निहित मानते हैं अर्थात् उनके अनुसार पूर्वाग्रह, पूर्वाग्रहित व्यक्ति में निहित होते हैं। वर्तमान दृष्टिकोण पूर्वाग्रह के लक्ष्य व्यक्तियों या समूहों को उत्तरदायी मानता है। इसके अनुसार अल्प संख्यक समूह अपने प्रति निर्दिष्ट ऋणात्मक भावनाओं को अपने व्यवहार या विशेषताओं के द्वारा और बढ़ाते हैं। अर्जित ख्याति उपागम के अभिग्रहों के अनुसार अल्पसंख्यक समूहों के व्यवहार एवं विशेषताएँ बहुसंख्यक समूह में नापसन्द की भावनाएँ उकसाती हैं। रहन सहन, बोली, खानपान, वेशभूषा, मूल्य, विश्वास, अभिवृत्ति आदि से सम्बद्ध या व्यक्ति के निजी गुणों से यह विशेषताएँ जुड़ी होती हैं जो नापसंद की भावना को उत्प्रेरित करती हैं। इसके समर्थन में ट्रिएंडिस तथा वैसिलियो (1967) ने प्रमाणित किया है। उन्होंने कहा है, **"The present data suggest that there is a 'Kernel of truth' in most stereotypes when they are elicited from people who have first hand knowledge of the group being stereotyped."** (Triandis and Vassiliou 1967)

ब्राइघम (1971) ने सतर्क समीक्षा के बाद निष्कर्ष प्राप्त किया कि किसी लक्ष्य समूह की पहचान से सम्बद्ध विशेषताओं के विषय में विभिन्न समूहों के प्रयोज्यों की सहमति के सन्दर्भ में जातीय रूढ़ियुक्तियों में सत्य का कुछ अंश होता है। मैक्काले तथा स्टिटट (1978) के निष्कर्षानुसार अन्य समूह के सदस्यों के लक्षणों के विषय में यह विश्वास कभी कभी अपेक्षाकृत शुद्ध होते हैं।

यद्यपि पूर्वाग्रह की उत्पत्ति एवं विकास के विषय में अनेक उपागमों की चर्चा की गई किन्तु पूर्वाग्रह इतना विस्तृत व्यवहार है कि इसमें कोई भी सिद्धान्त इसके साधनों की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता। पूर्वाग्रह के कारण अनेक हैं कोई एक नहीं।

पूर्वाग्रह तथा विभेदन में परिवर्तन
(Changing Prejudice & Discrimination)

जहाँ कहीं हो, या जब कभी घटित होती है, पूर्वाग्रह एक गम्भीर समस्या है। अपने न्यूनतम क्षतिदायी रूप में यह समाज में चुभे काँटे के समान है जो अनावश्यक आक्रोश, अनावश्यक अवखेदन या झुंझलाहट, मनमुटाव तथा उत्तेज्यता उत्पन्न करती है अपने घातक रूप में पूर्वाग्रह एक खुले घाव के सदृश्य है—जिसमें किसी संस्कृति या राष्ट्र की शक्ति, बहुमूल्य मानव संसाधन, और सामाजिक अन्तरात्मा मवाद के समान बहकर बाहर आ जाती है। (**Prejudice, wherever and when ever it occurs poses serious problems. In its least harmful forms it can be viewed as a thorn in the side of society–one producing unnecessary annoyance, friction, and irritation. At**

its worst, it is like an open wound—one through which a given culture or nation can be drained of its vitality, precious human resources, and social conscience." Robert A Baron and Don Byren, 1988) पूर्वाग्रह में कमी तथा इसके ऋणात्मक प्रभावों से संघर्ष समाज मनोवैज्ञानिक के समक्ष एक मुख्य कार्य है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? सौभाग्य से अनेक उपाय तथा अनेक व्यपदेश इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उपलब्ध हैं—

1. **धार्मिक मताग्रह की समाप्ति**—(Breaking the chain of bigotry)—बच्चों की अभिवृत्तियों का निरूपण में माता-पिता की भूमिका बड़ी प्रमुख होती है। विचारों के संक्रमण के क्रम में वे अपने बच्चों में अपने अनेक पूर्वाग्रह भी संक्रमित कर देते हैं। बच्चों में जन्म के समय किसी के प्रति न कोई द्वेष और न घृणा होती है। विभिन्न सामाजिक समूहों समाजों, वर्गों, समुदायों आदि के प्रति घृणा का भाव माता-पिता से अधिगम प्रक्रिया द्वारा अर्जित करते हैं। विशेषरूप में अनुकरण या प्रतिरूप अधिगम और नैमित्तिक अनुबन्धन द्वारा अभिवृत्तियां तथा पूर्वाग्रह सीखे जाते हैं। इस केन्द्रीय तथ्य के ज्ञान के बाद, पूर्वाग्रह तथा विभेदन से संघर्ष की एक उपयोगी तकनीक—वह है जिसमें किसी प्रकार माता-पिता बच्चों को जातीय, धार्मिक या प्रजातीय मताग्रह प्रदान करने से हतोत्साहित करते हैं। हम सभी जानते हैं कि यह कार्य काफी कठिन है। मनोवैज्ञानिक बच्चों तथा माँ-बाप के सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। ऐसा करना चाहे गैरकानूनी न हो पर अनैतिक अवश्य होगा। वे माता-पिता का ध्यान इस ओर अवश्य आकृष्ट करा सकते हैं कि उनकी असतर्कता के कारण उनके मताग्रह शृंखला के कुप्रभाव कैसे उनके बच्चों को प्रभावित करते हैं।

कुछ कट्टर मताग्राहियों को छोड़कर बाकी अवश्य अपने बच्चों को सामाजिक संसार का अधिक धनात्मक दृष्टिकोण कराना चाहेंगे। इस प्रकार माता-पिता की चेतना को जागृत करने के अभियान तथा पूर्वाग्रह प्रदर्शित करने वाले व्यवहार को हतोत्साहित करके, धनात्मक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं या पूर्वाग्रह में कमी लाई जा सकती है।

इस विषय में अध्यापक भी धनात्मक भूमिका निभा सकते हैं। अनुचित विभेदन के अनुभव दुःखद होते हैं, अतः इन अनुभूतियों से बच्चों को बचाने के कार्य में अध्यापक काफी सहायक हो सकते हैं। यह कार्य विशेष रूप में प्राथमिक, एवं माध्यमिक स्तर पर किया जाना चाहिये। वे अपने विद्यार्थियों को सिखा सकते है और दिखा भी सकते हैं कि दूसरों से घृणा करना क्यों अनुचित है।

2. **प्रत्यक्ष अन्तर्समूह सम्पर्क** (Direct intergroup contact)—

ईमानदारी की बात यह है कि लोग बहुधा अपनी जाति, या अपने धर्म के या अपने ही समुदाय के लोगों के साथ अन्तर्क्रिया करना पसन्द करते हैं। इस प्रगति के युग में भी अधिकांश व्यक्ति अन्तःसमूह से ही सम्पर्क रखते हैं। अल्पसंख्यक समूहों में स्थिति अंशतः विपरीत पाई जाती है उनको जरूरतन बहुसंख्यक समूह से भी कुछ सम्पर्क रखना पड़ता है (Iokes, 1984), यद्यपि इनमें अधिकांश सामाजिक अन्तर्क्रिया अपने समूह के सदस्यों तक ही सीमित होती है। क्या विभिन्न समूहों में सम्पर्क बढ़ाने से पूर्वाग्रह में कमी लाई जा सकती है? सम्पर्क उपकल्पना के अनुसार यह संभव है और स्टीफेन (1985) के अनुसार अनेक अच्छे तर्क ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि सम्पर्क में वृद्धि पूर्वाग्रह में कमी ला सकती है। प्रथम ज्यों-ज्यों विभिन्न सामाजिक समूहों के सदस्यों में परिचय बढ़ता है, तो उन्हें आभास होता है कि वे जितना समझते थे उससे कहीं अधिक समान हैं। समानताओं की बढ़ती हुई चेतना एवं मान्यता से पारस्परिक आकर्षण की प्रत्याशा करते हैं। रूढ़ियुक्तियों में परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध होता है तथापि उनसे पर्याप्त असंगत सूचना उपलब्ध होने पर उनमें परिवर्तन आते हैं। अतः विभिन्न समूहों के लोग एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह जान पाते हैं, जिसके कारण यह ऋणात्मक अभिवृत्तियाँ धराशायी होने लगती हैं। तृतीय, बढ़े हुये सम्पर्क से बाह्य समूह की (Homogeneity) का भ्रम समाप्त हो जाता है। इन कारणों से आभास होता है कि बढ़ते हुये अन्तर्समूह सम्बन्ध से पूर्वाग्रह में कमी आ सकती है।

किन्तु इस विषय में दुर्भाग्यवश मिश्रित उत्तर प्राप्त होते हैं। ऐसे सम्पर्क लाभकारी प्रभाव प्रदान करने में केवल उस समय सक्षम होते हैं जब यह (सम्पर्क) बहुत ही विशेष दशाओं में घटित होते हैं (कुक, 1985)। यह दशायें निम्न हैं—

(i) प्रथम, अन्तर्क्रिया कर रहे समूहों को सामाजिक, आर्थिक, या कार्य-सम्बद्ध संस्थिति (status) में लगभग समान होना चाहिये। यदि वे इन आधारों पर अधिक भिन्न होंगे तो उनमें सम्प्रेषण कठिन होगा और घटने के बजाए पूर्वाग्रह बढ़ सकता है।

(ii) सम्पर्क परिस्थिति में सहयोग एवं अन्योन्याश्रितता होने चाहिए ताकि समूह उभयनिष्ट लक्ष्यों के उपार्जन का प्रयास करें।

(iii) समूहों के बीच सम्पर्क अनौपचारिक होना चाहिए ताकि वे एक-दूसरे को भली प्रकार जान सकें।

(iv) सम्पर्क ऐसे सन्दर्भ में घटित होना चाहिए जहाँ, वर्तमान मानक समूह समता के पक्ष में हों तथा वर्ग के लोगों को साहचर्य का बराबर अवसर उपलब्ध हो।

(v) समूहों में अन्तर्क्रिया का रूप ऐसा होना चाहिए कि एक-दूसरे के बारे में उनके ऋणात्मक और रूढ़ियुक्ति विचारों और भावनाओं का खण्डन हो सके।

(vi) ऐसे सम्पर्क में भाग लेने वालों को उनके समूहों का प्रतिनिधि समझें अन्यथा वे इनके साथ सुखद सम्बंधों को अन्य व्यक्तियों या परिस्थितियों के प्रति सामान्यीकृत कर देंगे (वाइल्डर, 1984)।

कुक (1985) तथा रीआडिन (1978) के अनुसार जब शत्रुतापूर्ण समूहों में उपरोक्त चर्चित दशाओं में सम्पर्क घटित होते हैं, तो उनके बीच पूर्वाग्रह में कमी आती है। एरोन्सन तथा सहयोगियों ने अनेक अध्ययनों में सहयोग की दशाओं में सम्पर्क वृद्धि द्वारा बच्चों के प्रजातीय पूर्वाग्रह में कमी का अन्वेषण किया (एरोन्सन, ब्रिजमैन तथा गेफनर; 1978)। इनके अध्ययन में 6 छात्रों के समूहों ने एक विशिष्ट अध्याय को सीखा ! समूह के प्रत्येक सदस्य को उस अध्याय का एक दिया हुआ भाग तैयार करना था और फिर उसे अन्य के समक्ष प्रस्तुत करना था। सफल समूह निष्पादन प्रत्येक सदस्य के व्यक्तिगत निष्पादन पर निर्भर था। अतः सभी सदस्यों को मिलकर समूह लक्ष्य को प्राप्त करना था। इस सरल विधि द्वारा प्राप्त परिणाम प्रभावपूर्ण थे। इसके बाद जिगसा विधि (Jigsaw method) का उपयोग किया गया (जिसमें सहयोगपूर्ण अन्तर्समूह सम्पर्क निहित था) छात्रों ने प्रजातीय रूढ़ियुक्तिकरण में न केवल कमी प्रदर्शित की वरन् अन्य प्रजातियों के सदस्यों के प्रति पसंद में वृद्धि का प्रमाण भी दिया।

इसी तरह के परिणाम कुक (1984) तथा उनके सहयोगियों ने भी प्राप्त किए। इस अध्ययन में प्रयोज्यों ने दो सन्धिबद्ध व्यक्तियों के साथ भाग लिया, जिसमें एक नीग्रो और अन्य श्वेत था। उन्हें एक व्यवस्था/प्रबन्ध क्रीड़ा (Management game) में भाग लेना था जिससे विभिन्न रास्तों पर काल्पनिक रेल-रोड कारों की गति निहित थी। यह क्रीड़ा जटिल थी जिसमें अनेक कठिन निर्णय दरकार थे। परिणाम जटिल थे किन्तु सामान्यतः निम्न निष्कर्षों की ओर संकेत करते हैं मैत्रीपूर्ण तथा सहयोगपूर्ण सम्पर्क (समूहों के बीच) आदर तथा पसंद को बढ़ाते हैं। इस प्रकार विभिन्न समूहों में सतर्कतापूर्वक सम्पर्क उत्पन्न की व्यवस्था से अन्तर्समूह शत्रुता और पूर्वाग्रह के विरुद्ध संघर्ष किया जा सकता है। अमेरिका में 1960 के पूर्व श्वेत तथा अश्वेतों के पृथक् स्कूल होते थे। इनको एक स्कूलों में शिक्षा की व्यवस्था कराई गई और सम्पर्क उपकल्पना को क्रिया में परिणित किया गया। रूढ़ियुक्तियों तथा प्रजातीय अभिवृत्तियों में उत्साह वर्द्धक बदलाव के परिणाम मिले (कुक, 1984 a. 1984 b, 1985, मिलर तथा ब्रिवर, 1984)।

इसी प्रकार सीकोर्ड तथा वैकमैन (1974) ने अपने असंगत भूमिकाओं के

सिद्धान्त (Theory of Incongruent roles) में बताया कि यदि पूर्वग्रहित व्यक्तियों को अन्तर्क्रिया परिस्थिति (Situation of interaction) में रखे तो उनके बीच पूर्वाग्रह में कमी आती है और पारस्परिक पसंद मित्रता तथा सहयोग में वृद्धि आती है। इसका भी अभिप्राय यही है कि अन्तर्समूह सम्पर्क में वृद्धि से पूर्वाग्रह में कमी आती है।

सीकोर्ड तथा बैकमैन का अन्य सिद्धान्त—अन्योन्याश्रित व्यवहार तथा उभयनिष्ठ भाग्य (Interdependent behaviour and commonfate) भी सम्पर्क उपकल्पना से सम्बद्ध है जिसके अनुसार यदि दो पूर्वग्रहित व्यक्तियों के समूहों को ऐसी सामान्य अन्तर्क्रिया का अवसर इस प्रकार प्रदान करें जिसमें अन्योन्याश्रित व्यवहार पर उनका उभयनिष्ट भाग्य निर्भर करे (जैसे किसी सामान्य खतरे या कष्ट से बचाव हेतु उनमें सहयोग आवश्यक हो) तो उनके बीच पूर्वाग्रह तथा विभेदन भाव में कमी आती है। इन तथ्यों की पुष्टि अनेक अन्य अध्ययनों के परिणामों से भी होती है (स्टार तथा अन्य, 1958, शेरिफ तथा अन्य 1961)।

3. **भेद सीखने की विधि : मानसिकता बनाम मनःशून्यता (Reducing prejudice by learning to make distinctions)** Langer (1983) इसे मनः शून्यता (Mindlessness) कहती है। उनके अनुसार व्यक्ति अधिक समय सूचना संसाधन (Information processing) में व्यतीत कर देता है और वह भी निष्क्रिय तथा स्वतः संचालित रूप में।

उदाहरण के लिए जब किसी से प्रथम बार हम मिलते हैं, तो हम प्रभावांकन में पहले से मन में विद्यमान वर्गीकरण या विभेदन के द्वारा न कि नवीन वर्गों की स्थापना के सहारे करते हैं। दुर्भाग्यवश, इस प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव पूर्वाग्रह पर पड़ता है। एकबार यह जान लेने पर कि अमुक व्यक्ति अमुक पूर्व निश्चित वर्ग में आता है, इस एक लक्षण द्वारा उसके प्रति हमारी प्रतिक्रियायें प्रभावित हो जाती हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति के विषय में अन्य प्रमुख तथ्य उपेक्षित रह जाते हैं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं ऐसे पक्षपातपूर्ण रूढ़ियुक्ति चिन्तन प्रायः पूर्वाग्रह की जड़ का रूप धारित कर लेते हैं। यही प्रवृत्ति मनः शून्यता (Mindlessness) कहलाती है। क्या इस प्रवृत्ति को रोकने तथा लोगों को विचारयुक्त (Mindfully) कार्य एवं व्यवहार करने के लिये उत्प्रेरित किया जा सकता है! लैंगर, बैकमैन, चैनोक्टिज (1986) ने एक अध्ययन किया जिसका उत्तर धनात्मक है।

इस प्रयोग में छठे दर्जे के बच्चों के एक समूह को इस विधि के अन्तर्गत रखा गया जो इस प्रकार तैयार की गई थी जिसमें उनकी मानसिकता में वृद्धि करती थी। इसके अन्तर्गत विकलांग (Handicapped) लोगों के विषय में स्लाइड्स

Slides) दिखाई गई तब उनके विषय में कुछ जटिल प्रश्न किए गये। उदाहरण के लिए ऐसे प्रश्नों में एक यह था जिसमें प्रयोज्यों को चार ऐसे कारण बताने थे जिनके कारण विकलांग व्यक्ति अच्छा समाचार पढ़ने वाला हो सकता था। एक अन्य प्रश्न था कि कैसे कोई विकलांग अच्छा कार चालक हो सकता था। इसके विपरीत दूसरे समूह के प्रयोज्य अधिक सरल प्रश्नों के उत्तर देते थे जो उनकी सामान्य मनः शून्यता (Mindless) दशा थी।

इन प्रक्रियाओं की पूर्ति के बाद, विकलांगों के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन किया गया। और लैंजर तथा सहयोगियों ने भविष्यकथन किया कि जिन्हें मानसिक तत्परता में प्रशिक्षित किया गया है वे ऐसे लोगों के प्रति कम पूर्वाग्रह प्रदर्शित करेंगे, और परिणामों से पूर्वकथन की पुष्टि हुई। अतः मानसिक तत्परता (Mindfulness) के प्रति प्रशिक्षित प्रयोज्य किसी विकलांग के साथ पिकनिक पर जाने के अधिक इच्छुक पाए गये। ऐसे हुए कार्य सहभागी (Partner) के चयन में किसी विकलांग के चयन की प्रवृत्ति अधिक प्राप्त हुई।

इस अध्ययन तथा ऐसे अन्य अध्ययन (लैंजर तथा इम्बर, 1980) ने संकेत दिया कि पूर्व स्थापित वर्गों या भेदों के बजाए अन्य व्यक्तियों के विषय में सक्रिय चिन्तन की शिक्षा पूर्वाग्रह को दूर करने में सहायक हो सकती है।

4. **व्यक्तित्व परिवर्तन** (Change of Pesronality)—पूर्वाग्रह तथा जातीय अभिवृत्तियाँ व्यक्ति की कुछ आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्ध होती हैं। इसलिए व्यक्तित्व गतिकी पूर्वाग्रह तथा विभेदन में मुख्य भूमिका निभाती है। व्यक्तित्व गतिकी में परिवर्तनों के द्वारा पूर्वाग्रह को घटाया जा सकता है। किन्तु अधिक समय लगने और जटिल होने के कारण यह उपाय कम प्रयोग होता है। किन्तु मनोचिकित्सा, पुनर्शिक्षा, भाव विरेचन (Catharsis), और जीवन की दशाओं में बदलाव द्वारा शत्रुता, कुण्ठा, तथा पूर्वाग्रहों की तुष्टि से सम्बद्ध अन्य आन्तरिक आवश्यकताओं को विलुप्त करके व्यक्तित्व गतिकी को परिवर्तित करने के प्रयास हुये हैं। किन्तु अधिक सफलता नहीं मिली है। इसमें और शोधों की आवश्यकता प्रतीत होती है।

5. **प्रचार** (Propaganda)—पूर्वाग्रह में कमी लाने के लिए प्रचार एक सशक्त उपाय है। इलेक्ट्रानिक मीडिया (Electronic media), प्रेस, सिनेमा आदि को प्रचार के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं। पूर्वाग्रह को कम करने में इन प्रचार साधनों को लेकर अनेक अध्ययन हुए हैं (पिटर्सन एवं वस्टर्न, 1933)। इन्होंने फिल्मों द्वारा अभिवृत्ति विकास एवं परिवर्तन के अन्तर्गत जर्मन समर्थक; नीग्रो विरोधी तथा चाइनीज समर्थक अभिवृत्तियों को विकसित करने में उत्साह-

बर्द्धक परिणाम प्राप्त किए। चेन (1933,36) ने मुखोन्मुख सम्पर्क में लेक्चर विधि के द्वारा इस विषय में काफी सफल परिणाम प्राप्त किये। इन तथ्यों का समर्थन अनेक शोधकर्ताओं ने किया (केन्ट्रिल तथा आल्पोर्ट; 1935, इलियट, 1936, नोवर 1935, 1936)। पूर्वाग्रह के विरुद्ध प्रचार माध्यमों का उपयोग करके इसे घटाया जा सकता है।

6. **कानून द्वारा (Through Legislation)**—कानून द्वारा पूर्वाग्रह, भेद-भाव एवं पक्षपात को समाप्त करने के उपाय को अपनाया जाता है। भारत में अछूतों/हरिजनों के साथ पूर्वाग्रहित व्यवहार किया जाता था। सरकार ने छूआ-छूत को गैरकानूनी बना दिया। इसका कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा किन्तु छुआ-छूत तथा अनेक पूर्वाग्रह बिल्कुल समाप्त न हो सके। वास्तव में लोगों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन तथा जनमत तैयार किये बिना केवल कानून के सहारे पूर्वाग्रह का उन्मूलन संभव नहीं है।

अध्याय 12

सामाजिक अन्तःक्रियाएँ

(Social Interactions)

मनुष्य एक सामाजिक जीव है। अतः सभी समूहों और समाजों में सामाजिक अन्तःक्रियाएँ घटित होती है। समाज, सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना है, एक जाल है सामाजिक सम्बन्धों का। सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना समाज के विभिन्न सदस्यों—यथा पुरुषों, महिलाओं, बच्चों, वृद्धों, तथा युवा-अपराधियों में पारस्परिक व्यवहारों द्वारा होता है। यह आचरण या व्यवहार पारस्परिक क्रिया का रूप लेता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक सम्बन्ध समाज का निर्माण करने वाले सदस्यों की सामाजिक अन्तःक्रिया पर निर्भर करता है। जब दो सदस्य/व्यक्ति मिलते हैं तो किसी न किसी प्रकार की सामाजिक अन्तःक्रिया घटित होती है। एक महिला तथा पुरुष सम्पर्क में आते हैं तो अन्तःक्रिया होती है परिणाम स्वरूप उनमें आकर्षण, विकर्षण, सहयोग, संघर्ष, कुछ भी घटित हो सकता है।

सामाजिक अन्तःक्रिया का अर्थ

(Meaning of Social Interaction)

उपर्युक्त चर्चा से सामाजिक अन्तःक्रिया के स्वरूप पर प्रकाश पड़ा होगा, किन्तु उसकी पूर्ति हेतु वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित कुछ परिभाषाओं द्वारा हो सकती है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नांकित हैं।

डासन एवं गेट्टीस (Dawson & Gettys) के अनुसार एक-दूसरों के मन परस्पर घुसने की प्रक्रिया ही सामाजिक अन्तःक्रिया है। (Social interaction is a process whereby men interpeneterate the minds of each other.")

समाज वह क्रिया है जो सामाजिक सम्बन्धों में निश्चित प्रभाव उत्पन्न करती है। अतः इसके द्वारा सदस्यों के बीच मानसिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। व्यक्ति दूसरों के विचारों, उपलब्धियों, तथा भावनाओं द्वारा प्रभावित होते हैं।

जिस्ट (Gist; 1950) के अनुसार, "सामाजिक अन्तःक्रिया वह सामाजिक प्रभाव है जिसे व्यक्ति पारस्परिक उत्तेजना और प्रतिक्रिया के द्वारा एक दूसरे पर डालते हैं।" ("Social interaction is the reciprocal influence which human beings exert on each other through interstimulation and

response,") मनुष्य सामाजिक परिवेश में रहते हैं अतः अन्य साथियों से सम्बन्ध रखना उसके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। समाज का हर व्यक्ति अपने पद, भूमिका तथा संस्थिति के अनुसार दूसरों को प्रभावित करता है तथा प्रभावित होता है। सामाजिक अन्तःक्रिया एक सम्प्रेषणात्मक अन्तःक्रिया है। ग्रीन (Green) के शब्दों में, "सामाजिक अन्तःक्रिया का अभिप्राय उस पारस्परिक प्रभाव से है जो अपनी समस्याओं के समाधान और लक्ष्यों की प्राप्ति में व्यक्ति और समूह एक दूसरे पर डालते हैं।" (By social interaction is meant the mutual influence that individuals and groups have upon one another in their attempt to solve problems and in their striving towards goals.") सामाजिक अन्तःक्रिया अत्यन्त सरल सामाजिक प्रक्रिया है। प्रत्येक समाज में, सभी सदस्य चाहे वह व्यक्ति हों या व्यक्तियों के समूह, सर्वदा किसी न किसी समस्या के समाधान या पूर्वनिश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति में संलग्न रहते हैं। इन दोनों कार्यों के सम्पादन वे प्रभावित करते तथा प्रभावित होते हैं। यही प्रक्रिया सामाजिक अन्तःक्रिया है।

गिलिन तथा गिलिन (Gillin & Gillin; 1950) का कथन है कि "सामाजिक अन्तःक्रियाओं से तात्पर्य हर तरह के क्रियात्मक सामाजिक सम्बन्धों तथा सभी प्रकार के गत्यात्मक सम्बन्धों से है, चाहे वह सम्बन्ध व्यक्ति-व्यक्ति के बीच हों, या समूह-समूह के बीच या व्यक्ति और समूह के बीच हों।" (By social interaction we refer to social relations of all sorts in functions-dynamic social relations of all kinds–whether such relations exist between individual and individual, between group and group and group and individual as the case may be.")

न्यूकोम्ब (Newcomb; 1959) का कहना है कि, वह प्रक्रिया जिसमें एक व्यक्ति दूसरों को देखता और अनुक्रिया करता है और दूसरे उसे देखते हैं और अनुक्रिया करते हैं, अन्तःक्रिया कही जाती है। "(The process by which on individual notices and responds to others who are noticing and responding to him is known as interaction.")

किम्बल यंग (Kimball Young; 1960) के अनुसार, "विस्तृत रूप से परिभाषित उस तथ्य की ओर संकेत करती है कि एक व्यक्ति का प्रत्युत्तर संकेत, शब्द या सम्पूर्ण शारीरिक क्रिया दूसरे को उत्तेजना देता है और वह अपनी बारी पर प्रथम व्यक्ति को प्रत्युत्तर देता है।" (Broadly defined; interaction refers to the fact that the respons gesture word or gross bodily movement of one individual is stimulus to another, who, in, turn, responds to the first.")

शरीफ तथा शरीफ (Shesif & Sherif; 1969) के कथनानुसार, "सामाक स्थितियों में व्यक्तियों के मध्य आदान-प्रदान ही अन्तःक्रिया है।" ("The ve and take, between individuals in social situation is an inraction process") लिण्डग्रेन (Lindgren; 1979) के अनुसार "सामाजिक ोविज्ञान में अन्तःक्रिया शब्द उस परस्पर अथवा अन्योन्याश्रित विधि के लिए या जाता है जिसमें व्यक्ति और/या समूह एक दूसरे के व्यवहार को प्रभावित रते हैं जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति या समूह का व्यवहार अन्य लोगों में अनुक्रिया ्पन्न करने के लिए एक उद्दीपक बन जाता है।" ("The term interaction used in social psychology to refer to the mutual or reciprocal ay in which individuals and /or groups influence one another's chaviour, whereby the behaviour of an individual or group ecomes a stimulus that evokes responses from others."

सामाजिक अन्तःक्रिया : प्रकृति
(Social Interaction : Nature)

सामाजिक अन्तःक्रिया का स्वरूप जटिल होता है। यह व्यक्ति तथा समाज के यवहार को प्रभावित करने की एक सशक्त क्रिया है। अन्तःक्रिया व्यक्ति और अन्य यक्ति के बीच, व्यक्ति तथा समूह के बीच या एक समूह तथा अन्य समूह के बीच होती है।

सामाजिक अन्तःक्रिया एक पारस्परिक प्रभाव (mutual influence) की प्रक्रिया है। तात्पर्य यह है कि सामाजिक अन्तःक्रिया के लिए दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप में एक व्यक्ति होता है तथा अन्य सामने न होकर अप्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होता है। यह प्रक्रिया उद्दीपन→अनुक्रिया→ उद्दीपन→अनुक्रिया के नियम का अनुसरण करती है।

सामाजिक अन्तःक्रिया कर रहे व्यक्ति सर्वदा सक्रिय रहते हैं। निष्क्रियता की स्थिति में सामाजिक अन्तःक्रिया घटित नहीं हो सकती। अन्तःक्रियाओं में सक्रिय अनुक्रियाएँ निहित होती हैं। साथ ही अन्तःक्रिया एक दो तरफा प्रभाव प्रक्रिया है। (Interaction involves two way influence) सामाजिक अन्तःक्रिया तब घटित मानी जाती है जब एक व्यक्ति का उद्दीपन अन्य व्यक्ति को प्रभावित नहीं करता और दूसरे व्यक्ति की अनुक्रिया का प्रभाव प्रथम व्यक्ति पर नहीं पड़ता है। जैसे दो व्यक्ति हैं क, तथा ख। क, व्यक्ति ख को प्रभावित करता है और ख, व्यक्ति क को प्रभावित करता है तभी इसे अन्तःक्रिया कहते हैं।

सामाजिक अन्तःक्रिया काफी हद तक समाजीकरण एवं सामाजिक अधिगम की प्रक्रिया पर निर्भर करती है। किसी व्यक्ति या समूह की सामाजिक अन्तःक्रियाएँ

इस पर निर्भर करती है कि उस व्यक्ति या समूह ने क्या सीखा है और किस तरह सीखा है। अन्तःक्रिया का सामाजिक अधिगम मुख्य रूप से तादात्मीकरण और अनुकरण की विधियों द्वारा होता है।

अन्तःक्रिया के स्तर
(Levels of Interaction)

सामाजिक अन्तःक्रिया तीनस्तर की हो सकती हैं :—

1. **व्यक्ति की व्यक्ति से अन्तःक्रिया** (Interaction between two individuals)—ऐसी अन्तःक्रिया दो व्यक्तियों के बीच घटित होती है। मानलें व्यक्ति क, व्यक्ति ख से मिलता है। व्यक्ति–क, व्यक्ति–ख को अपनी बातचीत तथा अवाचिक संकेतों द्वारा तथा ख, क को प्रभावित करने का प्रयास करता है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति इस प्रक्रिया में उद्दीपक और अनुक्रिया दोनों रूपों में कार्य करता है। व्यक्ति–क का व्यवहार व्यक्ति–ख के लिए उद्दीपन के रूप में कार्य करता तथा व्यक्ति–ख उसके प्रति अनुक्रिया करता है। ठीक इसी तरह व्यक्ति–ख की अनुक्रिया व्यक्ति–क के लिए उद्दीपन का कार्य करती है और वह उसके प्रति अनुक्रिया करता है। इसका चित्रवत वर्णन निम्न चित्र में किया गया है :—

क ⇄ ख

सामाजिक अन्तःक्रिया में एक व्यक्ति का व्यवहार अन्य व्यक्ति में व्यवहार उद्दीप्त करता है और अन्य व्यक्ति का यह व्यवहार प्रथम व्यक्ति की अनुक्रिया के स्वरूप को निश्चित करता है। यदि कोई व्यक्ति आप से सस्नेह बात करता है तो आप भी उसके साथ प्रेम से मिलते हैं। इस प्रकार अन्तःक्रिया में व्यवहारों और विचारों का आदान प्रदान चक्रवत रूप में घटित होता है।

2. **व्यक्ति की समूह से अन्तःक्रिया** (Interaction between individual & group)—इस प्रकार की अन्तःक्रिया व्यक्ति तथा समूह के बीच घटित होती है। व्यक्ति, समूह को तथा समूह व्यक्ति को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं व्यक्ति तथा समूह, एक दूसरे के प्रति पारस्परिक अनुक्रियाएँ करते हैं। एक दूसरे के लिए व्यक्ति तथा समूह उद्दीपक तथा अनुक्रिया के रूप में कार्य करते हैं। इसे निम्न चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है—

व्यक्ति ⇄ समूह

3. **समूह तथा अन्य समूह के बीच अन्तःक्रिया** (Interaction between one group and another group)—यह अन्तःक्रिया दो भिन्न समूहों के बीच घटित होती है, जिसे निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है।

समूह ⇄ समूह

इस स्थिति में दो विभिन्न समूहों में पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। दो विरोधी टीमों में मैच की स्थिति, दो दलों में अन्त्याक्षरी स्पर्द्धा आदि इस प्रकार की अन्तःक्रिया के उदाहरण हैं।

सामाजिक अन्तःक्रिया की मौलिक दशाएँ

(Basic Conditions of Social Interaction)

सामाजिक अन्तःक्रिया की दो मूल भूत दशाएं हैं—सामाजिक सम्पर्क तथा सम्प्रेषण। सामाजिक सम्पर्क तथा सम्प्रेषण के अभाव में किसी सामाजिक अन्तःक्रिया की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

1. **सामाजिक सम्पर्क**—(Social Contact)—सामाजिक सम्पर्क भौतिक सम्पर्क से भिन्न होता है। सामाजिक सम्पर्क के लिये भौतिक या शारीरिक सम्पर्क आवश्यक होता है। सामाजिक सम्पर्क, टेलीफोन, पत्र, तार, रेडियों तथा सम्प्रेषण के अन्य साधनों द्वारा स्थापित हो सकता है चाहे उनके बीच हजारों मील की दूरी क्यों न हो। हाँ, भौतिक सम्पर्क सामाजिक सम्पर्क को शक्तिशाली अवश्य बनाता है। भौतिक सम्पर्क के विभिन्न रूप हो सकते हैं—हाथ मिलाना, गले मिलना, किस करना, आदि सभी सामाजिक सम्पर्क को बढ़ाते हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों को स्थायित्व और बल प्रदान करते हैं। विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के बीच पारस्परिक अनुक्रिया से सामाजिक सम्पर्क की उत्पत्ति हुई है। सामाजिक अन्तःक्रिया की उत्पत्ति सामाजिक सम्पर्क से होती है। गिलिन तथा गिलिन के अनुसार सामाजिक सम्पर्क अन्तःक्रिया का प्रथम चरण है।

सामाजिक सम्पर्क सकारात्मक तथा निषेधात्मक हो सकता है। सामाजिक सम्पर्क इसी तरह प्राथमिक (Primary) या द्वितीयक (Secondry) हो सकते हैं। कभी-कभी सामाजिक सम्पर्क स्थायी और कभी अस्थायी होते हैं।

2. **सम्प्रेषण** (Communication)—सामाजिक सम्पर्कों की स्थापना किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से होती है और किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण उसी समय होता है जब वस्तु उस ज्ञानेन्द्रिय में सम्प्रेषण उत्पन्न करती है। अतः सामाजिक सम्पर्क सम्प्रेषण के माध्यम से सुलभ होता है। व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ, भाषा, लिखाई (तहरीर), हाव भाव, प्रतीक, रेडियो, पत्र, तार, फोन, समाचार पत्र, टी० वी० आदि सम्प्रेषण के मुख्य साधन हैं जिनके द्वारा सामाजिक सम्पर्क और अन्त में सामाजिक अन्तःक्रिया संभव होती है। यदि सम्प्रेषण न होता तो संभवतः समाज भी न होता।

सामाजिक अन्तःक्रिया में सामाजिक उत्तेजनाएँ

(Social Stimuli in Social Interaction)

सामाजिक अन्तःक्रिया के होने में सामाजिक उत्तेजनाएँ प्रमुख भूमिका निभाती हैं। इनमें कुछ प्राथमिक उत्तेजनाएँ होती हैं—जैसे एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के सम्पर्क में आता और उद्दीप्त करता है। दूसरे प्रकार की उत्तेजनाएँ गौण होती हैं जैसे कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को उपस्थित हुये बिना अप्रत्यक्ष रूप से उद्दीप्त करता है। ऐसा सम्प्रेषण-साधनों द्वारा संभव होता है जैसे फोन, पत्र, तार आदि।

प्राथमिक सामाजिक उत्तेजनाएँ

1. **हाव-भाव** (Gestures)—व्यक्ति की भाषा के अतिरिक्त कुछ अवाचिक संकेत भी उद्दीपन का कार्य करते हैं—जैसे हाव-भाव ! यह छः प्रकार का होता है। यह सामाजिक अन्तःक्रिया में सामाजिक उद्दीपन का कार्य करता है।

(i) **सांवेगिक हावभाव** (Emotional Gesture)—हाथ मलना, होंठ को दाँतों से काटना आदि। सामाजिक अन्तःक्रिया के लिए यह एक प्रमुख उद्दीपक है। किसी व्यक्ति के सांवेगिक अभिव्यक्ति को महसूस करके अन्य व्यक्ति तदनुसार प्रभावित होता एवं अन्तःक्रिया करता है।

(ii) **निर्देशक हाव भाव** (Demonstrative Gesture)—इस प्रकार के हाव भाव में व्यक्ति द्वारा लिए गये निर्देशक संकेतों को रखा जाता है। कभी-कभी किसी स्थिति में व्यक्ति अपनी आँखों, भुजाओं, गर्दन आदि की इंगित द्वारा अपनी भावनाओं को अवाचिक रूप में व्यक्त करके अन्तःक्रिया करता है। यह इशारे अन्य व्यक्ति के लिये सामाजिक उत्तेजना का कार्य करते हैं।

(iii) **सुचित्रित हाव-भाव** (Graphic Gesture)—इस प्रकार के हाव-भाव में सुचित्रित संकेतों को प्रयोग किया जाता है। हाथ के इसारे से बताना कि कोई व्यक्ति पतला है या मोटा है।

(iv) **प्रतीकात्मक हाव भाव** (Symbolic Gesture)—संकेतों के माध्यम से विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकात्मक हावभाव प्रयुक्त होते हैं। नृत्य की विभिन्न मुद्रायें इसका एक उदाहरण हैं।

(v) **आदतजन्य हावभाव** (Habitual Gesture)—यह हावभाव व्यक्ति की आदत बन जाते हैं और अन्तःक्रिया में उद्दीपन का कार्य करते हैं।

(vi) **अचेतन हाव भाव** (Unconscious Gesture) कुछ हाव भाव अचेतन रूप में व्यक्त होते हैं और व्यक्ति को उनके कारणों की चेतना नहीं होती।

2. **स्वराभिव्यक्ति** (Vocal Expressions)—व्यक्ति द्वारा मुखरित स्वर भी सामाजिक अन्तःक्रिया में उद्दीपन कार्य करते हैं। स्वर अभिव्यक्ति सस्नेह,

मधुर, आक्रामक या कर्कश हो सकती है और तदनुसार प्रतिक्रिया भी होती है। क्रोध, भय, आदि संवेगों के अनुभूति के समय व्यक्ति की स्वराभिव्यक्ति संवेग से प्रभावित होती है और अन्य व्यक्ति भी उसी के अनुसार अनुक्रिया करता है। कुछ प्रभावहीन स्वर सामाजिक अन्तःक्रिया को मन्द तथा प्रभावशाली स्वर अन्तःक्रिया को तीव्र करते हैं।

3. **मुखाकृति अभिव्यक्ति (Facial Expression)**—मुखाकृति-अभिव्यक्ति भी सामाजिक अन्तःक्रिया में उद्दीपन का कार्य करती है। संवेगों और भावनाओं की अभिव्यक्ति में मुखाकृति के प्रकाशन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विभिन्न संवेगों की अनुभूति का प्रभाव मुखमण्डल द्वारा शीघ्र व्यक्त होता है। मुखाकृति सम्बन्धी प्रकाशनों से किसी व्यक्ति की मनोदशा स्पष्ट रूप से जानी जा सकती है जैसे मुँह का खुला रह जाना, भौंहों का तना होना आदि।

4. **मुस्कान-हँसी आदि (Smile & Laughter)**—मुस्कान और हँसी भी सामाजिक अन्तःक्रिया में उत्तेजक का कार्य करते हैं। मुस्कान अथवा हँसी अन्तःक्रिया के लिये अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को आकृष्ट एवं आमन्त्रित करते हैं।

5. **भाषा (Language)**—अवाचिक उत्तेजकों के अतिरिक्त कुछ वाचिक उत्तेजक भी सामाजिक अन्तःक्रिया को सुलभ या दुर्लभ बनाते हैं जिसमें भाषा एवं वाणी प्रमुख है। भाषा अपने विचारों भावनाओं तथा आवश्यकताओं को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है अतः यह सामाजिक अन्तःक्रिया में प्रमुख भूमिका निभाती है। भाषा कभी प्रेम, मित्रता और स्नेह को और कभी घृणा, विकर्षण और क्रोध को बढ़ावा देती है। मित्रता और शत्रुता दोनों ही इसके सदुपयोग या दुरुपयोग पर निर्भर करते हैं।

6. **शारीरिक आसन (Body Postures)**—शरीर के आसन या मुद्रायें भी विचारों एवं भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। अतः यह भी सामाजिक अन्तःक्रिया में उद्दीपन का कार्य करती है। विवाह-बारात में शामिल होने तथा शवयात्रा में व्यक्ति के शारीरिक आसन एक जैसे नहीं होते।

सामाजिक अन्तःक्रिया के निर्धारक
(Determinants of Social Interaction)

विभिन्न स्थितियों में विभिन्न कारक सामाजिक अन्तःक्रिया को प्रभावित करते हैं। वास्तव में यह कारक विभिन्न प्रकार की अन्तःक्रियाओं को अलग-अलग उतना प्रभावित नहीं करते जितना कि अन्योन्याश्रित रूप से उन्हें कुल मिलाकर प्रभावित करते हैं।

1. **व्यक्ति सम्बन्धी कारक (Individual factors)**—कुछ कारक जैसे अन्तःक्रिया करने वाले की आयु, यौन शैक्षणिक स्तर, व्यवसाय, सामाजिक

संस्थिति (Social Status) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सामाजिक वर्ग, उसका धर्म और परिवार आदि व्यक्ति से सम्बन्धित कारक सामाजिक अन्तःक्रिया को प्रभावित करते हैं। यह कारक हर स्तर और हर प्रकार की अन्तःक्रिया पर प्रभाव डालते हैं।

2. **परिस्थिति और सुविधाओं से सम्बद्ध कारक**—सामाजिक अन्तःक्रिया की विभिन्न परिस्थितियाँ और उनसे सम्बद्ध सुविधाएँ भी अन्तःक्रिया को प्रभावित करती हैं। अन्तःक्रिया का स्थान तथा उपलब्ध सुविधाएँ अन्तःक्रिया को सुलभ या दुर्लभ बनाती हैं। संस्कृति का भौतिक पक्ष इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो अन्तःक्रिया के लिए स्थान तथा सुविधाएँ प्रदान करता है। अन्तःक्रिया का स्थान शान्त या कोलाहलपूर्ण है, बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि स्थान का शान्त होना प्रोत्साहक और सुखद होता है। इन बातों से सम्बद्ध अनेक कारक अन्तःक्रिया को सरल या जटिल बना सकते हैं।

3. **अन्तःक्रिया के भागग्राहियों से सम्बद्ध कारक**—सामाजिक अन्तःक्रिया किन लोगों के बीच होती है, उनकी संख्या, उनकी योग्यता, उनके तौर-तरीके, उनकी अभिवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ, अनुभव व रुचियाँ, अरुचियाँ आदि महत्वपूर्ण कारक सामाजिक अन्तःक्रिया को प्रभावित करते हैं।

4. **अन्य कारक**—उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी सामाजिक अन्तःक्रिया पर प्रभाव डालते हैं—जैसे अन्तःक्रिया करने वालों की समस्याएँ, मनःस्थिति, कार्य, उनकी अनुकूलताएँ, एकत्रित होने के अवसर, सम्प्रेषण की विधि आदि।

अन्तःक्रिया प्रक्रियाओं के रूप
(Forms of Interaction Processes)

बीसेज़ तथा बीसैज़ (Biesaaz & Biessaz; 1950) ने सामाजिक अन्तःक्रिया के विभिन्न रूपों को सामाजिक प्रक्रिया का नाम दिया है। यह सामाजिक अन्तःक्रियाएँ मुख्य रूप से एकीकृत करने वाली (Integrative or conjunctive) तथा पृथक करने वाली (Disjunctive) होती है। प्रथम के अन्तर्गत सहयोग, व्यवस्थापन और सात्मीकरण तथा द्वितीय वर्ग में प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, जैसी सामाजिक प्रक्रियाएँ आती हैं। यहाँ इन सबका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

1. **सहयोग** (Cooperation)—सहयोग एक प्रकार की अन्तःक्रिया है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति किसी उभयनिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए किसी कालेज के टीचर्स द्वारा संस्था के शैक्षणिक स्तर को उच्च बनाए रखने, संस्था की मान मर्यादा को जनसाधारण में बढ़ाने में सहयोग दिया जाना। इन उद्देश्यों या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए वे आपसी भेद को नज़र अन्दाज़ करके एक दूसरे के साथ सहयोगपूर्ण व्यवहार करते हैं। ग्रीन (Green;

1956) के अनुसार, "सहयोग दो या अधिक व्यक्तियों द्वारा समान रूप से इच्छित किसी कार्य को करने या किसी लक्ष्य तक पहुँचने के सार्वजनिक एवं निरन्तर प्रयास हैं।" ("Cooperation is the continuous and common endeavour of two or more persons to perform a task or to reach a goal that is commonly cherished.")

अकोलकर (Akolkar, 1960) के अनुसार, "सहयोग का सार यह है कि सम्बन्धित व्यक्तियों या समूहों का एक सामान्य लक्ष्य होता है और वे अपने एक दूसरे के साथ इस प्रकार व्यवहार करते हैं कि लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।" ("The essence of cooperative behaviour is that the individuals (or groups) concerned have a common aim and that they so adjust their behaviour that the end may be realized."

सहयोग द्वारा समूह में सौहार्दपूर्ण और मधुर सम्बन्ध स्थापित होते हैं। सहयोग से समुदायिक जीवन की उत्पत्ति हुई है और इसी में निहित है संगठन। सहयोग से सुख और शान्ति सम्बद्ध हैं। इससे समूह में संतोष का भाव विकसित होता है। सहयोग द्वारा जटिल कार्यों और दुर्गम लक्ष्यों की प्राप्ति संभव होती है। सहयोग की ही भावना ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीयों को एक जुट होकर अंग्रेजों की गुलामी से देश को स्वतंत्र कराया। सहयोग के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं—उभयनिष्ठ लक्ष्य (Common goal) और एकजुट प्रयास (Concerted effort)। यही विचार व्यक्त किया है फ़ेयरचाइल्ड (Fairchild) ने जब वे कहते हैं कि, "सहयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति या समूह मिलकर प्रयास करते हैं, और इसी के कारण उनका प्रयास संगठित होता है जिससे उनके उभयनिष्ठ लक्ष्य प्राप्त होते हैं।" ("Cooperation is the process by which individuals or groups combine their effort, in a more or less organized way, for the attainment of common adjectives.") इसी प्रकार किसी कालेज के टीचर्स प्रयासों को संगठित कर शिक्षा के उच्च स्तर तथा संस्था की गरिमा को बनाए रखने तथा बढ़ाने का प्रयास करते हैं।

सहयोग के प्रकार
(Types of Cooperation)

सहयोग या तो प्रत्यक्ष (Direct) होता है या अप्रत्यक्ष (indirect)। औद्योगीकरण से सहयोग की भावना को कुछ आघात पहुँचा है और यह समाज में कम होता जा रहा है। आज लोग पहले से अधिक स्वार्थ प्रेरित होते जा रहे हैं।

1. प्राथमिक सहयोग (Primary cooperation)—इसमें दो या अधिक व्यक्ति या समूह के सदस्य समूह लक्ष्यों को अपना लक्ष्य बना लेते हैं। ऐसा सहयोग

समूह के सदस्यों में मैत्रीय और घनिष्ठता को बढ़ावा देता है। अपनेपन की भावना से प्रेरित लोगों में इस तरह का सहयोग अधिक देखा जाता है। पति-पत्नी, माँ-बेटे आदि में सहयोग प्राथमिक सहयोग का उदाहरण है।

2. द्वितीयक सहयोग (Secondary cooperation)—जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह के लोग उभयनिष्ठ लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए करते हैं तो इसे द्वितीयक या गौण सहयोग कहा जाता है—जैसे एक कर्मचारी अपने अधिकारी के साथ सहयोग करता है क्योंकि ऐसा करना उसके स्वार्थ सिद्धि के लिए आवश्यक है।

3. तृतीयक सहयोग (Tertiary cooperation)—इस प्रकार का सहयोग भी दो या अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों के लोगों में मिल जुलकर समाज की बदली परिस्थितियों में अभियोजन स्थापित के लिए होता है। उदाहरण के लिए संकटकालीन परिस्थितियों में विभिन्न राजनैतिक दल अपने आपसी मतभेदों को भुलाकर सरकार को सहयोग देते हैं।

सहयोग के कारण
(Causes of Cooperation)

1. **आवश्यकता पूर्ति**—लोग आपस में एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं क्योंकि अकेले वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता उसे समय-समय पर समूह के अन्य सदस्यों के सहयोग की जरूरत होती है।

2. **स्वार्थ पूर्ति**—अपने स्वार्थों की पूर्ति के कारण भी समाज में अनेक व्यक्ति अन्य लोगों या समूहों को सहयोग देते हैं। समाज में लगभग प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक-आर्थिक स्तर को उच्च कर अपने अहं भाव की तुष्टि चाहता है। परिणाम स्वरूप लोग पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्वार्थ प्रेरित होते जा रहे हैं। स्वार्थ सिद्धि में सही-गलत की चिन्ता किये बिना वे केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति चाहते हैं।

3. **सफलता**—औद्योगीकरण के कारण आज के समाज में सफलता और उन्नति करना प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह की सबसे बड़ी चाह बन चुकी है। सफलता या उन्नति के लिये अन्य व्यक्तियों का वांछित सहयोग प्राप्त करना आवश्यक हो गया है।

4. **सामाजिक दबाव**—सामाजिक परिवर्तनों के कारण आज के युग में सहयोग करने के लिये व्यक्ति सामाजिक दबाव का अनुभव करता है।

5. **मनोवैज्ञानिक कारण**—कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी सहयोग की भावना को बढ़ावा देते हैं—जैसे माँ-बेटे, पति-पत्नि आदि आपस में सहयोग करते हैं। पारस्परिक स्नेह, प्रेम, सन्तोष आदि की भावनाओं के कारण लोग एक

दूसरे के साथ सहयोग पूर्ण व्यवहार करते हैं। सहयोग से मधुर एवं घनिष्ठ सम्बन्धों में वृद्धि होती है जो उन्हें मनोवैज्ञानिक सन्तोष प्रदान करती है।

व्यवस्थापन या समंजन

(Accomodation)

मैकाइवर तथा पेज (Mc Iver & Page 1953) के अनुसार, "समंजन शब्द विशेष रूप से उस प्रक्रिया की ओर इंगित करता है जिसके द्वारा व्यक्ति पर्यावरण के साथ अभियोजन करता है।" ("The term accomodation refers particularly to the process in which man attains a sense of harmony with his environment".)

गिलिन तथा गिलिन (Gillin & Gillin, 1950) के अनुसार, "समंजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति और समूह विरोधी क्रियाओं का अनुकूलन संयुक्त या सम्मिलित एकता के हित में कर लेते हैं।" ("Accomodation is a process by which the individual and the group adjust their anatogonistic activities in the interest of associated unity.")

जोन्स के अनुसार 'समंजन, एक प्रकार से असहमति के लिये सहमत होना है"। "In one sense, accomodation may be said to be an agreement to disagree.")

द्वन्द्व तथा संघर्ष की समाप्ति में समंजन प्रथम चरण है। इसके बाद सहयोग आरंभ होता है। व्यक्ति यदि अन्य लोगों के साथ सहमत होने में विफल रहता है तो भी उन्हें सहन करना या झेलना जरूरी है। व्यक्ति को जीवन के साथ समझौता करना पड़ता है। समंजन के बिना जीवन फूलों से भरा नहीं हैं। जीवन के साथ समझौता करने में वैमनस्यता, शत्रुता का निलम्बन तथा द्वन्द्व से परिहार आवश्यक हैं। ऐसा होने पर असमानता से द्वन्द्व नहीं उत्पन्न होता है। उभयनिष्ठ सहमति की समझ ही समंजन है। यह एक अचेतन प्रक्रिया है जो जीवन के एक या अन्य क्षेत्र में सक्रिय रहती है। परिवार में किशोर का जीवन समंजन का एक रोचक एवं प्रमुख उदाहरण है। बच्चों में माता-पिता के लिए अनुचित भावनाएँ होती हैं फिर भी वह अपने आपको उनकी मर्जी के अनुकूल बनाने या ढालने का प्रयास करते हैं। वह मां-बाप का आदर करता है यद्यपि उसके मन में विद्रोह की ज्वाला धधकती है। एक नवविहिता युवती इच्छा न होते हुए अपने पति के परिवार के अपरिचित और टेढ़े मेढ़े सदस्यों के साथ समंजन और सामंजस्य स्थापित करती है। समंजन जीवित रहने की एक कला है। मनुष्य में यह योग्यता उच्चतम मात्रा में विद्यमान होती है। इसी योग्यता के कारण मानव संसार का सबसे शक्तिशाली जीव

है। समंजन या अभियोजन की क्रिया जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखी जाती है। अनुकूलन या समंजन से तनाव एवं द्वन्द्व की स्थिति टल जाती है।

समंजन या अनुकूलन की विधियाँ

(Methods of Accomodation)

1. **शक्ति के सामने झुकना (Yeilding to coercion)**—जब विरोधी व्यक्ति या समूह अधिक शक्तिशाली होता है तब उसकी शक्ति के दबाव में अनुकूलन या समंजन किया जाता है। पद में उच्च होने पर भी दूसरों को दबाव में लेकर अनुकूलन के लिये तैयार किया जाता है।

2. **समझौता (Compromise)**—समझौता भी व्यक्तियों अथवा समूहों में समंजन की एक प्रमुख विधि है। समझौते में कुछ मिलता है और कुछ लगाना भी पड़ता है। दोनों पक्ष कुछ देते, कुछ लेते हैं।

3. **सहिष्णुता (Tolerance)**—समंजन स्थापित करने के लिए सहनशीलता की विधि भी प्रयुक्त होती है। जिन लोगों में बर्दाश्त करने या दूसरे को झेलने की क्षमता जितनी अधिक होती है वह उतने ही अधिक समंजनशील होते हैं और सामाजिक अन्तःक्रिया में भी उतने सफल होते हैं।

4. **मत परिवर्तन (Change of opinion)**—समंजन या अनुकूलन स्थापिक करने की एक विधि मतपरिवर्तन भी है जिसमें विचारों और मतों को बदलते हैं। मत में बदलाव से अनुरूपता और उसके बाद अभियोजन या अनुकूलन अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

5. **उन्नयन (Sublimation)**—उन्नयन वह विधि है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी अवांछित, असामाजिक, अनैतिक इच्छाओं को समाज द्वारा मान्य कार्यों में रुपान्तरिक अथवा मार्गान्तरित करता है।

6. **सुयुक्तिकरण (Rationalization)**—इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति अपने असफलताओं को अचेतन रुप से छिपाने के प्रयास करता है। इस प्रयास में वह अनेक प्रकार की युक्तियां, तर्क, बहाने ढूंढ कर उनके द्वारा अपने को और अपने कार्यों को उचित ठहराने का प्रयास करता है।

सात्मीकरण

(Assimilation)

सामाजिक अभियोजन का यह एक रुप है। व्यक्ति या समूह जब अपने आपको किसी नयी परिस्थिति में पाता है तो अचेतन रुप से उसे अपने में आत्मसात (absorb) करने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया द्वारा उसकी अभिवृत्तियाँ संशोधित होती हैं। उदाहरण के लिए सदियों से साथ रहने के कारण हिन्दू तथा मुसलमानों ने एक दूसरे की संस्कृति के अनेक तथ्यों को आत्मसात (absorb) कर

लिया है, और उन्हें अपनी रहन-सहन, व्यवहार और चरित्र का अंश बना लिया है। यही सात्मीकरण कहलाता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हुए विकास द्वारा आवागमन के द्रुत गति साधनों और सम्प्रेषण साधनों के चलते सात्मीकरण की प्रक्रिया अत्यन्त व्यापक और तीव्र गति हो गई है। सामाजिक सम्पर्क प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, इतना बढ़ गया है कि विचारों, चिन्तन आदि का सात्मीकरण पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है।

जब विभिन्न संस्कृतियाँ सम्पर्क में आती हैं तो आरम्भ में पारस्परिक द्वन्द्व का भाव उत्पन्न होता है किन्तु जब उनका मिलाप धीरे-धीरे बढ़ता है और एक दूसरे की बातों का सात्मीकरण होता है तो उनमें एक दूसरे के प्रति सहनशीलता विकसित होती है। ऐसा होने पर सात्मीकरण की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

आगबर्न तथा निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff; 1957) के अनुसार, "सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा असमान व्यक्ति या समूहों में समानता आती है अथवा वह अपने स्वार्थों और दृष्टिकोणों में समान हो जाते हैं।" (Assimilation is the process whereby individuals or groups once dissimilar become similar, that is, become identified in their interests and outlook.'

डासन तथा गेटीज (Dawson & Gettys) के अनुसार, "सात्मीकरण संस्कृतियों में अनुरूपता और समानता का सूचक है।" ("Assimilation denotes conformity and uniformity in respect of cultures.") बीसेंज तथा बीसेंज (Biesanz & Biesanz; 1954) के अनुसार, "सात्मीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति और समूह समान भावनाओं, मूल्यों और उद्देश्यों को अपना लेते हैं।" ("Assimilation is the social process whereby individuals and groups come to share the same sentiments.".)

सात्मीकरण में सहायक कारक

(Factors Favouring Assimilation)

सात्मीकरण की प्रकिया में निम्न कारक सहायक होते हैं—

1. सहनशीलता (Tolerance)—सहनशीलता सात्मीकरण को प्रोत्साहित करती हैं। सात्मीकरण के लिए घनिष्ट और निकट सामाजिक सम्बन्ध आवश्यक होते हैं, और यह उस समय असंभव है यदि सहनशीलता न हो! जब एक संस्कृति में विश्वास करने वाले लोग, अन्य संस्कृति में विश्वास करने वालों की अस्तित्व को सहन करने के लिए तत्पर होते हैं तो उनके उस अन्य संस्कृति से प्रभावित होने की संभावना होती है। इसी में सात्मीकरण की जड़े निहित हैं।

2. **सम्मिश्रण** (Amalgamation)—सम्मिश्रण से सात्मीकरण की ओर भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है क्योंकि सम्मिश्रण से रक्त सम्बन्ध स्थापित होने की ओर ले जाता है। किसी समूह के लोग जितना ज्यादा घुलमिल जाते हैं उसमें सात्मीकरण की संभावना उतनी ही अधिक होती है। विवाह के सम्बन्धों द्वारा घनिष्टता ही नहीं सम्मिश्रण के अवसर प्राप्त होते हैं। अन्तर्जातीय विवाह भी सम्मिश्रण का अवसर देता है।

3. **सांस्कृतिक समानताएं** (Cultural similarities)—जब व्यक्तियों, तथा समूहों में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक समानताएँ होती हैं तो उनका मेल-मिलाप शीघ्र होता है और उनका सात्मीकरण शीघ्र होता है।

4. **समान आर्थिक अवसर** (Equal economic opportunities)—आर्थिक विषमता से ईर्ष्या, घृणा तथा संघर्ष का विकास होता है। यदि लोगों को अपने पड़ोसियों, ग्रामवासियों आदि के समान आर्थिक प्रगति के बराबर अवसर प्राप्त होते हैं तो उनमें सामाजिक घनिष्ठता तथा सात्मीकरण बढ़ता है।

5. **घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्ध** (Intimate social relations)—घनिष्ट और निकट सामाजिक सम्बन्ध भी सात्मीकरण को बढ़ाते हैं। सम्पर्क और घनिष्ठता का अनुपात जितना बढ़ता है सात्मीकरण उसी अनुपात में बढ़ता है।

सात्मीकरण में अवरोधक कारक

(Factors Hinderiug Assimilation)

निम्न कारक सात्मीकरण में बाधक होते हैं :—

1. **पृथकता** (Isolation)—घनिष्ठता एवं सामाजिक निकटता सात्मीकरण को बढ़ाती है, उसी प्रकार पृथकता सात्मीकरण में रुकावट डालती है। जब लोग एक-दूसरे से अलग-अलग होते हैं तो पारस्परिक प्रभाव की संभावना ही समाप्त हो जाती है।

2. **श्रेष्ठ, या हीन भावना** (Superiority or inferioriy feelings)—जिन लोगों में श्रेष्ठता या हीनता की भावना होती है वे दूसरों के प्रति घृणा, शत्रुता आदि की भावनाएँ रखते हैं। वे बहुधा ऐसे लोगों से सम्बन्ध रखने से मना करते हैं। अतः उनसे सामाजिक सम्पर्क, पारस्परिक सम्बन्ध आदि के अभाव में अनेक सीखने योग्य बातों को जानने और सीखने से वंचित हो जाते हैं।

3. **स्वपीड़न** (Self Persecution)—स्वपीड़न, सामाजिक शोषण तथा अन्याय से शोषकों और शोषितों में द्वन्द्व एवं संघर्ष आरंभ हो जाते हैं। इससे घनिष्ठता में कमी आती है जो सात्मीकरण के लिए अनिवार्य है।

4. **सांस्कृतिक भिन्नता** (Cultural differences)—जिस प्रकार

सामाजिक समानता सात्मीकरण को बढ़ावा देती है उसी प्रकार सांस्कृतिक भिन्नता सात्मीकरण में बाधक होती है। कारण यह है कि सांस्कृतिक भिन्नता के कारण लोग एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखते अतः सात्मीकरण दुर्लभ होता है।

5. शारीरिक लक्षणों में भिन्नता (Differences in physical symptoms)—रंग, शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक लक्षणों के आधार पर लोग एक दूसरे से विभेदन करते हैं। लोगों के निकट आने, सम्मिश्रित होने, घनिष्ठ सम्बन्धों में रुकावट डालने के कारण यह कारक सात्मीकरण में बाधक होता है।

प्रतिस्पर्धा
(Competition)

प्रतिस्पर्धा एक विघटनकारी सामाजिक प्रक्रिया है। यह एक मूल-भूत सामाजिक प्रक्रिया है जो असहयोग और विरोध के रुप में अभिव्यक्त होती है। बीसेंज़ तथा बीसेंज (Biesanz & Biesanz; 1954) ने कहा है कि, "प्रतिस्पर्धा दो या अधिक लोगों के एक लक्ष्य को, जो बहुत सीमित है कि उसमें सभी की हिस्सेदारी संभव नहीं है, पाने के प्रयास करते हैं।" ("Competition is the striving of two or more persons of limited goal, which is limited so that all cannot share it.") बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "प्रतिस्पर्धा किसी वस्तु को प्राप्त करने का मुकाबला है जो इतनी प्रर्याप्त नहीं है कि माँगों की पूर्ति कर सके।" अर्थात् एक अनार सौ बीमार की स्थिति होती है। ("Competition is a contest to obtain something which does not exist in a quantity sufficient to meet the demands." Bogardus)

उपर्युक्त परिभाषाओं से प्रतीत होता है कि प्रतिस्पर्धा का उद्देश्य ऐसी वस्तुओं को प्राप्त करना है जिनकी उपलब्धता अत्यन्त सीमित है। हवा या जल के लिए कोई स्पर्धा नहीं है। प्रतिस्पर्धा अवैयक्तिक, अचेतन और निरन्तर प्रयास है जिसके द्वारा एक ही लक्ष्य को दो या अधिक व्यक्ति हासिल करना चाहते हैं।

प्रतिस्पर्धा का स्वरुप
(Nature of Competition)

निम्नलिखित विशेषताएँ स्पर्धा के स्वरुप को निर्धारित करती हैं :—

(i) प्रतिस्पर्धा अचेतन क्रिया है।

(ii) यह अवैयक्तिक (impersonal) होती है।

(iii) प्रतिस्पर्धा निरन्तर जारी रखने वाली क्रिया है अर्थात् इसकी समाप्ति नहीं होती।

(iv) प्रतिस्पर्धा हर समाज, हर देश में व्याप्त है, अर्थात् सार्वभौम क्रिया है;

प्रतिस्पर्धा के रुप (Forms of Competition)—गिलिन तथा गिलिन (1950) के अनुसार स्पर्धा के पाँच रुप होते हैं :—

1. **आर्थिक स्पर्धा (Economic competition)**—आर्थिक सामग्रियों से प्राप्ति के लिए व्यक्तियों, समूहों आदि के बीच जो स्पर्धा देखी जाती है वह आर्थिक स्पर्धा कही जाती है यह प्रतिस्पर्धा आर्थिक क्रियाओं के उत्पादन, विनिमय, वितरण, आदि में व्याप्त होती है। आज विश्व का हर समाज अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने में प्रयास रत है। समाज में साधनों के सीमित होने के कारण लोगों में स्पर्धा होती है। व्यापारियों, उद्योगपतियों में ऐसी स्पर्धा अत्यन्त सामान्य है।

2. **सांस्कृतिक स्पर्धा (Cultural competition)**—विभिन्न संस्कृतियों में जो स्पर्धा पाई जाती है उसे सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा कहा जाता है। किसी भी देश के इतिहास का सिंहावलोकन करें तो सांस्कृतिक कारणों से प्रतिस्पर्धा के उदाहरण मिल सकते हैं। भारत में द्रविड़ों की मूल सभ्यता तथा आर्यों के आगमन से दोनों सभ्यताओं में स्पर्धा हुई। मुसलमानों के आगमन के परिणामस्वरूप फिर सांस्कृतिक कारणों से स्पर्धा की स्थिति उत्पन्न हुई।

3. **सामाजिक स्पर्धा (Social competition)**—समाज में उच्च संस्थिति (high status) तथा अच्छी भूमिकाओं की प्राप्ति के लिए स्पर्धा होती है। संस्थिति और भूमिका की प्रतिस्पर्धा के कारण लोगों में कड़ा मुकाबला देखा जाता है।

4. **राजनैतिक प्रतिस्पर्धा (Political competition)**—प्रत्येक देश में जहाँ प्रजातांत्रिक प्रणाली लागू है, राजनैतिक दलों में भीषण स्पर्धा की स्थिति है। उत्तर प्रदेश में सपा, बसपा के पावर में आने पर, इन दोनों दलों तथा भाजपा में कड़ी प्रतिस्पर्धा की स्थिति व्याप्त है। राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की होड़ लगी हुई है।

5. **प्रजातीय प्रतिस्पर्धा (Racial competition)**—यह प्रतिस्पर्धा दो या अधिक प्रजातियों के बीच पाई जाती है। प्रत्येक प्रजाति अपने को अन्य से श्रेष्ठ समझती है। दक्षिणी अफ्रीका में हब्शियों तथा श्वेतों में कड़ी प्रतिस्पर्धा थी। हाल में सम्पन्न चुनावों में नेल्सन मण्डेला के ए० एन० सी० को विजय इस प्रकार की स्पर्धा का उदाहरण है।

प्रतिस्पर्धा के परिणाम
(Consequences of Competition)

प्रतिस्पर्धा, आज के समाज में जीवन के हर क्षेत्र में छायी हुई है। भारत में पहले शिक्षित व्यक्तियों की कमी थी अतः प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपनी योग्यता के

अनुसार नौकरी प्राप्त कर लेता था। आज स्थिति इसके विपरीत है, प्रवेश तक के लिए कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्रतिस्पर्धक प्रवेश परीक्षाएं होती हैं। समाज में नौकरी के लिए अथवा विभिन्न प्राइवेट व्यवसायों गलाकाट स्पर्धा (Cut throat Competition) देखा जा रहा है। समाज के हर क्षेत्र यथा राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक में जबरदस्त प्रतिस्पर्धा व्याप्त है। इसके कुछ परिणाम निम्न हैं—

1. संगठनात्मक परिणाम (Associative consequences)—प्रतिस्पर्धा स्वस्थ भी हो सकती है और अस्वस्थ भी। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से व्यक्ति और समाज-दोनों की प्रगति होती है। आज समाज के प्रत्येक वर्ग ने अपना संगठन बना रखा है—जैसे छात्र संघ, अध्यापक संघ, अधिवक्ता (वकील) संघ, मजदूर संघ, व्यापार मण्डल आदि। इनके द्वारा वह अपने समूह की उन्नति के लिए स्पर्धा रत हैं।

2. विघटनकारी परिणाम (Dissociative consequences)—जब प्रतिस्पर्धा अस्वस्थ रूप लेती है तो अनेक अपने प्रतिद्वन्द्वियों को क्षति पहुँचाकर, चोट पहुँचाकर, या हिंसक विधियों द्वारा अपने प्रतिस्पर्धक उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। ऐसी प्रतिस्पर्धा वैमनस्यता, घृणा, तनाव, संघर्ष आदि को जन्म देती है जो सभी विघटनकारी प्रक्रियाएँ हैं।

3. व्यक्तित्व पर प्रभाव (Effects on personality)—प्रतिस्पर्धा करने वालों के व्यक्तित्व पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से व्यक्तित्व के स्वस्थ एवं अच्छे लक्षण विकसित होते हैं और अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा से व्यक्तित्व में ऐसे लक्षणों का विकास होता है जो न केवल व्यक्ति वरन् समाज के लिए भी घातक होते हैं।

संघर्ष
(Conflict)

प्रतिस्पर्धा धीरे-धीरे ईर्ष्या में परिवर्तित हो जाती है जो अन्ततः संघर्ष में बदल जाती है। किंग्स्ले डेविस ने संभवतः सही कहा था कि "It is thus a modified form of struggle".

गिलिन तथा गिलिन (Gillin & Gillin, 1950)—ने कहा है कि, "संघर्ष सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह अपने प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति प्रत्यक्ष हिंसक तरीके अपनाकर अथवा धमकी देकर अपने लक्ष्यों की पूर्ति करते हैं।" ("Conflict is the social process in which individuals or groups seek their ends by directly challenging the antagonist by violence or the threat of violence.")

इससे स्पष्ट है कि संघर्ष में हिंसा की इच्छा निहित होती है। इसमें प्रतिकार या बदला लेने की इच्छा भी निहित होती है।

ए० डब्ल्यू० ग्रीन (A W. Green; 1956) के कथनानुसार, "संघर्ष वह प्रयत्न है जो जाना बूझा होता है और इसमें व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों की इच्छाओं का विरोध या प्रतिकार करते हैं।" ("Conflict is the deliberate attempt to oppose resist, or coerce the will of another or others.")

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संघर्ष एक पारस्परिक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें दो लोग, या अधिक व्यक्ति अथवा समूह किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये विरोधी क्रियाएँ करते हैं और कभी कभी वे विरोध करने में हिंसात्मक कार्य भी करते हैं। संघर्ष में तू-तू-मैं-मैं, गाली-गलौज, अबे-तबे, मारपीट, हाथापाई, आदि व्यवहार अभिव्यक्त होते हैं। प्रतिस्पर्धा में गलत तरीके अपनाने से स्पर्धा संघर्ष का रूप ले लेती है। दो टीमें क्रीड़ास्थल में हार-जीत की बात पर स्पर्धा के कारण लड़ाई कर लेती हैं। राजनैतिक पार्टियों, दो जातियों, धर्मों आदि के बीच भी संघर्ष होता है। संघर्ष सहयोग प्रक्रिया की विपरीत प्रक्रिया है। व्यक्ति व्यक्तियों और समूहों के कार्यों में संघर्ष बाधा उत्पन्न करता है। संघर्ष की उत्पत्ति परस्पर विरोधी उद्देश्यों के कारण होती है। इसी प्रकार कार्य की विरोधी विधियों द्वारा भी संघर्ष उत्पन्न होता है।

संघर्ष का स्वरूप
(Nature of Conflict)

संक्षेप में निम्न लक्षण संघर्ष के स्वरूप में मुख्य रूप से पाये जाते हैं—

1. संघर्ष एक चेतन क्रिया है। पार्क तथा बर्जेस (Park & Burgess) के अनुसार, "संघर्ष व्यक्ति में तीव्रतम संवेगों को उत्पन्न करते हैं, तथा अधिकतम ध्यानाकर्ष तथा संस्कृति को केन्द्रित करता है। ("Conflict,.....evokes the deepest emotions and strongest passions and enlish the greatest concentration of attection and culture.)"

2. संघर्ष एक निजी क्रिया है। संघर्ष विरोधी को पराजित करने के लिए न किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पन्न होता है। संघर्ष का मुख्य उद्देश्य प्रतिद्वन्दी को क्षति पहुँचाना होता है।

3. संघर्ष में निरन्तरता का अभाव होता है।

4. संघर्ष एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया है यह प्रत्येक समाज में व्याप्त है।

संघर्ष के रूप
(Forms of Conflict)

संघर्ष के विभिन्न रूप निम्न हैं :

1. वैयक्तिक संघर्ष (Personal Conflict)—विभिन्न आदर्शों

विचारों और उद्देश्यों के कारण दो व्यक्तियों या समूहों में संघर्ष उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए किसी कालेज के दो प्रोफेसरों में प्राचार्य पद के लिये विरोध और संघर्ष हो सकता है। कारण यह है कि पद एक है और उसे प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति कई एक है।

2. **वर्ग संघर्ष (Class Conflict)**—जब समाज के दो या अधिक वर्गों में संघर्ष होता है। वर्गों में समाज के विभाजन के अनेक आधार हो सकते हैं—जैसे धर्म, जाति, व्यवसाय, नौकरी, शिक्षा आदि ! पूंजीपति और श्रमिक वर्गों में संघर्ष भी इसका उदाहरण हैं। आरक्षण की नीति के कारण फारवर्ड और बैकवर्ड वर्गों में संघर्ष भी इसका एक प्रमुख उदाहरण है।

3. **जातिगत संघर्ष (Caste Conflict)**—विभिन्न जातियों के लोग स्वयं को श्रेष्ठ और अन्य को हीन मानते हैं। इस कारण भारत में विभिन्न जातियों में संघर्ष जारी हैं।

4. **समूह संघर्ष (Group Conflict)**—राजनीति में विभिन्न रुचियों और प्रेरणाओं के चलते विभिन्न समूह अपने उद्देश्यों और रुचियों को पूरा करने के लिए संघर्ष करते हैं। इस प्रकार अपने-अपने समूह के हितों के कारण समूहों के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है।

5. **प्रजातीय संघर्ष (Racial Conflict)**—कभी-कभी विशिष्ठ प्रजातियाँ प्रभुत्व और शासन एवं सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हैं। दक्षिणी अफ्रीका में श्वेतों और अश्वेतों में संघर्ष इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। लम्बे संघर्ष के बाद वहाँ श्वेतों का जो अल्पसंख्यक हैं, वर्चस्व अब जाकर समाप्त हुआ है और अब प्रथम अश्वेत सरकार डॉ० नेल्सन मण्डेला के नेतृत्व में बनी है।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष (International Conflict)**—इस प्रकार का संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दो या अधिक राष्ट्रों में पाया जाता है। कश्मीर को लेकर भारत पाक संघर्ष एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष है।

संघर्ष के कारण

(Causes of Conflict)

संघर्ष के प्रमुख कारण निम्न हैं :-

1. **व्यक्तिगत भिन्नताएँ (Individual Differences)**—सामाजिक और मानसिक विशेषताओं के अनुसार व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। शारीरिक विशेषताओं के अन्तर्गत, लम्बाई, भार, रंग, रूप, आदि लक्षण प्रमुख हैं। मानसिक लक्षणों में स्मृति, चिन्तन, कल्पना, अधिगम, बुद्धि, तर्क, रुचि, मूल्य, और अभिवृत्तियाँ आदि प्रमुख हैं जिनके आधार पर व्यक्तिगत भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

व्यक्तिगत भिन्नताएँ समाज के सदस्यों में आपसी सम्बन्धों की स्थापना में रुकावट डालती हैं जिनके कारण समाज समूह तथा व्यक्तियों के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है।

2. **सुविधाओं का अभाव (Lack of Facilities)**—जब साधनों की कमी तथा व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है तो दुर्लभ साधनों के कारण सुविधाओं का अभाव भी लोगों में संघर्ष उत्पन्न करता है। जनसंख्या में वृद्धि और उसके अनुरूप नौकरी तथा रोजगार के अवसर का अभाव संघर्ष का कारण हो सकता है।

3. **राजनैतिक कारण (Political Cause)**—विभिन्न राजनैतिक दलों में आपसी द्वन्द्व और रुचियों के टकराव के कारण भी समाज में संघर्ष जन्म लेते हैं।

4. **सांस्कृतिक कारण—(Cultural Cause)**—सांस्कृतिक भिन्नताएँ भी दो संस्कृतियों के आदर्शों, मूल्यों, विश्वासों और आस्थाओं में टकराव उत्पन्न कर संघर्ष के पनपने का अवसर देती हैं।

5. **सामाजिक परिवर्तन (Social Changes)**—समाज में हो रहे परिवर्तन भी संघर्ष को पैदा करते हैं। द्रुत गति सामाजिक परिवर्तन व्यक्तियों के लिए समायोजन की समस्यायें उत्पन्न करते हैं। समाज के लोग बदलती हुई अभिवृद्धियों, विश्वासों, मूल्यों, रीति-रिवाज, आचार-विचार के अनुकूल अपने आपको नहीं बना पाते अतः समाज में विघटन और संघर्ष आरंभ होता है।

6. **अहं भाव (Ego)**—व्यक्तियों की अहं भावना उनमें अहंकार का रूप ले लेती हैं। यह अहं भाव उन्हें स्वार्थी बनाता है। समाज के औद्योगीकरण के कारण स्वार्थ सिद्धि की प्रवृत्ति बढ़ रही है और दूसरों के हितों की ओर ध्यान घटता जा रहा है। स्वार्थ से प्रेरित मानव से संघर्ष की ही अपेक्षा की जा सकती है।

अध्याय 13

व्यक्तित्व : सामाजिक घटक के रूप में

(Personality as a Social Phenomenon)

मनोवैज्ञानिक शब्दावली में व्यक्तित्व का सामान्य अभिप्राय व्यक्तित्व के संपूर्ण व्यवहार से है, किन्तु विशेष रूप में व्यवहार के उन पक्षों में है जो अपेक्षाकृत स्थायी और संगत होते हैं तथा जिनके कारण किसी रूप में हम दूसरों के समान तो अन्य रूपों में अन्य व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न और पृथक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व के कारण हम कुछ रूपों में दूसरों के समान दिखाई देते हैं किन्तु इसी के कारण हम दूसरों से भिन्न भी प्रतीत होते हैं। जनसाधारण, व्यक्तित्व का अर्थ व्यवहार के अधिक सतही पक्षों से लेते हैं। व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक अनुप्रयोग में ऐसे अन्तर्निहित एवं मूलभूत पक्ष भी शामिल है, जैसे चरित्र, तथा चित्तप्रकृति (**temperament**) प्रमुख परिस्थितियों में व्यक्ति के विशिष्ट व्यवहार उसके चरित्र के अन्तर्गत आते हैं। चित्तप्रकृति का अभिप्राय व्यक्ति की भावात्मक एवं सांवेगिक प्रवृत्तियों से हैं। दूसरे व्यक्तियों के संग हमारी अन्तर्क्रिया चरित्र तथा चित्तप्रकृति—दोनों से प्रभावित होती है। यही नहीं, हमारे अपने तथा अन्य लोगों के प्रति अभिवृत्तियाँ तथा जीवन शैली भी चरित्र एवं चित्तप्रकृति द्वारा ही निर्धारित होती है। उद्दीपन मूल्य तथा चरित्र अधिकांशतः सामाजिक अधिगम एवं समाजीकरण का परिणाम हैं, किन्तु इन पर चित्तप्रकृति का भी प्रभाव पड़ता है।

चित्तप्रकृति व्यक्तित्व का ऐसा पक्ष है जिसे सामान्य तौर से आनुवंशिक या जैविक कारकों द्वारा निर्धारित मानते हैं।

महिलाएँ तथा पुरुषों के व्यक्तित्व प्रकार भिन्न होते हैं। इसका आंशिक कारण उनके द्वारा एक दूसरे से कुछ भिन्न विशेषताओं की जैविक वंशागति (Inheritance) है। हम जिस प्रकार की चित्तप्रकृति को लेकर जन्म लेते हैं वे व्यक्तित्व के कुछ प्रारम्भिक प्रतिमान (Patterns) स्थापित करते हैं, किन्तु अधिकांश व्यवहार प्रतिमान, व्यक्ति अपने समाजीकरण तथा अन्य प्रकार के अधिगम द्वारा जीवन काल में अर्जित करता है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए लिण्डग्रेन (1973) ने व्यक्तित्व को परिभाषित किया था, "The term "Personality", as used by Psychologist, refers to the total behaviour of the individual, but particularly to those

relatively enduring and consistent aspects that cause us to resemble others in some ways and to be totally different and unique in others." पद "व्यक्तित्व" जैसा कि मनोवैज्ञानिकों ने इसका प्रयोग किया है, व्यक्ति के संपूर्ण व्यवहार से है, लेकिन खासकर उनसे हैं जिसके कारण दूसरों के कुछ सदृश तथा पूर्णरूप में भिन्न और अद्वितीय होते हैं।

व्यक्ति के दृष्टिकोण से, जैसा कि बैरन तथा बायर्नी (1987) ने कहा है, व्यक्तित्व, अपेक्षाकृत स्थायी शीलगुणों का संयोग है, जो नाना प्रकार की परिस्थितियों में व्यवहार को प्रभावित करते हैं। (Personality is difined as the combination of the relatively enduring traits that influence behaviour in a variety of situations). व्यक्तित्व परिवर्त्य उन तथ्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो व्यक्ति द्वारा परिस्थिति में लाये जाते हैं, जबकि सामाजिक परिवर्त्य स्वयं परिस्थिति में ही निहित होते हैं।

भूमिकाएँ तथा व्यक्तित्व निर्माण
(Roles and Personality Formation)

व्यक्ति का परिचय कराने वाली या उसे परिभाषित करने वाली अधिकांश विशेषताएँ सामाजिक अन्तक्रिया के द्वारा विकसित होती हैं। व्यक्ति अपने पूरे जीवन काल में सर्वदा अन्य व्यक्तियों से अन्तक्रिया करता है। अन्तक्रिया जितनी अधिक होती है उतना ही संशोधन उसके व्यक्तित्व का होता है। अत्यधिक स्थिर एवं सुरक्षित पर्यावरण में संशोधन कम होता है—जैसे दूर स्थित ग्राम जहाँ भूमिकाओं में न्यून परिवर्तन होता है। इसके विपरीत, उस पर्यावरण में अधिक द्रुत व्यक्तित्व संशोधन आते हैं जिसमें लोगों को अनेक प्रकार की जटिल एवं असम्बद्ध भूमिकाएँ समूह के संदर्भ में सीखने की आवश्यकता होती है। इन समूहों की सदस्यता निरन्तर परिवर्तित होती रहती जिनमें नाना प्रकार की जटिल एवं असम्बद्ध भूमिकाएं सीखी जाती हैं।

भूमिकाओं के निर्वाह में हमारी तल्लीनता (Involvement) हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित कर सकती है। भूमिका एक मनोवैज्ञानिक पोशाक (वस्त्र) है जिसे हम समय पर पहनते और उतारते हैं और जो उस क्षण हमारे व्यवहार और सूरत-शक्ल को प्रभावित करती है। किन्तु जब हम उस भूमिका में नहीं होते तो भी उसके प्रभाव अवशिष्ट रहते हैं। किसी भूमिका के अन्तर्गत व्यवहार अनुक्रम सीखे जाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे पुनर्बलित होते हैं। जब भूमिका निर्मित करने वाले व्यवहार एक बार सीख लिये जाते हैं तो पुनर्बलन की शक्ति रखने वाली परिस्थितियों की उत्पत्ति पर वे व्यवहार तुरन्त पुनः प्रकट होते हैं। भूमिका व्यवहार के निष्पादन में व्यक्ति के लिए प्रात्यक्षिक शैलियाँ (Perceptual styles) का

अधिगम आवश्यक है। प्रात्यक्षिक शैली का अर्थ अपने तथा अपने पर्यावरण के संज्ञान के विशिष्ठ रीतियों से है यह प्रत्यक्ष (Percepts) निश्चित करते हैं कि किसी दी हुई परिस्थिति में किस भूमिका की आवश्यकता है। यहीं नहीं वे ही यह भी निर्धारित करते हैं कि कैसे उन भूमिकाओं का निर्वाह करें, तथा यह भी कि किन भावनाओं की उस भूमिका में जरूरत है।

भूमिका-निर्वाह एक प्रकार की आत्मपुष्टि है। परिस्थिति में हम अपने विषय में जैसा प्रत्यक्षीकरण करते हैं, अपने प्रति दूसरों से उसी तरह की प्रत्याशाएँ करते हैं। जैसे-जैसे हम एक से अन्य परिस्थिति में जाते हैं, या एक के बाद अन्य भूमिका में होते हैं, हम अपने व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को अभिव्यक्त करते हैं।

भूमिकाओं, व्यक्तित्व, मूल्यों तथा प्रत्याशाओं की पुष्टि और आत्मसम्मान की अभिवृत्तियों में अन्तर्क्रिया को समझने के लिए एक एक उदाहरण की चर्चा आवश्यक है। मान लें X नामक एक छठें दर्जे की अध्यापिका ने यह जान लिया है कि B नामक बालिका ने भूगोल पहेली में धोखा दिया है। मिस X की केन्द्रीय भूमिका इस परिस्थिति में टीचर की है। वह जब तक इस भूमिका में कार्यरत हैं उनसे पाठ्यक्रम के अनुसरण की प्रत्याशा की जाती है। उनसे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे छात्राओं को गृह कार्य देंगी, उन्हें चेक करेंगी, परीक्षा लेंगी आदि! इन मुख्य भूमिकाओं के अतिरिक्त टीचर के रूप में उन्हें कुछ सम्बद्ध गौण भूमिकाओं का निर्वाह भी करना होगा—जैसे अनुशासन और नियमों को लागू करना। यद्यपि कुछ टीचर यहाँ मनोचिकित्सक की भूमिका निभा सकते हैं—क्योंकि धोखा देना मानसिक स्वास्थ्य की एक समस्या तो है ही अनुशासन से भी सम्बद्ध है। किन्तु मिस X एक परंपरावादी टीचर हैं अतः वे अनुशासन को लागू करती हैं।

मिस X की अनुशास्ता के रूप में प्रतिक्रिया का निर्णय चेतन निर्णय नहीं था, क्योंकि उन्होंने यह सोचना बन्द नहीं किया था वे इस परिस्थिति में कौन-कौन भूमिकाएँ निभा सकती हैं और अनुशास्ता की भूमिका चुनें या न चुने यह विचार उनके मन में स्वाभाविक रूप में आया—क्योंकि छात्रा B को धोखा देते समय आया जब वे यह नहीं जानती थी कि छात्रा क्या कर रही है। उनके मन में यह विचार ठीक उसी समय आया जब वे छात्रा की ओर उसे नकल करते पकड़ने के लिए बढ़ी। यद्यपि उससे पूछा गया होता तो नकारतीं। उन्होंने यह सीखा था कि टीचर्स से ऐसी दशा में यही प्रत्याशा की जाती है कि अनुशास्ता की भूमिका निभाएँ और अपने आप से भी यही प्रत्याशा करती थीं। संभवत; उन्हों यह भी सीखा था कि जब छात्र/छात्रा गलत कार्य करें तो प्राधिकार व्यक्ति (Authority figure) जैसे अध्यापक से अनुशास्ता की भूमिका निभाने की प्रत्याशा की जाती है।

उनकी अनुशासक की भूमिका का अपने सहकर्मियों और छात्रों द्वारा पुनर्बलित भी थी । उन्होंने प्रायः यह कहते सुना था कि अमुक टीचर ने कैसे रंगे हाथों विद्यार्थी को पकड़ा, या कैसे अमुक टीचर का कक्षा पर नियंत्रण खो गया क्योंकि उन्होंने भूमिका निर्वाह की उपेक्षा की, या कैसे विश्वास के साथ भूमिका निर्वाह किया ! उनके विद्यार्थी उनसे भी इसी की प्रत्याशा करते थे ।

मिस X ने उन मूल्यों को भी सीखा जो अनुशास्ता के लिए मौलिक हैं । अथवा वे मानती थीं कि समाज के मानकों को लागू किया जाना आवश्यक है, और उनसे विचलित होने वाले को दण्डित करना कर्तव्य है । वे यह भी मानती थीं कि प्राधिकार व्यक्ति मानकों को लागू करने वाले उपयुक्त व्यक्ति है ।

इस प्रकार मिस X ने अनुशास्ता की भूमिका निर्वाह से सम्बद्ध अनेक बातों को सीखा था । उसने सीखा था कि यह टीचर की भूमिका से सम्बद्ध सह-भूमिका है, उसने सीखा था कि उसे इस भूमिका को समय पर निभाना है, उसने सीखा था कि इसे कैसे निभाए, उसने सीखा था कि इस भूमिका के सन्दर्भ से स्वयं से क्या प्रत्याशा करें, कौन मूल्य और अभिवृत्तियाँ उपयुक्त हैं, और भूमिका के कर्त्तव्यों के निर्वाह के समय कैसी भावना होनी चाहिए ।

छात्रा B से निबटने का मिस X का तरीका यह था कि उसकी मूल उत्तर पुस्तिका ले ली जाए; उसे दूसरी दी जाय, यह लिख दिया जाए कि वह परीक्षा में अनुचित साधन का प्रयोग करते पकड़ी गयी और इस बात की रिपोर्ट उच्च अधिकारियों को कर दी जाए । छात्रा B रोती है, चिल्लाती है, थोड़ा विघ्न होता है, फिर कक्षा सामान्य हो जाती है । फिर कक्षा की पढ़ाई के समय मिस X कक्षा को ज्यामिति पढ़ाती हैं और यह बताती हैं कि चतुर्भुज का क्षेत्रफल कैसे निकालते हैं, अब वे पुनः टीचर की मुख्य भूमिका में हैं और कक्ष निरीक्षक की भूमिका समाप्त हो गई है ।

इस प्रकार व्यक्ति एक से अधिक भूमिकाएँ भी निभाता है और तेजी से वह एक को छोड़ दूसरी को अपनाता है । किन्तु प्रत्येक भूमिका में सम्बद्ध कुछ मूल्य, अभिवृत्तियाँ तथा भावनाएँ होती हैं । क्या एक के बाद दूसरी भूमिका में प्रवेश करते समय पहली भूमिका से सम्बद्ध मूल्यों और भावनाओं से व्यक्ति बिल्कुल मुक्त हो जाता है क्या मूल्य अभिवृत्ति एवं भाव वस्त्रों के समान हैं कि हम जब चाहें उन्हें बदलते रहें ? क्या एक परिस्थिति में एक निश्चित दिशा में सोचने और अनुभव के ढंग सीखने के बाद इसकी सम्भावना है कि अन्य परिस्थितियाँ भी वही भाव एवं विचार उत्पन्न करेंगी ? दूसरे शब्दों में क्या अन्य परिस्थितियों में जब मिस X टीचर नहीं हैं तो अपराध होते देख क्या वही प्रतिक्रियायें करेंगी ? जैसे किसी

मैगजीन सेन्टर से एक व्यक्ति को बिना मूल्य चुकाए एक पत्रिका ले जाते देख कर आँखें फेर लेगी ? यदि उनका पुत्र किसी सहपाठी की पेन्सिल झटक दे तो क्या उसे दण्ड देंगी ?

हम मिस X के विषय में बिना व्यापक जानकारी के उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर न दे सकेंगे, और यदि देने का प्रयास करेंगे तो उसके शुद्ध होने की संभावना अधिक न होगी। किन्तु यह अवश्य कह सकते हैं कि एक अनुशासक से उपरोक्त परिस्थितियों में चुप रहने की उतनी प्रत्याशा नहीं की जा सकती जितनी कि एक क्लर्क, टाइपिस्ट या दुकानदार से की जाएगी। जो लोग किसी भूमिका का निर्वाह आदत के रूप में करते हैं वे अपने सामान्य सन्दर्भ के बाहर उन भूमिकाओं के अवसर पा सकते हैं। जैसे एक वकील अपनी भूमिका में न होते हुये या कचहरी में न होते हुये भी विभिन्न कथनों की आलोचनात्मक जाँच करता है। किसी चिकित्सक में अन्य समस्याओं के समाधान में भी नुस्खा लिखने वाली प्रवृत्ति की उन्मुखता हो सकती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम भूमिका निभाते हैं, तो अपने आप तथा सामान्य जगत के प्रत्यक्षीकरण की विधियाँ सीखते हैं जो कि व्यक्ति के स्व का स्थिर पक्ष बन जाते हैं और जो भूमिकाएँ हम सीखते हैं वे हमारे व्यक्तित्व की सार्थक विमा का निर्माण करती हैं।

स्व (The Self)

मनुष्य में अनेक प्रमुख योग्यताएँ होती हैं —बुद्धि, भाषा, स्मरण तथा चिन्तन आदि। इसके (चिन्तन) द्वारा वह न केवल अपने विषय में सोचता है। वरन् यह भी विचार करता है कि अन्य लोग उसे किस रूप में देखते हैं। ऐसा विचार स्व या आत्म कहलाता है। स्व से सम्बद्ध प्रत्यय को स्व-प्रत्यय (Self concept) कहते हैं। स्व तथा स्व-प्रत्यय व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करते हैं। स्व के प्रभाव से समाजीकरण की प्रक्रिया भी वंचित नहीं होती है।

स्व-प्रत्यय एवं स्व-प्रतिमा—जब हम छठी कक्षा के टीचर के स्व-प्रत्यय की बात करते हैं तो हम एक सामान्य मानवीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं—अपने आपको एक वस्तु समझने की प्रवृति। शब्द "स्वप्रत्यय" संक्षेप में, अपने प्रति अभिवृत्ति तथा संप्रत्ययन को ही कहते हैं (The term "Self" is an abbreviated way of saying "attitude toward and conceptions about one's self" Lindgren, 1973)

संसार के सभी लोगों को हम नहीं जानते और न जान सकते हैं। पर्याप्त लोगों को आकस्मिक तौर पर जानते हैं और केवल कुछ लोगों को ही भली प्रकार जानते हैं। सामाजिक प्रणाली के केन्द्र वाले व्यक्ति को सबसे उत्तम रूप में जानते हैं—और

वह हम स्वयं हैं। इस प्रकार स्व एक वैसे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, जो दूसरों के समान है जिसे हम जानते हैं, किन्तु हमारे लिये इसके अधिक मूल्य के कारण अन्य लोगों से भिन्न है।

जार्ज हर्बर्ट मीड (1934) ने कहा है कि स्व, दूसरों के साथ हमारी प्रतीकात्मक अन्योन्यक्रिया (Symbolic Interaction) का प्रतिफल है, और यह कि हम अपना प्रत्यक्षीकरण दूसरों की आँखों में अपने प्रतिबिम्ब के द्वारा कर सकते हैं। (George Herbert Mead (1934) observed that the self is a product of our symbolic interaction with others and that we can perceive our selves only as a reflection in the eyes of another.) मीड के प्रेरणा स्रोत सी० एच कूले (1902) है, जिन्होंने (looking glass) का दृष्टिकोण अपनाया था। उनके अनुसार हमारे भीतर दूसरों की एक तरह का दर्पण समझने की प्रवृत्ति होती है, जिसमें हम अपने आपको देख सकते हैं (Charles Cooley described our tendency to use others as a kind of looking glass in which we can view ourselves. "In imagination, we percieve in anothers mind some thought of our apperance, manners, aims, deeds, character, friends, and so on, and variously affected by it") कूले के अनुसार जैसे दर्पण में व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब देखता है उसी प्रकार दूसरे लोग दर्पण के सदृश होते हैं जिसमें वह अपने आपको देखता है। दूसरे लोगों के विचार, निर्णय आदि स्वयं के लिये दर्पण हैं जिसमें स्व दर्शन होता है। कल्पना हम दूसरों के मन में अपने शरीर, रंग, रूप, आदतों, और तरीकों, कार्यों, चरित्र, मित्रों आदि को देखते हैं और नाना प्रकार से प्रभावित होते हैं। दर्पण (looking glass) का उदाहरण उस समय लागू नहीं होता जब हम वास्तव कल्पित प्रत्यक्ष (Imagined percept) के प्रति अनुक्रिया करते हैं। मुँह देखने का दर्पण एक तटस्थ और अनालोचक वस्तु है, जबकि, जो कुछ अन्य व्यक्ति हमारे भीतर प्रत्यक्षीकरण करते हैं उसपर उन अन्य व्यक्तियों के पक्षपात एवं भावनाओं तथा स्वयं हमारे प्रात्यक्षिक पक्षपात द्वारा विकृत होता है। लिण्डग्रेन (1973) के अनुसार वह चीजें जिनके द्वारा हमें गर्व या लज्जा का अनुभव होता है वह मात्र हमारा यांत्रिक प्रतिबिम्ब नहीं, वरन् एक प्रदत्त स्थायीभाव है, दूसरे के मन पर इस प्रतिबिम्ब का कल्पित प्रभाव है (The thing that moves us to pride or shame is not mere mechanical reflection of ourselves, but an imputed sentiment, the imagined effects of this reflection upon another's mind. Lindgren, 1973) जहाँ तक इसके दूसरों पर प्रभाव का प्रश्न है, स्व एक प्रतिमा है जिसका प्रभाव वह अन्य लोगों पर

डालता है। इस सन्दर्भ में प्रायः स्व का अभिप्राय आत्म प्रतिमा (Self image) से है, जो कभी कभी स्व संप्रत्यय पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होती है। स्व प्रतिमा का अभिप्राय स्व के प्रभाव पक्ष से अधिक है, जबकि स्व संप्रत्यय में प्रभाव का विचार तो निहित है, किन्तु इसका अभिप्राय अन्य पक्षों से भी है—जैसे अभिवृत्तियाँ, मूल्य, अभिप्रेरक, लक्ष्य, प्रत्याशाएं आदि। इस प्रकार स्व प्रतिमा का अर्थ स्व के केवल प्रभाव पक्ष तक सीमित है, परन्तु स्व-संप्रत्यय, प्रभाव पक्ष के अतिरिक्त अभिवृत्तियों, मूल्यों, अभिप्रेरकों तथा प्रत्याशाओं आदि की ओर भी संकेत करता है। (Strictly speaking, however, self image refers more to the impression aspects of the self, whereas concept includes the idea of impression but also such other aspects as attitudes, values, motives, goals, expectation, and the like. Lindgren; 1973)।

भूमिका-सम्बन्ध तथा स्व—भूमिका सम्बन्ध जिसका अनुभव जीवन के आरंभिक दिनों से ही शुरू हो जाता है जैसे शिशु-माता सम्बन्ध। स्व का आभास होने के पूर्व शिशु को भूमिका-सम्बन्धों के जटिल सेट का सामना करना पड़ता है; जो उसके परिवार से सम्बद्ध होते हैं। परिवारजनों की उसके प्रति प्रतिक्रियाओं तथा मूल्यांकनों से वह अपना तथा अपने व्यवहार का मूल्यांकन करना सीखता है। भूमिका सम्बन्ध का एक महत्वपूर्ण अंश पारस्परिक मूल्यांकन है।

हम अपनी भूमिका निर्वाह कैसे कर रहे हैं, इस बात का बोध हमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दूसरों से प्राप्त होता है, और हमारे मूल्यांकन से उन्हें पता चलता है कि वे अपनी भूमिका का निर्वाह कितनी सफलतापूर्वक कर रहे हैं।

आयु वृद्धि के साथ बालक परिवार की परिधि के बाहर पड़ोस के सम्पर्क में आता है, फिर क्रीड़ा समूह एवं स्कूल के सहपाठियों से उसका सम्पर्क होता है। इस प्रकार आयु वृद्धि के साथ ज्यों-ज्यों बालक का सामाजिक सम्पर्क का क्षेत्र व्यापक होता है, उसके भूमिका सम्बन्धों के सेट जटिल एवं संगठित होते हैं और वे अपने स्व संप्रत्यय के मूल्यांकन और पुनर्निर्माण में बढ़ते हुए सामाजिक समूह के अन्य लोगों के प्रत्यक्ष का अनुप्रयोग करना सीखने लगते हैं।

क्षेत्र सिद्धान्त तथा स्व सिद्धान्त
(Field Theory and Self Theory)

स्व सिद्धान्त, समाजशास्त्री हर्बर्ट मीड तथा कूले की रचनाओं पर निर्भर है। क्षेत्र सिद्धान्त का परिचय कर्ट लेविन (1935) ने कराया। इसकी उत्पत्ति भौतिकी की परंपराओं में निहित है जिनकी स्थापना न्युटन, तथा मार्टन डियुश (1968) ने की थी। इन प्रत्ययों को विकसित करते हुए आईंस्टाइन ने किसी

दिए पर्यावरण में शक्तियों या बलों के वितरण में दिक् या देश (Space) के रूप में किया; जो यह निश्चित करती है कि वस्तुएँ कैसे व्यवहार करेंगी।

लेविन के अनुसार सभी मनोवैज्ञानिक घटनाएँ (जैसे व्यवहार) व्यक्तित्व के जीवन देश के प्रकार्य है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति क्या उसके परिवेश अन्योन्याश्रित कारकों के जटिल प्रत्यय संघात (constellation) के रूप में निहित होते हैं। उसने व्यक्ति तथा पर्यावरण के सम्बन्धों को स्थलाकृति मानचित्रों (topological map) अथवा रेखा-चित्र के रूप में व्यक्त किया। उसमें व्यक्ति P का व्यवहार, उस मनोवैज्ञानिक क्षेत्र (क्षेत्रों) जिसमें वह स्थित है, तथा उसके भीतर के तनाव के द्वारा संचालित होता है। जीवन देश (Life space) व्यक्ति का वह मनोवैज्ञानिक क्षेत्र है जिसमें वह स्थित है और जो उसके व्यवहार का संचालन करता है।

क्षेत्र सिद्धान्त के विचारों को अधिक सरलीकृत रूप कार्ल राजर्स (1951, 1961) तथा आर्थर कोम्ब तथा डानल्ड स्निग (1959) की पुस्तकों में मिलता है। लेविन के समान वे भी मानते हैं कि स्व, नमोवैज्ञानिक बलों के क्षेत्र में रहता तथा अनुक्रिया करता है। इस प्रकार के प्रत्यय के लिए ही स्व सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है। मनश्चिकित्सक हेनरी स्टैक सुलीवान (1947) अन्तर्व्यक्तिक अभिवृत्तियों और भावनाओं के अनुप्रयोग द्वारा स्व सिद्धान्त में अपना योगदान किया। यद्यपि क्षेत्र स्व या अन्तर्व्यक्तिक सिद्धान्त के प्रत्येक प्रवर्त्तक कुछ ऐसे संप्रत्यय का परिचय कराते हैं जिसके कारण उसका दृष्टिकोण अन्य से भिन्न प्रतीत होता है किन्तु सिद्धान्तों में फिर भी अधिकांश तथ्य उभयनिष्ट प्रतीत होते हैं। एक बात जिस पर सभी ने बल दिया है, वह है 'प्रत्यक्षीकरण' और इस दृष्टि से हम सभी को संज्ञानात्मक सिद्धान्त कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त सभी सिद्धान्त अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों पर बल देते हैं, और हैरी स्टैक सुलीवान इस पर बल देता है कि व्यक्तित्व का अस्तित्व अन्य व्यक्तियों के साथ हमारी अन्तर्क्रियाओं के सन्दर्भ मात्र में है।

स्व का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त

(Psychoanalytic Theories of the Self)

यद्यपि मनोविश्लेषक सिद्धान्त, स्व सिद्धान्तों की अपेक्षा मूलप्रवृत्यात्मक प्राणोदनों पर अधिक बल देते हैं किन्तु उनमें स्व के स्वरूप की चर्चा भी की गई है। जैसे फ्रायड का अहं हैं। यद्यपि फ्रायड शब्द अहं का अनुप्रयोग दो विभिन्न अर्थों में करता है। अहं का उपयोग एक वस्तु के रूप में उस समय करता है जब वह इसे ईदं या पराहम द्वारा प्रभावित मानता है। किन्तु वह अहं का उपयोग उस अर्थ में भी करता है जिसके द्वारा व्यक्ति को वाह्य यथार्थ का परिचय होता है तथा जिसके

द्वारा उपयुक्त और सार्थक क्रियाओं के विषय में निर्णय करता है। शब्द स्व सामान्य रूप से प्रतिमा का संकेत करता है, जो व्यक्ति का अपने व्यवहार के विषय में प्रभाव है। इसका उपयोग परिचय (अपने तथा सामाजिक पर्यावरण के सम्बन्धों) के रूप में भी होता है। अहं तथा स्व—दोनों व्यक्तित्व प्रत्यय हैं।

प्राणि द्वारा मूलप्रवृत्यात्मक तथा नैतिक शक्तियों और वाह्य यथार्थ का सामना करने में अहं केन्द्रीय एवं प्राणभूत भूमिका निभाता है। यदि इन शक्तियों में से किसी एक का दबाव अत्यधिक बढ़ जाता है, तो अहं प्रभावहीन होकर कार्य करता है। ऐसी दशा में व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण में कुछ विकृतियाँ विकसित होती हैं जो अहं को क्षति से बचाती हैं जिन्हें फ्रायड अहं प्रतिरक्षाएँ (Ego defenses) कहता है। जैसे दमन की क्रिया के द्वारा अनचाहे अभिप्रेरकों को नकारते हैं; प्रक्षेपण की प्रतिरक्षा के द्वारा अहं व्यक्ति के बुरे अभिप्रेरक किसी अन्य व्यक्ति पर आरोपित करता है, उदात्तीकरण (Sublimation) के द्वारा व्यक्ति के बुरे अभिप्रेरक; पराहम को क्षतिग्रस्त किए बिना समाज द्वारा स्वीकृत रूपों में अभिव्यक्त होते हैं।

जिन लोगों की यथार्थ या वास्तविकता पर पकड़ मजबूत होती है, उनमें 'अहं-शक्ति' दृढ़ होती है तथा जो व्यक्ति, पराहम, ईदं, और सामाजिक पर्यावरण की द्वन्द्वात्मक माँगों के कारण एक सीमान्त से दूसरे सीमान्त तक बह जाते हैं, वे 'दुर्बल अहं' (Weak ego) रखते हैं।

आदर्श स्व ("Ideal Self")—फ्रायड के अनुसार यह पराहम का वह पक्ष है जो व्यवहार के नियंत्रण का मानदण्ड है। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक इसे 'स्व-आदर्श' भी कहते हैं। ऐसे प्रत्ययों के प्रयोग में निहित अन्तर यह है कि 'स्व' वह है जिसका वास्तविक प्रत्यक्षीकरण होता है, अर्थात् जो "वास्तविक स्व" कहलाता है, और अन्य स्व वह है जो होना चाहिए। 'स्व' जो होना चाहिये वह आदर्श स्व है। कार्ल राजर्स (1951) के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षित स्व तथा स्व-आदर्श के बीच अधिक अन्तर सामान्यतः अस्वस्थता का परिचायक है। ऐसे व्यक्ति जिनका व्यवहार उनके विश्वासों के अनुरूप नहीं होता—चिन्ता, आत्मघृणा तथा हीन भावना से पीड़ित होते हैं। इसलिए मनोचिकित्सा का एक उद्देश्य, राजर्स के अनुसार, व्यक्ति को आत्मस्वीकृति (self acceptance) प्राप्त करने में सहायता देना है। राजर्स के उपचार केन्द्र के अन्तर्गत हुए अध्ययन दर्शाते हैं कि सफल मनोचिकित्सा की अवधि में रोगियों के प्रत्यक्षित स्व-आदर्श के बीच की विसंगतियाँ समाप्त हो जाती हैं (राजर्स एवं डायमण्ड, (1954)। जीराल्ड पीन्कूचर (1971) ने 7 से 15 वर्षों के 65 ग्रीष्मशिविर में भाग ले रहे बच्चों में पूर्वपरीक्षण तथा पश्चात्-परीक्षण मापों के द्वारा आदर्श-स्व तथा स्वसंप्रत्यय के बीच विसंगतियों का अध्ययन किया और यह देखा कि तैरने के अभिगम से विसंगति में सार्थक कमी आई। वह

बच्चे जो पहले से तैरना जानते थे या जिन्होंने तैरना नहीं सीखा था, ने आदर्श स्व तथा स्वसंप्रत्यय विसंगति में कोई परिवर्तन नहीं प्रगट किया।

क्या आदर्श-स्व और स्व-संप्रत्यय में विसंगति का होना खराब मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण है? फायलिस कैट्ज तथा एडवर्ड जिग्लर (1967) ने देखा कि वास्तविक स्व (स्व संप्रत्यय) और आदर्श-स्व में विषमता 11 से 17 वर्ष के बीच बढ़ती है, तथा अधिक बुद्धिमान बच्चे कम बुद्धिवालों से अधिक विषमता दर्शाते हैं। इनके शोध के अनुसार यह संकेत भी मिला कि व्यक्ति जब अधिक परिपक्व तथा अपने विभव (Potentialities) के प्रति अधिक सचेत हो जाता है, तो विषय में उच्च से उच्चतर प्रत्याशाएँ करने लगता है। वास्तविक तथा विभव (Potential) सम्प्राप्ति में प्रत्यक्षित विसंगति के साथ चिन्ता की निश्चित मात्रा जुड़ी रहती है, किन्तु चिन्ता की मध्यम मात्रा अधिकतम व्यक्तिक विकास के लिए श्रेयस्कर होती है। समस्या चिन्ता की तार्किक सीमा के अन्तर्गत रखने की है। कैट्ज तथा जिग्लर ने यह भी देखा कि जैसे जैसे व्यक्ति विकास की उच्च सीमा की ओर अग्रसर होते हैं, उनकी समस्याओं से निपटने की बढ़ी हुई योग्यता के द्वारा वे अपने लिये और अधिक समस्यायें ढूंढ़ लेते हैं या पैदा कर लेते हैं। जब चिन्ता वृद्धि का स्तर अत्यधिक हो जाता है तो वह कष्टदायी हो जाती है और प्रभावपूर्ण व्यवहार की योग्यता और जीवन के सुख में बाधक होने लगती है, तो कार्ल राजर्स के अनुसार प्रत्यक्षित स्व और स्व-आदर्श के सम्बन्धों को सुधारना अर्थात् उनके मध्य विसंगति को कम करना आवश्यक है।

सांवृत्तिक स्व (The Phenomenal Self)—आर्थर कोम्ब तथा डानल्ड स्निग्ग (1959) के अनुसार प्रत्यक्ष प्रणाली (System of percepts) का केन्द्र है, जिसे वे सांवृत्तिक पर्यावरण (Phenomenal environment) अथवा वह पर्यावरण कहते हैं जैसा कि व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण करता है। इसका (सांवृत्तिक पर्यावरण) वह भाग जो स्व से सम्बद्ध प्रत्यक्षित किया जाता है, सांवृत्तिक स्व कहलाता है। इस क्षेत्र में व्यक्ति के लिये महत्वपूर्ण घटनाएँ तथा वस्तुएँ पाई जाती हैं। सांवृत्तिक दृष्टिकोण से वह वस्तु जो हमें बहुत प्रिय है जैसे मेरा स्कूटर, वह हमें अपने अंग के समान प्रतीत होती है, इसीलिये, वह सांस्कृतिक स्व की सीमाओं में स्थित समझी जाती है। यदि हमारा स्कूटर क्षतिग्रस्त हो जाता है तो हम आक्रोश भावना का प्रदर्शन करते हैं, क्योंकि "मैं" अपने सांस्कृतिक स्व को खतरे में प्रत्यक्षित करता हूँ। कोई भी घटना धमकी या खतरे का रूप ले लेती है, यदि व्यक्ति यह अनुभव करता है। कि वह उसके प्रत्यक्ष प्रणाली या स्व-संरचना में कोई अनचाहा परिवर्तन लाने वाली है। कोम्बस तथा स्निग्ग के अनुसार प्राणी की प्राथ-

मेक आवश्यकता सांवृत्तिक को बढ़ाना तथा बनाए रखना है। जो वस्तु इसमें बाधक हो सकती है, उसकी पूर्ण समझी जाती है।

स्व अर्थ के साधन के रूप में—व्यक्ति अपने सांवृत्तिक संसार का संगठन इस प्रकार करता है कि उसके सांवृत्तिक स्व की संवृद्धि हो। दूसरे शब्दों में हम वस्तुओं को इस आशय से छाँटते हैं कि उनका हम से कोई सम्बद्ध है अथवा नहीं और यदि है तो वह धनात्मक या तटस्थ है। इस व्यवस्था से हम यह निश्चित करते हैं कि जिन वस्तुओं या घटनाओं का हम सामना करते हैं, वे हमारे लिये कोई महत्व रखती हैं या नहीं, अथवा उनका हमसे कोई सम्बन्ध है या नहीं और सम्बन्ध है तो उसकी मात्रा क्या है। कोई स्कूटर दुर्घटना ग्रस्त हो गया तो हमारे लिए कोई चिन्ता का विषय न होगा, किन्तु किसी ने आपका स्कूटर माँगा था यदि वह दुर्घटना ग्रस्त हो जाए तो वह दुःखद भी होगा और चिन्ताजनक भी।

मान लें आप बस में चढ़ते हैं, अनेक सीटें खाली हैं। एक सीट पर एक विद्यार्थी बैठा है जिसके हाथों में मनोविज्ञान की एक ऐसी पुस्तक है जो आपके पुस्तकालय में उपलब्ध नहीं है और आप उसे पढ़ने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं। यद्यपि अनेक सीटें रिक्त हैं, आप उसके बगल की सीट का चयन करते हैं। ऐसा क्यों? स्व-सिद्धान्त के अनुसार आपके मनोविज्ञान के छात्र के स्व प्रत्यय की संवृद्धि अन्य मनोवैज्ञानिक या मनोविज्ञान के विद्यार्थी के पास बैठने से होती है जो किसी अन्य रिक्त सीट पर बैठने से न होती। इसकी व्याख्या सन्तुलन सिद्धान्त के आधार पर भी हो सकती है, जिसके अनुसार समान शीलगुणों वाले व्यक्तियों में आकर्षण होता है।

दैनिक जीवन में सभी लोग अनेक प्रकार के छोटे-बड़े चयन करते हैं जो अपने बारे में तथा संसार के विषय में उसके संप्रत्ययों को सुदृढ़ एवं सत्यापित करते हैं। चूँकि पर्यावरण के सारे उद्दीपनों तथा घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं होता, अतः केवल उन घटनाओं की ओर ध्यान देते हैं जो किसी रूप में हमसे सम्बद्ध होती हैं या हमारे लिए अर्थ रखती हैं। पर्यावरण की ऐसी संरचना के द्वारा पूर्वकथन, व्यवहार में क्रम, तथा अपने और भूत, वर्तमान या भविष्य की घटनाओं के बीच सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं।

इस प्रकार हम अपने लिए प्रणाली विकसित करते हैं और जब यह प्रतिबल की दशा में होती है या इसको खतरा (Threat) होता है, तो हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम निजी तौर पर खतरे में हैं। रामप्रसाद कांग्रेसी हैं। इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि वह कांग्रेस को वोट देता है, वरन् कांग्रेस पार्टी के साथ उसके तादात्मीकरण से भी है। रामप्रसाद के श्वसुर महादेव प्रसाद ने कहा कि वे नहीं समझपाते कि लोग कांग्रेसी क्यों हैं, कोई समझदार व्यक्ति तो उस पार्टी में नहीं

हुए कहा कि बालक के प्रात्यक्षिक क्षेत्र में, परिवार, प्राथमिक सामाजिक इकाई की भूमिका निभाता है। पारिवारिक संरचना में माता-पिता समाजीकरण के प्रमुख साधन होते हैं क्योंकि वे बालकों को मूल्य तथा लक्ष्य प्रदान करते हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के व्यवहार प्रतिमान विकसित होते हैं। ऐसे व्यवहार प्रतिदर्श अन्तर्क्रिया को आधार प्रदान करते हैं। बदले में, यह व्यवहार प्रतिमान महत्वपूर्ण व्यक्तियों में वाचिक या अवाचिक अनुक्रियाओं के रूप में प्रतिक्रियायें उत्पन्न करते हैं। यह अनुक्रियायें बालक में अपनी पहचान तथा उसके प्रति दूसरों की भावनाओं का बोध प्राप्त करता है। अधिक धनात्मक अनुक्रियायें, बालक को अनुकूल स्व-संप्रत्यय के लिए सामग्री प्रदान करती हैं जिसके परिणामस्वरूप उसका आत्म वास्तवीकरण होता है। अन्य व्यक्तियों की अनुक्रियाओं द्वारा जितनी अधिक ऋणात्मक अभिवृत्तियाँ तथा भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं, व्यक्ति की दशा उतनी असंगत होती है और आत्मवास्तवीकरण की प्राप्ति की संभावना उतनी ही न्यून होती है।

मिल्लर ने अपनी उपकल्पनाओं की परीक्षा के लिए आत्मादर सूचियों का प्रशासन आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों पर तथा उनकी माताओं पर पैतृक अभिवृत्ति प्रश्नावली का प्रशासन किया। परिणामों से बच्चों के आत्मादर तथा उनके प्रति उनकी माताओं के धनात्मक सम्मान या मान (Positive regard) मौलिकता (Genuineness), और तदनुभूति (Empathy) में धनात्मक सहसम्बन्ध प्राप्त हुये।

आत्म प्रत्यक्षीकरण में विकृतियाँ—जब बच्चों का पोषण ऐसे पर्यावरण में होता है जहाँ वे ऋणात्मक आत्ममान अभिवृत्तियाँ सीखते हैं, वे इनके विपरीत साक्ष्यों के होते हुये भी इन प्रत्ययों एवं अभिवृत्तियों को बनाए रह सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है, वे लोग जिनके बारे में दूसरों के मतों तथा आत्ममूल्यांकन में और विषमता होती है, उसे विकसित करने के प्रयास नहीं करते यद्यपि उनमें क्षमताएँ होती हैं फिर भी वे निरन्तर अनादर करते हैं। चाहे सभी लोग उसे समझाएँ कि तुम्हारे भीतर मेधा (Talent) है परन्तु वे इसे मानने पर तैयार नहीं होते और यह विचार उनके मन में घर कर लेता है कि उनमें योग्यता का अभाव है। उनके आत्मप्रत्यक्षीकरण में इतनी विकृति आ चुकी होती है कि दूसरों की बातों में विश्वास नहीं करते। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के अनुभव में संभवतः ऐसे कारक निहित होते हैं जिनके कारण उनमें अपना गलत प्रत्यक्षीकरण होता है।

हम यहाँ एक ऐसी परिस्थिति का विवरण दे रहे हैं जिसमें लोग सामाजिक अधिगम के प्रति प्रतिरोध प्रकट करते हैं। इस परिस्थिति के दो पक्ष हैं। एक में

हमने अपने प्रति कुछ अभिवृत्तियों को सीखा है (जो वैध या अवैध कुछ भी हो सकती हैं) और अन्य व्यक्ति उसका अनाधिपत्य कराना चाहते हैं। दूसरा यह है कि अन्य लोग हमारी प्रशंसा या आलोचना द्वारा हमें यह बताना चाहते हैं कि हम अपने आत्ममूल्यांकन में गलत हैं। अन्य व्यक्तियों की यह अभिवृत्ति कि हमें वे हम से ज्यादा भली प्रकार जानते हैं, हमारे भीतर किसी मात्रा में प्रतिरक्षकता उत्पन्न करती है। यह हमारी सुरक्षा की भावना के प्रति खतरा बन जाती है और हमारे इस भाव को हिला देती है कि हम स्वयं अपने मालिक हैं और हम अच्छी तरह जानते हैं कि हम क्या हैं और क्या नहीं हैं।

केवल विश्वास को खतरा नहीं होता क्योंकि यह एक अधिक व्यापक प्रत्यक्षीकरण प्रणाली का अंश होता है। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति यह मानता है कि मेधा का अभाव है, ऐसे प्रत्यक्ष को उस समय तक बदल नहीं सकता जब तक कि वह अपने तथा संसार के विषय में अपने संज्ञान में व्यापक परिवर्तन न लाए ! यह कोई सरल कार्य नहीं है, और अधिकांश व्यक्ति ऐसा करने में हिचकिचाते हैं।

स्व से विचलन (Flight from self)—स्व सम्प्रत्यय में विकृति चिन्ता का कारण भी है तथा प्रभाव भी। धमकी या खतरे के प्रत्यक्षीकरण से धमकी के साधन के प्रति विरोधी व्यवहार उत्पन्न होता है जैसे क्रोध, आक्रामकता या कारण से परिहार—जैसा कि भय और चिन्ता की दशाओं में होता है। जटिल नगरीकृत समाजों में धमकी का कारण दूरस्थ, अप्रत्यक्ष, या अस्पष्ट होता है और इसका परिणाम चिन्ता के रूप में हो सकता है। जिन परिस्थितियों को तत्काल समझना कठिन होता है उनमें "निरर्थकता" उच्च मात्रा में विद्यमान होती है, और वे चिंता उत्पत्ति का प्राथमिक साधन होती हैं।

चिन्ता बड़ा ही कष्टदायी संवेग है, अतः चिन्ता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों से दूर रहना चाहते हैं। अहं प्रतिरक्षायें चिन्ता को घटाती या समाप्त करती हैं। दूसरों के साथ हमारे सम्बन्ध चिन्ता के प्राथमिक साधन हैं क्योंकि अन्य लोगों के प्रति मुआमलात में अस्पष्टता होती है और अंततः इसलिए भी हमारे सामाजिक निष्पादनों के सहारे अतिरिक्त अन्य लोग भी निरन्तर मूल्यांकन करते रहते हैं

इस अस्पष्टता, अपूर्वकथनीयता (Unpredictability) और चिन्ता को घटाने में प्रयुक्त उपायों में यह आश्वस्त होना आवश्यक है कि हमारा व्यवहार उतना तार्किक तथा संगत है जितना कि हो सकता है। इसी प्रकार के विचार फिलिप जिम्बार्डो (1969) ने व्यक्त किये हैं।

"व्यक्ति के विषय में समाज के एक सामान्य सदस्य के संबोधीकरण के लिए संगति एक आत्म आरोपित (Self imposed) नियम बन जाता है, जो दूसरों की प्रत्याशा के अनुरूप तार्किक निर्णय एवं व्यवहार के द्वारा अपने पर्यावरण को

नियंत्रित करता है।" (...Consistency becomes a self imposed principle in order for the individual to maintain a conception of himself as a normal member of society who, in behaving as others expect him to, gain their social recognition as rational decision maker, whose dicisions help him to control his environment. Zimbardo, 1969).

जिम्बार्डो यह भी कहता है कि तार्किक तथा संगत व्यवहार के द्वारा व्यक्ति समाज के एक सदस्य के रूप में अपने उत्तरदायित्व को ग्रहण करता है। वचनबद्धता का ऐसा निर्णय, जिम्बार्डो के अनुसार व्यक्ति को व्यक्तिता प्रदान करता है। व्यक्तिता (Individuation) की ऐसी प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति अपने को उन सबके विरोध में खड़ा करता है जो व्यक्ति के रूप में कार्य करने से इंकार करते हैं और इस प्रकार वह कबीले के बंधनों से अपने को पृथक् अभिवेदीकृत समूह क्रियाओं से जोड़ता है। (Zimbardo notes further that in behaving rationally and consistently, the individual assumes responsibility for himself as a mamber of society. This decisions to make such a commitment, according to Zimbardo, individuates the individual who makes it. Through such a process of individuation, a person "sets himself in opposition to all who refuse to act individually, and thus separates himself from tribal ties to undifferentiated (safer) group action."

इसकी विरोधी प्रक्रिया व्यक्ति रहितता (deindividuation) कही जाती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति, व्यक्ति के रूप में अपने परिचय या पहचान का कुछ अंश खो देता है और आवेगों पर नियंत्रण में अपेक्षाकृत कम सक्षम हो जाता है। उसके सामान्य नियंत्रण जो आत्म निरीक्षण और मूल्यांकन पर आधारित होते हैं, अब लागू नहीं होते या कार्य नहीं करते। फलस्वरूप वह समाज-विरोधी, स्वार्थी, लोभी, शक्ति-चाह, विनाशकारी व्यवहार करने लगता है। दूसरी ओर उसमें तीव्र प्रसन्नता या दुख की भावना होती है।

व्यक्ति रहितता (Deindividuation) के द्वारा व्यक्ति अपनी क्रियाओं के लिए उत्तरदायित्व भाव से मुक्त कर लेता है। ऐसा करने का कारण यह है उसके जीवन के प्रतिफल इतने बढ़ गए हैं कि तार्किक और उत्तरदायी होने की लागत इसके पुरस्कार से कहीं अधिक है। यह दशा प्रायः उस समय देखी जाती है जब व्यक्ति अपरिचित पर्यावरण (घर से दूर यात्रा में) या किसी भीड़ में शामिल होता है।

औषधि द्वारा स्व से पलायन :—व्यक्तिता रहित दशा प्राप्त करने के लिए अनेक लोग उमंग (मूड) को प्रभावित करने वाले पदार्थ—जैसे भंग, अफीम, चरस, गांजा या मनः प्रभावी औषधि (Psychoactive drugs) जैसे कैनाबिस, अल्कोहल, तथा एल०एस०डी० आदि का पर्याप्त सेवन करते हैं। मरियुआना (Marijuanna) के प्रभावों की जाँच से सम्बद्ध अध्ययन में शोधकर्ताओं ने अनुभवी तथा अनानुभवी मरियुवाना उपभोक्ताओं की प्रतिक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। तटस्थ (Naive) प्रयोज्यों ने न्यून उल्लासोन्माद (Euphoria) और दृष्टि तथा श्रवण अनुभूतियों में कोई विकृति की रिपोर्ट नहीं किया। मरियुआना के अनुभवी उपभोक्ताओं ने उतनी ही मात्रा को काफी बताया। यह शोध संकेत देता है कि व्यक्तिता रहित होने की प्रेरणा औषधि सेवन का आवश्यक प्रथम चरण है।

हेरोइन जैसी तेज औषधियों की प्रतिक्रिया अधिक निश्चित होती है जो व्यक्ति अपने आंतरिक नियंत्रण से मुक्त होना चाहते हैं, वे उस अनुभव को बार-बार प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं, जबकि नियंत्रण खोकर बेआरामी का अनुभव करने वाले संभवतः पुनः औषधि लेने से बचते हैं।

वे कौन होते हैं जो औषधि सेवन के आदी हो जाते हैं? रिचार्ड ब्लम (1971) कहते हैं कि औषधि सेवन वाले, कमजोर, अनुपयुक्त तथा सुभेद्य होते हैं। वे मानसिक कष्ट वाले, वंचित, निर्धन, तथा ऐसे युवक जो वय-समूह के दबाव के प्रति प्रतिरोध नहीं कर पाते, जो उनके कुप्रभाव और दुष्परिणाम से परिचित नहीं होते, अधिक आजादी देने वाले माता-पिता के बच्चे, अतिकठोर अनुशासन में पलने वाले या वे बच्चे जिनके माता-पिता उन्हें प्यार नहीं करते।

हेनरी मिल्लर (1971) ने ब्लम के विचारों के प्रति सहमती व्यक्त करते हुए औषध सेवियों को मूल रूप में गैरजिम्मेदार (Irresponsible) व्यक्ति कहा है जो आन्तरिक नैतिक नियंत्रण तथा परंपरागत अर्न्तव्यक्तिक क्रियाओं और सामाजिक बन्धनों से आजादी चाहते हैं।

सामाजिक निर्भरता और अनाश्रितता

(Social Dependence and Indendence)

अनाश्रितता, आत्मभान, तथा सर्जनात्मकता:—वह व्यक्ति जिसमें पक्का विश्वास होता है कि "वह कौन है" और अपने व्यवहार तथा क्रियाओं के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानता है, वह व्यक्ति के रूप में अपनी पहचान रखता है। डेविड रीजमैन (1950), ऐसे व्यक्तियों को अंतरोन्मुख (Inner directed) व्यक्ति कहता है। अपने समूह से विलगाव (Detachment) के कारण पर्याप्त मात्रा में आत्मभान और स्वतंत्रता आवश्यक है।

नर्स्के के व्यक्तित्व मापन एवं शोध संस्थान में इन शीलगुणों का कई वर्षों तक

अन्वेषण हुआ है। एक ऐसे शोध में डानल्ड डब्लू मैकिन्नान (1962) ने सफलता और सर्जनात्मकता में उच्च तथा न्यून आर्किटेक्ट्स के शीलगुणों की तुलना किया। परिणामों से ज्ञात हुआ कि सफल तथा सर्जनात्मक (Creative) प्रयोज्यों ने अनाश्रितता तथा आत्मसम्मान से सम्बद्ध शीलगुणों में उच्च श्रेणी प्राप्त किया। इन आर्किटेक्ट्स में अपने आपको व्यक्तिवादी या व्यक्तिनिष्ठ, अनाश्रित, निश्चयनिष्ठ, उद्यमी, उत्साही कहने की प्रवृत्ति होती है जब कि न्यून श्रेणी के प्रयोज्यों ने ऐसे पदों का उपयोग अपने विवरण में किया जैसे–जिम्मेदार, दिखावा रहित, सहनशील, विश्वसनीय, भरोसेमन्द या भरोसे योग्य, समझदार आदि। कम सर्जनात्मक (Creative) आर्किटेक्ट्स ने जिस आत्मप्रतिमा का परिचय दिया उसके अनुसार वे अधिक निष्क्रिय, अधिक पर-उन्मुख (other oriented) व्यक्ति थे तथा इस गुण में उच्च आर्किटेक्ट्स ने अपने कार्य में अधिक तल्लीनता को आत्मप्रकाशन के रूप में व्यक्त किया। दोनों समूहों में उत्तरदायित्व की उच्च मात्रा थी किन्तु कम सर्जनात्मक (Creative) प्रयोज्यों ने दूसरों के प्रति अपने दायित्व पर बल दिया जबकि उच्च प्रयोज्यों ने अपने तथा अपने कार्य के प्रति अपने दायित्व या जिम्मेदारी पर बल दिया। लियोनार्ड गार्डन (1966) ने अपने अध्ययन में न्यादर्श कालेज के छात्रों तथा शान्ति सेना (Peace corps) के सदस्यों से लिया और उनके अंकों का तुलनात्मक अध्ययन किया। शान्ति सेना के सदस्यों की तुलना में कालेज के छात्रों ने दूसरों के साथ सुखद सम्बन्धों की प्राप्ति तथा समस्या उत्पादक परिस्थितियों से परिहार पर अधिक ध्यान दिया। शान्ति सेना सदस्यों की अपेक्षा कालेज के छात्रों में, अपने पर्यावरण को दिशा और समर्थन का साधन मानने की उन्मुखता अधिक देखी गई। इसके विपरीत शान्ति सेना के सदस्यों में पर्यावरण को चैलेंज करने तथा परिवर्तित करने के अवसर ढूँढ़ने की अधिक रुचि थी। संक्षेप में यह प्रदर्शित हुआ कि छात्रों के समूह की अपेक्षा शान्ति सैनिकों में अनाश्रितता अधिक थी।

किन्तु अनाश्रितता या स्वतन्त्रता को पूर्ण रूप में "अच्छी चीज" समझना उचित नहीं है। यह मान्यता कि अनाश्रितता का अर्थ अधिकार चिह्न, नियमों तथा नियमितताओं का उल्लंघन और प्रतिरोध है, उचित नहीं है। वास्तविकता यह है कि वह व्यक्ति जो अनाश्रितता, सर्जनात्मकता, प्रभावशीलता और कार्योन्मुखता में उच्च अंक प्राप्त करते हैं वे व्यवहार की नियमितताओं, नियमों या अधिकार चिह्नों के प्रति आवश्यक रूप में निषेधात्मक भाव नहीं रखते। चर्चित शोधों से संकेत मिलता है कि वे अधिकार चिन्हों से सीखने की योग्यता रखते हैं, किन्तु वे कार्य से सम्बद्ध सामग्री पर ध्यान देते हैं। वह अधिकार व्यक्ति जो मुख्य कार्य से असम्बद्ध (निरर्थक) व्यवहार पर अधिक बल देते हैं, अनाश्रित व्यक्तियों में चिड़चिड़ाहट

की भावना उत्पन्न करते हैं। यही बात नियमों और नियमितताओं के बारे में भी सत्य है, यदि वे प्रकार्यात्मक (Functional) तथा कार्य से सम्बद्ध होते हैं तो कार्योन्मुख तथा अनाश्रित प्रकृति वाले व्यक्ति उसे स्वीकार करते हैं।

एक ओर अनाश्रित, कार्योन्मुख, तथा सर्जनात्मक व्यक्ति और दूसरी ओर वह व्यक्ति आते हैं जिनकी अनाश्रितता तथा अवज्ञा आप में लक्ष्य बन जाते है। ऐसे व्यक्ति असमरूप व्यवहार में अधिक रुचि लेते हैं।

राबर्ट जे० स्मिथ (1967) ने एक अध्ययन द्वारा दर्शाया कि विद्रोही और अनुवर्तक, सचमुच अनाश्रित व्यक्तियों से भिन्न होते हैं किन्तु वास्तव में आपस में समान होते हैं। राबर्ट स्मिथ ने असमरूपता (Non conformity) के मापन हेतु एक प्रश्नावली तैयार की और उसे कालेज के 162 पुरुष छात्रों पर प्रशासित किया। इस परीक्षण में उच्च अंक प्राप्त कर्त्ताओं को उसने विद्रोही (Rebels) कहा क्योंकि वे समाज द्वारा अनुमोदित व्यवहारों के विरुद्ध दृष्टिकोण रखते थे और न्यून अंक प्राप्तकर्त्ताओं को उसने अनुवर्तक (Conformers) कहा क्योंकि वे बिना आपत्ति समाजानुमोदित व्यवहार के प्रति तत्काल तत्परता दिखाते थे। मध्य विस्तार (Middle range) में अंक प्राप्त करने वाले अनाश्रित कहे गए, क्योंकि वे सामाजिक सांस्कृतिक मानकों के प्रति उभयानुखता प्रदर्शित करते हैं। वे कुछ मानकों को स्वीकार और अन्य को अस्वीकार करते हैं। वे मानकों को न तो निश्चित रूप में स्वीकारते हैं न तो निश्चितता के साथ तिरस्कृत करते हैं, क्योंकि अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं। इसके बाद तीनों समूहों के मनोवैज्ञानिक मापों का अध्ययन किया गया। धनात्मक आत्मसम्मान, अहं शक्ति, या आत्मस्वीकृति के मनोवैज्ञानिक मापों पर विद्रोहियों तथा अनुवर्तकों दोनों से अनाश्रित प्रयोज्यों ने सार्थक रूप में अधिक प्राप्तांक प्राप्त किया। उन्होंने सामाजिक उत्तरदायित्व, और आवेगपूर्णता तथा आत्मकेन्द्रितता से स्वतन्त्रता के मापों पर भी अन्य दो समूहों से अधिक अंक प्राप्त किये। इन दोनों प्रकार की मापनियों पर विद्रोहियों ने अनुवर्तकों से कम अंक प्राप्त किये, किन्तु भिन्नता सार्थक नहीं थी। अर्थात्, इन मापनियों के प्राप्तांकों के अनुसार विद्रोही तथा अनुवर्तक, अनाश्रित प्रयोज्यों की तुलना में आपस में अधिक समान थे। समरूप व्यवहार के रचनात्मक योग्यता की मापनी (जिसमें समरूप व्यवहार द्वारा वांछित लक्ष्य प्राप्ति होता है) के अंकों के आधार पर ज्ञात हुआ कि अनाश्रित प्रयोज्यों ने अन्य दो समूहों से अधिक अंक प्राप्त किए, किन्तु उनमें तथा अनुवर्तकों में अन्तर सार्थक नहीं था।

सामाजिक निर्भरता तथा सामाजिक अधिगम—आश्रितता-अनाश्रितता सातत्यक (Dependence-independence continum) पर जिन व्यक्तियों व्यवहारिक श्रेणियां सीमान्तों पर होती हैं उनके सामाजिक अधिगम की शैलियां

भिन्न होती हैं और यह भिन्नता आरंभिक अवस्था में ही प्रकट होती है। डोरोथी रॉस (1966) ने 26 नर्सरी-स्कूल-बच्चों के दो समूहों को एक क्रीड़ा डाक घर (Play Post Office) चलाने का ढंग दिखाया। न्यादर्श चयन 101 बच्चों के समूह से आश्रित व्यवहार की मात्रा के आधार पर किया गया था, आश्रित व्यवहार का प्रदर्शन—बच्चों द्वारा किसी कार्य के सम्पादन में सहायता माँगना, प्रौढ़ों से पुनः आश्वासन, प्रौढ़ों के आस-पास ही रहना, ध्यानाकर्षण व्यवहार की अभिव्यक्ति आदि थे। दो समूहों में से एक में अत्यधिक आश्रित और अन्य में न्यूनाश्रित बच्चों को रखा गया। डाक घर चलाना-सिखाने के क्रम में रॉस ने दो प्रकार के व्यवहार किए! एक व्यवहार-रुपया लेना, फुटकर पैसे लौटाना, पत्रों पर मुहर लगाना, पत्रों को सही थैलों की आगे भेजना आदि व्यवहार का दूसरा सेट निरर्थक और अनुपयोगी था—मेलबॉक्स को उल्टे रास्ते ले जाना, टेलीफोन करते समय एक टाँग कुर्सी पर रखना आदि। आश्रितता में न्यून मूल्यांकित बच्चों ने डाकघर चलाने में सार्थक व्यवहार अधिक सीखा और आश्रितता में उच्च प्रयोज्यों निरर्थक व्यवहार अधिक सीखे। कम आश्रित बच्चों के माता-पिता उपलब्धि पर बहुत बल देते हैं; अतः यह भिन्नता उनके व्यवहार में व्यक्त होती है। अधिक आश्रित समूह निश्चित ही अधिक कार्योन्मुख था। उन्होंने प्रतिरूप द्वारा प्रदर्शित उस व्यवहार को ध्यान से देखा था जो डाक घर चलाने हेतु सार्थक थे, और निरर्थक व्यवहार की उपेक्षा किया। दूसरी ओर अत्यधिक आश्रित बच्चों में प्रतिरूप के प्रत्येक व्यवहार पर समान ध्यान दिया। वास्तव में उच्च आश्रित समूह ने न्यूनाश्रित समूह की अपेक्षा अधिक सीखा—क्योंकि उन्होंने सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार की बातों को सीखा था। न्यूनाश्रित बच्चों ने केवल कार्य को भली प्रकार समझा और अच्छी तरह किया।

जन्मक्रम और व्यक्तित्व

(Birth Order and Personality)

प्रौढ़ावस्था की अभिवृत्तियों तथा व्यवहार पर बाल्यावस्था की अनुभूतियों के प्रभावों से हम सभी परिचित हैं, किन्तु इन सम्बन्धों का अस्पष्ट तथा अक्रमिक ज्ञान अधिक सार्थक नहीं होता। मनोवैज्ञानिकों ने इन सम्बद्ध परिवर्त्यों का वर्गीकरण मापन और विश्लेषण किया है।

(1) **प्रथम तथा बाद के जन्मे बच्चों में सफलता-भिन्नतायें**—प्रथम जन्म क्रम वालों को प्रौढ़ावस्था में अपने अन्य भाई बहनों की अपेक्षा कुछ सुविधा होती है—विशेषकर, बौद्धिक, सामाजिक, और आर्थिक सफलता में। हेराल्ड जोन्स (1954) ने सुविख्यात अंग्रेजों, प्रतिभावान बच्चों, अमेरिकन

अन्य विख्यात अमेरिकी व्यक्तियों पर एक जीवन वृतान्त विधि द्वारा अध्ययन किया। उसने देखा कि इन सभी समूहों में प्रथम जन्म क्रम वालों का अत्यधिक प्रतिनिधित्व था, चाहे परिवार का आकार कुछ भी हो। "Who is Who' डायरेक्टरी में दिये गए नामों में जैसी कि हम प्रत्याशा करते हैं कि दो बच्चों वाले परिवारों में से 'Who is Who' में दिये गए नामों में प्रसंभाव्यता के आधार पर 50% होना चाहिए किन्तु वास्तव 54% प्रथम जन्म क्रम वालों के नाम सूची में थे।

इसी प्रकार तीन बच्चों वाले परिवार में अमेरिका मेन-इन-साइन्स में 33% के बजाए 44% प्रथम बच्चों के नाम थे।

विलियम एल्टस (1965) ने भी समान परिणाम प्राप्त किए। चान्स द्वारा प्रत्याशित से कहीं अधिक प्रथम जन्म क्रम वालों ने नेशनल मेरिट छात्रवृत्ति परीक्षा में उच्चतम अंक प्राप्त किए। दो बच्चों वाले परिवार में प्रत्याशित 50% के बजाए 66% ने छात्रवृत्ति प्राप्त की। इसी प्रकार की स्थिति तीन और चार बच्चों वाले परिवारों में भी देखी गई।

यह शोध परिणाम संकेत देते हैं कि इन मुकाबलों में अन्य जन्म क्रम वालों की अपेक्षा प्रथम बच्चों के सफल होने की संभावना अधिक होती है। अमेरिकी विश्वविद्यालयों में प्रवेश करने वालों में भी प्रथम बच्चों की संख्या अधिक प्राप्त हुई।

जोन्स तथा एल्टस के परिणामों की एक जनसाधारण व्याख्या के अनुसार यह कहा जाता है कि परंपरागत रूप से प्रथम बच्चे की शिक्षा-दीक्षा के लिए परिवार के साधनों (Resources) का अधिक उपयोग होता है अतः उनका प्रतिशत उच्च शिक्षा में चान्स प्रतिशत से अधिक होता है यह बात अन्य भाई बहनों पर उन्हें सुविधा प्रदान करती है। एल्टस के प्रदत्त पुरुषों की तरह महिलाओं पर भी लागू होते हैं इससे यह भी हो सकता है कि जन्म-क्रम में बच्चों को चाहे वे किसी यौन के हों अन्य क्रम वालों की अपेक्षा किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक सुविधा होती है। प्रौढ़ावस्था में उनकी अपेक्षाकृत अधिक सफलता उनकी स्कूल की सफलता से सम्बद्ध प्रतीत होती है, जहाँ वे बाद के जन्म क्रम वालों की तुलना में अध्यापकों की प्रत्याशा के अनुरूप होने की प्रवृत्ति, समाजिक दबाव के प्रति अधिक सुग्राह्यता, सूचनाप्राप्ति की अधिक चाह, अधिक गंभीर, तनाव उत्पादक परिस्थितियों के प्रति अधिक संवेदनशील, तथा कम आक्रामक समझे जाते हैं। ब्रैडली (1968) के अनुसार यह सभी कारक प्रथम बच्चों की उपलब्धि अभिप्रेरणा और शैक्षिक निष्पादन में वृद्धि करते हैं।

(2) जन्म क्रम सामाजीकरण के अनुभव—एक परिवर्त्य में समूह मानकों से विचलन की प्रवृत्ति-अन्य रूपों में विचलन की प्रवृत्ति से सम्बद्ध होती है। यह कम से कम पहले जन्म क्रम के बच्चों में निश्चित ही सत्य है। बौद्धिक क्रियाओं में

सफलता एवं प्रमुखता अपने प्रगट रूप में सामाजिक सफलता से सम्बद्ध होती है। नारमन अलेक्जैण्डर, जूनियर (1956) ने पुरुषों में जन्म क्रम तथा सामाजिक स्वीकृति का अध्ययन किया और यह देखा कि मित्रता के लिए प्रथम जन्म क्रम वालों के चयन की सम्भावना अधिक होती है। अर्थात् अन्य जन्मक्रम वालों की अपेक्षा दूसरे व्यक्ति प्रथम जन्मक्रम वालों का चयन मित्रता के लिए अधिक करते हैं। उसने यह भी देखा प्रथम जन्म क्रम वाले भी इसी भावना का प्रदर्शन कर सकते हैं अर्थात् बाद के जन्मे व्यक्तियों (Later born) की अपेक्षा कम लोकप्रिय बालकों का चयन मित्रता के लिए करते हैं।

अनेक शोधकर्त्ताओं (जैसे शैष्टर, 1959; नेहरा बेयन तथा साइनोज़की 1970) ने यह दर्शाया है कि प्रथम बच्चों में अन्य की उपेक्षा सम्बन्धन की आवश्यकता और निर्भरता अधिक होती है। किन्तु अन्य शोधकर्त्ताओं ने इस पर प्रश्न किए हैं। किन्डरगार्डन के बच्चों पर एक अध्ययन में प्रथम बच्चों (पुरुषों) में एकान्त क्रीड़ाओं (Solitary plays) में भाग लेने की अधिक प्रवृत्ति पाई जो सम्बन्धन या आश्रितता की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है। प्रथम जन्मी महिला प्रयोज्याओं में ऐसी क्रीड़ा में भाग लेने की न्यून प्रवृत्ति देखी गयी। इस शोध तथा ऐसे अन्य शोधों से शोधकर्त्ताओं ने निष्कर्ष निकाला कि दोनों ही यौन के प्रथम जन्म क्रम वालों में यौन भेद की तीव्र प्रवृत्ति देखी गई। इस अध्ययन के अन्य प्रवर्त्तों ने यह भी ज्ञात हुआ अन्य क्रम वालों से प्रथम जन्म क्रम वाले अधिक सर्जनात्मक ही नहीं वरन् अधिक लोकप्रिय भी होते हैं (लाओसा तथा ब्रोफी, 1970)।

प्रतिबल की दशा में प्रथम जन्म क्रम वालों की सम्बन्धन की प्रवृत्ति का कारण सम्बन्धन की आश्रितता की आवश्यकता नहीं वरन् उनका अधिक समाजीकरण हो सकता है। यह अधिक समाजीकरण प्रथम बच्चों की बड़े होने के कारण प्राप्त अनुभूतियाँ हो सकती हैं जो बाद के जन्मे बच्चों को नहीं उपलब्ध होतीं। यह अवसर उन्हें इसलिए मिलते हैं क्योंकि प्रथम जन्मे बच्चे प्रायः अन्य भाई-बहनों के लिए माता-पिता के स्थानापित के रूप में होते हैं। माता-पिता के व्यस्त होने या अनुपस्थिति में प्रायः सबसे बड़ा बच्चा या बड़ी बच्ची अपने छोटे भाई बहनों को नहलाना, भोजन देना, या सुलाने और देख रेख का दायित्व सँभालते हैं अतः उन्हें जो अनुभव प्राप्त होते हैं वह अन्य भाई-बहनों को नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार बाहर जाते समय बड़ा बच्चा (प्रथम) अन्य भाई बहनों का दायित्व सँभालते है। घर के भीतर और बाहर प्रथम बच्चा अन्य सहोदरों के लिए अभिभावक के रूप में होता हैं अतः वह पैतृक मूल्यों का प्रकाशन करते तथा पैतृक व्यवहार का अनुकरण करते हैं। वे प्राधिकार व्यक्ति के मूल्यों, अभिवृत्तियों, प्रत्यक्ष, प्रत्याशाओं और भूमिका व्यवहारों को नाबालिग प्राधिकार व्यक्ति के रूप में अपना लेते हैं। अन्य

बच्चों की अपेक्षा सबसे बड़े बच्चे की भूमिका अधिक स्पष्ट होती है, अतः उसके छोटे सहोदर उसके अधिकार को भी स्वीकार करने लगते हैं।

टोरन्टो विश्वविद्यालय में आर० जी० स्मार्ट (1965) ने अपने अध्ययनों से दर्शाया कि वह प्रौढ़ जो जन्म क्रम में प्रथम थे, सामाजिक तथा मनोरंजन सम्बन्धी क्रियाओं में अधिक सक्रिय भाग लेते हैं और क्लबों के पदाधिकारी भी बन सकते हैं।

सबसे बड़े बच्चे तथा इकलौते बच्चों के एक अध्ययन के उपरान्त बिस्स (1966) ने उन्हें अन्य जन्म क्रम वालों की अपेक्षा अधिक सपर्यक (Supportive) तथा अधिक लोक प्रिय पाया। अतः जन्म क्रम का व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है और इसका कारण समाजीकरण द्वारा प्राप्त उनकी अनुभूतियाँ हैं।

(3) **जन्म क्रम तथा पैतृक ध्यान**—सबसे पहले जन्म लेने के कारण जब तक अन्य भाई/बहन के जन्म के पूर्व उनका माता-पिता पर एकाधिकार होता है, वह माँ बाप के ध्यान का एकमात्र केन्द्र होता है। यह एकाधिकार उस समय समाप्त होता है जब दूसरा बच्चा पैदा होता है, तो भी प्रथम बच्चा अधिक स्नेह और ध्यान की चाह रखता और प्राप्त भी करता है।

प्रथम अपने माँ से विशेष प्रकार का ध्यान प्राप्त करते हैं। इर्मा हिल्टन (1967) के अनुसार प्रथम बच्चे की पहेली हल करने की कोशिश में माताएँ अधिक अवरोधक व्यवहार करती हैं।

मेरी राथबार्ट (1971) ने अपने अध्ययन में पाँच वर्षीय पहले बच्चे तथा पाँच वर्षीय द्वितीय क्रम बालकों की माताओं की तुलना की। माताएँ बच्चों के निष्पादन का निरीक्षण (Supervision) पाँच प्रकार कार्यों पर करती थीं। दोनों प्रकार के समूहों की माताओं द्वारा अपने बच्चों के साथ अन्तक्रिया में बराबर समय दिया गया, किन्तु प्रथम जन्मे बच्चों की माताओं ने तकनीकी निर्देश अधिक दिए, उपलब्धि के लिये अधिक दबाव का प्रदर्शन किया और निष्पादन में चिन्तायुक्त हस्तक्षेप का प्रदर्शन किया विशेषकर जब प्रथम सन्तान पुत्री थी। एक रोचक जन्म क्रम भिन्नता उस समय प्राप्त हुई जब प्रयोगकर्ता ने कहा कि क्या आप माँ बच्चे परीक्षण सत्र के बाद क्रीड़ा-रूम को झाड़ देंगे (दो झाड़ू-एक बड़ा एक छोटा)। एक तरफा पर्दे के द्वारा उनके व्यवहार का निरीक्षण किया गया, और बच्चे के भाग्यग्राहिता का श्रेणी में मूल्यांकन किया गया। इसके अन्तर्गत माँ द्वारा बच्चे में उत्तरदायी व्यवहार प्रोत्साहित करने का मापन किया गया। परिणामों से ज्ञात हुआ कि प्रथम जन्मक्रम वालों द्वारा सफाई के काम में अधिक लगन ध्यान और रुचि की आशा की जाती है।

अब तक इस सन्दर्भ में चर्चित अध्ययन परिणाम दर्शाते हैं कि परिवार में जन्मे

प्रथम व्यक्ति के भीतर कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ होती हैं जो अन्य जन्मक्रम या बाद के जन्मे बालक, बालिकाओं में नहीं पाई जाती।

यह अन्तर तो थोड़ा था—जो व्यवहार में 5% भिन्नता का कारण हो सकता है, किन्तु बराबर प्राप्त होता है अर्थात् संगत है। प्रथम क्रम वालों में यह निजी विशेषताएँ इसलिये पाई जाती हैं क्योंकि अन्य की अपेक्षा प्रथम बच्चे बाल्यावस्था में अधिक समान अनुभव प्राप्त करते हैं तथा समान भूमिकाएँ निभाते हैं। प्रथम तथा बाद के जन्म क्रम वालों में व्यक्तित्व भिन्नताएँ बाल्यावस्था से ही स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होने लगती हैं और इस तथ्य की संपुष्टि अनेक शोध कर्त्ताओं द्वारा की गई है, किन्तु बाल्यकाल के बाद के वर्षों में भी सार्थक भिन्नताएँ प्राप्त होती हैं। वे अन्य जन्म क्रम वालों की अपेक्षा अधिक सफलता और लोकप्रियता प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त वे अधिक ठंढे मन, अधिक कार्योन्मुख तथा द्वितीय क्रम वालों से अधिक रूढ़िवादी भी होते हैं (मैक आर्थर, 1956)।

पिछले 2–3 दशकों में जन्म क्रम शोध ने अधिक मनोवैज्ञानिकों के ध्यान को आकृष्ट किया है क्योंकि यह बालपोषण प्रणालियों, सामाजिक भूमिकाओं, व्यक्तित्व विकास, और सामाजिक व्यवहार से सम्बद्ध सिद्धान्तों की परीक्षा का अवसर प्रदान करता है।

किन्तु इसके अलावा माता पिता का प्रथम जन्मे तथा बाद के जन्मे बच्चों के साथ व्यवहार में भिन्नताएँ भी बड़ी महत्वपूर्ण होती हैं। भारतीय सन्दर्भ में बच्चों की संख्या अधिक होने पर स्वाभाविक है कि जो ध्यान और स्नेह प्रथम बच्चा प्राप्त करता है उसकी प्रत्याशा छठें या नवें आदि के लिये नहीं कर सकते। यदि माता पिता का व्यवहार एवं वर्ताव विभिन्न जन्म क्रम वालों के साथ भिन्न भिन्न होगा तो निश्चित ही इसके कारण व्यक्तित्व, सामाजिक भूमिका और सामाजिक व्यवहार में भिन्नताएँ व्यक्त हो सकती हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक पर्यावरण और व्यक्तित्व के बीच सम्बन्धों को स्पष्ट करने का एक प्रमुख उदाहरण जन्म क्रम है।

अध्याय 14

समूह प्रक्रियायें

(Group Processes)

मानलें किसी बड़े नगर में लिफ्ट में 5-7 व्यक्ति हैं। लिफ्ट कुछ ऊपर जाकर खराब हो जाती है। वे 5-7 अपरिचित व्यक्ति अपने को बीच में फंसा पाकर एक दूसरे की ओर ध्यान देते हैं, आपस में सम्प्रेषण करते हैं। उनमें से कुछ अपनी गत अनुभूतियाँ अन्य को सुनाते हैं, और शीघ्र वे उस लिफ्ट (Elevator) से बाहर निकलने के उपाय पर विचार-विमर्श करने लगते हैं। इस प्रकार वास्तव में सम्प्रेषण से समूह का निर्माण होता है। व्यक्तियों के सम्प्रेषण, और अभिप्रेरकों और लक्ष्यों की भागीदारी के कारण समूहों का अस्तित्व बना रहता है। दो या अधिक व्यक्तियों के बीच सम्प्रेषण उन्हें एक समूह का रूप देता है. चाहे उपरोक्त लिफ्ट में फँसे व्यक्तियों के उदाहरण को देखें। उसमें लक्ष्य की उभयनिष्ठा के कारण सम्प्रेषण होता है और एक समूह अस्तित्व में आता है चाहे वह अस्थायी ही क्यों न हो।

पद समूह में कुछ अस्पष्टता का अंश होता है क्योंकि अभिप्राय दो हो सकते हैं, व्यक्तियों का संघात जो अन्तक्रिया नहीं करते, परन्तु उनकी उभयनिष्ठ शीलगुणों में भागीदारी होती है। प्रथम संदर्भ में कांग्रेसी, गहरे पानी में गोता लगाने वाले, किशोरों को समूह कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्येक दशा में कम से कम लक्षण या विशेषता इनमें उभयनिष्ठ होती है। जब हम समूह का उपयोग ऐसे संघात के रूप में करते हैं, तो हमारा अभिप्राय एक वर्णनात्मक वर्ग या वर्गीकरण होता है। ऐसे समूह के सदस्यों में समूह चेतना न्यून होने की संभावना होती है।

दूसरे प्रकार का समूह प्रकार्यात्मक समूह (Functional group) कहलाता है। जिसके सदस्यों को अपनी समूह सदस्यता की चेतना की पर्याप्त संभावना होती है। ऐसे समूहों में परिवार; कार्य-समूह, बॉय स्काउट, चर्च में एकत्र व्यक्ति तथा अन्य। समूहों के वर्गीकरण आकार की सैद्धान्तिक स्तर पर कोई सीमा नहीं है। लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर सामाजिक निर्णय की आवश्यकता से प्रेरित व्यक्तियों की सुविधा के लिए उनका अमूर्तिकरण किया जाता है। किन्तु प्रकार्यात्मक समूहों का आकार सीमित होता है, यद्यपि उनका अस्तित्व उनके सदस्यों के बीच अन्तक्रिया पर निर्भर करता है। हम समूह की चर्चा प्रकार्यात्मक समूह के सन्दर्भ में करेंगे।

आइजेक और सहयोगियों के अनुसार, "समूह व्यक्तियों का संघात या मिलान

है जिसमें वे किसी उभयनिष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अन्तक्रिया करते हैं। (An aggregate of individuals interaction to achive a common goal from a group)। हम सभी जानते हैं कि समूह क्या है, अतः इसे परिभाषित करने में अधिक समय लगाना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समूह का सदस्य होता है, और मिल्ल्स (1967) के अनुसार किसी समय व्यक्ति पाँच या छः समूहों का सदस्य होता है।

समूह शब्द का अनुप्रयोग अनेक प्रकार की परिस्थितियों की विशेषताएँ स्पष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है। जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एक-दूसरे के निकट इकट्ठे होते हैं, तो व्यक्तियों के एकत्र होने को समूह के रूप में वर्णित करते हैं। किन्तु जब हम समूह का अध्ययन करना चाहते हैं तो इस पद पर असंक्षिप्त (imprecise) उपयोग से संभ्रान्ति हो सकती है। संभ्रान्ति से बचने और अध्ययन विषय की सीमा को निश्चित करने के लिये, मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों ने समूह के अभिप्राय को अधिक भली प्रकार परिभाषित करने का कष्ट किया है। यद्यपि थोड़ी असहमति है, किन्तु इस बात पर मतैक्य (सर्व सम्मति) है कि व्यक्तियों के संग्रह या संघात को किन दशाओं में समूह कहते हैं। Hare (1976) De Lamater (1974) के अनुसार व्यक्तियों का संघात (Aggregate) उस समय समूह कहा जायेगा जब निम्नलिखित तीन दशायें होती हैं :—

(1) व्यक्तियों में (जो कहीं एक जगह जमा हैं) आपस में अन्तक्रिया एवं सम्प्रेषण होती हैं। चूँकि यह शर्त समूह के सदस्यों मुखोन्मुख (Face to face) सम्पर्क आवश्यक मानती है (होमैन्स, 1950), इसलिये समूह में सदस्यों की संख्या थोड़ी होती है।

(2) दूसरी वांछितता यह है कि व्यक्तियों में तदीयत्व भावना (Belongingness) होनी चाहिये। उन्हें इसका आभास होना चाहिये कि वे एक समूह की सदस्यता के कारण एक इकाई का निर्माण करते हैं। आत्मचेतना की यह भावना इसलिये उत्पन्न होती है कि समूह के सदस्य सामान्य विश्वास एवं अभिवृत्तियाँ रखते हैं, और समूह के कुछ आदर्शों एवं मानकों को स्वीकार करते हैं।

(3) तीसरी वांछितता के अनुसार व्यक्तियों में उभयनिष्ठ लक्ष्य होना चाहिये और कम से कम एक लक्ष्य में भागीदारी आवश्यक है (शा, 1976)। इससे यह संकेत मिलता है कि समूह सर्वदा किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये निर्मित होते हैं।

समूहों को प्रायः उनके मानकों तथा भूमिकाओं के सेटों से भी जाना जाता है। मानक वह नियम हैं जो विशिष्ट व्यवहार को संचालित करते हैं। दूसरी ओर

भूमिकाओं से कर्त्तव्यों तथा व्यक्ति के लिये विशिष्ट पदों की प्रत्याशाओं का बोध होता है।

समूह का निर्माण बरकरार रहना
(Formation and Maintenance)

समूहों का निर्माण आकस्मिक रूप से हो सकता है जो उसके सदस्यों के ज्ञानात्मक नियन्त्रण से परे हो सकता है या पारस्परिक आकर्षण के परिणामस्वरूप ऐच्छिक रूप से हो सकता है। एक बार जब समूह निर्मित हो जाते हैं वे कुछ विशेषताएँ धारित कर लेते हैं। उनकी संरचना विकसित हो जाती है जिसके द्वारा सदस्य एक दूसरे के सम्बन्ध में पद धारित करते हैं। यह पद या भूमिकाएँ कुछ प्रत्याशाओं द्वारा परिभाषित होती है, जो इन भूमिकाओं के धारकों से की जाती है, अर्थात् समूह इन भूमिकाओं के धारकों के व्यवहार से सम्बद्ध अनेक प्रत्याशायें रखता है और भूमिका धारक भी अपने आप से अनेक प्रकार के व्यवहार की प्रत्याशा करते हैं। कुछ अभिवृत्तियाँ और प्रत्यक्षीकरण प्रणालियाँ भी कुछ भूमिकाओं या पदों से आबद्ध हो जाती है और पदों के धारकों के भूमिका व्यवहार तथा स्व-संप्रत्यय द्वारा प्रतिबिंबित होते हैं।

स्थिरता और परिवर्तन—स्थिरता और परिवर्तन समूह के आवश्यक गुण हैं। ऐसे कुछ गुण तो अनौपचारिक समूहों में भी पाए जाते हैं। कालेज के वाचनालय में एक विद्यार्थी बैठा अखबार पढ़ रहा है, दूसरा भी पास ही बैठा इधर उधर देख रहा है। वे एक-दूसरे से कुछ नहीं कहते। वे एक समूह कहे जा सकते हैं। उनमें कोई अन्तक्रिया नहीं हुई, किन्तु दूसरा छात्र किसी अन्य टेबुल पर भी बैठ सकता था, क्योंकि अधिकांश मेजे खाली पड़ी थीं। एक तीसरा छात्र वाचनालय में प्रवेश करता है। अपनी पुस्तकें रखता है और उन दो छात्रों के पास बैठ जाता है। प्रथम छात्र के अखबार में परिसर के विषय में एक शीर्षक पर तीसरे छात्र की दृष्टि पड़ती है। यह परिसर से सम्बद्ध शीर्षक की ओर इंगित करते हुये कहता है, "कितना शर्मनाक है"। दूसरा छात्र कहता है, "हो सकता है, किन्तु वह टीचर भी तो पढ़ाने लिखाने में टाल-मटोल करता है"

अब एक विवाद आरम्भ हो जाता है जिसमें तीसरा छात्र कालेज से निकाले जाने वाले टीचर के साथ अन्याय किये जाने की वकालत करता है और उसे एक योग्य अध्यापक मानता है। जबकि दूसरा उसे अयोग्य और कामचोर की संज्ञा देता है। अब प्रथम छात्र भी इस विवाद में तीसरे का समर्थन करते हुये शामिल हो जाता है। वह अध्यापक के सेवामुक्त किये जाने को अनुचित ठहराता है। इस समूह के अस्तित्व में आए पन्द्रह मिनट हुये थे किन्तु इसकी संरचना विकसित होने लगती है। प्रथम और तृतीय छात्र कालेज प्रशासन की आलोचना तथा अध्यापक

का समर्थन करते हैं जबकि दूसरा इस पर सन्देह व्यक्त करता है और धीरे धीरे कालेज प्रशासन के पक्ष का समर्थन करने लगता है। कोई भी वस्तुनिष्ठ प्रेक्षक 2-3 मिनटों की अन्तर्क्रिया से विद्यार्थ से परिचर्या के दृष्टिकोण का पूर्वकथन कर सकता था—कि तीन छात्रों के समूह में कौन अध्यापक का पक्ष लेगा और कौन आलोचना करेगा। पहला और तीसरा आक्रामक रुख अपनाते हैं और दूसरा विनम्र है। एक प्रकार का मानक विकसित हो जाता है क्योंकि प्रथम और तृतीय छात्र न केवल द्वितीय की बातचीत में बाधक वरन् आपस में भी एक-दूसरे की बात में अवरोधक हुये। द्वितीय छात्र का तरीका विनम्र था और वह उन दोनों की बातें पहले सुनता और अपनी बाद में कहता था। परिचर्या के अन्त में तीसरा छात्र पहले से अधिक बोलता है, किन्तु पहला, दूसरे छात्र से अधिक बोलता है। इससे एक प्रभाविता पदानुक्रम (Dominance heirarchy) के विकास का संकेत प्राप्त होता है।

उधर से ही जाते हुये एक चौथा छात्र उस सेवामुक्त अध्यापक का नाम सुनकर रुकता है और वहीं बैठ जाता है। किसी भी समूह का नया सदस्य सबसे जूनियर माना जाता है; जब तक कि वह अपनी संस्थिति के महत्व से पुराने सदस्यों को प्रभावित न कर ले। चौथा छात्र 3-4 मिनट शान्तिपूर्वक दूसरों की वार्ता सुनता है और फिर कहता है कि उसने सुना है कि अध्यापक कट्टर वामपंथी होने के कारण सेवामुक्त किया गया है। यह सूचना समूह के लिये नवीन थी, जिनके कारण समूह में प्रवेश कर रहे चौथे सदस्य को जूनियर से हटकर उच्च संस्थिति प्राप्त होती है। सभी ध्यानपूर्वक उसे सुनते हैं, इस बीच तीसरा छात्र जो चौथे के सम्मिलित होने के पूर्व प्रभावशाली था उसे टोकता है और कहता है कि यह सब कोई नई बात नहीं है और न ही यह समस्या से सम्बद्ध है और प्रबन्ध तन्त्र के सदस्य वामपंथी दल को आमूल परिवर्तनवादी नहीं मानते। इस प्रकार नये सदस्य के विषय में वर्तमान स्थिति बनी रहती है।

हमने इस शृङ्खला में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अनौपचारिक और ऐच्छिक समूह (जो अनेक रूपों में अस्थिर है) कैसे अपेक्षाकृत अल्प समय में संरचनात्मक तत्व विकसित कर लेते हैं। समूह के सदस्यों ने पदानुक्रम संस्थिति ग्रहण की, और एक दूसरे के प्रति व्यवहार की प्रत्याशाएँ विकसित कर ली। संरचना चाहे ढीली थी किन्तु कुछ मिनटों तक बनी रही और इसका लचीलापन भी बना रहा। कुछ समय बाद बारी-बारी छात्र चले गये और समूह विघटित हो गया। विघटन भी वैसे ही अल्प समय में हुआ जैसे कि अल्प समय में इसका गठन हुआ था।

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त
(Social Exchange Theory)

लोग समूह के सदस्य बनते हैं, सदस्यता बनाये रखते है या समूह छोड़ते भी हैं।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? इन तथ्यों की व्याख्या विनिमय सिद्धान्त पुरस्कार मूल्य सिद्धान्त के आधार पर करता है। समूह की सदस्यता से होने वाले लाभ और उसके लिए चुकाए जा रहे मूल्य उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। वास्तव में समूह के सम्बन्धों में किसी चीज का विनिमय अन्य किसी वस्तु के बदले में होता है। हमने छात्रों के समूह की जिस उदाहरण की चर्चा की थी उसमें छात्र सम्मिलित हुए, और समूह में पुरस्कार प्राप्ति के लिए रहे, जो दूसरों के साथ खाली समय बिताने का सुखद उद्दीपन था और पढ़ाई की घंटी लगने पर चले गए। समूह से सम्बद्ध होने का मूल्य धन हो सकता है जैसे किसी क्लब की सदस्यता का शुल्क, या फिर मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। जॉन डब्लू० थीबाट तथा हेराल्ड केली (1959) के अनुसार मूल्य का अभिप्राय किसी ऐसी वस्तु से है जो किसी कार्य के निष्पादन में बाधा या अवरोध उत्पन्न करती है। किसी कार्य में व्यक्ति जितना प्रयास करता है या समूह की सदस्यता प्राप्त करने अथवा समूह में बने रहने के लिए प्रयास की मात्रा जितनी अधिक होती है, उसके भागग्राहिता का मूल्य उतना ही अधिक होता है। उदाहरण के लिए विचित्र स्थिति या कठिनाई, चिन्ता, चिड़चिड़ापन, स्पर्द्धक या द्वन्द्वात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति की आवश्यकता आदि के द्वारा मूल्य का मापन हो सकता है। जिस समूह का उदाहरण प्रस्तुत किया गया था उसमें, अन्य सदस्यों की बातें सुनना, अपनी बारी आने की प्रतीक्षा, क्रोधात्मक प्रतिक्रियाओं से परहेज, आदि मूल्य थे। समूह के समाप्त होने तक सदस्यों की आत्मप्रकाशन की आवश्यकता की पूर्ति हुई थी। जब समूह में रहने का मूल्य उसमें निहित पुरस्कार से बढ़ जाता है तो समूह भंग हो जाता है।

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के अभिग्रह के अनुसार किसी समूह या अस्तित्व, समूह के सदस्यों की भागग्राहिता एवं सतुष्टि पर निर्भर करता है। यद्यपि थीबाट का अभिग्रह दो व्यक्तियों वाले समूह के लिए था किन्तु बड़े समूहों के लिए भी वध है।

प्रत्येक व्यक्ति जो समूह में भाग लेता है, उसके मन में किसी प्रकार का मापदण्ड होता है जो तुलनास्तर कहलाता है। यह तुलनात्मक समूह की सदस्यता के परिणाम स्वरूप मूल्य और पुरस्कार के द्वारा मापा जाता है। तुलना स्तर अन्य समान समूहों या उसके अपने समूह के अन्य सदस्यों के निरीक्षण पर निर्भर कर सकता है।

वाल्टर रावर्ट नार्ड (1969) ने सामाजिक विनिमय सिद्धान्त का उपयोग अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों के आर्थिक सिद्धान्त के रूप में किया है। उसके अनुसार जिस तरह आर्थिक विनिमयों में मुद्रा पुनर्बलक है, उसी प्रकार सामाजिक विनिमय में सामाजिक अनुमोदन पुनर्बलक है। अतः सामाजिक विनिमय में सामाजिक अनुमोदन

"मुद्रा" है। इस उदाहरण के अन्तर्गत आर्थिक विनिमय में जैसे मुद्रा के द्वारा कर्ज चुकाया जा सकता है या किसी को उधार दिया जा सकता है, उसी प्रकार सामाजिक विनिमय में सामाजिक अनुमोदन भी वही प्रकार्य निष्पादित कर सकता है। हमारी भेंट एक ऐसे व्यक्ति से होती है जिससे हमारी साधारण सी जान पहचान है, वह हमारा अभिवादन करता है। हमें याद आता है कि उस व्यक्ति के पुत्र का विवाह शीघ्र ही सम्पन्न हुआ है, अतः हम भी बधाई देते हैं। इस प्रकार हम इस सामाजिक ऋण से शीघ्र ही उऋण हो जाते हैं।

व्यक्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुमोदन का प्रकाशन अन्य सदस्यों द्वारा स्वीकृत किए जाने से होता है। समूह के सन्दर्भ में इसकी अभिव्यक्ति समूह के मानकों के प्रति व्यक्ति की समरूपता से होती है। इस प्रकार समूह द्वारा स्वीकृति की इच्छा का विनिमय सदस्य की समरूपता की स्वेच्छा द्वारा होता है। ऐसा विनिमय समूह जीवन में मौलिक होता है। कभी-कभी व्यक्ति अपने महत्व को दर्शाने के लिए थोड़ी असमरूपता व्यक्त करता है किन्तु अधिकांश समय वह अचेतन रूप में समरूप व्यवहार करता है।

समूह की स्वीकृति और व्यक्ति की समरूपता में घनिष्ठ सम्बन्ध अनेक पूर्व चर्चित अध्ययनों में निहित हो सकते हैं—जैसे ऐश तथा क्रचफील्ड की मिथ्या मानव परिस्थितियाँ। इन अध्ययनों में तटस्थ प्रयोज्यगण पर्यावरण की अपनी व्याख्या की संपुष्टि के लिए निःसन्देह समूह पर निर्भर करते हैं। असमरूपता (Nonconformity) से बेआरामी की भावना उत्पन्न होती है जो समूह-स्वीकृति और व्यक्ति समरूपता के बीच सन्तुलन में बाधक होती है।

विशिष्ठ तथा विश्वव्यापी संसाधन

(Particularistic and Universalistic Resources)

यूरिएल फोआ (1971) ने मानव समाज के 'किसके बदले में किसका विनिमय' होता है निर्धारित करने में अन्तर्व्यक्तिक तथा आर्थिक संसाधनों के वर्गीकरण प्रणाली का विकास किया। उसके वर्गीकरण प्रणाली के अन्तर्गत विशिष्ट संसाधन में दो वर्ग—प्रेम और संस्थिति तथा विश्वव्यापी में चार वर्ग संसाधन—मुद्रा, सूचना, वस्तुएँ, तथा सेवाएँ आती हैं। फोआ के एक अध्ययन में प्रत्येक प्रयोज्य को 18 कार्ड दिए जिनमें छः वर्गों में से किसी एक के सम्बन्ध में सार्थक सूचना दी हुई थी। हर बार सूचना प्राप्ति के समय प्रयोज्य को निर्देश देते थे कि सूचना कार्ड पर दी हुई सूचना के ठीक समान और विपरीत सूचना अपने कार्डों की गड्डी से छाँट कर निकाले।

18 कार्डों की गड्डी प्रयोज्यों के लिये संसाधन वर्ग थी। उन्होंने इसके आधार पर प्राप्त होने वाले तथा प्रदान किये जा रहे संसाधनों में सम्बन्ध ज्ञात किया।

व्यक्ति जो देना चाहता है और जो प्राप्त करने की इच्छा करता है, आपस में निष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं। परिणामों से प्रेम तथा संस्थिति में घनिष्ठतम सम्बन्ध प्राप्त हुये तथा सबसे न्यून सम्बन्ध प्रेम तथा मुद्रा में प्राप्त हुये। दूसरे शब्दों में प्रेम के लिए संस्थिति या संस्थिति के लिये प्रेम के विनिमय की संभावना सर्वाधिक किन्तु मुद्रा के लिये प्रेम या प्रेम के लिये मुद्रा के विनिमय की सबसे कम संभावना होती है। वस्तुओं के लिये मुद्रा का विनिमय अत्यधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। सेवाओं के बदले में प्रेम का विनिमय करने में लोग प्रायः हिचकते हैं किन्तु प्राप्त प्रेम के बदले में सेवा उपलब्ध कराने की संभावना बहुत कम होती है। अन्य विनिमय जिनकी संभावना न्यून होती है—वस्तुओं के बदले में प्रेम, वस्तुओं के लिये संस्थिति, मुद्रा के लिए सूचना, सेवाओं के लिए सूचना, और प्रेम के बदले सूचना प्रदान करना आदि है, संस्थिति के लिये सूचना देना; और वस्तुओं के बदले में सूचना प्रदान करने के विनिमय की संभावना अधिक होती है। अंशतः इन संसाधनों में भिन्नताओं की व्याख्या उन व्यक्तियों के द्वारा कर सकते हैं जो उनकी आपूर्ति करते हैं। मुद्रा तथा प्रेम जैसे संसाधनों में फोआ द्वारा प्रेक्षित सम्बन्धाभाव की व्याख्या स्वरूप कह सकते हैं कि मुद्रा एक विश्वव्यापी साधन है, चाहे हमें किसी के द्वारा प्राप्त हो। प्रेम और संस्थिति के प्रति हमारी अभिवृत्ति विशिष्ठ संसाधन है अर्थात् हमारे लिये यह महत्वपूर्ण है कि प्रेम कौन कर रहा है।

फोआ ने अपने वर्गीकरण प्रणाली का उपयोग आधुनिक समाज की समस्याओं के मूल्यांकन के आधार के रूप में किया है। उच्च जनसंख्या घनत्व और हमारी सेवारत संस्थाओं में बढ़ती हुई विशेषज्ञता ने विश्वव्यापी संसाधनों के (मुद्रा से प्राप्त सूचनाएँ, वस्तुएं) के विनिमय को सुगम और विशिष्ठ-वादी संसाधनों जैसे प्रेम और संस्थिति के विनिमय को कठिन बनाती है। फोआ के अनुसार, "भौतिक पर्यावरण समान्तरता विचित्र है, दोनों ही में तकनीकी ने पुरानी समस्याओं के समाधान में नई समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं।"

कठिनाइयाँ इसलिये भी अधिक हो गई हैं कि हम अपने सामाजिक नियोजन में विशिष्ठता से सम्बद्ध संसाधनों की उपेक्षा करने लगे हैं। परोपकारी संस्थाएँ, उदाहरण के लिये, मुद्रा सहायता के विनिमय में सम्बद्ध व्यक्तियों से संस्थिति त्यागने की अपेक्षा करने लगी हैं। एक अन्य उदाहरण शिक्षा रूपी सूचना के साधन का है। सूचना प्राप्ति के लिए मुद्रा का उपयोग हो सकता है, और मुद्रा का विनिमय सूचना से हो सकता है किन्तु मुद्रा की अपेक्षा सूचना का अधिक घनिष्ठसम्बन्ध संस्थिति से है। पर्याप्त शोध यह प्रदर्शित करते हैं कि उच्च संस्थिति शैक्षिक उपलब्धि को अच्छा बनाती है और शैक्षिक उपलब्धि अपने आप में संस्थिति का साधन है। फोआ यह आशा करते हैं कि सामाजिक नियोजन में विशिष्ट संसाधनों

के उपयोग न करने की प्रवृत्ति मापन और विश्लेषण की तकनीकों की प्रगति, उनके विनिमय के संचालन के नियमों सूझ-बूझ में विकास और अन्य संसाधनों के सम्बन्धों के ज्ञान के साथ घटेगी।

समूह भागग्राहिता में वैकासिक अवस्थायें

(Developmental Stages in Group Paritcipation)

समूह भागग्राहिता में निम्न वैकासिक अवस्थायें प्रमुख हैं :—

(i) शिशुवावस्था (Infancy)—किसी बहुव्यक्ति (Multiperson) समूह के कार्यशील सदस्य की भागीदारी के लिये अनेक जटिल कौशलों की आवश्यकता होती है। इन कौशलों के प्रारम्भिक रूप व्यक्ति के प्रथम समूह से सीखे जाते हैं जिसका उदाहरण परिवार है। फिर इनका विकास धीरे-धीरे सामाजिक अधिगम की प्रक्रिया द्वारा होता है।

सबसे आरम्भिक अन्तर्क्रिया दो व्यक्तियों—शिशु और माता के बीच होती है। बहुधा एक समय में माता और पिता दोनों शिशु के साथ अन्तर्क्रिया करते हैं किन्तु शिशु एक समय में केवल एक की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकता है। जन्म के बाद प्रथम महीने में अन्तर्क्रिया बहुत ही आदिम स्तर की होती है, अर्थात् सामाजिक होने की अपेक्षा अधिक जैविक होती है। अभिप्राय यह है कि अन्तर्क्रिया का उद्देश्य आरम्भ में जैविक आवश्यकताओं की तुष्टि होता है। जब तक बालक को व्यक्ति के रूप में अपनी चेतना विकसित नहीं होती तब तक वास्तविक सामाजिक पारस्परिकता (Social reciprocity) विकसित नहीं होती। दो वर्ष की आयु होने तक यद्यपि बच्चे थोड़ा बोलने लगते हैं फिर भी अन्य व्यक्ति के साथ अन्तर्क्रिया के अवाचिक संकेतों का सामाजिक रीतियों से प्रयोग करते हैं। जब दो या अधिक व्यक्तियों से एक साथ अन्तर्क्रिया करनी पड़ती तो वे प्रायः संभ्रान्ति में पड़ जाते हैं। जब बच्चा माँ बाप में से किसी एक के साथ खेल रहा होता है और कोई विघ्न पसन्द नहीं करता और चिड़चिड़ा जाता है। कारण केवल खेल या क्रिया में उपस्थित बाधा नहीं वरन् एक समय में एक से अधिक उद्दीपनों का सामना करने योग्य उसका तांत्रिका तन्त्र का न होना है। अधिकांश बच्चे इस समस्या से निपटने की कुछ महीनों या एक वर्ष की आयु में प्राप्त कर लेते हैं।

(ii) आरम्भिक बाल्यावस्था (Early childhood)—समाजीकरण विकास का प्राचीन अध्ययन एम० एल० पार्टेन (1932) ने किया था। पार्टेन ने पूर्वविठशालीय बच्चों के क्रीड़ा प्रतिमानों (Play patterns) के अध्ययन में देखा कि आयु के साथ इसमें निश्चित प्रगतिशीलता (Progression) पाई जाती है जो एकान्त (Solitary) क्रीड़ा, दूसरों को खेलते देखना, साहचर्यात्मक खेल, दूसरों जैसा व्यवहार करना, और सहकारी क्रीड़ा आदि। एकान्त (Solitary) क्रीड़ा,

और समानांतर, क्रीड़ा 2 से 3 वर्ष की आयु के मानक हैं। जब बालक परिपक्व होते हैं तो 3 वर्ष के बाद न केवल साहचर्यात्मक और सहकारी क्रीड़ा में भाग लेते है वरन् अधिक जटिल अन्तर्क्रिया में रुचि प्रदर्शित करने लगते हैं किन्तु पूर्वपाठशालीय आयु के अधिकांश भाग में बालकों में व्यक्तिवादी (individualistic) झुकाव प्रदर्शित होता है और बहुव्यक्ति समूह की ओर कोई विशेष ध्यान या विचार नहीं करते। बहुधा वे एक दो बच्चों का चयन क्रीड़ा-साथी के रूप में कर लेते हैं और 3–4 बच्चों के समूह में भी खेल सकते हैं, किन्तु सामान्य रूप से व्यक्तिक खेलों को वरीयता देते हैं। जब बच्चे पाठशाला में प्रवेश करते हैं तो वे बृहत समूहों के सम्बन्ध में सामाजिक कौशलों का अधिगम आरम्भ करते हैं।

एरिक क्लिजर (1969) का सिद्धान्त क्रीड़ा को कल्पना प्रवाह और समाजीकरण से आबद्ध करने का प्रयास करता है। क्लिजर के अनुसार प्रथम दो वर्षों की आयु में क्रीड़ा और कल्पना प्रवाह अविभेदित रहते हैं, फिर उनमें भेद विकसित होते हैं और अन्ततोगत्वा वे दो समानान्तर मार्गों का अनुसरण करते हैं। कल्पना प्रवाह का महत्व ज्यों-ज्यों घटता है त्यों-त्यों नियमों की दृष्टि से क्रीड़ा का महत्व बढ़ता है खेल और उससे सम्बन्धित अन्य प्रकार की क्रीड़ा सम्बन्धी अन्य क्रियाएँ बालक को उसके समूह में संकलन तथा समाज के कार्यों से सम्बद्ध नियमों के अधिगम में सहायक होती है।

(3) पाठशालीय अवस्था (The School Years)—जब बच्चे स्कूल में प्रवेश की अवस्था में पहुँचते हैं उस समय तक उनकी क्रीड़ा की अनुभूतियाँ उन्हें समूह जीवन के कुछ पक्षों के लिए तैयार कर देती है। यही नहीं वे अन्यव्यक्तिक सम्बन्धों में अधिक परिपक्व व्यवहार के लक्षणों की अभिव्यक्ति आरम्भ कर देते हैं। पाठशालीय अवस्था के बच्चों के प्रति समूह के मूल्यों का अन्वेषण गोल्डबर्ग और मैकाबी (1965) ने किया। इसमें बच्चों को लकड़ी के ब्लाकों की सहायता से कई तरह के टावर बनाने का निर्देश दिया गया। प्रत्येक समूह में द्वितीय कक्षा के चार बच्चे थे। कुछ समूहों को "स्थिर समूह" कहा गया। इसमें वही सदस्य आठ प्रयास करते हैं तब सदस्यों को अन्य समूहों में विचलित किया जाता है। अन्य समूहों के बच्चों को "परिवर्तनशील समूह" कहा गया जो हर दूसरे प्रयास में एक दूसरे समूह में स्थानान्तरित किए जाते थे। यह प्रक्रिया प्रशिक्षण के आठ प्रयासों में जारी रही, तब अन्य आठ परीक्षण प्रयासों में स्थिर समूह की तरह उनका निरीक्षण हुआ। समूह की प्रभाविकता बनाए गए टावर में रखे गए ब्लाकों की संख्या से मापी जाती थी परिणामों से ज्ञात हुआ कि प्रशिक्षण तथा परीक्षण-दोनों अवधियों में स्थिर समूह अधिक प्रभावी रहे।

इस अध्ययन में अन्य बातों के अतिरिक्त वैकासिक अवस्था से सुरक्षित सामा-

जिक सम्बन्धों के महत्व पर भी प्रकाश पड़ता है। इस समय भी बच्चे सहकारिता के जटिल कौशल का अधिगम कर रहे होते हैं। वह सहकारिता के अन्तर्गत टीम के रूप में कैसे कार्य करें, दूसरों के सामनों से कैसे अलग रहें, सहायक कार्यों को कैसे करें, दूसरों की चालों का अनुमान कैसे करें आदि कौशलों का अधिगम आता है।

जब समूह की सदस्यता में परिवर्तन आता है तो प्रौढ़ समूह में भी लागू होता है तो समूह में तनाव और चिन्ता का स्तर बढ़ जाता है। समूह की सदस्यता में आये परिवर्तन से समायोजन की समस्या आती है। प्रौढ़ व्यक्ति बच्चों की अपेक्षा अधिक प्रतिबल के साथ अधिक सुगमतापूर्वक समंजस स्थापित करते हैं किन्तु प्रौढ़ों की भी उत्पादनशीलता उस समय प्रायः गिर जाती है जब कोई नया सदस्य समूह में प्रवेश करता है यहाँ तक कि एक कुशल व्यक्ति भी जब समूह में प्रवेश करता है तो जब तक नयी परिस्थिति में समंजन न स्थापित कर लें उस समय तक पूर्ण निपुणता के साथ कार्य नहीं कर सकता।

इसके विपरीत प्रौढ़ों पर हुए एक अध्ययन पर दृष्टिपात करना यहाँ उचित होगा। इस अध्ययन समूह की संरचना में समय-समय पर परिवर्तन किए गये कालेज छात्रों के छोटे समूहों को कुछ ड्राइंगों की कलात्मकता का निर्णय और प्रोजेक्टेड स्लाइड पर बिन्दुओं की संख्या का अनुमान करने का कार्य दिया गया प्रयोग के इस पक्ष में सदस्यों को फेर बदल की गई। कभी समूह से किसी सदस्य को निकाला या किसी नए को सम्मिलित किया गया। इसके पश्चात् सभी समूहों को एक कार्टून का शीर्षक लिखने का निर्देश दिया गया। जब इन शीर्षकों में प्रदर्शित सर्जनात्मक स्तर का निर्णय किया गया तो यह ज्ञात हुआ कि जिन समूहों में परिवर्तन हुए थे वे नियंत्रित समूहों (जिनमें कोई परिवर्तन नहीं थे) से अधिक सर्जनात्मक (Creative) थे। ऐसा प्रमाणित होता है कि सदस्यता में परिवर्तन रचनात्मक अनुक्रियाओं के उत्पादन में सुलभकारी प्रभाव डालती है (जिस्लर, बेहरिजर तथा गुडचाइल्ड्स; 1962)।

समूह की सदस्यता में परिवर्तन तनाव स्तर में वृद्धि कर सकते हैं। निष्पादन और उद्दीपन में ऐसा सम्बन्ध होता है जो भली प्रकार सीखी गई अनुक्रियाओं का उद्दीपन सुलभ बनाता है किन्तु कम सीखी गई अनुक्रियाओं में बाधक होता है। समूह कार्य न्यूनतम कौशल वाले बच्चे समूह में परिवर्तन से विघ्न का अनुभव करते हैं जबकि समूह कौशल में निपुण कालेज के छात्र समूह के परिवर्तनों से सरल कार्यों में उद्दीपन प्राप्त करते हैं।

(4) **परिवार से बाहर के समूह**—बाल्यावस्था और किशोरावस्था के वैकासिक संरूप के अध्ययन से विदित होता है कि बालक, बालिकाओं की रुचि परिवार में घटने लगती है और वयसमूह में बढ़ने लगती है। पूर्वपाठशालीय अवस्था

के मूल्य मानक और अभिवृत्तियाँ माता-पिता तथा अन्य परिवार जनों के साथ अन्तक्रिया से सीखे जाते हैं। पुत्र, पुत्री आदि की पोजीशन, तथा परिवार में छोटे भाई बहनों की देख रेख आदि परिवार के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण होती है। जब वे स्कूल में प्रवेश करते हैं तो घर के बाहर की दुनियाँ में भूमिका तथा पोजीशन का महत्व बढ़ने लगता है, और उनसे समूह तथा परिवार के बाहर की संस्थाओं द्वारा स्थापित मानकों के अनुरूप होने की प्रत्याशा की जाती है। उत्तर बाल्यावस्था से वय समूह के मानक उनके लिये अधिक महत्वपूर्ण होने लगते हैं और किशोरावस्था तक इन मानकों का महत्व अधिकतम हो जाता है। कुछ बालक, बालिकाएँ किशोरावस्था में भी परिवार में विकसित मानकों या प्रौढ़ों के मानकों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। लेकिन अधिकांश वय समूह मानकों के बन्दी के समान होते हैं वास्तव में कुछ तो वय-समूह से इतने प्रभावित होते हैं कि वे वय समूह पर मनोवैज्ञानिक निर्भरता से कभी उबर नहीं पाते। आयु में वृद्धि के साथ वय-समूह के अतिरिक्त अन्य समूहों के सदस्य भी बनते हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की भूमिकायें निभाते हैं और विभिन्न प्रकार के मानकों के सम्पर्क एवं प्रभाव में आते हैं।

यह सब होते हुये भी यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि सामाजिक विकास के संदर्भ प्रत्येक संस्कृति और समाज में बिल्कुल समान नहीं होते।

संसक्ति
(Cohesiveness)

संसक्ति का स्वरूप—समूहों का निर्माण समीकरण के लिये या किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये या किसी बाह्य प्राधिकरण जैसे स्कूल प्रबन्धतन्त्र, या विधानसभा द्वारा होता है। जब इसका निर्माण समाजीकरण या किसी अन्य आवश्यकता से प्रेरित होता है तो यह ऐच्छिक रूप से अस्तित्व में आता है। एक बार जब सदस्यों में साहचर्य स्थापित हो जाता है तो उनमें किसी मात्रा में पारस्परिक आकर्षण भी विकसित हो जाता है। समूह के सदस्य एक दूसरे के प्रति या समूह के प्रति जितना आकर्षण व अनुभव करते हैं, उसी मात्रा में समूह संसक्ति (Cohesive) पाई जाती है। समूह के सदस्यों में संसक्ति उच्च मात्रा में होने पर उन्हें समूह में रहकर अधिक संतोष प्राप्त होता है। समूह में संसक्ति (Cohesiveness) निम्न होने की स्थिति में उसे बनाए रखने के लिए कुछ बाह्य दबावों जैसे भाग न लेने पर दण्ड की आवश्यकता होती है।

केन्द्रक परिवार (Nuclear family) जिसमें केवल माता-पिता और बच्चे सम्मिलित होते हैं, पारस्परिक प्रेम, पारस्परिक निर्भरता, अनेक उभयनिष्ठ अनुभवों के कारण अधिक संसक्त होते हैं। भारत के केन्द्रक परिवारों में संसक्ति अधिक होती है किन्तु अमेरिकी केन्द्रक परिवार में यह विशेषता अधिक नहीं होती क्योंकि

प्रौढ़ होते ही लड़के लड़कियाँ अपना घर अलग कर लेते हैं। वे माता-पिता तथा अन्य सहोदरों से फिर केवल नाम मात्र का सम्बन्ध रखते हैं। सामाजिक और भौगोलिक दृष्टि से अधिक गतिशील होने के कारण अमेरिकी प्रौढ़ अनाश्रितता के प्रतिबल को परिवार की निर्भरता पर बरीयता देते हैं। भारतीय परिवारों में अपेक्षाकृत अधिक संसक्ति होती है क्योंकि पारिवारिक बन्धनों का महत्व अब भी है। भारतीय प्रौढ़ माता-पिता और सहोदरों के प्रति अधिक प्रेम भाव रखते हैं। इनमें जन्म एवं विवाह के बन्धन अधिक महत्वपूर्ण हैं अतः वे शारीरिक निकटता बनाए रखने की इच्छा से प्रेरित होते हैं।

जब व्यक्ति एक साथ कई समूहों के सदस्य होते हैं तो उनके समूह में संसक्ति कम होती है और अपेक्षाकृत उन समूहों में संसक्ति अधिक होती है जिनके सदस्य अन्य समूहों के सदस्य नहीं होते। जब समूह के सदस्य कई समूहों के सदस्य होते हैं तो रुचियों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण समूह में संसक्ति का अभाव होता है। मित्रों और परिवार के समूहों में यह सत्य है।

इसी प्रकार वह समूह जो किसी बाह्य प्राधिकार (External authority) द्वारा गठित किए जाते हैं वे कम संसक्ति का प्रदर्शन करते हैं। किन्तु जब सदस्य सादृश्यों की तीव्र आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो संसक्ति में वृद्धि आती है। ऐसे समूह की संसक्ति की मात्रा की परीक्षा उस समय होती है जब वे औपचारिक कार्य पर न होने पर भी एक दूसरे के साथ रहने की प्रवृत्ति अभिव्यक्त करते हैं।

इसी प्रकार वे समूह जो स्वतः निर्मित होते हैं, संसक्ति में न्यून हैं। इस अध्याय के आरम्भ में कालेज के वाचनालय में एकत्रित समूह का उदाहरण दिया गया था। सामान्य रूप में, पारस्परिक आकर्षण के परिणामस्वरूप स्वतः निर्मित समूह के अनुलम्बन की संभावना होती है क्योंकि उनका निर्माण किसी प्रत्यक्षित समानता के कारण होता है। मूल्यों और मानकों की भागीदारी से उनमें संप्रेषण सुगम होता है और सामाजिक दृष्टि से वह एक संतुष्ट समूह के रूप में कार्य करता है।

सदस्यों में प्रत्यक्षित समानता संसक्ति को सुलभ बनाती है। समानता द्वारा सामाजिक आकर्षण में वृद्धि होती है जो संसक्ति को सुलभीकृत करती है। जिस समूह से संसक्ति अधिक होती है उसके सदस्यों में निकटता अधिक और सामाजिक दूरी कम होती है। जो लोग सामाजिक दूरी को समाप्त करने या घटाने के इच्छुक नहीं होते, वे उच्च संसक्ति वाले समूहों के सदस्य नहीं बनते। आर० एल० फिशर (1967) ने 6 से 13 वर्ष की आयु वाले प्राथमिक पाठशालीय बालकों का अध्ययन किया जो स्कूल में समायोजन की न्यूनता के कारण स्पेशल क्लास में रखे गये थे। प्रत्येक बालक को बालकों तथा प्रौढ़ों की कागज पर बनी दो

आकृतियों के सहित आठ लिफाफे दिए गए। उनसे आकृति के प्रत्येक सेट को कागज की शीट पर रखने को कहा गया। सामाजिक दूरी के प्रत्यक्षीकरण का मापन आकृतियों के बीच की दूरी के आधार पर किया इस समूह (स्पेशल क्लास) तथा रेगुलर क्लास के बालकों के सामाजिक दूरी प्राप्तांकों की तुलना की गई तो सांवेगिक विघ्न वाले बालकों में आकृतियों को कागज के शीट पर एक दूसरे से दूर रखने की प्रवृत्ति पाई गई। इन सांवेगिक विघ्न वाले बच्चों द्वारा रखी गई आकृतियों की दूरी तथा उनकी माताओं की प्रदर्शित शत्रुता तथा आक्रामकता की मात्रा में धनात्मक सहसम्बन्ध प्राप्त हुआ। परिणामों से प्रतीत होता है कि पैतृक शत्रुता, लोगों से संसक्त (Cohesive) सम्बन्धों के सन्दर्भ में बालकों की चिन्तन की अयोग्यता द्वारा प्रतिबिंबित होती है।

संसक्ति से संबद्ध शोध—फेस्टिंजर, शैष्टर, तथा बैक (1950) ने परिचितता प्रतिमान (Acquaintance Pattern) का अध्ययन कर यह बताया कि प्रत्यासन्नता (Propinquity) सामाजिक आकर्षण का एक व्यापक निर्धारक है। अध्ययन से समूह संसक्ति पर भी प्रकाश पड़ा। इसके अनुसार समूह में व्यक्तियों को एक दूसरे से बाँधने वाले सभी बलों के फलस्वरूप समूह में संसक्ति आती है। समाजमितिक आकर्षण इन बलों में एक बल है किन्तु संसक्ति की उत्पत्ति अन्य बलों के द्वारा भी होती है।

कुर्ट बैक (1951) ने अपने एक अध्ययन में अपने गत 1950 के अध्ययन से व्युत्पन्न विचार के समूह जैसे भी निर्मित हो समूह संसक्ति के गुण और परिणाम समान होते हैं की पुष्टि की। उनके प्रयोज्यों ने फोटोग्राफ्स की श्रृंखला पर आधारित एक कहानी लिखी, तब द्वयकीय के रूप में कहानी पर परिचर्चा की ताकि उसे सुधार सकें, और फिर अकेले बैठकर उस कहानी को अन्तिम संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप प्रदान किया। द्वयकीय के सदस्यों में संसक्ति की उच्च और निम्न दशाएँ उत्पन्न की गई। तीन में से किसी एक दशा में बल (Emphasis) की मात्रा के द्वारा उच्च और निम्न संसक्ति की दशाएँ उत्पन्न की गई। व्यक्ति आकर्षण (सहभागी में पसंददिशी) कार्य उन्मुखता (पारितोषिक के लिए स्पर्द्धा); और समूह प्रतिष्ठा (प्रतिरूप के तौर पर प्रयुक्त होना)। परिणामों से ज्ञात हुआ कि उच्च संसक्ति समूहों में तीन में से प्रत्येक दशा में प्रयोज्य समूह कार्य में तल्लीनता एक-दूसरे को प्रभावित करने का प्रयास, और उसी के साथ स्वयं भी प्रभाव स्वीकृति के प्रति तत्पर होते हैं। विभिन्न दशाओं के अनुसार समूहों में थोड़ा अन्तर था। जब संसक्ति का आधार व्यक्तिक आकर्षण था, समूह के सदस्य परिचर्चा को एक दीर्घकालिक सुखद बातचीत में परिवर्तित करना चाहते थे। लेकिन जब संसक्ति कार्य निष्पादन पर निर्भर थी तो भागग्राही अधिक व्यवहारिक दृष्टिकोण

अपनाते हुए परिचर्या में उतनी देर भाग लेना चाहते हैं जो समूह लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है। समूह प्रतिष्ठा की दशा में, अपनी संस्थिति को क्षति से बचाने के विचार से सदस्यगण अधिक सतर्क होकर क्रिया करते हैं। इस परिस्थिति में प्रत्येक द्वयकीय (Dyad) के एक सदस्य ने प्रभुत्वशाली, और प्रभावपूर्ण भूमिका धारित की तथा अन्य सदस्य ने विनम्रतापूर्ण। निम्न संसक्ति समूहों के सदस्यों ने अनाश्रित या आत्मनिर्भर होकर कार्य किया और अपने समूह के अन्य सदस्य के साथ समंजन का कोई विशेष प्रयास नहीं किया।

कार्य समूहों में संसक्ति (Cohesiveness in work groups)—समाजीकृत करने तथा दूसरों के साथ रहने की आवश्यकतायें मानव जीवन और उसकी दिन प्रतिदिन की क्रियायों में व्याप्त रहती हैं इसलिए नैमित्तिक या व्यवहारिक मूल्य वाले समूह-क्रियायें सांवेगिक या भावात्मक मूल्यों को भी विकसित कर सकती हैं। यह उस समय भी संभव है जब पाँच-छः व्यक्तियों को नापसंद कार्य सौंपते हैं। वे उस नीरस कार्य में भी साथ मिलकर कार्य करने में भी कोई धनात्मक पुरस्कार ढूँढ़ लेते हैं। यह तथ्य कि, उन सबको वही कार्य दिया गया है उन्हें कोई उभयनिष्ठ वस्तु प्रदान करती है और वे अपने कर्त्तव्यों के पालन में एक उभयनिष्ठ सन्दर्भ साँचा (Frame of reference) विकसित कर लेते हैं। इस प्रकार वे उभयनिष्ठ भावना का अनुभव करते हैं।

इस परिणाम की व्याख्या गुणारोपण सिद्धान्त इस आधार पर करती है कि "हम अपनी पसन्द के लोगों के साथ साहचर्य रखते हैं, उनके साथ साहचर्य रखने का अभिप्राय यह है कि हम उन्हें पसंद करते हैं।" (In as much as we tend to associate with people that we like, the fact that we are associating with these people must mean that we like them.)

प्रत्येक कार्य समूह आवश्यक रूप से उच्च संसक्ति नहीं रखता। कभी-कभी प्राधिकार के प्रति नाराजगी प्रकट की जाती है किन्तु इसका अर्थ सर्वदा संसक्ति का अभाव नहीं है। समूह के सदस्य प्राधिकार के प्रति अपनी घृणा में एकमत हो सकते हैं। कुछ परिस्थितियों में प्राधिकार व्यक्ति (Authority figure) के प्रति शत्रुता का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रकाशन संभव नहीं होता और इसका विस्थापन स्वयं कार्य या अन्य सदस्यों पर हो जाता है। ऐसा बहुधा तब होता जब कुछ सदस्य दिए गए कार्य को ऐच्छिक रूप से स्वीकार तथा अन्य अस्वीकार करते हैं। ऐसी दशा में परिणाम निम्न स्तर की संसक्ति और समूह का अप्रभावशाली निष्पादन होता है।

सफलता और विफलता के प्रभाव—मनोवैज्ञानिकों ने संसक्ति तथा समूह

प्रभाविकता के सम्बन्धों के विषय में अनेक अध्ययन किए हैं। एच० कूलिंग (1962) ने एक प्रतियोगिता में जर्मन अपरेन्टिस मिकैनिक्स का निरीक्षण किया। ज्ञात हुआ कि सफल समूह असफल समूहों की अपेक्षा अधिक संसक्त थे। इसमें प्रतियोगिता जीतना सफलता का चिन्ह था। असफलता से पारस्परिक तिरस्कार उत्पन्न होता था। एक अन्य अध्ययन में बेन्जामिन बोलमैन (1960) ने असफलता के प्रति उन तीन समूहों की प्रतिक्रियाओं का अन्वेषण किया। एक समूह का गठन ऐसी दशाओं में हुआ था कि वह पारस्परिक स्वीकृति को बढ़ावा देता था—उनसे बताया गया था कि पुरस्कार में सभी का बराबर हिस्सा होगा। दूसरा समूह अपने चरित्र के अनुसार नैमित्तिक था—उनसे कहा गया कि वे व्यक्तिक स्तर पर पुरस्कृत किए जायेंगे, किन्तु चाहे तो एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं। तृतीय समूह का गठन परार्थवादी (Altruistic) आधारों पर हुआ था उनसे कहा गया कि उनके प्रयासों का उद्देश्य विज्ञान के हित में था। इस समूह को किसी पुरस्कार का आश्वासन नहीं था। सदस्यों में समूह की सदस्यता को बरकरार रखने की इच्छा संसक्ति का सूचक थी जिसका मापन समूह द्वारा असफलता का सामना कर चुकने के बाद होता था। परिणामों से ज्ञात हुआ कि परार्थवादी समूह संसक्ति में सबसे कम प्रभावित तथा नैमित्तिक समूह सर्वाधिक प्रभावित हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि नैमित्तिक समूह के सदस्य अपनी असफलता के लिए एक दूसरे को दोषी ठहराते हैं तथा असफलता के कारण ऋणात्मक आत्म-सम्मान के लिए उन्हें उत्तरदायी मानते हैं।

एक अन्य प्रकार के अध्ययन में, बालिकाएँ उच्च तथा न्यून-एकता समूहों मे संगठित की गई थीं और निष्पादन के लिए उन्हें समूह कार्य प्रदान किए गये थे। उनमें आधी बालिकाओं को सूचित किया गया कि वे सफल हुई हैं और शेष आधी को बताया कि वे असफल हुई हैं। प्रयोग के दूसरे चरण में प्रयोज्यों को व्यक्तिक रूप में कार्य का निष्पादन करना था। उच्च एकता समूह की प्रयोज्याएँ जो गत कार्य में सफल हो चुकी थीं, नवीन कार्य के प्रति अधिक विश्वास और उच्च आत्म मूल्यांकन करती हैं। उच्च एकता समूह कि वह बालिकाएँ जो पिछले कार्य में असफल थी वे नवीन कार्य में कम विश्वास और अपना अपेक्षाकृत न्यून मूल्यांकन करती हैं। न्यून एकता समूह की बालिकाएँ अपने समूह के निष्पादन स्तर से (जो बताया गया था) सबसे कम प्रभावित थीं (जैण्डर, स्टाटलैण्ड तथा वोल्फ, 1960)। अभिप्राय यह है कि समूह में संसक्ति की उच्च मात्रा सदस्यों को समूह के साथ तादात्म्य के लिए प्रोत्साहित करती है और इस कारण समूह की सफलता या असफलता उन्हें अपनी सफलता या असफलता मालूम होती है।

सहस्थिति-सम्भावना तथा संसक्ति
(Compatibility and Cohesiveness)

एक दूसरे के साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों के विकास योग्यता सहस्थिति-सम्भावना कहलाती है, जो स्पष्ट रूप में संसक्ति से सम्बद्ध है। समूह के सदस्यों में आपस में सहस्थिति की संभावना जितनी अधिक होती है, समूह उतना ही आकर्षक होता है। एक अध्ययन में उच्च सहस्थिति वाले समूह की तुलना न्यून सहस्थिति-संभावना समूह से की गई। परिणामों से ज्ञात हुआ कि सहस्थिति संभावना अधिक होने पर सहसमूह के सदस्य समस्या-समाधान में कम त्रुटियाँ करते हैं और समय भी कम लेते हैं। किन्तु यह परिणाम सांख्यिकीय आधारों पर सार्थक नहीं थे (माम तथा स्पाइसमैन; 1962)।

जिन कार्यों में प्रतिस्पर्द्धा होती है उनमें सहस्थिति संभावना श्रेयस्कर नहीं होती। मैकगार्थ (1962) ने तीन सदस्यीय राइफल टीम के छात्रों, निशानेबाजी में एक दूसरे का अनुकूल श्रेणीकरण करने वालों की तुलना उस टीम से किया जिसमें सदस्यों ने एक दूसरे का अनुकूल श्रेणीकरण नहीं किया। प्रतियोगिता में बाद वाली टीम ने सार्थक रूप से निशानेबाजी को अधिक उत्तम प्रदर्शन किया और प्रतियोगिता के दौरान अधिक सुधार किया। परिणामों की व्याख्या में मैकगार्थ ने सुझाया कि निष्पादन में भिन्नता का कारण यह हो सकता है कि प्रथम टीम के सदस्य अन्तर्व्यक्तित्व सफलता की अधिक चिन्ता करते हैं जबकि दूसरी टीम को यह चिन्ता कम थी अतः वह अधिक कार्योन्मुख थी। दूसरी टीम के सदस्य एक दूसरे के निष्पादन के बारे में कम सोचने के कारण आपस में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने की चिन्ता से कम प्रेरित थे अतः अपनी निशानेबाजी को अधिक सुधारते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि सहस्थिति-संभावना सर्वदा लाभकर नहीं होती।

समूह मानकों के प्रति आबद्धता
(Adherence to Group Norms)

पूर्व चर्चित बैंक (1951) के अध्ययन से प्रदर्शित हुआ कि मतैक्य के बढ़ते हुए दबाव ने समूह को अधिक संसक्त बनाया। समूह के सदस्यों द्वारा व्यवहार के समरूप प्रतिमानों के पालन की मात्रा के द्वारा किसी समूह की संसक्ति प्रतिबिम्बित होती है। मानकों के प्रति समरूपता समूह संसक्ति का कारण भी है और प्रभाव भी। व्यक्तियों में समूह की आवश्यकता और सम्बन्धों के विकास की प्रवृत्ति के कारण मानकों या उभयनिष्ठ व्यवहार प्रतिमान का विकास होता है और इन मानकों की स्वीकृति उनमें एकता और अखण्डता की भावना उत्पन्न करती है। जो सदस्य मानकों से विचलित होते हैं वे समूह-संसक्ति के लिए खतरा बन जाते हैं।

स्टैनली शैक्टर (1951) ने एक अध्ययन द्वारा देखा कि सदस्यों का समूह के प्रगट मानकों से विचलन कम संसक्त की अपेक्षा अधिक संसक्त-समूहों के लिये अधिक मनोवैज्ञानिक खतरा उत्पन्न करते हैं।

दैनिक जीवन के अनुभवों से भी विदित होता है कि मानकों का पालन समूह संसक्ति का प्रमुख सूचक है। मानकों का पालन जिस समूह में जितनी कड़ाई से होता है वह उतना ही संसक्त होता है। मानकों के अनुपालन की मात्रा में समूह जीवन के अन्य पक्षों का भी बोध होता है। आठ से सोलह वर्षों वाले बच्चों पर एक अध्ययन में रोनल्ड ए० फ्रीडमैन (1969) ने देखा कि समूह के प्रति वचनबद्धता के अभाव में दूसरों पर दोषारोपण, दूसरों को बलिदान का बकरा बनाने तथा कुछ सदस्यों के प्रति नापसंद का प्रकाशन होता है। यही नहीं, तीव्र रूप में नापसंद सदस्यों की उपस्थिति के कारण सामाजिक वंचन, मानकीय संकलन (Normative integration) तथा संसक्ति में बाधा पड़ती है।

मनोबल (Morale)

समूह के सदस्यों में बहुधा साथ कार्य करने की इच्छा पाई जाती है जो अंशतः समूह आकर्षण द्वारा संसक्ति और अंशतः इस विश्वास द्वारा होती है कि उनके संयुक्त प्रयास समूह लक्ष्य में योगदान करेंगे। इसी विश्वास और आशा की भावना को मनोबल कहा जाता है। समूह मनोबल व्यक्तियों या सदस्यों के निजी मनोबल का संयुक्त रूप है। मुख्य रूप में वह संसक्ति का प्रतिफल होता है। मनोबल समूह के प्रति उत्तरदायित्व की भावना है जो सामान्य समाज द्वारा खतरे में भी पड़ सकता है। मनोबल समूह की एकता, कार्य स्तर संगठन एवं सामूहिक भावना का परिचायक है। मनोबल उच्च होने पर समूह के सदस्य समूह के प्रति, समूह के नेतृत्व के प्रति तथा समूह लक्ष्यों के प्रति धनात्मक प्रवृत्ति रखते हैं।

वचनबद्धता और उत्तर-दायित्व—लियोनार्ड बरकोविट्ज और लूसी आर० डैनियल (1963) ने एक व्यक्तियों के निष्पादन के अध्ययन में ऐसी अनेक परिस्थितियों में कार्य करने का निर्देश दिया जिनमें अन्य व्यक्ति उनके ऊपर निर्भर थे। प्रयोज्य अपने सुपरवाइजर के निर्देश में कार्य करते थे। प्रायोगिक परिस्थिति में उनसे कहा गया कि सुपरवाइजर उनके उत्पादनशीलता के आधार पर उनका श्रेणीकरण प्राप्त करेगा। अन्य प्रयोज्यों से कहा गया कि सुपरवाइजर का श्रेणी मूल्यांकन उनकी उत्पादनशीलता पर निर्भर नहीं करेगा। जब बाद के कुछ प्रयोज्यों से कहा गया कि उनका सुपरवाइजर शीघ्र ही उनके निष्पादन को जान लेगा, तो उनकी अपेक्षा अधिक परिश्रम से कार्य किया जिन्हें बताया गया कि काफी समय होने के पूर्व तक उन्हें उनकी उत्पादनशीलता का ज्ञान नहीं हो सकेगा। प्रथम समूह के प्रयोज्यों के कार्य पर इस बात का बहुत कम प्रभाव था कि सुपरवाइजर द्वारा

कार्य के आकलन का तात्कालिक ज्ञान उन्हें नहीं हो सकेगा। वास्तव में प्रथम समूह यह जानता था कि सुपरवाइजर उनके कार्य के गुण को देखेगा, अतः उन्हें परिश्रम से कार्य करने के लिये किसी विशेष प्रलोभन की आवश्यकता नहीं थी। द्वितीय समूह सुपरवाइजर के प्रति बहुत कम उत्तरदायित्व का अनुभव करता है।

यह केवल उस समय होता है जब उन्हें यह कहा जाता है कि वह उनकी शीघ्र ही चेकिंग करेगा तब वे अधिक उत्पादनशील हो जाते हैं। यदि कठिन परिश्रम की इच्छा मनोबल का कोई सूचक है तो यह विदित होगा कि प्रथम समूह में द्वितीय की अपेक्षा मनोबल अधिक था।

बाह्य कारकों की निरर्थकता—आशावादिता और मनोबल के धनात्मक सम्बन्धों में बहुधा यह माना जाता है कि कार्य परिस्थिति से बाहर कठिनाइयाँ या ऋणात्मक भाव मनोबल को न्यून करता है। क्षेत्र अध्ययनों से प्रदर्शित होता है कि मनोबल कार्य परिस्थिति से बाहर होने की अपेक्षा, इस पर अधिक निर्भर करता है कि प्रयोज्य कार्य परिस्थिति के विषय में क्या विचार रखता है। अर्थात् कार्य में आने वाली कठिनाइयाँ कार्य स्थिति से बाहर की कठिनाइयों की अपेक्षा मनोबल को अधिक प्रभावित करती हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में कैट्ज तथा डैनियल हाइमैन के कार्य तथा आवास की दशाओं का अध्ययन किया। उन्होंने न्यू इंग्लैण्ड के दो पोत श्रमिकों एवं अन्य कर्मियों का अध्ययन किया जो युद्ध के लिये जहाज निर्माण कार्य करते थे। एक में 76 दिनों में एक जहाज तैयार होता था जबकि अन्य में 207 दिन लगते थे। दोनों कर्मियों को कठिन आवासीय समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था, अस्थायी और कष्टदायी दूसरे, कड़ाके का जाड़ा, अनुपयुक्त मनोरंजन सुविधाएँ पहले से रहने वालों द्वारा नवागन्तुक कर्मियों के आगमन पर नाक-भौं सिकोड़ना आदि। यह रहने की समस्या व्यवसाय या कार्य से अलग थी जिसके विश्लेषण में दोनों समूहों में कोई मूल भिन्नता न मिली, किन्तु अधिक निपुण/कुशल शिपयार्ड (Shipyard) में मनोबल अधिक ऊँचा था। कर्मियों के कम कुशल समूह में अधिक असन्तोष व्याप्त था। यह उत्पादन कर्मियों द्वारा कौशलों के उपयोग, प्रोन्नति नीतियों आदि सबमें व्याप्त था। शोध परिणाम से उत्पादन तथा मनोबल में वृत्ताकार कारण सम्बन्ध ज्ञात हुआ। अच्छे उत्पादन से कर्मियों में उपलब्धि भाव, जिससे प्रयास में वृद्धि, जबकि न्यून उत्पादन से अभिप्रेरणा में कमी और बदले में उत्पादन में कमी आती है। परिणामों से यह भी ज्ञात हुआ कि जब तक कार्य में सन्तोष से मनोबल उच्च रहता है तो कर्मी व्यवसाय से बाहर की कठिन समस्याओं का मुकाबला प्रभाव पूर्ण ढंग से कर सकते हैं।

सामाजिक जलवायु या वातावरण
(Social Climate)

मनोबल तथा संसक्ति—दोनों समूह जीवन की एक तीसरी विमा—सांवेगिक या सामाजिक वातावरण से सम्बद्ध हैं। हम प्रायः सांवेगिक वातावरण या माहौल की बात करते हैं और ठंडक, गर्मी, अनुकूल, अनानुकूल, शत्रुतापूर्ण-मित्रतापूर्ण, तनावपूर्ण तनावरहित आदि के द्वारा इसे चरितार्थ करते हैं।

(i) प्रात्यक्षिक सेट—रैल्फ बी० एक्सलाइन (1957) प्रयोज्यों के समूहों से यह प्रभाव देने को कहा कि मानों वे व्यवसायिक परामर्शदाता हैं और उपवाध्य के केश पर विचार करते हैं कि 'क्या किया जाना चाहिए'। इसके पूर्व प्रयोज्य व्यक्तित्व परीक्षण ले चुके थे। आधे प्रयोज्यों को बताया गया कि वे सौहार्दपूर्णता (Congeniality) में उच्च हैं और ऐसे लोगों के समूह में रखे जा रहे हैं जो इस लक्षण में उच्च हैं। अन्य आधे प्रयोज्यों को बताया गया कि वे सौहार्दपूर्णता में निम्न हैं और संभवतः उनका समूह अधिक सौहार्दपूर्ण नहीं होगा। जब विवेचना सत्र पूर्ण हुआ तब प्रयोज्यों से उनके अन्य साथियों का श्रेणी मूल्यांकन करने का निर्देश दिया गया। प्रमाणों से ज्ञात हुआ कि कम सौहार्दपूर्ण समूह में रखे जाने से कार्य कम रोचक हो जाता है जबकि सौहार्दपूर्ण समूह में ऐसा नहीं होता।

(ii) नेता के प्रभाव—एक्सलाइन ने अपने समूहों के वातावरण का हस्तादि-करण प्रत्येक समूह को एक प्रात्यक्षिक सेट प्रदान करके किया— अर्थात् प्रयोज्यों द्वारा सौहार्दपूर्णता का अनुमान कराया। समूह-वातावरण के प्राचीन अध्ययन में वातावरण का निर्धारण नेता करता था। कर्ट लेविन, लिपिट्ट तथा व्हाइट, (1939) ने बालकों के रूचिकर्म, शगल या हॉबी क्लबों के नेताओं को तीन विभिन्न प्रकार की भूमिका के निर्वाह में प्रशिक्षित किया—जनतांत्रिक या लोकतंत्रीय, एकतंत्रीय तथा ताटस्थ्य (Laissez-faire)। एकतंत्रीय-व्यवहार की दशा में नेता बच्चों के व्यवहार को प्लान करता, निर्देशित, तथा छानबीन करता था। प्राथमिक संप्रेषण नेता और बालकों के बीच और बच्चों में आपस की अन्त-क्रिया हतोत्साहित की जाती थी। ताटस्थ्य-भूमिका में उन्हें ठीक विपरीत कार्य करना था। न तो उन्हें अन्य बालकों का सुपरविजन करना था न ही प्लानिंग करनी थी, केवल निवेदन किए जाने पर मत और सहायता देनी थी। लोकतंत्रीय भूमिका में नेता बालकों को प्लानिंग में सहायता देते हैं। वे समानता के आधार पर समूह में भाग लेते हैं और बालकों में सम्प्रेषण को प्रत्साहित करते हैं।

परिणामों से ज्ञात हुआ कि समूह में व्यवहार प्रतिमान, नेता द्वारा उत्पन्न वातावरण के अनुरूप परिवर्तित होते हैं। एकतंत्रीय वातावरण पर्याप्त कार्योन्मुख

व्यवहार उत्पन्न करता है, किन्तु कार्य में तादात्म्य/आत्मीयता का स्तर न्यून होता है क्योंकि नेता ज्योंही कमरा या कार्य-स्थल से हटता है, बालक कार्य छोड़कर खेलकूद या ऐसे कार्य आरंभ कर देते हैं जो कार्योन्मुख नहीं होते। वे नेता पर अधिक निर्भर करने लगे, अपने लिए निर्णय करने में अयोग्य, सहयोगपूर्ण कार्य करने में कम योग्य, शीघ्र हतोत्साहित और समूह के दुर्बल सदस्यों के प्रति आक्रामण व्यवहार करने को अधिक तत्पर होते हैं।

लोकतंत्रीय दशाओं, बालक इतने परिश्रम से कार्य नहीं करते किन्तु कार्य में आत्मीयता (involvement) अधिक है। नेता के कार्य स्थल से हट जाने पर भी पूर्ववत् कार्य करते हैं। लोकतंत्रीय दशा अधिक मात्रा में सहयोग और संप्रेषण उत्पन्न करती है और दुर्बल सदस्यों को उत्पीड़ित करने की संभावना कम होती है।

तटस्थ नेतृत्व की दशा में मनोबल तथा उत्पादन-दोनों न्यून होते हैं। जब नेता कार्य स्थल पर नहीं होता तो सदस्यों के ध्यान विचलन की संभावना एकतंत्रीय नेतृत्व की अपेक्षा कम होती है।

इस प्रकार लेविन तथा उनके सहयोगियों के अध्ययन-परिणामों में समूह पर नेतृत्व प्रभाव के अनेक अर्थ निहित हैं। इन तथ्यों की अधिक विस्तृत चर्चा नेतृत्व के अगले अध्याय में करेंगे।

(iii) **भूमिकाएँ तथा प्रत्याशाएँ**—वातावरण, समूह के सदस्यों के व्यवहार का परिणाम भी है और कारण भी। इसी प्रकार समूह के सदस्यों द्वारा प्रत्याशित भूमिका-निर्वाह भी एक प्रमुख निर्धारक है। ई० ई० स्मिथ ने पाँच सदस्यों वाले समस्या-समाधान समूहों का संगठन किया जिसमें प्रत्येक में 3 तटस्थ और 2 सन्धि-बद्ध प्रयोज्य थे, जिन्हें चुप रहने का निर्देश था। कुछ समूहों में अभागग्राही सन्धिबद्ध प्रयोज्य ने घोषणा कर दी कि वे केवल सुनेंगे जबकि अन्य समूहों में कोई ऐसी पूर्व घोषणा, नहीं की गई। बाद वाले समूह समस्या-समाधान में बहुत कम प्रभावी रहे। सम्पूर्ण प्रयोग में सन्धिबद्ध प्रयोज्यों की भूमिका अस्पष्ट रही, और समूह के अन्य सदस्य यह नहीं जानते थे कि उन्हें अपनी समस्या-समाधानों क्रियाओं में कैसे समंजित करें। इन समूहों के सदस्यों ने अपने समूह में बेआराम का अनुभव किया तथा उस समूह की अपेक्षा अधिक प्रतिरक्षा प्रदर्शित की जिसमें सन्धिबद्ध ने यह घोषणा की थी कि वे मात्र सुनेंगे। नियन्त्रित समूह, जिसमें मौन सन्धिबद्ध प्रयोज्य नहीं थे, समूह क्रिया के प्रति सन्तोष उच्च था, और कम प्रतिरक्षा प्रगट हुई। इससे स्पष्ट है कि समस्या-समाधान समूह में कुछ सदस्यों का भाग न लेना प्रति-मानक (Counter norm) व्यवहार है। यह भी ज्ञात हुआ कि ऐसे सदस्य जो

मानक से विचलित होते हैं और संप्रेषण के प्रति असंवेदनशील होते हैं, उन्हें समरूप व्यवहार के लिये उन्मुख करना कठिन है।

समूह प्रकार
(Types of Group)

समूह-प्रकार भी समूहों के सदस्यों के व्यवहार को प्रभावित करता है। हम यहाँ कुछ प्रमुख-प्रकारों की चर्चा करेंगे।

1. प्राथमिक तथा द्वितीयक समूह (Primary and Secondary Groups)—समूह में हमारी तल्लीनता तथा आत्मीयता जितनी अधिक होती है, हमारे व्यवहार और अभिवृत्ति पर उसका प्रभाव उतना ही अधिक होता है। चार्ल्स कूले (1909) ने कहा है कि प्राथमिक समूहों में बारम्बार मुखोन्मुख आधार पर अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्ध घटित होते हैं। ऐसे सम्बन्धों के अधिक घनिष्ठ होने की सम्भावना होती है। यह घनिष्ठता स्तर उस समूह से कहीं अधिक होता है जिसमें निजी सम्पर्क कम होता है। कूले के अनुसार ऐसे समूह का सर्वप्रमुख लक्षण, व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव और आदर्शों के निर्माण में इसका प्रभाव है। (The major characteristic of primary group, according to cooley, is the influence they have, "in forming the social nature and ideals of the individual.") ऐसे समूह में मुखोन्मुख, घनिष्ठ सम्बन्ध, सहयोग, साहचर्य, उद्देश्यों में समानता, आदि लक्षण देखे जाते हैं और सम्बन्धों में निजीपन पाया जाता है। प्राथमिक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व, मूल्य, आदर्श एवं अभिवृत्ति आदि के विकास में बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण परिवार है। इस वर्ग के समूहों में अन्य समूह भी आते हैं। जैसे—मनोरंजन समूह, कार्य-समूह, पड़ोस, मित्र समूह, क्रीड़ा समूह आदि।

द्वितीयक समूह अधिक अव्यक्तिक तथा औपचारिक होते हैं। इनमें घनिष्ठ सम्बन्धों का अभाव, और सामान्य रूप से प्राथमिक समूह की अन्य सभी विशेषताओं का अभाव होता है। द्वितीयक समूह द्वारा प्रेम या संस्थिति के लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं होती। इनके द्वारा विश्वव्यापी लक्ष्य जैसे धन, वस्तुएँ, सेवाएँ, और सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। प्राथमिक समूहों में प्रेम, निराशा, अवसाद, क्रोध, तथा हर्ष का प्रकाशन होता है जबकि द्वितीयक समूह में सांवेगिक प्रकाशन अवरुद्ध एवं दमित किये जाते हैं। प्राथमिक समूह के द्वारा हम सन्तोष-असन्तोष का अनुभव करते हैं, और अधिक संसक्त होते हैं जबकि द्वितीयक समूह से हमारी प्रमुख सामाजिक आवश्यकता-प्रेम और ध्यान की पूर्ति प्रायः नहीं होती। द्वितीयक समूह में सदस्यों में उभयनिष्ठ उद्देश्यों का अभाव और स्वार्थ सिद्धि की भावना अधिक होती है।

2. **औपचारिक तथा अनौपचारिक समूह (Formal and Informal Groups)**—प्राथमिक समूहों में बहुधा अनौपचारिक होने की सम्भावना अधिक होती है। द्वितीयक समूह में पर्याप्त जटिल मात्रा में संरचना की आवश्यकता हो सकती है। अर्थात इनका संगठन निश्चित नियम और कायदों के अनुसार होता है। ऐसा समूह के उद्देश्यों की पूर्ति तथा समूह अस्तित्व को बनाए रखने के लिये होता है। अनेक समूह जो संरचनात्मक विशेषताओं में निम्न होते हैं, संभवत: अधिक स्थिर नहीं होते अर्थात वे स्वत: विकसित और विलुप्त होते हैं, जैसे काफी हाउस में विकसित छात्रों का समूह कुछ मिनटों के लिए विकसित होता है और काफी पी चुकने पर समाप्त हो जाता है। इनकी सदस्यता किसी कठोर आधार पर नहीं होती और इसमें आमूल परिवर्तन हो सकते हैं। संरचना समूह को स्थैर्य प्रदान करती है और सदस्यता में परिवर्तन के प्रति इसमें अवरोध विकसित होते हैं। अनेक द्वितीयक समूहों में औपचारिक संरचना—जैसे धार्मिक समूहों या संगठनों और राष्ट्रों को शताब्दियों तक बरकरार रखती है।

3. **व्यावर्तक और समावेशित समूह (Exclusive and Inclusive Group)**—व्यावर्तक समूह वे हैं जिनकी सदस्यता किसी वर्ग विशेष तक सीमित होती है। इंजीनियरों का संघ, अध्यापक संघ, या छात्र संघ आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। इनमें सभी लोग सदस्य नहीं हो सकते। इन संघों के सदस्य बढ़ई, लोहार अन्य असम्बद्ध व्यक्ति नहीं हो सकते।

जैसी कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं, हम उनकी ओर आकृष्ट होते हैं जिन्हें समान प्रत्यक्षीकृत करते हैं। इंजीनियर अन्य इन्जीनियरों के साथ या अध्यापक अन्य अध्यापकों के साथ अन्तर्क्रिया अधिक पसन्द करते हैं केवल इसलिये नहीं कि वे उनके साथ उभयनिष्ठ समस्याओं के समाधान पर अधिक उत्तम कार्य कर सकते हैं वरन् इसलिए भी कि वे इंजीनियरों या अध्यापकों के साथ अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। प्रत्यक्षित समानता को बनाए रखने के लिये इंजीनियर संघ या अध्यापक संघ अन्य व्यवसाय वालों को अपने समूह से बाहर रखते हैं।

एक मौलिक प्रश्न यह है कि इस प्रकार किसी समूह या संघ से लोगों को बाहर रखना क्या समाज के मूल्यों के अनुरूप है। परंपरागत समाज के कुलीन मूल्यों (Aristocratic values) को सहन कर सकती हैं अर्थात् इस कथन (Premise) को सत्य मानते हैं कि कुछ लोग अपने जन्म-परिवार या कुल के अनुसार अन्य से अच्छे होते हैं। इस सन्दर्भ में सामाजिक व्यवहार निरर्थक हो जाता है क्योंकि इसके अनुसार सम्मान आनुवंशिक है और इन समाजों में सामान्य धारणा के अनुसार उपा-

जित गुण नहीं है। दूसरी ओर यदि कोई समाज समता के मूल्यों से प्रशासित होता है अर्थात् उन मूल्यों पर निर्भर करता है जो प्रतिष्ठा तथा अन्य प्रकार की स्वीकृतियों को सामाजिक व्यवहार पर निर्भर मानता है तो कुलीन मूल्यों का क्रियान्वयन निरर्थक हो जाता है।

समतावादी समाजों में समावेशित समूह अधिक पाए जाते हैं। यह समूह सदस्यता के द्वारा सबके लिए खुला रखते हैं। राजनैतिक पार्टियाँ, हाबी-क्लब, और नागरिक हितों के लिए स्थापित समितियाँ या समूह इसके कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। व्यावर्तक समूह की भाँति इनमें सदस्यता के लिए किसी विशेष योग्यता के बन्धन नहीं होते। वे सब एक दूसरे की रुचियों में भागीदार होते हैं तथा समूह के लक्ष्यों और नियमों को स्वीकार करते हैं।

4. अन्तः समूह तथा बाह्य समूह (In groups and Out groups)—अन्तः समूह प्रायः "हम समूह" (We group) कहा जाता है जिसका निर्माण बहुधा अपने लोगों द्वारा होता है। इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनमें पारस्परिक प्रेम और तादात्मीकरण का भाव इतना प्रबल होता है कि इनके बाहर सदस्य एकान्तता की भावना से पीड़ित होते हैं। इन समूहों में सदस्यता और भागग्राहिता से सहानुभूति और भक्ति की प्रबल भावना उत्पन्न हो सकती है। वर्तमान समय में अन्तः समूह उन समूहों के लिए प्रयुक्त होने लगा है जो समाज में अधिक मात्रा में शक्ति रखते हैं। किसी बड़े समूह में अनेक छोटे-छोटे उपसमूह (Cliques), समूह को नीतियों को नियंत्रित करते हैं—जैसे राजनैतिक दल, धार्मिक समूह, आदि। खेल की टीम, परिवार आदि भी इसके उदाहरण माने जाते हैं। अंतः समूह, बाह्य-समूह द्वारा शक्ति में भागीदारी के प्रयासों के प्रति प्रतिरोध करते हैं इसके लिए अन्तः समूह के सदस्यों को बाह्य समूह के सदस्यों के साथ सम्पर्क अवरुद्ध किए जाते हैं। उनके साथ अन्तर्क्रिया को दुर्लभ बनाते हैं। इसके विपरीत बाह्य समूह को 'दूसरों के समूह' (Other group) के नाम से पुकारते हैं। इसमें अन्तःसमूह की विपरीत विशेषतायें होती हैं—संवेगात्मक भावना की न्यूनता होती है। परस्पर स्नेह सहानुभूति और सहयोग का अपेक्षाकृत अभाव होता है। दूसरे समूहों के प्रति ईर्ष्या, कटुता एवं विभेदन का भाव होता है और सदस्य के बीच मैत्रीय सम्बन्ध न्यून होते हैं। जैसे हम आस्तिक हैं, वे नास्तिक हैं, या हम कांग्रेसी वे जनता दली हैं आदि।

जिल्लर, वेहरिंगर तथा गुडसचाइल्ड (1962) ने समूहों की उत्पादकता, सर्जनात्मकता और प्रभावशीलता को ध्यान में रखकर अध्ययन किया था। परिणामों से ज्ञात हुआ कि जो समूह सदस्यता में परिवर्तन की अनुमति देते हैं वे उन

समूहों की अपेक्षा जिनकी सदस्यता स्थिर होती है, अधिक प्रभावशाली होते हैं। हाफमैन तथा मेयर (1961) ने भी कुछ ऐसे ही परिणाम प्राप्त किए। इन्होंने दो प्रकार के समूहों में समस्या-समाधान का अध्ययन किया। एक समूह समान व्यक्तित्व प्रतिमानों वाले व्यक्तियों से निर्मित था। इसका मापन गिल्फर्ड-जिम्मरमैन स्वभाव सर्वे द्वारा किया गया। अन्य समूह में व्यक्तित्व प्रतिमानों को परिवर्तित किया गया। दो समेस्टर तक इन दोनों समूहों के कार्यों के निरीक्षण के पश्चात् निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि द्वितीय समूह का उत्पादन गुणात्मकता के आधार पर अधिक उच्चकोटि का था। व्यावर्तता से समूह में समजातीयता (Homogeneity) और स्थिर आत्म संतुष्टि (Complacency) उत्पन्न करती है जबकि विषमजातीयता (Heterogeneity) से अधिक प्रभावशीलता उत्पन्न होती है।

5. **मेम्बरशिप समूह तथा सन्दर्भ समूह (Membership groups & Reference groups)**—किसी समूह में हमारी सदस्यता किसी न किसी मात्रा में इसके मानकों और मूल्यों की स्वीकृति की इच्छा पर निर्भर करती है। कोई भी समूह जिसका हमारे व्यवहार पर मानकीय प्रभाव होता है, सन्दर्भ समूह कहलाता है; क्योंकि हमारे व्यवहार इसके मानकों के सन्दर्भ में होते हैं। सन्दर्भ समूह के साथ व्यक्ति का तादात्मीकरण होता है अत; व्यक्ति अपने आपको उसका अंश मानता है। न्यूकाम्ब (1943) ने अपने अध्ययन में सन्दर्भ समूह द्वारा मूल्यों के प्रभावित होने का प्रमाण दिया है। लेहमैन्न (1963) ने भी अपने अध्ययन द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में सन्दर्भ समूह के प्रभाव में आने वाले परिवर्तनों का विवरण दिया है। सामाजिक अधिगम सिद्धान्त के अनुसार प्रशासित समूह के सदस्य अनुकरण के लिये प्ररुप के समान होते हैं।

सामूहिक अन्तर्क्रिया का विश्लेषण और मापन

(The Measurement and Analysis of Group Interaction)

इसके पूर्व अन्तर्व्यक्तिक आकर्षण के सन्दर्भ में समाजमितीय तकनीक की चर्चा की जा चुकी है इसके द्वारा समूह के सदस्यों के बीच अन्तर्क्रिया का मापन होता है। सोशियोग्राम समूह में पाए जाने वाले या किसी समय पाए जा रहे आकर्षण और विकर्षण के सदिश अथवा वेक्टर को प्रदर्शित करते हैं। अन्तर्क्रियात्मक विश्लेषण; का सम्बन्ध समूह व्यवहार की चालू प्रक्रिया से है। एक विधि जिसका पर्याप्त उपयोग हो चुका है, अन्तर्क्रिया-प्रक्रिया विश्लेषण (Interactional Process Analysis) कहलाती है इसका विकास राबर्ट फ्रीड बेल्स (1950) ने किया था। इसके द्वारा समूह कार्य से सम्बद्ध, समूह विवाद में भागग्रहियों द्वारा भूमिका निर्वाह की मात्रा का मापन करते हैं। बेल्स की प्रणाली में गणना चार श्रेणियों—

सामाजिक-सांवेगिक क्षेत्र: धनात्मक प्रतिक्रियायें, कार्य क्षेत्र: उत्तर, कार्य क्षेत्र: प्रश्न और सामाजिक सांवेगिक क्षेत्र : ऋणात्मक प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत करते हैं। समूह परिप्रेक्ष्य में घटित सभी अन्तर्क्रियाएँ वाचिक, अवाचिक, की रेकार्डिंग चर्चित वर्गों के अनुसार होती है।

बेल्स की प्रणाली में प्राप्तांक श्रेणियाँ

A. सामाजिक-सांवेगिक क्षेत्र : धनात्मक प्रतिक्रियाएं—

1. एकता का प्रदर्शन, दूसरों की संस्थिति में वृद्धि, सहायता तथा पुरस्कार देना।
2. तनाव-मुक्ति का प्रदर्शन, हास्य-विनोद करना, सन्तोष का प्रकाशन।
3. सहमति व्यक्त करना निष्क्रिय-स्वीकृति का प्रकाशन, अनुपालन करना आदि।

B कार्य-क्षेत्र : उत्तर—

4. सुझाव देना, निर्देश देना, दूसरों के लिए स्वायतता।
5. मत प्रकाशन, मूल्यांकन, विश्लेषण, भावनाओं का प्रकाशन, इच्छाओं की अभिव्यक्ति।
6. उन्मुखता प्रदान करना, पुनरावृत्ति, खुलासा करना, स्पष्टीकरण तथा पुष्टि।

C कार्य-क्षेत्र प्रश्न—

7. उन्मुखता या अभिविन्यास की प्रार्थना करना, सूचना, पुनरावृत्ति, पुष्टि करना।
8. मत, मूल्यांकन, विश्लेषण, इच्छा एवं भाव प्रकाशन का आग्रह।
9. सुझाव, निर्देशन, क्रिया के संभाविक रूपों की बाबत पूछना है।

D. सामाजिक-सांवेगिक क्षेत्र : ऋणात्मक प्रतिक्रियाएं—

10. असहमति व्यक्त करना है, निष्क्रिय अस्वीकृति, अनौपचारिक रूप से सहायता पर रोक लगाना।
11. तनाव प्रकट करता है, सहायता माँगता है।
12. विरोध का प्रदर्शन, दूसरों की संस्थिति को गिराना, आत्मप्रकाशन या सुरक्षा।

डिस्कशन का नमूना निम्न है जिसके आधार पर श्रेणीकरण किया जाता है—

सभापति—खाते में पर्याप्त धन नहीं है जिससे सप्लाई वित्त वर्ष के अन्त तक

चल पाना संभव नहीं है। (सूचना देता है) क्या आप में से कोई सदस्य कोई सुझाव देंगे। (मत प्रकाशन का आग्रह)।

सदस्य A—उचित होगा कि मीटिंग की संस्तुतियाँ (minutes) पढ़ी जाए। (मत प्रकट करता है, और विरोध प्रकट करता है)।

सभापति—सचिव अभी भी नहीं आए हैं, (सूचना देता है) और इस बीच मेरे विचार में हम अभाव की समस्या पर विचार जारी रखें। (मत व्यक्त करता है)

सदस्य B—मैं सहमत हूँ। (मत व्यक्त करता है और सहमति प्रकट करता है) इसके अलावा संस्तुतियाँ डाक द्वारा हमें प्राप्त हो चुकी हैं और हम सभी देख चुके हैं। (सूचना देता है)

सदस्य A—मुझे डाक से प्रतिलिपि नहीं मिली है। (असहमति प्रकट करता है)

जैसे-जैसे हर व्यक्ति पलांकन योग्य टिप्पणी (रिमार्क) करते हैं उपयुक्त कालम में प्रेक्षक एक चिह्न (Tally) लगा देता है।

इस प्रकार समूह में व्यक्ति की भागग्राहिता की मात्रा और प्रकार का ब्योरा प्राप्त होता है। भागग्राहिता की मात्रा समूह में व्यक्ति की क्रियाशीलता स्तर की सूचक है। श्रेणी B और C में अंकों की संख्या से सदस्य की कार्योन्मुखता की मात्रा का परिचय प्राप्त होता है, जबकि A तथा D क्षेत्रों में प्राप्तांक समाजिकता के सूचक हैं।

इन प्राप्तांकों के आधार पर क्रियाशीलता प्रोफाइल रचना करते हैं। बेल्स ने दो पाँच व्यक्तियों वाले समूहों के प्रोफाइल्स प्रस्तुत किए थे, जिन्हें एक केस-स्टडी के विश्लेषण का कार्य देकर इसके विषय में संस्तुति देने को कहा गया था। एक समूह अपने कार्य के निष्पादन में अत्यधिक सन्तुष्ट था और अन्य असन्तुष्ट था। प्रोफाइल्स से व्यक्त होता है कि सन्तुष्ट समूह में सहमति अधिक थी तथा उनसे असन्तुष्ट समूह की अपेक्षा अधिक सुझाव दिए। उन्होंने कम मत व्यक्त किए, अधिक प्रश्न किए और कम ऋणात्मक प्रभाव व्यक्त किए। दोनों समूहों ने कार्य क्षेत्रों की अपेक्षा सामाजिक-सांवेगिक क्षेत्र में अधिक परिवर्तन देखे गए। असन्तुष्ट समूह ने अपने कार्य में थोड़ा अधिक कड़ा परिश्रम किया क्योंकि उन्होंने कार्योन्मुख विवाद में थोड़ा ज्यादा समय लगाया।

बेल्स (1965) को यह प्रत्याशा थी कि डिस्कशन समूह जो पसंदगी में उच्च अंक प्राप्त करने वाले सामान्य क्रियाशीलता और कार्य-योग्यता (विचार) में भी उच्च अंक प्राप्त करेंगे, किन्तु उनके शोध से प्रदर्शित हुआ कि कार्योन्मुख सदस्य

अधिक सक्रिय और समान विचार वालों में मध्यम श्रेणी की क्रिया पाई जाती है। यह भी ज्ञात हुआ कि कार्योन्मुख व्यक्ति सर्वदा सर्वाधिक पसंद नहीं किए जाते कार्ययोग्यता और पसन्द किए जाने में निम्न स्तरीय सहसम्बन्ध होता है। यही नहीं दोनों असंगत भी प्रतीत होते हैं। यह निम्न सहसम्बन्ध निम्न होने का एक कारण यह हो सकता है कि उच्च विचार वाले अधिक बातचीत करने के कारण वार्ता को अधिक प्रभावित करने के प्रयास करते हैं। समूह के अन्य सदस्य इस प्रवृत्ति को नापसंद करते हैं। बेल्स के प्रयोज्यों में एक तिहाई ने वार्ता में अधिक भाग लेकर अपने प्रति नापसन्द उत्पन्न की।

बेल्स ने देखा कि उनके समूह "दोहरी नेतृत्व" (Dual leadership) प्रणाली के अन्तर्गत कार्य करते हैं। इसमें एक नेता कार्य विशेषज्ञ की भूमिका निभाता है और अन्य नेता "सामाजिक विशेषज्ञ" की भूमिका अदा करता है। प्रथम नेता यह देखता है कि सदस्य-गण अपना कार्य करते हैं या नहीं और दूसरा यह देखता है कि लोग अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तर्क्रिया में प्रत्याशित पुरस्कारों को प्राप्त करते हैं। सदस्य जो विचार, पसंदगी और क्रियाशीलता में उच्च होते हैं ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं, और "अच्छे नेता" या "महान व्यक्ति" के परंपरागत संप्रत्यय के अनुरूप होते हैं दुर्भाग्यवश जो विचारों पसंद और क्रिया के अनुसार न्यून स्तर के होते है वही संख्या में अधिक होते हैं।

अध्याय 15

नेता और नेतृत्व

(Leaders & Leadership)

जैसा कि पहले देख चुके हैं, कि उभयनिष्ठ लक्ष्य की दिशा में मिल जुलकर कार्य करने, तथा अन्तक्रिया कर रहे व्यक्तियों का संग्रह ही समूह है। लोग सामाजिक तथा अन्य संकृत्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एकत्र होते हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति की योग्यता, नेता के व्यवहार समेत अनेक कारकों पर निर्भर करती है। प्रत्येक समूह की अपनी संरचना होती है, जो शोधों के अनुसार समूह के प्रभाव का निर्धारण करती हैं। स्मेल्सर (1961) के शोधों से ज्ञात हुआ है कि संरचनात्मक व्यवस्थायें उस समय अधिक उपयोगी होती हैं जब समूह के पदों पर कुछ विशेष गुणों वाले लोग आसीन होते हैं। पद के अनुरूप योग्यता और विशेषता वाले व्यक्ति ही उपयुक्त होते हैं। लेविन, लिप्पिट्ट और व्हाईट (1939) ने कहा है कि नेता, समूह के वातावरण समूह के सदस्यों के व्यवहार और उत्पादन शीलता को प्रभावित करता है। इन्हीं कारणों से समूह और समाज में नेता सर्वदा सम्मान की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि नेता समाज को हर काल और हर युग में प्रभावित करते रहे हैं। महात्मा गाँधी, मार्टिन लूथर किंग, पं० जवाहर लाल नेहरू, नेल्सन मण्डेला आदि कुछ प्रमुख नेताओं ने अपने प्रभाव से इतिहास की धारा को नया मोड़ प्रदान किया।

नेतृत्व : परिभाषाएँ

(Definition)

नेतृत्व की परिभाषाएँ—मार्विन ई० शा (1971) ने नेतृत्व-भूमिका का व्यापक अध्ययन किया और बहुत ही स्पष्ट एवं मितव्ययी परिभाषा दिया। इनके अनुसार नेता समूह का वह सदस्य है जो अन्य व्यक्तियों पर उससे अधिक धनात्मक प्रभाव डालता है जितना कि दूसरे लोग उस पर डालते हैं। (He defines it as the group member who exerts more positive influence over others than they exert over him. Marvin E. Shaw, 1971) इन सन्दर्भ में धनात्मक का अभिप्राय यह है कि प्रभाव की दिशा का चयन नेता करता है।

इस अर्थ में, समूह के किसी सदस्य का समूह के अन्य व्यक्तियों के व्यवहार या प्रेरकों–अभिवृत्ति, मूल्य, भावनाओं आदि को प्रभावित करने का प्रयास नेतृत्व का प्रयास कहा जा सकता है। किन्तु नेतृत्व अन्य सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयास

मात्र नहीं, वरन् कुछ और भी है। नेतृत्व के इस दृष्टिकोण के अनुसार समूह का कोई सदस्य एक या अन्य समय पर नेतृत्व की भूमिका अदा कर सकता है।

डैनियल कैट्ज़ तथा राबर्ट एल काहन (1966) के अनुसार समाज विज्ञानों में नेतृत्व का प्रयोग तीन व्यापक अर्थों में होता है—किसी पद के गुण के रूप में, किसी व्यक्ति के लक्षण के रूप में, और व्यवहार की श्रेणी के रूप में। अधिकांश परिचर्चाओं में एक साथ तीनों अर्थों में इसका अनुप्रयोग होता है।

नेतृत्व सम्बन्धी अनेक अध्ययन समूह संरचना के सन्दर्भ में हुए हैं अतः विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। इन विभिन्न परिभाषाओं की चर्चा गिब (1969) ने अपनी पुस्तक "हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलॉजी" में की है। फीडलर (1971) तथा स्टागडिल, (1948) के अनुसार नेता एक ऐसा व्यक्ति है जो समूह की क्रियाओं को प्रभावित करता है। प्रायः समूह का वह सदस्य जो अधिक खतरा ले सकते हैं, वे नेतृत्व कार्यों का निष्पादन करते हैं तथा सदस्यों के व्यवहार को अधिक प्रभावित करते हैं। शा की परिभाषा पर टिप्पणी करते हुए हम कह चुके हैं कि समूह क्रियाओं के रूप में नेतृत्व की परिभाषा देना भ्रामक है। नेतृत्व एक मात्रात्मक परिवर्त्य है। इस प्रकार की सभी परिभाषाओं में नेतृत्व के केवल एक पक्ष पर ध्यान दिया गया है जो उचित नहीं है।

गिब (1947) ने व्यक्तित्व और नेतृत्व में घनिष्ठ सम्बन्ध की चर्चा की है। वह नेतृत्व को परिवेश तथा परिस्थिति पर आश्रित मानते हैं। स्टागडिल (1950) इससे सहमत नहीं हैं कि नेतृत्व व्यक्तित्व पर इतना निर्भर नहीं करता है जितना कि विशिष्ठ सामाजिक समूह में व्यक्ति के व्यवहार पर आश्रित है।

उस व्यक्ति के नेता बनने की संभावना अधिक होती है जिसमें नेतृत्व के गुण होते हैं और जो समूह के आदर्शों, लक्ष्यों के लिए प्रयास करता है। चार्ल्स बर्ड (1940) के अनुसार, आदर्शात्मक रूप में नेतृत्व एक प्रकार का आपसी सहयोग है जिसमें किसी व्यक्ति की विशेष योग्यता या कुशलता अनुगामियों को उनके लक्ष्यों की प्राप्ति या प्रेरणाओं की संतृप्ति के योग्य बनाती है। इसमें सहयोग की पारस्परिकता को नेतृत्व का आधार माना गया है।

बिनाके, विल्सन एवं मेरिडिथ (1964) के अनुसार अनुगामी नेता के प्रति आधीनता का भाव रखते हैं। ऐसा होने का कारण यह है कि नेता समूह का प्रशासक, निर्देशक, और आचरण का निर्धारण-कर्त्ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नेतृत्व, की योग्यता व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं या शीलगुणों पर ही नहीं वरन् नेतृत्व, समूह की संरचना तथा अनेक परिस्थित जन्य कारकों पर भी निर्भर करती है। कार्टर तथा हेम्पहिल के अनुसार नेतृत्व का अभिप्राय किसी ऐसे कार्य में लीन

होना है जो पारस्परिक समस्या को सुलझाने की प्रक्रिया में अन्तर्क्रिया आरम्भ करता है।

नेता के प्रकार्य

नेता अनेक प्रकार के कार्य करते हैं, उनके कार्य असमान भी हो सकते हैं। नेता के कार्य समूह प्रकार, समूह संरचना समूह लक्ष्य, समूह में संशक्ति, परिस्थितियों तथा ऐसे ही अनेक कारकों पर आश्रित हैं। यह सब होते हुए भी हम कुछ ऐसे प्रमुख कार्यों की चर्चा कर सकते हैं जो नेता करते हैं यह बात कम से कम औपचारिक समूह के नेताओं के विषय में प्रायः सत्य है कि नेता कुछ सामान्य कार्य करते हैं—

नेतृत्व और प्रभावित करने की शक्ति (Leadership and the power to influence)—नेता अधिकारिक हो या अनाधिकारिक उसका पद उसे अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक प्रभाव और शक्ति प्रदान करता है। सदस्यगण इसकी प्रत्याशा करते हैं कि वह सदस्यों के व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयास करेगा। इस प्रकार प्रभावित करना उसकी भूमिका में निहित प्रत्याशा हैं जिसकी सदस्य उससे अपेक्षा करते है। सदस्यगण प्रभावित किए जाने की अपेक्षा इसलिए करते हैं कि अनुगामी की भूमिका अधीनस्थ की होती है।

रिचार्ड हाफमैन तथा नारमैन मेयर (1967) ने अपने अध्ययन द्वारा स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया है कि नेता के पद पर आसीन व्यक्ति समूह को प्रभावित करेगा और समूह प्रभावित होगा। शोध के लिए 3 और 4 कालेज छात्रों के समूहों को लिया गया। इन्हें औद्योगिक परिप्रेक्ष्य में मानवीय सम्बन्धों से सम्बद्ध समस्या देकर यह निर्देश दिया कि वे सर्वोत्तम समाधान प्राप्ति के लिए विवेचना (Discussion) करें। प्रत्येक समूह के एक सदस्य को यादृच्छिक क्रम में नेता बनाया गया। विवेचना सत्र के पूर्व नेता को गुप्त रूप में बताया गया कि लक्ष्य प्राप्ति पर उन्हें डेढ़ डालर पुरस्कार के रूप में दिया जाएगा। आधे प्रयोज्यों से से कहा गया कि समस्या का सर्वोत्तम समाधान उनका लक्ष्य है और शेष आधे से कहा कि लक्ष्य ही समस्या का सन्तोषजनक समाधान है। समाधान के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि यहां तक कि जब नेता का लक्ष्य समूह का सन्तोष था, तो भी अन्य सदस्यों की अपेक्षा नेता समूह द्वारा अपनाये गये समाधान को प्राप्त करने में अधिक प्रभाव डालता है। केवल यही नहीं कि नेता समूह विवेचना को प्रभावित और नियन्त्रित करते हैं वरन् उनके प्रभाव और नियन्त्रण को समूह द्वारा स्वीकृति भी प्राप्त होती है। इस प्रकार इस अध्ययन के परिणाम यह स्पष्ट रूप में सत्यापित करते हैं कि नेता का पद उन्हें पर्याप्त अधिकार और शक्ति देता है चाहे उस पद को जो भी धारित करे।

समूह के सदस्यों को प्रभावित करने के अतिरिक्त, नेता अन्य भूमिकायें भी निष्पादित करते हैं। उदाहरण के लिए अपने समूह की ओर से नेता अन्य समूह से सम्प्रेषण भी करते हैं। यही नहीं वे अपने समूह के लिए सूचना के श्रोत भी होते हैं। समूह के उन सदस्यों के लिए नेता निर्भरता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में पिता के तुल्य होता है जिनमें निर्भरता की आवश्यकता प्रबल होती है। समूह के सदस्य लक्ष्य प्राप्ति से सम्बद्ध और प्रायः असंबद्ध एवं निरर्थक व्यवहारों का भी अनुकरण करते हैं। वे नेता के समान वेशभूषा, चश्मा या उसकी मनपसंद सिग्रेट तक को अनुकरण द्वारा अपना लेते हैं।

किसी अधिशासी अधिकारी का सचिव भी ऐसा कर सकता है। वह अपने बॉस के साथ दूसरों के संप्रेषण को भी नियंत्रित कर सकता है। वह बॉस तथा अधीनस्थ व्यक्तियों के बीच सम्पर्क का साधन होने के कारण बॉस की इच्छाएँ भी मातहतों को बताता है। वह अपने बॉस के मतों को विभिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में प्रभावित करता है और प्रायः बॉस के नाम का प्रयोग करके अधीनस्थ लोगों पर अपने विचार भी थोप सकता है। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी के एक सचिव के विषय में यह बात सामान्य समझी जाती थी। अन्य सचिव ऐसे सचिव को नापसंद भी करते हैं और डरते भी हैं।

इस प्रकार नेता आफीशियल भी हो सकते हैं और अनआफीशियल भी। सामान्यतः आफीशियल नेता को कुछ सुविधाएँ होती हैं और वे प्रत्यक्ष प्रभाव समूह पर डालते हैं। किन्तु अनआफीशियल नेता उस समय शक्ति प्राप्त करते हैं जब आफीशियल नेता के अनुपलब्ध होने से शक्ति शून्यता (Power vacuum) विकसित हो जाती है। ऐसा बहुधा नेता की अनुपस्थिति में होता है या उस समय जब समूह उसकी अवहेलना और उपेक्षा करता है। आफीशियल नेता की कोटि में चेयरमैन, कप्तान, मैनेजर, मेयर, विधायक या प्रमुख जैसे विभागाध्यक्ष आदि आते हैं। अध्यापक, चिकित्सक, वकील, पुलिसकर्मी आदि भी प्रायः नेता के रूप में कार्य करते हैं।

शक्ति एवं प्रतिष्ठा (Power & Prestige)—जिस मात्रा में नेता अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित कर सकते हैं, उसे शक्ति कहा जाता है। शक्ति नेता की प्रतिष्ठा के साथ परिवर्तित होती है, अथवा अन्य लोग उसके कार्य जितना सार्थक, उपयुक्त और महत्वपूर्ण मानते हैं, नेता की प्रतिष्ठा उसी मात्रा में उच्च होती है। प्रतिष्ठा पद से जुड़ी होती है, यहाँ तक कि माध्यमिक संस्थिति पदों में भी कम या अधिक मात्रा में प्रतिष्ठा निहित होती है और कोई व्यक्ति जो उन पदों पर आसीन होते हैं, वे समूह के सदस्यों को किसी न किसी मात्रा में अवश्य प्रभावित करते हैं। एक टी० वी० कलाकार किसी सामाजिक समारोह में विशेष ध्यान प्राप्त

करता है और न केवल लोग उसे ध्यानपूर्वक सुनते हैं वरन् स्थानीय नेताओं पर वरीयता भी प्राप्त करता है। राजनैतिक स्पर्द्धाओं में नेता के इस गुण से अनेक अवसरों पर वोटों की प्राप्ति सुलभ हो जाती हैं और उच्च राजनैतिक पद तक नेता को पहुँचाती है।

नेतृत्व अन्तरण (Transferability of Leadership)—इसका अर्थ है कि एक सन्दर्भ में नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों में अन्य परिस्थितियों में भी नेतृत्व भूमिका अदा करने की प्रवृत्ति होती है। समान परिस्थितियों में यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है, किन्तु यह स्थिति असमान परिस्थितियों में भी बनी रहती है। (कार्टर, हेयार्न, तथा होवेल, 1950)। वास्तव में व्यक्ति विभिन्न समूह परिप्रेक्ष्यों में जो प्रत्यक्ष, मूल्य, और चिन्तन प्रणाली सीखते हैं, वह उनके व्यवहार शैली और व्यवहार, प्रतिमान का अंग बन जाती है। जब वे नए समूह में प्रवेश करते हैं तो वे पूर्व परिचित भूमिकाओं का निर्वाह आरंभ कर देते हैं। वे उन समूहों में भी नेतृत्व के समान व्यवहार करते हैं और अन्य सदस्यों में अनुगामिता व्युत्पन्न करते हैं। समूह के सदस्य इस क्रम के कारण उनको नेता के रूप में प्रत्यक्षीकरण करने लगते हैं।

दो पैरेन्ट-टीचर एसोसियेशनों की तीन बैठकें हुई जिसमें उन्हें मानसिक स्वास्थ्य के विषय में फिल्में दिखाई गई तथा विवेचना का अवसर दिया गया। फिल्म देखने के बाद की विवेचना को टेप किया गया और प्रयोगकर्त्ताओं ने भी विवेचना आरंभ कर्त्ता तथा प्रत्येक टिप्पणी के लक्ष्य की आख्या रखा। प्रयोग-कर्त्ताओं ने समाजमितिक मापों के प्रशासन तथा भागग्राहियों के विषय में जीवनी प्रवृत्त (Biographical data) संग्रहित किए। तृतीय तथा समय की अन्तिम मीटिंग में सदस्यों को यह बताना था कि वे किसे अपने समूह या दल का अध्यक्ष और उपाध्यक्ष बनाना चाहेंगे। इन विभिन्न साधनों से उपलब्ध प्रदत्तों के द्वारा शोधकर्त्ताओं ने प्रत्येक प्रयोज्य या भागग्राही के लिए तीन प्रकार की संस्थितियों (Status) का निर्धारण किया—अन्तक्रिया, मित्रता, और नेतृत्व।

परिणामों से ज्ञात हुआ कि सभी तीन प्रकार के संस्थिति माप धनात्मक रूप से अन्तर्सहसम्बद्ध (Positively intercorrelated) थे किन्तु नेतृत्व संस्थिति में पर्याप्त परिवर्तन देखा गया। इन शोधकर्त्ताओं ने यह भी देखा कि इस प्रकार के छोटे समूहों में, जहाँ लोग पहले से परिचित हैं। विवेचन मुख्यतः उन सदस्यों में सीमित होता है जो अपनी शिक्षा या व्यवसाय के कारण अन्य सन्दर्भों में श्रेष्ठ संस्थिति रखते हैं। यह उच्च संस्थिति व्यक्ति न केवल अपनी भागग्राहिता में अधिक सक्रिय थे वरन् वे अपनी टीकाएँ एक-दूसरे के प्रति करते हैं, जबकि नेतृत्व

में निम्न संस्थिति वाले उच्च संस्थिति वालों से सम्प्रेषण एवं सम्बोधन करते हैं (लाना तथा अन्य 1960)

नेतृत्व प्रकार तथा श्रेणीकरण

(Types of Leaders and Categoris of Leadership)

व्यक्ति अनेक रूपों में दूसरों को प्रभावित करते हैं, यद्यपि कुछ भूमिकाएँ तथा क्रियायें अन्य की अपेक्षा प्रभाव में अधिक सुलभकारी होती हैं। कोई भी ऐसी क्रिया जिसमें व्यक्ति समूह लक्ष्य में योगदान देता है और जो अन्य सदस्यों से सार्थक रूप में भिन्न हैं, को किसी प्रकार का नेतृत्व कह सकते हैं। नेतृत्व प्रकार या श्रेणियों में कोई श्रेणी जो किसी भूमिका या पोजीशन को इंगित करती है, अपने आप में न्यून होती है क्योंकि किसी व्यवहार श्रेणी की क्रियाओं को अत्यधिक या बहुत कम परिचय देती है। कहने का अभिप्राय यह है कि नेताओं को विभिन्न प्रकारों या श्रेणियों में रखने में कठिनाइयाँ हैं किन्तु यह संकेत देने के लिए कि नेता प्रभावित करने की प्रक्रिया में क्या करते हैं यह जानने के लिए विभिन्न प्रकार के नेताओं का विवरण आवश्यक है। दूसरे शब्दों में किसी भी नेता को उसकी क्रियाओं के कारण अनेक श्रेणियों में रख सकते हैं। नेताओं के प्रकार या श्रेणियों में प्रमुख निम्न हैं—

प्रशासक (The Administrator)—यह व्यापक, सामान्य पद अनेक प्रकार की क्रियाओं के लिये प्रयुक्त होता है—योजना बनाना, समन्वय करना, व्यवस्था करना, निर्देशन तथा संगठन । प्रशासक यह देखता है कि सभी कार्य पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार किए जाए। वे संगठन या समूह में महत्वपूर्ण पद पर आसीन होते हैं, जो समूह के विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति के लिये विशेषकर सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए या सामग्रियों के उत्पादन के लिए सृजित किए जाते हैं। प्रशासक के दो प्रमुख कार्य हैं–संगठनात्मक प्रक्रियाओं को बनाए रखना तथा संगठन या समूह की नीतियों का क्रियान्वयन ।

नीति-निर्धारण को भी प्रशासन के अन्तर्गत रख सकते हैं, अर्थात् नीतिनिर्धारण भी प्रशासनिक कार्य कहा जा सकता है। अनेक विशेषज्ञ नीति-निर्धारण को एक पृथक कार्य अथवा प्रशासक के कार्य क्षेत्र से बाहर मानते हैं। संसद तथा राज्यों की विधान-सभाएँ नीतियाँ-निर्धारित करती हैं और उन नीतियों को केन्द्र में प्रधानमंत्री तथा राज्यों में मुख्य मंत्री क्रियान्वित करते हैं। वास्तव में कर्मचारियों और साधनों पर नियन्त्रण, और सूचनाओं पर उसकी पकड़ होने के कारण, अनेक अवसरों पर आपात स्थितियों में प्रशासक नीतियों का निर्धारण भी करता है। अनेक बार अप्रत्याशित घटनाएँ तथा आपातिक स्थितियों में नेता (प्रशासक) को

तत्काल निर्णय लेना पड़ता है। इस प्रकार नीति-निर्धारण और उनके क्रियान्वयन को अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा संपादित किए जाने के कारण प्रायः शक्ति सन्तुलन (प्रशासक और नीति निर्माता के बीच) भंग होने की संभावना होती है, क्योंकि शुरुआत में तो प्रशासक को सुविधा होती है लेकिन इन समस्याओं में नीति निर्माता का निर्णय निषेधात्मक शक्ति (Veto Power) के कारण अन्तिम होता है।

अधिकारीतंत्र नेता (The Bureaucrat)—ऐसे नेता किसी भी संगठन, औद्योगिक प्रतिष्ठान, सरकारी या अर्द्ध सरकारी संगठन, सेना या अन्य अनेक संस्थाओं में संगठन सम्बन्धी प्रक्रियाओं के निर्देशन एवं पर्यवेक्षण के विशिष्ठ कार्यों का निष्पादन करते हैं। यह किसी संगठन के प्रशासनिक पदानुक्रम में मध्यम स्तर के पदों या निम्न स्तरीय पदों पर कार्यरत होते हैं। किसी भी विस्तृत संगठन के लिए सम्पूर्ण कार्यों का विभिन्न क्षेत्रों में विभाजन करना आवश्यक है। कर्मचारियों की क्षमता और योग्यता के अनुसार कार्य-वितरण किया जाता है, संगठन चाहे सरकारी, सैनिक, धार्मिक या व्यापारिक हो। अधिकारीतंत्र नेता की शक्ति, संगठन या समूह की संरचना तथा औपचारिक नियमों पर निर्भर करती है जहाँ उसके कार्यों और भूमिका की सीमायें स्पष्ट कर दी जाती हैं। जो संगठन दीर्घकालिक होते हैं अथवा पुराने होते हैं उनमें लचीले और अपेक्षाकृत स्थायी संरचनाओं के विकास की संभावना अधिक होती है। यदि संगठन की संरचना काफी विकसित होती है तो सर्वोच्च शासक के असक्षम होने पर भी ब्यूरोक्रेसी (Bureaucracy) काफी समय तक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाती रहती है और कुशासन के दुष्प्रभावों से संगठन सुरक्षित रहता है। भारतवर्ष में ब्यूरोक्रेट्स का चयन योग्यता परीक्षा द्वारा (आई० ए० एस० तथा पी० सी० एस०) होती है। प्रत्येक विभाग के अलग-अलग मंत्री होते हैं, जिनके नीचे अनेक आई० ए० एस० तथा पी० सी०एस० अधिकारी और अनेक अन्य कर्मी होते हैं जो उस मंत्रालय के कार्यों की विभागीय मंत्री के आदेशानुसार चलाते हैं।

नीति-निर्माता (The Policy Maker)—नीति-निर्माता, एक प्रशासक भी हो सकता है, किन्तु उसके ब्यूरोक्रेट होने की संभावना कम होती है। यद्यपि ब्यूरोक्रेट कभी-कभी कर्त्तव्य पालन के अन्तर्गत नीति-निर्माण का कार्य भी कर सकता है। बड़े संगठनों में, नीति-निर्माता, बोर्ड आफ डायरेक्टर्स के या विधायकों द्वारा भी हो सकते हैं। सामान्यतः प्रशासक, नीति-निर्माता बोर्डों में मुख्य परामर्शदाता के रूप में भाग लेते हैं और जब नीति-निर्माण हो जाती है, तो प्रशासक उसे क्रियान्वित करता है। बहुधा नीति निर्माता अप्रकट नेता के रूप में कार्य करते

है—अर्थात् वह बिना जाहिर किये समूह को प्रभावित करता है। वह पर्दे के पीछे या गद्दी की ओट से शासन करता है। ("The man behind the throne" is a common phrase to describe this kind of leader.)

विशेषज्ञ (The Expert)—विशेषज्ञ सामान्यतः नीति-निर्माताओं और प्रशासकों की सहायता परामर्शदाता के रूप में करता है। संगठनात्मक नेता के लिए महत्वपूर्ण सूचनाएँ विशेषज्ञों से प्राप्त होती हैं। वह नीति-निर्धारण और योजनाएँ बनाने में अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ होने के कारण टीका, आलोचना और विशेष ज्ञान प्रदान करता है।

प्रथम तीन प्रकार के चर्चित नेता उद्देश्यों का निर्धारण तथा उनकी दिशा में क्रिया का संचालन के लिए या क्रियान्वयन के लिये उत्तरदायी होते हैं किन्तु विशेषज्ञ पर परिणामों का कोई दायित्व नहीं होता। चिकित्सा विशेषज्ञ, परसोनेल मैनेजर, उद्योग-मनोवैज्ञानिक, फोरमैन, अधीक्षक, विशेषज्ञ होते हैं और उत्पादन-मैनेजर और सेल्समैन आदि प्रशासक, ब्यूरोक्रेट तथा नीति निर्माता होते हैं। स्कूल कॉलेज की व्यवस्था में अधीक्षक, अध्यापक तथा प्राचार्य, प्रशासक, ब्यूरोक्रेट और नीति-निर्माता की भूमिका निभाते हैं जबकि स्कूल मनोवैज्ञानिक, कांउसेलर्स और स्कूल नर्स विशेषज्ञ होते हैं।

आदर्शवादी (The Ideologist)—विशेषज्ञ के समान यह भी स्पेशलिस्ट होते हैं, किन्तु यह किसी तकनीकी क्षेत्र में स्पेशलिस्ट नहीं वरन् विचारों और विश्वासों में विशेष ज्ञान रखते हैं। आदर्शवादी, मूल सिद्धान्तों से सम्बद्ध होते हैं जो सामाजिक व्यवहार में निहित होते हैं। सेंट अगस्टाइन, लूथर, गैलिलियो, और कार्ल मार्क्स आदि इस प्रकार के नेता के कुछ उदाहरण हैं। इनकी शिक्षा ने करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को बदल दिया। सभी नेताओं में आदर्शवादी नेता की कुछ न कुछ विशेषताएँ होती हैं।

अर्द्ध दैविक नेता (The Charismatic Leader)—कैरिश्मा ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अभिप्राय ईश्वर के दिए उपहार से है, जिससे प्राप्तकर्ता में उसके साथियों के मुकाबले में विशिष्ट योग्यता या शक्ति आ जाती है। इस विशेष शक्ति के द्वारा वह अद्भुत और चमत्कारी कार्य करने में सक्षम हो जाता है। मैक्स वेबर (1947) ने समाज विज्ञानों में इसे प्रयुक्त किया। उसके अनुसार जब सम्प्रत पद्धतियाँ सामाजिक समस्याओं और जटिलताओं को हल करने में असफल प्रतीत होती हैं तब सामाजिक दृश्य पर अर्द्ध दैविक नेता का उदय होता है। जब समाज में या किसी देश में जनमानस में असंतोष व्याप्त होता है, आर्थिक संकट बढ़ता है, अन्तर्द्वन्द्व बढ़ता है या युद्ध का भय होता है तो ऐसे नेता का उदय होता है। इन नेताओं में प्रबल सांविगिक अपील होती है और जब इसके साथ

आदर्श सम्मिलित हो जाते हैं तो नेता अर्द्धदैविक हो जाते हैं जैसे मार्टिन लूथर किंग, सेंट फ्रांसिस, अडोल्फ हिटलर आदि। जब सांवेगिक अपील के साथ आदर्श का संयोग हो जाता है तो असन्तोष के वातावरण में और आकर्षण पैदा हो जाता है। पहले के ऐसे नेता के धार्मिक होने की संभावना होती थी परन्तु आज के युग में राजनैतिक नेता भी अर्द्धदैविक हो सकते हैं। ऐसा नेता के उदय में उसकी चमत्कारी शक्ति प्रमुख होती है चाहे उसका क्षेत्र राजनीति ही क्यों न हो। एरिक होफर (1951) ऐसे नेता के अनुगामियों को "True believer's" कहता है क्योंकि वे करिश्माई नेता में अंधा-विश्वास ही नहीं रखते वरन् स्वयं को निरर्थक, अनुपयुक्त और नालायक मानते हैं।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि करिश्माई नेता की अपील का मुख्य आधार सांवेगिक होता है। ऐसे नेताओं की योग्यताओं से प्रभावित होकर अनुगामी उसके साथ तादात्मीकरण करते हैं। सामाजिक आकर्षण का आधार, प्रत्यक्षित समानता होती है। नेता अनुगामी से चाहे कितना भिन्न क्यों न हो वे तादात्मीकरण हेतु उसे समान ही मानते हैं।

राजनैतिक नेता (The Political Leader)—ऐसे नेता नीति-निर्माता और आदर्शवादी और चुनाव जीतने के लिए कुछ अर्द्धदैविकता भी रखते हैं। प्रायः ऐसे नेता की परिधि सरकार होती है और बहुधा उद्यमी के समान कार्य करते हैं। राजनेता अपने लक्ष्यों, अनुगामियों, मित्रों और चुनाव में वोट देने वालों के हितों की रक्षा करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनैतिक नेता इन विधियों का उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि समझौते और बातचीत द्वारा समस्या-समाधान परिस्थितियों में आवश्यक होती है। पुरस्कार तथा लाभ की भागीदारी के लिए राजनैतिक व्यवस्था भी आवश्यक होती है। इसलिए राजनैतिक समझौते किए जाते हैं।

प्रतीकात्मक नेता (The Symbolic Leader)—नेता की भूमिका का एक पक्ष उसकी समूह के प्रतिनिधित्व की योग्यता है। वह समूह का वास्तव में प्रतिनिधित्व तो करता ही है साथ ही प्रतीकात्मक रूप में भी समूह का प्रतिनिधित्व करता है। किसी देश का राजदूत सम्मान प्राप्त करता है क्योंकि वह अपने देश का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि होता है।

प्रतीकात्मक नेता का उच्च मात्रा में कर्मकाण्ड मूल्य होता है। विभिन्न समूहों जैसे राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध प्रतीकात्मक नेताओं की औपचारिक अन्तर्क्रिया पर निर्भर करती है। इस प्रकार अनेक परिस्थितियों में नेता प्रतीकात्मक एवं कर्मकांड-वादी भूमिकायें निभाते हैं।

पितृ व्यक्ति या पितृ आकृति (The Parent Figure)—परिवार, एक ऐसा समूह है जिसका अनुभव हमें जीवन में सबसे पहले होता है। माता-पिता की हैसियत परिवार रूपी समूह में नेता की सी होती है। जब बच्चे स्कूल में प्रवेश करते हैं तो अध्यापक उनके माता-पिता की भूमिका ले लेते हैं। यह प्रवृत्ति आगे भी जीवन में जारी रहती है क्योंकि नेता तथा अन्य व्यक्ति माता-पिता का स्थान ले लेते हैं। उनमें (प्राधिकार व्यक्ति) में कुछ न कुछ पैतृक विशेषताएँ अवश्य प्रकट होती है। नेता की भूमिका माता-पिता की भूमिका के समान होती है—वे पुरस्कार, दण्ड, डाँट-फटकार, प्रोत्साहन, निदेशन आदि सभी पर अधिकार रखते हैं जिन पर पहले माता-पिता का एकाधिकार था।

पैतृक नेता दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रभुत्वशाली, अनुशासनप्रिय, दण्डकारी, आत्मवादी नेता —तथाकथित पितृ-आकृति (Father figure)। द्वितीय, पोषाहार-दाता, शरण देने वाले, समझने वाले, समर्थक, आश्वासन देने वाले नेता—मातृ-आकृति (Mother figure) होते हैं। अधिकांश नेता, चाहे किसी यौन के हों दोनों प्रकार के पैतृक नेता के संयोग होते हैं, किन्तु अधिकांश में दो प्रकार में से एक की प्रधानता होती है।

बलिदान के बकरे के रूप में (The Leader as a Scapegoat)—सामान्यतः अधिकार व्यक्ति (Authority figures) के प्रति विरोध तथा शत्रुता की भावना लोगों में देखी जाती है। व्यापारिक अधिशासियों, प्रोफेसरों, मनोचिकित्सकों, राजनैतिक नेताओं तथा अन्य ऐसे व्यक्तियों के विषय में समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में छपे कार्टून में छिपे व्यंग इसकी अभिव्यक्ति करते हैं। नेता के प्रति यह शत्रुता उनके द्वारा लगाये गए प्रतिबन्धों और नियंत्रण से मुक्त होने की इच्छा के कारण होती है। इसका कारण यह है कि सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा नेता को समाज द्वारा प्रदत्त महत्व है। सामान्य व्यक्ति नेता को प्राप्त सुख, सुविधाओं और मान सम्मान से उनके प्रति ईर्ष्यालु हो जाते हैं। किन्तु इसकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। अतः उनके द्वारा उत्तरदायित्व निर्वाह की समीक्षा करते हैं। यदि समूह के सदस्य नेता के प्रयासों के परिणामों से सन्तुष्ट नहीं होते तो उन्हें किसी की तलाश होती है जिसे वे दोषी ठहरा सकें, और जो उनका अग्रणी होता है वे उसपर दोषारोपण करते हैं।

कुछ संस्कृतियों में नेता के प्रति अधिक शत्रुता का प्रकाशन करते हैं। नेता के प्रति अनुगामियों की शत्रुता का आंशिक कारण यह विश्वास है कि नेता अपने हिस्से से अधिक पुरस्कार प्राप्त करते हैं। समूह के सदस्यों में एकता और संशक्ति तब अधिक होती है जब सभी सदस्यों में पुरस्कारों का समान वितरण होता है। गोल्डमैन, बोलेन तथा मार्टिन (1961) ने छोटे समूहों के अध्ययन में देखा कि जब

समूह में पुरस्कारों के वितरण में समता होती है और जो बिना नेता कार्य करते हैं उनका निष्पादन ऐसे समूह से अधिक होता है जिसमें नेता अतिरिक्त पुरस्कार प्राप्त करता है।

संभव है, नेता के प्रति समूह की शत्रुता-प्रकाशन योग्यता का उसके निष्पादन पर कुछ धनात्मक प्रभाव हो सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ऋणात्मक भावना के प्रकाशन का रेचक (cathartic) प्रभाव होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी ऊर्जा सर्जनात्मकता, उत्पादन, सहयोग तथा अन्य धनात्मक व्यवहार में लगाते हैं (डालर्ड तथा अन्य, 1939, मेनिनगर, 1948, बरुच, 1949) किन्तु बैण्डुरा तथा वाल्टर्स, (1963) ने इसके विपरीत परिणाम प्राप्त किए। संभव है कि नेता के प्रति समूह सदस्यों द्वारा शत्रुता का मुक्त प्रकाशन कुछ दशाओं में सहायक और अन्य में बाधक होता है। समस्या यह है कि किन परिस्थितियों में शत्रुता प्रकाशन सहायक और किनमें बाधक होता है। सभी समूहों में नेता के प्रति धनात्मक और ऋणात्मक भावनाएँ विद्यमान होती हैं, किन्तु ऋणात्मक भावनाओं के प्रकाशन की मात्रा संस्कृति के अनुसार परिवर्तित होती है। प्रजातांत्रिक मूल्य की प्रमुखता वाली संस्कृतियों में नेता के प्रति शत्रुता का अधिक प्रकाशन होता है और सत्तावादी मूल्यों वाले समाज में नेता के प्रति शत्रुता या विरोध के प्रकाशन की संभावना कम होती है।

लिपिट्ट एवं ह्वाइट का वर्गीकरण

(Lippitt & White's Classification)

इन लोगों ने अपने अध्ययनों के पश्चात् तीन प्रकार की नेतृत्व की चर्चा की है।

(1) सत्तावादी नेतृत्व (Authoritarian leadership)—जो नेता निरपेक्ष अधिकार (Absolute power) अपने में केन्द्रित रखते हैं, उन्हें सत्तावादी नेता की संज्ञा लिपिट्ट एवं ह्वाइट ने दी है। ऐसे नेता सभी महत्वपूर्ण कार्यों को अपने अधिकार में रखते हैं समूह के लिए योजनाएँ, नीतियाँ, लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयास, सदस्यों की क्रियाओं और उनके सम्बन्धों का निर्धारण भी वही करता है ऐसी समूह-संरचना का निर्माण करता है कि सदस्य गण आपस में एक-दूसरे से विचार-विमर्श का कम से कम अवसर पासकें। समूह में आने वाली सभी सूचनाएँ (सम्प्रेषण) उसी के द्वारा पास होते हैं। ऐसे समूह की समाजमितीय संरचना सितारे के समान (Star shaped) होती है।

सत्तावादी नेता कार्य को सर्वाधिक महत्व देता है; अतः लिपिट्ट एवं ह्वाइट (1939) इन्हें कार्योन्मुख (task oriented) नेता कहते हैं। वह समूह हित या जनहित की भावना से प्रभावित नहीं होता। सदस्यों से अधिक से अधिक कार्य कराकर लक्ष्यों की प्राप्ति चाहता है। वह सामाजिक सम्बन्धों की चिन्ता न करके

कार्य किये जाने को वरीयता देता है इसीलिए ऐसे नेता को "Hard task master" कहा जाता है। सारी शक्ति एवं सारे अधिकार नेता में निहित होने के कारण समूह के सदस्यों का मनोबल निम्न होता है। नेता की अनुपस्थिति में कार्य स्तर में गिरावट आती है। वह सारे कार्य अपनी स्वेक्षानुसार करता है। वह स्वभावतः जिद्दी होता है और सारे कार्यों का निर्धारण अपनी मर्जी से करता है।

(2) प्रजातान्त्रिक नेता (Democratic leadership)—ऐसे नेता लोकतन्त्र में आस्था रखते हैं। वह जनकल्याण को सबसे ऊपर रखते हैं। अतः वह जनसाधारण की भावनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं को वरीयता देते हैं। वह अपने अधिकारों को सदस्यों में वितरित करते हैं और सारी शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित रखने में विश्वास नहीं करते। सदस्यों में विचार-विमर्श और सामाजिक अन्तर्क्रिया को प्रोत्साहित करते हैं। अतः ऐसे समूह में संगठन अच्छा होता है तथा समूह में एकता और अखण्डता की भावना अधिक तथा सदस्यों में मनादरहित, सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध होते हैं। सदस्यों में सहयोग की भावना प्रबल होती है और नेता तथा सदस्यों में भी सहयोग-पूर्ण सम्बन्ध होते हैं।

प्रजातांत्रिक नेता शक्ति सम्पन्न होते हुए भी अनुगामियों के साथ मधुर और सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रखता है। वह समूह के सदस्यों को हर प्रकार का संरक्षण देता है। प्रजातांत्रिक नेता द्वारा सत्ता एवं शक्ति के विकेन्द्रीकरण के कारण समूह में सन्तोष, पारस्परिक प्रेम, सहनशीलता आदि व्याप्त होती है। समूह संरचना जाल के समान होती है जो सत्ताधारी से सर्वथा भिन्न होती है। देखें निम्न चित्र जसमें दोनों प्रकार की संरचनाएँ दर्शायी गयी हैं।

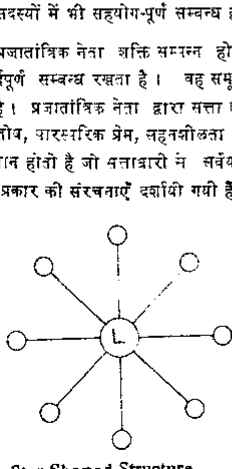

Star Shaped Structure
(सत्ताधारी नेतृत्व)

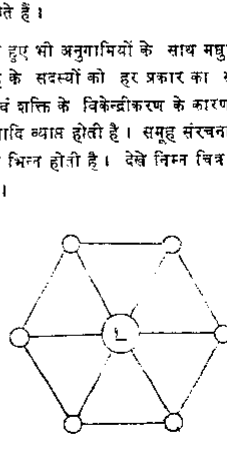

Net Shaped Structure
(प्रजातांत्रिक नेतृत्व)

यह नेता समाज में बराबरी और समाजिक न्याय लाने का प्रयास करते है।

सभी को विचार, धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराने का प्रयास करते हैं। प्रजातांत्रिक नेता साधारण जनता के द्वारा चयनित किया जाता है अतः उसकी शासन प्रणाली जन कल्याण की नीतियों पर आधारित होती है। वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में निहित होती है। जनता वह शक्ति नेता को सौंप देती है। परन्तु सत्ता की बागडोर जनता में निहित होती है। यह नेतृत्व शैली जनहित, सबको समान अवसर और सुविधा, समता, प्रशासन में जनता की भागीदारी, शिक्षा का विकास, नैतिकता का विकास आदि को बढ़ावा देती है। किन्तु इस प्रकार की नेतृत्व शैली में बहुमत को महत्व होने के कारण अनावश्यक एवं अवांछित गुटबन्दी, उत्तरदायित्व का अभाव, समय और धन का अपव्यय, जीवन में भ्रष्टाचार, शोषण, और प्रायः अयोग्यों का शासन होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर अल्लामा इकबाल ने कहा था—

जम्हूरियत[1] वह तर्ज़[2] हुकूमत है कि जिसमें
अफ़राद[3] को गिनते हैं तौला नहीं करते ॥

यह नेता कार्योन्मुख (task oriented) नहीं होते। ये सामाजिक-संवेगिक सम्बन्धों (Social-emotional relations) को वरीयता देते हैं। अतः ऐसे समूहों में कार्य की मात्रा एवं गुणवत्ता निम्न हो सकती है। किन्तु समूह के सदस्यों में पारस्परिक स्नेह, प्रेम, सहनशीलता और सहयोग की भावना प्रबल होने के कारण समूह मनोबल उच्च होना स्वभाविक है। यही नहीं वरन् नेता तथा अनुगामियों के बीच भी प्रेम और सहयोगपूर्ण सम्बन्ध होते हैं।

(3) अहस्तक्षेपी नेतृत्व (Laissez faire leadership)—फ्रांस से सर्वप्रथम ऐसे नेतृत्व का प्रादुर्भाव अठारहवीं शताब्दी में हुआ। ऐसे नेता का समूह के सदस्यों पर केवल नाम मात्र का नियन्त्रण होता है। नेता न तो अनुगामियों को निर्देश देता है न ही उनको मार्गदर्शन देता है। वह बहुधा निष्क्रिय रहता है और जन साधारण समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये क्या-क्या कार्य करें, इसका निर्धारण करने के लिये स्वतन्त्र होते हैं रेबर (Reber, 1985) ने इसके विषय में लिखा है कि "यह वह नेतृत्व शैली है जो न्यूनतम नियन्त्रण के साथ कार्य करती है। वास्तविक अहस्तक्षेपी प्रणाली में नेता द्वारा किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं किया जाता है, यहाँ तक कि किसी प्रकार की सहायता और मार्गदर्शन भी नहीं किया जाता।" ("In social Psychology it (laissez faire is used to characterize any leadership system that operates with minimum control. In true laissez faire system no control is provided by the leader not even assistance or guidance".)

---

1. जम्हूरियत = प्रजातन्त्र 2. तर्ज = प्रणाली 3. अफ़राद = व्यक्तियों।

उपर्युक्त में अनेक प्रकार के नेतृत्व की चर्चा प्रस्तुत की गई जिसमें दो अत्यधिक प्रचलित हैं—सत्तावादी नेतृत्व तथा प्रजातांत्रिक नेतृत्व। प्रजातांत्रिक नेतृत्व अधिक उभयनिष्ठ है और विश्व के अधिकांश देशों में इसी का बोलबाला है।

नेतृत्व का आविर्भाव
(Origin of Leadership)

समूह में नेतृत्व का आविर्भाव अथवा उत्पत्ति के प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक एक मत नहीं रखते। कोई समूह की जटिलता पर, समूह में संकट या अस्थिरता पर तो अन्य नेता की विफलता या व्यक्तित्व-कारकों पर बल देते हैं। कुछ समाज-मनोवैज्ञानिक नेतृत्व को आनुवंशिक अथवा जन्मजात मानते हैं जबकि अन्य इसे परिस्थिति की उपज कहते हैं।

1. आनुवंशिकता (Heredity)—प्राचीन दृष्टिकोण के अनुसार नेतृत्व जन्मजात गुणों पर आधारित था, अर्थात् समाज मनोवैज्ञानिक यह कहते थे कि नेतृत्व प्रतिभा आनुवंशिक होती है। गाल्टन (Sir Francis Galton) इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक थे जिनके अनुसार कुछ लोगों में नेतृत्व के जन्मजात गुण होते हैं और वही लोग नेता बनते हैं। वह उत्तम गुणों को लेकर जन्म लेने वाले व्यक्तियों से ही श्रेष्ठ कार्यों की अपेक्षा करता था। उसके अनुसार प्रत्येक ऐरा-गैरा, नथ्थू-खैरा नेता नहीं बन सकता। नेतृत्व के लिये श्रेष्ठ जन्मजात गुण आवश्यक थे। किन्तु आधुनिक मत गाल्टन के विचारों के विपरीत है। यदि गाल्टन के विचारों को सत्य मान लिया जाये तो इसका तात्पर्य यह होगा कि नेता की सन्तान को स्वतः नेता बनना है। कुछ दशाओं में ऐसा होता भी है किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार यह वंशानुक्रम के कारण नहीं वरन् वातावरण के कारण होता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि नेतृत्व के अनेक गुण पूर्वजों से प्राप्त होते भी हैं, तो उनके समुचित और पूर्णरूपेण विकास के लिए उपयुक्त और सार्थक वातावरण का प्राप्त होना आवश्यक है। वंशानुक्रम से मिले गुणों के विकास की दिशा एवं मात्रा वातावरण अथवा परिस्थिति–अन्य कारकों पर निर्भर करती है। भारत में जवाहर लाल नेहरू, महात्मा गाँधी, मौलाना आजाद आदि में हो सकता है नेतृत्व के जन्मजात गुण रहे हो किन्तु तत्कालीन परिस्थिति अर्थात् अंग्रेजों की गुलामी भी इन्हें नेता बनाने में महत्वपूर्ण रही होगी। अतः नेतृत्व केवल वंशपरम्परा का फल नहीं है। नेतृत्व की उत्पत्ति वंशानुक्रम तथा परिवेश की अन्तःक्रिया का परिणाम है।

2. व्यक्तित्व (Personality)—नेतृत्व के आविर्भाव में व्यक्तित्व का भी हाथ होता है। व्यक्ति में जब बुद्धि, चरित्र की दृढ़ता और शक्ति जैसे गुण विद्यमान होते हैं तो उसके नेता बनने की संभावना होती है। बोगार्डस (1925)।

बुद्धिमान व्यक्ति अभिनव परिस्थितियों में अभियोजन में सक्षम होता है। वह जटिल एक कठिन परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होता। चरित्रवान व्यक्ति में दृढ़ निश्चय और संकल्प की शक्तियाँ प्रचुर मात्रा में होती है। शक्ति रखने वाले व्यक्तियों में कार्य क्षमता अधिक होती है। अतः उनके द्वारा नेतृत्व संभालने की संभावना होती है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर बोगार्डस व्यक्तित्व गुणों को नेतृत्व का निर्धारक मानता है। इन गुणों के अतिरिक्त व्यक्तित्व के अन्य गुण जैसे दूरदर्शिता, अन्तर्दृष्टि, संकल्प एवं इच्छाशक्ति, कल्पना, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता धैर्य आदि मानसिक गुणों के अतिरिक्त कुछ शारीरिक गुण-सुन्दर, आकर्षक, दैहिक लक्षण भी आवश्यक हैं।

3. **समूह जटिलता** (Group complexity)—समूह की संरचना, आकार, लक्ष्य, कार्य आदि में ज्यों-ज्यों जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों उस समूह में नये नेतृत्व के उभरने की संभावना बढ़ती है। ऐसी दशा में प्रथम तथा द्वितीय लाइन की नेतृत्व भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार समूह-जटिलता नेतृत्व पदानुक्रम (leadership hierarchy) का विकास हो सकता है। छोटे समूहों के लक्ष्य, आवश्यकताएँ तथा आकांक्षाएँ सीमित होती हैं। किन्तु आकार बढ़ने पर आवश्यकताएँ, लक्ष्यों आदि में वृद्धि होने के कारण नेतृत्व की आवश्यकता भी बढ़ती है। सदस्यों में अन्तःक्रियाएँ भी जटिल होती हैं और समूह नये नेताओं की जरूरत का अनुभव करता है। समूह की जटिलता मुख्य रूप से आकार में वृद्धि पर निर्भर करती है।

4. **समूह में अस्थिरता** (Group Instability)—जब समूह अस्थिर होते हैं तो उनमें अशान्ति तथा अनुशासन का अभाव होता है। ऐसी स्थिति में समूह की समस्याओं के समाधान के लिये नये नेतृत्व की आवश्यकता होती है।

अस्थिर समूहों में जो व्यक्ति आगे बढ़कर समस्याओं के समाधान का प्रयास, समूह की अशान्ति को दूर करने, उसमें अनुशासन कायम करने के प्रयास करता है वह उस समूह का नेता बन जाता है क्योंकि सदस्य यह विश्वास करने लगते हैं कि वह समूह की अस्थिरता को दूर करने में सक्षम है। आरम्भ में वह अनौपचारिक रूप से समूह का पथ प्रदर्शन करता है किन्तु शीघ्र ही वह अपनी योग्यता एवं साहस के कारण औपचारिक नेता बन जाता है।

4. **समूह संकट** (Group Crises)—कभी-कभी समूह अपने लक्ष्य की पूर्ति में असफल रहता है या उसे किसी प्रकार का बाहरी शक्तियों से खतरा होता है तो इस स्थिति में समूह में नए नेतृत्व के उदय होने की संभावना होती है। यदि समूह नेतृत्व विहीन है तो उसमें नेतृत्व की आवश्यकता होती है जो बाहरी खतरों से निपटने या समूह लक्ष्यों की प्राप्ति में अग्रणी बने। समूह को संकट से उबारने

के कार्य में जो व्यक्ति सक्षम दिखाई देता है वह नेता के रूप में समूह द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेता है। हैम्बलिन (Hamblin, 1958) के अध्ययन में तीन-तीन व्यक्तियों के चौबीस समूह थे जिसमें बारह संकट ग्रस्त अथवा प्रायोगिक समूह और इतने ही नियन्त्रित समूह थे। परिणामों से ज्ञात हुआ कि नौ संकट ग्रस्त तथा तीन नियन्त्रित समूहों ने संकट ग्रस्त परिस्थितियों में अपने नेताओं को बदल दिया। निष्कर्ष के रूप में उसने कहा कि संकट कालीन परिस्थितियों में नेता का अत्यधिक महत्व होता है। यही नहीं वरन् संकट की घड़ी में नेता अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं और अनुगामियों द्वारा नेता को शीघ्र मान्यता भी प्राप्त हो जाती है। नेतृत्व परिवर्तन उस स्थिति में होता है जब सदस्य पहले से चले आरहे नेता को संकट का सामना करने या समस्याओं का समाधान करने में असक्षम मानते हैं।

समूह-संकट मात्र नेतृत्व के आविर्भाव या प्रतिस्थानापन्न (replacement) पर ही नहीं वरन् नेतृत्व के वितरण पर भी पड़ता है। हैम्बलिन (Hamblin, 1958) और क्रेच, क्रचफील्ड एवं बलैकी (Krech, Crutchfield & Ballachy, 1962) का मत है कि जब समूह अधिक खतरा महसूस करता है या संकट गहरा जाता है तो ऐसी हालत में जिस नेतृत्व का आविर्भाव होता है वह बहुधा सत्ताधारी नेतृत्व (Authoritarian leadership) होता है। इसके विपरीत जब समूह के समक्ष प्रस्तुत कार्य कठिन होता है तो सदस्य नेतृत्व सम्बन्धी कार्यों को आपस में विभक्त कर कार्य को पूरा करने का प्रयास करते हैं जिसके कारण प्रजातांत्रिक नेतृत्व का उदय होने की प्रबल संभावना होती है।

5. **अधिकृत अध्यक्ष की विफलता (Failure of authorized heads)**—जब किसी समूह का प्रधान अपने दायित्वों के निर्वाह में विफल होता है तो ऐसी दशा में नए नेतृत्व के आविर्भाव की संभावना बढ़ जाती है। अधिकृत प्रधान अथवा अध्यक्ष समूह के लिए योजनाएँ बनाने, नीति निर्धारण, विरोध के कार्य तथा ऐसे अन्य कार्यों को करते हैं। जब वह इन अपेक्षित कर्त्तव्यों की पूर्ति नहीं कर पाते तो समूह लक्ष्य प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है और फिर समूह प्रधान या अध्यक्ष का कार्यभार किसी अन्य सदस्य को सौंप देता है, अर्थात् कोई अन्य व्यक्ति नेता की मान्यता प्राप्त कर लेता है। क्रोकेट (Crocket, 1955) ने अध्ययन कर दर्शाया कि 83% असफल औपचारिक प्रधान और केवल 39% सफल औपचारिक प्रधान के स्थान पर समूह ने नए व्यक्तियों को आसीन किया।

6. **नेता की आवश्यकताएं (Needs of leaders)**—नेतृत्व की उत्पत्ति में आवश्यकताएँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उदाहरण के लिए शक्ति या सत्ता की आवश्यकता (N power), प्रतिष्ठा-आवश्यकता (N prestige), धनार्जन की आवश्यकता, प्रभुत्व की आवश्यकता आदि ऐसी ही आवश्यकताएँ हैं जो

नेतृत्व की उत्पत्ति में सहायक होती हैं। यदि किसी समूह के अधिकांश सदस्य इन आवश्यकताओं से प्रेरित होते हैं तो नेतृत्व ग्रहण करने के इच्छुक इन व्यक्तियों में स्पर्द्धा होती है। लेकिन इन आवश्यकताओं से प्रेरित व्यक्ति गिने चुने होते हैं तो आसानी के साथ नेतृत्व का आविर्भाव हो जाता है।

7. प्रभुत्वकारी अहं (Assertive Ego)—इस सम्बन्ध में हुए अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि प्रभुत्वशाली अहं वाले व्यक्ति अपने अहंभाव और संकल्प शक्ति के कारण नेतृत्व में कामयाब होते हैं। यह लोग दूसरों को नियन्त्रित करने में दक्ष होते हैं अतः अपने विचारों के द्वारा लोगों को प्रभावित कर समूह में अग्रणी बन जाते तथा अन्ततोगत्वा नेतृत्व संभाल लेते हैं।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी नेतृत्व की उत्पत्ति एवं विकास में किसी न किसी रूप में योगदान करते हैं। ऐसे कारकों में कुछ की चर्चा यहाँ उचित प्रतीत होती है—

(i) व्यक्तिगत आकर्षण (Personal attraction)—नेता बनने के लिए जिन गुणों का योगदान होता है उनमें एक व्यक्तिगत आकर्षण भी है। तात्पर्य यह है कि जिन व्यक्तियों में आकर्षण होता है उनके नेता बनने की संभावना कुछ अधिक होती है।

(ii) अनुगामियों की भूमिका (Role of followers)—नेतृत्व की उत्पत्ति एवं विकास की प्रक्रिया काफी जटिल होती है। अनुगामी भी नेतृत्व के विकास को निर्धारित करते हैं।

(iii) नये समूह की स्थापना (Formation of Newgroup)—जब समाज में किसी नए समूह का निर्माण जैसे किसी नई पार्टी की स्थापना होती है तो भी नेतृत्व की उत्पत्ति आवश्यक हो जाती है क्योंकि उस नए समूह को पथप्रदर्शक की जरूरत होती है।

(iv) क्रियाशीलता (Activeness)—अन्य बातों के समान होने पर उस व्यक्ति के नेता बनने की संभावना अधिक होती है जो समूह के अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक सक्रिय अथवा क्रियाशील होता है।

नेताओं की व्यक्तिगत विशेषताएँ
(Traits of Leaders)

नेताओं में क्या विशेषताएँ होनी चाहिए ? अथवा किन विशेषताओं के कारण कोई व्यक्ति नेता बनता है ? साधारण बुद्धि के अनुसार अनुभव एक महत्वपूर्ण विशेषता है। एफ० ई० फीडलर (1970) ने ऐसे तीन प्रयोगों के परिणामों की समीक्षा तथा ग्यारह कार्य समूहों के सुपरवाईजरों के निरीक्षण के पश्चात् यह देखा कि नेतृत्व भूमिका में बिताए गए समय तथा सुपरविजन प्रभावोत्पादकता में

कोई सार्थक सम्बन्ध नहीं प्राप्त हुआ। यद्यपि कार्य में बिताए समय तथा कुछ एक प्रकार की परिस्थितियों के प्रभावोत्पादकता में धनात्मक सहसंबंध प्राप्त हुआ किन्तु अन्त में सहसम्बन्ध ऋणात्मक था। फीडलर यह मानता है कि उसने सभी प्रकार की नेतृत्व परिस्थितियों को न्यादर्श में सम्मिलित नहीं किया था किन्तु नेतृत्व अनुभव और समूह प्रभावोत्पादकता में सभी मध्यांक सहसम्बन्ध 12 था। यदि अनुभव जो जनसाधारण के अनुसार नेतृत्व की प्रमुख विशेषता है, तो निश्चित ही सहसम्बन्ध द्वारा इसका प्रभाव प्रदर्शित होता।

फीडलर के अनुसार उसके प्रमाण अनुभव तथा प्रभावोत्पादकता में सम्बन्ध को अप्रमाणित नहीं करते; उनसे मात्र यह प्रदर्शित होता है कि प्रत्याशित प्रमाण नहीं प्राप्त हुए। नेताओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं।

1. बुद्धि (Intelligence)—सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार नेता चाहे नियुक्त किया गया हो या चुनाव के माध्यम से नेता बना हो, अनुगामियों की तुलना में अधिक बुद्धिमान माना जाता है। शोधों से भी इस तथ्य की पुष्टि हुई है। छोटे समूहों में व्यवहार तथा व्यक्तित्व विशेषताओं से सम्बद्ध शोधों की समीक्षा के उपरान्त रिचार्ड डी० मैन्न (1959) ने देखा कि नेतृत्व की विशेषताओं में बुद्धि एक प्रमुख लक्षण है।

एक अध्ययन में बुद्धि तथा नेतृत्व धनात्मक सम्बन्ध प्राप्त हुआ है। रैल्फ मे० कीसलिंग तथा रिचार्ड ए० कैलिश (1961) ने एक मापन प्रक्रिया "नेता-विहीन समूह विवेचन" (Leaderless Group Discussion) प्रणाली का उपयोग किया। इस विधि में नेतृत्व पद के आवेदकों को एक छोटे विवेचना समूह के रूप में एकत्रित किया गया। समूह में नेतृत्व का भार किसी को नहीं देते हैं। प्रेक्षक एक एकतरफा पर्दे से प्रयोज्यों का निरीक्षण करते हैं और समूह कार्य में सहायक प्रत्येक व्यवहार को व्यक्ति के निष्पादन में प्रासांक मानते हैं। यह विधि स्वभाविक नेतृत्व के विकास की अभिक्षमता का सूचक मानी जाती है। कीसलिंग तथा कैलिश के अध्ययन में नेतृत्व श्रेणी मूल्यांकन और प्रमाणिक बुद्धि परीक्षण प्राप्तांकों में सार्थक और धनात्मक सहसम्बन्ध (.35) प्राप्त हुआ। एक अन्य ऐसे अध्ययन में लिण्डग्रेन (1973) ने बुद्धि तथा नेतृत्व के बीच सम्बन्धों के पक्ष में प्रमाण दिया। इन्होंने कालेज के छात्रों, जिन्होंने विवेचना (डिस्कशन) विधि से पढ़ाए गए कोर्सेज में भाग लिया था, से एक दूसरे का नेतृत्व विभव (Leadership Potential) के आधार पर श्रेणी मूल्यांकन कराया। इस समाजमितीय माप पर छात्रों द्वारा प्राप्त मध्यमान श्रेणी तथा कालेज ग्रेड बिन्दु के औसत में पुरुष छात्रों का सहसम्बन्ध ·41 तथा महिलाओं का ·38 रहा। इस विषय में सामान्य धारणा यह है कि नेता में अनुगामियों की तुलना में सामान्य बुद्धि अधिक होती है।

2. **प्रभुत्व (Dominance)**—नेतृत्व और व्यक्तित्व विशेषताओं के बीच धनात्मक सहसम्बन्ध वाले गुणों में प्रभुत्व दूसरा प्रमुख लक्षण है। इस विषय में मैन्न (1959) का सर्वे प्रमुख है। नेतृत्व के लिए नेता में प्रमुख की विशेषता अति आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा वह अनुगामियों को प्रभावित एवं नियंत्रित करता है।

इडविन आई० मेगारगी (1969) ने कैलिफोर्निया साइकोलाजिकल इन्वेन्टरी के डामिनेन्स स्केल (Dominance Scale) का प्रशासन विश्वविद्यालय छात्रों पर किया तथा उच्च और निम्न (Top and Bottom) अंक वालों का चयन एक द्वि-व्यक्ति प्रयोग में प्रयोज्य के रूप में किया। उन्होंने एक को नेता तथा अन्य को अनुगामी की भूमिका दी। जोड़े का कौन व्यक्ति नेता की भूमिका करेगा, यह उन दो पर छोड़ दी। परिणामों से ज्ञात हुआ कि पुरुषों में उच्च प्रभुत्व वाले 75% और महिलाओं में 70% उच्च प्रभुत्व वाली प्रयोज्याएँ नेतत्व ग्रहण करती हैं, जब उन्हे निम्न प्रभुत्व वाले अपने यौन के अन्य सदस्य के साथ जोड़े में रखते है। जब उच्च-प्रभुत्व महिलाएँ, निम्न प्रभुत्व पुरुषों के जोड़े में होती हैं, तो परंपरा के अनुरूप 22% के अतिरिक्त अन्य सभी परिस्थितियों में महिलाओं ने अनुगामी भूमिका अपनाया। किन्तु यह निर्णय उच्च प्रभुत्व वाली महिलाओं ने ही किया था।

3. **अभियोजन (Adjustment)**—नेताओं की भूमिका से अनेक प्रकार की माँगे एवं प्रत्याशाएँ जुड़ी होती है जबकि अन्य सदस्यों से बहुत कम होती हैं। यदि ऐसा होता है, तो संभवत: किसी व्यक्ति के समायोजन के विषय में हमारा प्रत्यक्षीकरण उसे नेता स्वीकार करने की हमारी इच्छा को प्रभावित करता है। मैन्न (1959) ने नेतृत्व और समायोजन के सम्बन्धों पर हुए अध्ययनों की समीक्षा के बाद देखा कि सर्वेक्षित अध्ययनों में 30% अध्ययनों से नेतृत्व तथा समायोजन में धनात्मक सम्बन्धों के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार नेता की व्यक्तिक विशेषताओं में समायोजन की योग्यता आवश्यक है, अथवा समायोजन की विशेषता नेता का एक आवश्यक लक्षण है।

एक अध्ययन में स्टीफेन जे० फिट्जसिम्मान्स तथा एफ० एल० मारक्यूस (1961) ने 50 प्रयोज्यों पर एक वाक्य पूर्ति परीक्षण प्रशासित किया जो अपने भ्रातृसमूहों (fraternities) के अध्यक्ष रह चुके थे और शेष 50 छात्र वह थे जो न तो भ्रातृ-समूह और नहीं अन्य समूहों में कभी नेता रहे थे। अन्य बातों में दोनों समूह समेल (matched) थे। इस प्रक्रिया में शोधकर्त्ताओं ने दो बिल्कुल भिन्न समूहों चयनित नेता तथा गैर नेता (Elected leaders and Non leaders), इस प्रकार वे निष्कासित हो जाते हैं जिन्होंने छोटे-मोटे नेता के रूप में अस्थायी रूप

से कार्य किया था। जब 12 विभिन्न समायोजन श्रेणियों में वाक्यपूर्ति परीक्षण की अनुक्रियाओं की गणना की गई, तो इनमें 11 श्रेणियों में नेता अधिक समायोजित थे। परिणामों से यह भी ज्ञात हुआ कि नेताओं में गैर नेताओं (non leaders की अपेक्षा स्नायुविकृत गुण कम थे। शोधकर्त्ताओं ने निष्कर्ष प्राप्त किया कि ऋणात्मक व्यक्तित्व शीलगुणों के अभाव में नेतृत्व का भूमिका निर्वाह अधिक प्रभावोत्पादक होता है, क्योंकि ऋणात्मक व्यक्तित्व शीलगुण नेतृत्व सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन में बाधक होते हैं।

डेविड ओ० मोबर्ग (1953 a, b) ने भी अपने अध्ययनों द्वारा नेतृत्व तथा समायोजन के बीच धनात्मक सम्बन्धों का सत्यापन किया है। मोबेल के अनुसार जो लोग अपने गिरजा में नेतृत्व कर चुके थे, नेतृत्व न करने वालों से वृद्धावस्था में अधिक अच्छा समायोजन करते हैं।

यह तथ्य कि नेता में अच्छे समायोजन की प्रवृत्ति होती है किन्तु इसका आवश्यक अर्थ यह नहीं है कि उनमें अधिक अन्तर्दृष्टि होती है। फ्रेड फीडलर (1967) के अनुसार नेता का अपने व्यवहार का प्रत्यक्षीकरण बहुत शुद्ध नहीं होता।

4. **सक्रियता (Activity)**—लाना तथा अन्य (1960) ने देखा कि जो लोग विवेचनात्मक क्रिया में अधिक सक्रिय थे, वे समूह द्वारा नेता के रूप में प्रत्यक्षीकृत किए जाते थे। शोधों द्वारा यह विचार समर्थित है कि समूह चाहे कुछ भी करे, नेता के भागग्राहिता की मात्रा उच्च होती है। हेज, मेल्जर, तथा बूमा (1968) ने समूह में स्वर-क्रिया (Vocal activity) सम्बन्धी साहित्य की समीक्षा के बाद यह बताया कि समूह सबसे उच्च संस्थिति वाला व्यक्ति सबसे अधिक सक्रिय होते हैं, और प्रायः समूह द्वारा नेता चुने जाते हैं।

चार्ल्स जी० मारिस तथा रिचार्ड हैकमैन (1969) ने अनेक प्रकार के कार्यों में रत 3 सदस्यों वाले समूहों का अध्ययन किया। दो तिहाई समूहों में उच्चतम भागग्राहिता वाले सदस्य का प्रत्यक्षीकरण नेता के रूप में हुआ। इस प्रकार के व्यक्तियों में वे सभी व्यवहार सम्बन्धी लक्षण पाए जाते हैं जो सफल नेता के व्यवहार में होते हैं—समूह के विचारक, वास्तविक नेता, सर्जनात्मक व्यक्ति, समूह विवेचन में अग्रणी, सदस्यों के मत को प्रभावित करना, दूसरों के साथ सहयोगपूर्ण तथा दूसरों के बोलने के समय टोकते हैं।

5. **अनानुरूपता (Nonconformity)**—अब तक इस सन्दर्भ में चर्चित अध्ययन सामान्य दृष्टिकोण के अनुरूप हैं। अधिकांश लोगों को यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि नेता सामान्य व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान और प्रभुत्वशाली तथा कम स्नायुविकृत (Neurotic) होते हैं। किन्तु इस पर अवश्य आश्चर्य होगा

कि अन्य व्यक्तियों की तुलना में नेता, मानकों से अधिक विचलित होते हैं। विचलनशीलता में मनोव्याधिकीय निहित प्रतीत होती है जो कि इस दृष्टिकोण से असंगत है कि नेता का समायोजन अच्छा होता है।

अनेक अध्ययन संकेत देते हैं कि अन्य लोगों की अपेक्षा नेता मानकीय दबाव से अधिक मुक्त होते हैं। एक अन्य अध्ययन में सदस्यों के अनुपालक और अननुपालक व्यवहार वाले उपसमूह (Cliques) से प्रदर्शित हुआ कि नेता तथा निम्न संस्थिति सदस्य समूह के मानकों के प्रति कम समरूपता दिखाते हैं। इसके विपरीत मध्यम संस्थिति वाले सदस्य सर्वाधिक समरूप होते हैं (हार्वे तथा कोन्स्लावी, 1960)। रोनाल्ड एस० विल्सन (1960) ने भी हार्वे के परिणामों की पुष्टि की।

इन परिणामों से यह ज्ञात होता है कि नेता तथा निम्न संस्थिति-सदस्य-दोनों अपेक्षाकृत समूह दबाव से मुक्त होते हैं अथवा कम समरूप होते हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि नेता अन्य सदस्यों की तुलना में कम स्नायुविकृत (Neurotic) होने के कारण, समूह की सेवा में अपनी स्वतन्त्र चिन्तनशीलता का अधिक उपयोग करते हैं, जबकि निम्न संस्थिति वाले इस योग्यता में न्यून होते है। समूह के उच्च श्रेणी सदस्य विचलनशील विचारों को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि समूह के अन्य सदस्य उससे किसी प्रकार के विघ्न का अनुभव नहीं करते जबकि निम्न संस्थिति वालों ने या तो विचलित व्यवहार के प्रकाशन की उन विधियों को या तो सीखा नहीं या उनका उपयोग नहीं करना चाहते। समूह की एकता एवं अखण्डता के प्रति समूह के सदस्यों से नेता कहीं अधिक चिन्तित होते हैं। छोटे समूहों के एक अध्ययन में अन्तर्क्रिया के अध्ययन से विदित हुआ कि वे अन्य की तुलना में समूह के प्रति अधिक सहमति व्यक्त करते हैं तथा समूह तनाव को घटाने का प्रयास अधिक करते हैं (मैक फ्लिंटाक, 1963)। नेता, संभवतः समूह की एकता और संशक्ति को बनाए रखने तथा असमरूप विचार एवं व्यवहार की अभिव्यक्ति में तार्किक सन्तुलन बनाए रखते हैं। वे समूह की एकता और अखण्डता के बारे में कोई समझौता नहीं करते। इस लक्ष्य के लिए वे यथासंभव विचलनशील व्यवहार से बचने का प्रयास करते हैं।

6. सामाजिक दूरी (Social Distance)—निःसन्देह नेता समूह की एकता, अखण्डता और संशक्ति को सर्वोपरि रखते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे समूह के सदस्यों के साथ निकटता एवं घनिष्टता के पक्षधर होते हैं। अनेक अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि अत्यन्त प्रभावशाली और प्रभावपूर्ण नेता अपने तथा अपने समूह के सदस्यों के बीच सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दूरी किसी न किसी मात्रा में बनाए रखते हैं। कार्य समूहों में विशेषकर यह देखा जाता है।

फ्रेड ई० फीडलर (1958) ने अनेक प्रकार के कार्य समूहों की प्रभावोत्पादकता के अध्ययन में हाई स्कूल बास्केट बाल में सफल तथा असफल टीमों, सर्वे टीमों, वायु सेना बम वर्षकों, थलसेना के टैंक चालकों, सहकारी समितियों आदि की तुलना किया। उन्होंने परिणामों से निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न सफलता मापों से सुपरवाइजरों तथा अन्य कर्मियों के बीच मनोवैज्ञानिक दूरी धनात्मक सहसम्बन्ध रखती है। उनके अनुसार इस प्रकार का सम्बन्ध प्राधिकार व्यक्ति को अधिक वस्तुगत बनाते हैं, जिसके कारण वह अपने मातहतों (Subordinates) के प्रति सांवेगिक लगाव के विकास से बचते हैं और अधिक उत्तम अनुशासन और अधिक कारोबारी दृष्टिकोण अपनाते हैं। उसने यह भी स्पष्ट किया कि यह निष्कर्ष केवल कार्य समूहों में ही लागू होते हैं। मात्र सामाजिक दूरी, समूह की सफलता का भविष्य-कथन करने में अपने आप में अपर्याप्त है, क्योंकि समूह के अन्य सदस्यों द्वारा नेता की स्वीकृति आवश्यक है इसके कारण सदस्यों में उच्च मात्रा में कार्योन्मुखता की प्रत्याशा की जाती है क्योंकि वे संभवतः नेता द्वारा अनुशासन लागू करने के प्रयास को स्वीकार करने के अनिच्छुक होते हैं। किन्तु प्रदत्त कार्य के सफल निष्पादन के प्रति वचन बद्ध होते हैं।

नेताओं में संरचना पहल बनाम कन्सीडरेशन

(Structure Initiation versus Consideration in Leaders)

फीलडर के शोध परिणाम परम्परागत विचारों का समर्थन करते हैं कि सुपरवाइजर का आदेश, निर्देश, पुरस्कार तथा अनुशासन सम्बन्धी कार्यों को करना चाहिए अन्यथा उनका प्रभाव नहीं स्थापित होता। किन्तु इस प्रारुप की मनोवैज्ञानिकों ने कड़ी आलोचना की है। इसी प्रकार कर्मचारी सम्बन्धों के क्षेत्र में कार्यरत विशेषज्ञों ने भी आलोचना करते हुए कहा है कि अधिक, जनतान्त्रिक, अनुमतिशील (Permissive) और व्यक्ति-उन्मुख प्रकार के नेता सर्वोत्तम परिणाम अर्थात् अधिक सफलता प्राप्त करते हैं। बाद के दृष्टिकोण ने यह संकेत 1920 से 1939 के बीच शिकागो हार्थोर्न विद्युत कंपनी में हुए अध्ययनों से किया है (होमैन्स, 1965; रेथलिसबर्जर तथा डिकन्स, 1939)।

आलपोर्ट के अनुसार नेता में निम्न 19 गुण होते हैं।

1—प्रभाविता (Ascendance)

2—शारीरिक शक्ति (Physical Strength)

3—फुर्तीलापन (High Mobility)

4—मृदुवाणी (Tonus)

5—सीधी उग्रचाल (Erect Aggressive Carriage)

6—आन पर दृढ़ (Tenacity)
7—स्पष्ट वादिता (Face to Face Address)
8—संयम (Restraint)
9—दुर्बोधता (Inscrutability)
10—शक्ति की परिपूर्ति (Reinforcement of Energy)
11—व्यापक कार्य (Expansiveness in Field of Action)
12—उच्च बुद्धि (High Intelligence)
13—व्यापक समझ (Understanding)
14—सामाजिक उत्तेजना के प्रति सजग
(Keenly Susceptible to Social Stimulation)
15—चतुर (Tactful)
16—उत्साह (Zeal)
17—सामाजिक कार्य में संलग्नता (Social Participation)
18—चरित्र (Character)
19—उदीरण (Drive)

इसी तरह बर्नार्ड ने नेतृत्व के 31 शीलगुणों तथा टीड ने 10 गुणों की चर्चा की है। इन सभी सूचियों में कुछ विशेषताएँ बार-बार दुहरायी गयी हैं।

हाथोर्न (Hanthorne) अध्ययन

इस अध्ययन में तीन मुख्य क्रियायें हुई :

(1) कार्य के विषय में कर्मियों की अभिवृत्ति जानने के लिए साक्षात्कार और पूछताछ (2) कर्मियों के दलों में अर्न्तव्यक्तिक सम्बन्धों और काम की आदतों के विषय में निरीक्षण; और, (3) कार्य व्यवहार, अर्न्तव्यक्तिक सम्बन्धों, तथा पाँच महिलाओं के कार्य के उत्पादन का अध्ययन।

शोध से ज्ञात हुआ कि अन्य चीजों के अलावा, व्यवस्था के विचार और स्टाफ के विषय में कर्मियों की कार्य के प्रति अभिवृत्ति और कर्मियों की वास्तविक अभिवृत्ति में पर्याप्त अन्तर था। उदाहरण के लिये मैनेजमेन्ट का यह मानना था कि कर्मियों का प्राथमिक प्रेरक आर्थिक था अतः ऐसी वेतन अनुसूची की व्यवस्था थी कि वेतन में वृद्धि उत्पादन वृद्धि पर निर्भर थी। कर्मियों में इस पर सहमति हो गई कि सामान्य कार्य दिवस का कार्य कितना होना चाहिए और उत्पादन को उसी के अनुसार सीमित कर दिया। उनके समक्ष व्यक्ति की सम्प्राप्ति की अपेक्षा समूह की अखण्डता और संशक्ति अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य थे और कर्मियों के कार्य परिस्थिति के संरचना में मैनेजमेन्ट (प्रबंधतन्त्र) ने इसकी संभवतः उपेक्षा कर दी थी।

अन्य कंपनियों के प्रबंधकों की तरह, हाथोर्न कंपनी के प्रबंधकों का भी विचार था कि मजदूरी पर नियंत्रण के द्वारा वे कर्मियों के व्यवहार को प्रभावित कर सकते थे। किन्तु कर्मियों ने इस नियन्त्रण का प्रभाव न लेकर प्रबंधकों की दृष्टि से बोझल पुरस्कार (समूह अखंडता) को महत्व दिया।

भौतिक पुरस्कार की सापेक्षिक महत्व हीनता का प्रदर्शन रिले असेंबलीज में कार्यरत महिलाओं की छोटी-छोटी टीमों पर हुये अनेक शृंखलाबद्ध प्रयोगों के द्वारा भी हुआ। इनके व्यवहार के निरीक्षण की साढ़े चार वर्षों की अवधि में इस समूह की कार्य दशाओं में अनेक प्रकार के हस्तादिकरण किये गये थे। प्रयोगीकरण के परिणाम चकित करने वाले थे : चाहे कार्य दशा को सुगम करने हेतु विश्राम मध्यान्तरों की संख्या और अवधि में वृद्धि की गई या नहीं, उत्पादन में वृद्धि आई। इसी प्रकार विश्राम मध्यान्तरों की आवृत्ति को और घटाकर कार्य दशा को अनुगम करने का कोई कुप्रभाव उत्पादन पर नहीं पड़ा था। जब महिलाओं से उनके उच्च उत्पादन के कारणों के बारे में पूछा गया तो वे स्वयं कुछ स्पष्ट न बता सकी ! वे जानती थीं कि वे अधिक उत्पादनशील हैं, यद्यपि किसी प्रकार नियमित कार्य परिस्थितियों की तुलना में प्रायोगिक परिस्थितियों में अधिक उत्पादन सुगम था। प्रयोज्याओं के अनुसार स्पेशल समूहों में कार्य करने में उन्हें मजा आता था तथा सुपरवाइजरों की अनुपस्थिति में कार्य करना अधिक पसन्द था।

कुछ अन्य भिन्नताएँ भी उत्पादन वृद्धि में योगदान करती हुई प्रतीत होती हैं। एक बात तो यह थी कि किसी परिवर्तन के पहले सर्वोच्च सुपरवाइजर, कर्मियों से विमर्श करते थे। इसके अतिरिक्त एक अन्य ऐसा कारण यह था कि कर्मियों को कार्य अवधि में स्वतन्त्र होकर बातचीत करने पर रोक नहीं थी जो कि नियमित कार्यवधि में होती है। उन्हें प्रतिदिवस की दर से पारिश्रमिक दिया जाता था चाहे उनका उत्पादन कुछ भी हो। शोधकर्ताओं के निकट सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि महिलाओं (प्रयोज्याओं) को आभास था कि वे महत्वपूर्ण प्रयोग में भाग ले रही हैं। इसने प्रायोगिक कार्य में उनकी रुचि बढ़ा दी। उनकी ओर ध्यान दिया गया और हम जानते हैं कि ध्यान की आवश्यकता एक प्रबल अभिप्रेरक शक्ति है। ध्यान की आवश्यकता की पूर्ति और उनकी रुचियों का ध्यान जो प्रायोगिक परिस्थितियों में नहीं रखा जाता था। इस प्रकार प्रायोगिक परिस्थिति महिला कर्मियों (प्रयोज्याओं) की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की तृप्ति के कारण अधिक संतोषप्रद थी।

अन्तर्राष्ट्रीय हार्वेस्टर अध्ययन

एक संगठन जिसने अपने सुपरवाइजरों के प्रशिक्षण प्रोग्राम में "मानवीय सम्बन्धों" का उपयोग किया वह इन्टरनेशनल हार्वेस्टर कम्पनी थी। फोरमैनों का

अध्ययन किया क्योंकि सुपरवाइजरी कार्य वे ही करते थे। यह समझा जाता था कि इस स्तर पर सुपरवाइजरों के व्यवहार और अभिवृत्ति का कर्मियों के मनोबल, सन्तुष्टि, तथा उत्पादन पर अधिकतम प्रभाव पड़ता है।

जब यह प्रशिक्षण प्रोग्राम चल रहा था, ओहायो स्टेट यूनिवर्सिटी का परसोनेल रिसर्च बोर्ड उस समय इन्टरनेशनल हार्वेस्टर में सुपरवाइजरी प्रभावोत्पादकता के अध्ययन में लगा हुआ था। बोर्ड द्वारा लगाए गए मनोवैज्ञानिक, सुपरवाइजरी नेतृत्व के दो प्रतिमानों के अध्ययन करने में रुचि रखते थे। इनमें से एक को (Consideration) और अन्य को संरचना-पहल (Structure Initiation) कहा गया। व्यवहार के (Consideration Pattern), जनतांत्रिक, अनुमतिशील, ध्यानपूर्ण और व्यक्ति-उन्मुख अभिवृत्तियों के अनुरूप होता है, जबकि संरचना पहल (Structure initiation), संगठन, नियोजन, निदेशन और आलोचक अभिवृत्तियों की योग्यता के अनुरूप होता है।

(Consideration) की ओर उन्मुख नेता का प्रमुख कार्य समूह के सदस्यों की मनोवैज्ञानिक और सांवेगिक आवश्यकताओं की पूर्ति होता है। इसके विपरीत संरचना-पहल (Structure initiation) को प्राथमिकता देने वाले नेता कार्य पूरा करने पर बल देते हैं। यद्यपि दोनों विमाएँ विरोधी प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में स्वतन्त्र हैं और—·01 सहसम्बन्ध रखती हैं। इसका अर्थ है कि नेता दोनों विमाओं से सम्बद्ध अभिवृत्तियाँ प्रदर्शित कर सकते हैं। (स्टागडिल, तथा कून्स 1957)।

परसोनेल रिसर्च बोर्ड ने स्पेशल प्रशिक्षण का मूल्यांकन किया। परिणाम उनके लिए बहुत आशाजनक नहीं थे जो यह मानते थे कि ऐसे विशेष पाठ्यक्रम सुपरवाइजरों के व्यवहार और मूल्यों में परिवर्तन ला सकते हैं। (Fleishman, Harris, and Butt (1955), ने दो सप्ताह के विशेष प्रशिक्षण अवधि के पूर्व तथा पश्चात एक अभिवृत्ति प्रश्नावली प्रशासित की। इसके दो से दस माह बाद अनुवर्ती-क्रिया अध्ययन हुआ। परिणामों से ज्ञात हुआ कि अभिवृत्तियों की दिशा प्रशिक्षण अवधि में (Consideration) की ओर उन्मुख होती है किन्तु प्रभाव अधिक समय तक बरकरार नहीं रहा। कुछ महीने बाद काम पर लौटने वाले फोरमैनों का (Consideration) विमा पर मूल्यांकन न्यून तथा संरचना-पहल (Structure initiation) पर विशेष -प्रशिक्षण के पूर्व की अपेक्षा उच्च या इस प्रभाव की पुष्टि फोरमैनों के व्यवहार से भी हुई। शोधकर्त्ताओं ने जब समस्या का गहन अन्वेषण किया तो ज्ञात हुआ कि फोरमैनों ने मूल रूप में दो प्रकार की परिस्थितियों में कार्य किया। उत्पादन से सम्बद्ध फोरमैनों ने संरचना-पहल की ओर उन्मुखता की प्रवृत्ति दर्शायी। अपने सुपरवाइजरों से उच्चतम श्रेणी मूल्यांकन

प्राप्त करने वाले उत्पादन-फोरमैनों ने संरचना-पहल (Structure initiation) में उच्च अंक तथा (Consideration) में न्यून अंक प्राप्त किए। इसके विपरीत अन्य कार्यों में लगे फोरमैन ने संरचना-पहल में न्यून अंक तथा (Consideration) में उच्च अंक की प्रवृत्ति अभिव्यक्त की तथा उन सुपरवाइजरों के अधीन कार्य किया जिनके प्राप्तांक की दिशा उन जैसी थी। प्रत्याशा के अनुरूप कर्मियों ने उन फोरमैनों को वरीयता दी जो (Consideration) में उच्च (Structure initiation) में न्यून थे। (Structure initiation) में उच्च फोरमैनों के मातहत कर्मियों में अनुपस्थिति अधिक थी और उनके द्वारा शिकायतें भी अधिक दर्ज कराई गईं।

शोधकर्त्ताओं ने निष्कर्ष प्राप्त किया कि मानवीय सम्बन्ध-प्रशिक्षण का उस समय बहुत कम प्रभाव होता है जब प्रशिक्षार्थी ऐसे सुपरवाइजर के साथ कार्य करते हैं जो मानव सम्बन्धों की अपेक्षा उत्पादन की चिन्ता अधिक करते हैं, इसलिये किसी संगठन में अभिवृत्तियों में वास्तविक परिवर्तन शिखर (Top) के लोगों से आरम्भ होना चाहिये। उनका एक अन्य निष्कर्ष यह भी था कि मनोबल को महत्व देने वाले नेता, उत्पादन को प्राथमिकता देने वाले नेताओं की अपेक्षा कम निपुण होते हैं। माइकेल बीर (1966) ने पन्द्रह हजार बीमा कर्मियों का सर्वे कर यह निष्कर्ष दिया कि वह सुपरवाइजर जो मातहतों द्वारा (Considerate) के रूप में प्रत्यक्षित किये गये, उनमें पहल की प्रवृत्ति को प्रभावपूर्ण तौर पर बढ़ाने में सफल हुये। इस प्रकार बीर ने (Consideration) और (Structure initiation) के संयोग की पुष्टि की।

सबसे कम पसंद सहकर्मी के प्रति नेता की अभिवृत्ति
(Leaders' Attitudes toward their "Lest Preferred Coworkers")

फीडलर के शोध ने दर्शाया कि अधिक निपुण समूह के नेता तथा उसके साथियों के बीच किसी मात्रा में सामाजिक दूरी पाई जाती है। यह परिणाम इस विचार को बल देता है कि उत्पादन समूहों की कुशल कार्यशीलता से लिए संरचना पहल (stucture initiation) आवश्यक है। समूह को संरचना प्रदान करने में मनोवैज्ञानिक या सामाजिक दूरी एक प्रमुख कारण है और उत्पादन कार्य में ऐसे फोरमैन (नेता) को कर्मी अधिक पसन्द करते हैं जो संरचना में पहल के द्वारा पर्याप्त मात्रा में दूरी बनाए रखता है।

फीडलर (1965) ने मनोवैज्ञानिक दूरी के मापन की अपनी विधि की ओर सूक्ष्म बनाया। उसने इस हेतु दो प्रकार के सांख्यिकीय मापों का संकेत दिया (अ) समूह के अत्यधिक पसन्द और न्यूनतम पसन्द सहकर्मियों में नेता द्वारा भिन्नता के

प्रत्यक्षीकरण का माप, और (ब) सबसे कम पसन्द सहकर्मी के प्रति नेता की अनुकूल भावना की मात्रा द्वारा। सामान्य तौर पर वह नेता जो (Consideration) उन्मुख होते हैं वे अपने सबसे कम पसन्द सहकर्मी के प्रति अनुकूल भाव रखते हैं, और इस प्रकार अत्यधिक और सबसे कम पसन्द सहकर्मी में नेता मित्रता का प्रत्यक्षीकरण नहीं करते। दूसरी ओर संरचना-पहल की ओर उन्मुख नेता में सबसे कम पसन्द सहकर्मी के प्रति ऋणात्मक भावना होती है।

फीडलर ने कोई आठ-सौ विभिन्न संकृत्य-समूहों के निष्पादन का अध्ययन किया और देखा कि जिन नेताओं का न्यून पसन्द सहकर्मी का (Least Preferred Coworker, LPC) प्रासांक न्यून होता है, सामान्यत: अधिक प्रभावोत्पादक होते हैं। इसने यह भी ज्ञात किया कि समूह के सदस्यों के साथ नेता के सम्बन्धों को ध्यान में रखना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में अन्य बातें भी महत्वपूर्ण हैं—कार्य के संरचित होने की मात्रा या कार्य में विशिष्टता की मात्रा, और नेता की शक्ति की मात्रा आदि। फीडलर ने इन तीन दशाओं को नौ विभिन्न व्यवस्थाओं में विभक्त किया जिनका श्रेणीकरण उनसे नेता को प्राप्त सुविधाओं की मात्रा के अनुसार किया। नेता और समूह में अच्छे सम्बन्धों को सबसे अनुकूल परिस्थिति मानकर, उस समूह को सर्वाधिक संरचित समस्या दी गई। उस समूह को उच्च मात्रा में शक्ति प्राप्त थी। उसकी सफलता की संभावना का मोल उस समय हो सकता है जब एल० पी० सी० स्कोर उच्च होता है। जो नेता एल० पी० सी० में न्यून होते हैं अथवा जो अधिक नियन्त्रण रखते हैं सक्रिय होते हैं और संरचना-पहल की ओर उन्मुख होते हैं, वे अधिकांश कार्य परिस्थितियों में अधिक प्रभावोत्पादक होते हैं। दूसरी ओर एल० पी० सी० में उच्च नेता जो अविभेदनशील और अनुमतिशील (Permissive) होते हैं, केवल दो दशाओं में ही प्रभावोत्पादक होते हैं—जब नेता-समूह सम्बन्ध अच्छे हों, कार्य-संरचना न्यून हो, और नेता की शक्ति दुर्बल हो, और अन्य वह जब नेता की शक्ति खराब, कार्य संरचना उच्च, और नेता की शक्ति उच्च होती है। जब नेता-समूह सम्बन्ध खराब कार्य संरचना न्यून, तथा नेता की शक्ति उच्च होती है तो नेता के एल पी सी और समूह प्रभावोत्पादकता में लगभग शून्य सम्बन्ध होता है। जार्ज ग्राएन तथा अन्य (1970) ने फीडलर प्ररूप की आलोचना की और कहा कि उनके अपने अध्ययन समेत अनेक अध्ययनों के परिणामों से फीडलर के परिणामों की पुष्टि नहीं हो सकी।

फीडलर (1971 a) ने इन आलोचनाओं का खण्डन किया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु इन प्रयोगों का विश्लेषण तथा अन्य प्रयोगों और क्षेत्र अध्ययनों से (जो इसने (1964) प्ररूप के पश्चात किये) फीडलर के अनुसार इन अनुवर्ती अध्ययनों

में क्षेत्र अध्ययन के परिणाम प्ररूप के भविष्यकथन के काफी समान रहे। इसी प्रकार प्रयोगशाला अध्ययनों से भी उसके पूर्व परिणामों की पर्याप्त पुष्टि हुई। फीडलर तथा अन्य (1970) द्वारा उसके परिणामों की पुष्टि की असफलता अंशतः ऐसे प्रयोगशाला अध्ययनों का अनुप्रयोग है जिनमें दशाओं का हस्तादिकरण पूर्ण रूप में उनके हस्तादिकरण के समान नहीं था। प्रयोगशाला अध्ययन में एक अतिरिक्त समस्या यह है कि प्रयोगकर्ताओं को नेता की भूमिका हेतु प्रयोज्यों का चयन यादृच्छिक रीति से करना चाहिए, जबकि स्वभाविक दशाओं या परिस्थितियों में नियुक्त या चुनाव के पूर्व नेता में कुछ व्यक्तिगत विशेषता हो सकती है।

फीडलर यह मानता है कि उसके प्ररूप (Model) के पीछे निहित प्रत्यय में जो जटिलतायें अब व्यक्त होती हैं, उसके शोध की आरम्भिक अवस्थाओं में व्यक्त नहीं हुई। उदाहरण के लिए समूहों में उन भिन्नताओं का अन्वेषण वांछित प्रतीत होता है जो व्यक्ति और समूह के लाभ के लिये पाई जाती हैं

प्ररूप (Model) तथा क्षेत्र अध्ययनों के अधिकांश सहसम्बन्धों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि वे ऋणात्मक हैं—न्यून एल पी सी प्राप्तांक वाले नेता के समूह अत्यधिक प्रभावोत्पादक होते हैं। इन की परीक्षा जान सैम्पुल तथा युरलोव विल्सन (1965) ने एक विशेष विधि द्वारा की। इन्होंने मनोविज्ञान के स्नातक कक्षा के छात्रों की चौदह टीमें ली जिनमें छः का नेतृत्व ऐसे छात्र नेताओं ने किया जो एल पी सी में न्यून तथा शेष आठ में उच्च थे। उन्हें दो महीने में प्रदत्त समस्या-चूहों में क्रियाप्रसूत अनुबन्धन की स्थापना करना था। ऐसी अनुबन्धन की दस समस्यायें उन्हें दी गई थी। टीमों के निष्पादन के आधार पर टीमों के सदस्यों को ग्रेड्स प्रदान किये जाते थे आठवां कार्य (समस्या) प्रतिबल की दशा में दिया गया—क्योंकि 90 मिनट का समय दिया गया था जो अन्य समस्याओं में दिये गये समय से 15 मिनट कम था। साथ इस कार्य के आधार पर ही कोर्स के अन्तिम अंक प्रदान किए जाने थे। न्यून एल पी सी नेताओं वाले समूहों ने रूटीन (Routine) कार्य के दौरान थोड़ा उत्तम कार्य किया किन्तु अन्तर सांख्यिकीय आधार पर सार्थक नहीं था। प्रतिबलपूर्ण कार्य की दशा में अन्तर, न्यून एल पी सी नेताओं के पक्ष में सार्थक था।

सैम्पुल तथा विल्सन ने प्रत्येक टीम के कार्य को तीन चरणों में विभक्त किया। उच्च तथा न्यून एल पी सी नेताओं में मुख्य भिन्नता आरंभिक चरण में प्रगट हुई जिसमें निम्न एल पी सी (LPC) नेता ने उच्च एल पी सी नेता की अपेक्षा मातहतों को अधिक दिशा निर्देश दिया तथा अधिक कार्योन्मुख विवेचना उद्दीप्त किया। दूसरी ओर उच्च एल पी सी नेता, आरंभिक चरण में अपने समय का

अधिक प्रतिशत धनात्मक सामाजिक-सांवेगिक व्यवहार में व्यतीत करते हैं। समस्या के चरण में, जब चूहे को वास्तव में अनुबंधित किया जा रहा था, तो उच्च एल पी सी (LPC) नेताओं की अपेक्षा निम्न एल पी सी (LPC) नेताओं द्वारा दिये गये निर्देश की मात्रा वास्तव में कम थी, जबकि धनात्मक सामाजिक-सांवेगिक अनुक्रियायें उच्च थीं। तृतीय चरण में निम्न एल पी सी (LPC) नेताओं द्वारा दिये गए संसूचन घटते रहे, जबकि उच्च एल पी सी (LPC) नेताओं के सुझावों की संख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति प्रकट हुई।

दो प्रकार के नेताओं के सामान्य व्यवहार प्रतिमान उलट दिये गये। निम्न एल पी सी (LPC) नेता आरंभिक नियोजन चरण में समूह के निर्देशन और नियन्त्रण पर ध्यान देता है तथा बहुत आराम और प्रसन्नता का अनुभव प्रयोगविधि में करता है। दूसरी ओर उच्च एल पी सी नेता नियोजन चरण को अच्छी समूह-उत्पन्न करने में व्यतीत करता है। अतः प्रयोग अधिक योजनाबद्ध नहीं रह सका। दो प्रकार नेताओं ने कार्य का प्रत्यक्षीकरण विभिन्न रूपों में किया। निम्न एल पी सी नेता का कार्य का प्रत्यक्षीकरण, सतर्क नियोजन वाले कार्य के रूप में हुआ अतः उसने इस चरण पर ध्यान दिया। उच्च एल पी सी नेता ने कार्य को सामाजीकृत करने के अवसर के रूप में देखा अतः तदनुसार उसने नियोजन समय का सदुपयोग किया। जब प्रयोग करने का समय आया, तो समूह इसके लिये भली प्रकार तैयार न था और असंगठित था। प्रकार्यता का रूटिन (Routine) कार्यविधि में थोड़ा प्रभाव था क्योंकि प्रतिबल न्यून था और आवश्यक सुधार तथा समायोजन के लिए पर्याप्त समय था। प्रतिबल समस्या की अवधि में, निम्न एल पी सी नेता के श्रेष्ठ नियोजन का प्रभाव स्पष्ट था जबकि उच्च एल पी सी नेता की अपेक्षाकृत हीन नियोजन के परिणाम स्वरूप निष्पादन घटिया था। यही नहीं उच्च एल पी सी नेता के समय तीसरे चरण में भी समस्या थीं, टीम के हर सदस्य का कार्य पृथक था अतः वे कक्षा में एक दूसरे से हट कर बैठ गए। यद्यपि प्रतिबल समस्या के दौरान सदस्य एक दूसरे के निकट रहने के लिये बाध्य थे। एल पी सी में उच्च नेता का समूह निम्न एल पी पी नेता की अपेक्षा सामाजीकरण से बचने मे अधिक कठिनाई अनुभव करते हैं।

सैम्पुल एवं विल्सन के प्रयोग फीडलर के निष्कर्षों का समर्थन करते है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय हार्वेस्टर स्टडी के परिणामों से संगत और वास्तव में हाथोर्न स्टडी से भी असंगत नहीं है। यह प्रतीत होता है कि सभी तीनों अध्ययन प्रदर्शित करते हैं कि (Consideration) और उच्च एल पी सी समूह के रूटीन या दैनिक कार्यों के निष्पादन में बाधक नहीं थे। बाद के दो अध्ययन संकेत देते हैं कि यदि नेता (Considerate) होता है तो समूह का मनोबल उच्च होता है। ऐसी दशा में

कार्य करने के लिए न्यूनतम ध्यान की आवश्यकता होती है और समाजीकरण न केवल बाधक वरन् कार्य में सरसता को घटाता है। इस प्रकार मालिक Employer) को उत्पादन में लाभ और कर्मियों को सामाजिक पुरस्कार के रूप में लाभ होता है। कठिनाई केवल प्रतिबल की दशा में आती है। जब समय कम और उत्पादन में वृद्धि की मांग अधिक होती है, तो सम्पूर्ण समूह को कार्योन्मुख होना आवश्यक होता है। ऐसे समय में उच्च एल पी सी नेता को नई भूमिकाओं में विचलित होने में कठिनाई होता है। इसी प्रकार सामाजिकरण की ओर प्रबल रूप में उन्मुख समूहों को भी लक्ष्य की ओर पुनः उन्मुख होने में कठिनाई होती है। सम्भवतः वह नेता जो संरचना-पहलू और (Consideration) दोनों में उच्च होते हैं, वे कार्य की रूटिन (Routine) तथा प्रतिबल दशाओं में कम कठिनाई अनुभव करते हैं। समूह के सदस्य ऐसे नेताओं से अधिक संकेत ग्रहण करने और प्रतिबल की दशा में परिस्थिति पुनः संरचना को स्वीकार करते हैं। उच्च एल पी सी नेता प्रतिबल परिस्थिति के स्वरूप का अनुमान न कर सकने के कारण समूह का तदानुसार संगठन करने में विफल रहते हैं।

समूह-भावना का सैम्पुल तथा विलसन द्वारा विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि टीम के सदस्यों के देखने में उच्च तथा निम्न एल पी सी नेताओं में बहुत कम भिन्नता थी। निम्न एल पी सी नेताओं को उच्च एल पी सी नेताओं की तुलना से अधिक उद्दीपनशील प्रत्यक्षीकृत किया गया किन्तु सहयोग में वृद्धि तथा रचनात्मक आलोचना की दृष्टि से उनमें किसी भिन्नता का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया गया। आशा के विपरीत दोनों प्रकार के नेताओं द्वारा अभिव्यक्त धनात्मक सामाजिक-सांवेगिक व्यवहार की सम्पूर्ण मात्रा में कोई अन्तर न था। दोनों ही प्रकार के नेता समूह के सदस्यों के प्रति मैत्रीपूर्ण थे किन्तु इसका प्रदर्शन विभिन्न समयों पर प्रदत्त कार्य अवधि में करते थे दोनों प्रकार के नेताओं में भिन्नता धनात्मक व्यवहार के विषय में नहीं वरन् उसके समय के अनुसार थी।

अधिकांश समस्यात्मक परिस्थितियों में नेता के कार्य को संरचित करने तथा मातहतों के कार्य के निर्देशन की योग्यता समूह सफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारक है, किन्तु संशक्ति तथा मनोबल के निम्न होने से नेता के प्रयासों के परिणाम घातक हो सकते हैं। फीडलर तथा म्युवेस (1963) ने सेना के टैंक चालकों, बी-20 बम वर्षकों के चालक, विमान भेदी तोपों के चालकों तथा सर्जनात्मक विवेचना समूहों का अध्ययन, बुद्धि तथा समूह निष्पादन के सम्बन्धों के निर्धारण हेतु किया। उन्होंने संशक्त समूहों में नेता की बुद्धि तथा समूह निष्पादन में धनात्मक सहसम्बन्ध प्राप्त किया। सेना टैंक चालकों के समूह में भी संशक्तता की दशा में संकृत्य—समूह के सभी सदस्यों तथा निपुणता में धनात्मक सहसम्बन्ध प्राप्त हुआ।

मार्टिन एम० चेमर्स (1969) ने विभिन्न संस्कृतियों में एक क्षेत्र अध्ययन किया जिसमें अन्तर-संस्कृति समस्याओं में निपटने हेतु प्रशिक्षित किए गये ईरान में प्रवासित अमरीकनों को प्रयोज्य बनाया । उनकी परिकल्पना के अनुसार, प्रशिक्षण के परिणाम स्वरूप उच्च एल पी सी नेताओं की अपेक्षा निम्न एल पी सी नेता अधिक (Consideration) का परिचय देगें । इसका सत्यापन उनके परिणामों द्वारा हुआ । एक बार जब निम्न एल पी सी नेता (Consideration) की आवश्यकता का अनुभव कर लेने, तथा इसे अपरिचित संस्कृति में प्रगट करने की विधि सीख लेने पर वांछित कार्य में उच्च एल पी सी नेता की अपेक्षा अधिक सक्षम होते हैं । एक आकस्मिक परिणाम यह प्राप्त हुआ कि अमरीकियों द्वारा नेता का प्रत्यक्षीकरण दो सामान्य कारकों में विभक्त था—संरचना-पहल तथा (Consideration); जब कि ईरानी इन दोनों कारकों को एक में संयुक्त करते हैं और दो प्रकार के नेतृत्व का नहीं वरन् दो विशेषताओं से युक्त एक प्रकार का नेतृत्व मानते हैं ।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि इस सन्दर्भ में प्राप्त परिणाम बेल्स (Bales, 1965) द्वारा चर्चित दो नेतृत्व प्रकार्यों-संस्कृत उन्मुखता और सामाजिक सांवेगिक समर्थन के अनुरूप हैं । समूह की प्रभावोत्पादक क्रियाओं के लिए दोनों प्रकार के नेतृत्व आवश्यक हैं । उपयुक्त रूप में कार्यशील समूह में दो में से किसी एक परिस्थिति के घटित होने की संभावना होती है : (अ) कार्योन्मुख नेता की स्वीकृति द्वारा समूह की सामाजिक-सांवेगिक आवश्यकताओं की पूर्ति; या (ब) सहायक नेता (Auxilary) जिसे बेल्स ने सामाजिक विशेषज्ञ कहा है जो समूह को उसकी सामाजिक-सांवेगिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होता है ।

■

अध्याय 16

समूह-मनोबल

(Group Morale)

अनेक समूह निर्मित होते हैं और समाप्त हो जाते हैं, किन्तु कुछ समूह अपने अस्तित्व को कायम रखपाते हैं। जिन समूहों का मनोबल उच्च होता है उनका अस्तित्व बना रहने की संभावना अधिक होती है। समूह-मनोबल समूह की एक प्रमुख विशेषता है। समूह-मनोबल का अभिप्राय समूह में एकता, अखण्डता, सहयोग तथा स्थायित्व से है। समूह-मनोबल तथा नेता में चोली-दामन का सम्बन्ध है। मनोबल का उच्च या निम्न होना बहुत कुछ नेता पर भी निर्भर करता है। इस प्रकार समूह-मनोबल समूह की एक प्रमुख विशेषता है। यह समूह की एकता, दृढ़विश्वास, संकल्प, तादात्मीकरण आदि के लिये अति आवश्यक है। समूह के कार्यों के स्तर से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। जब समूह मनोबल ऊँचा होता है तो समूह के कार्यों का स्तर ऊँचा होता है। मनोबल केवल छोटे समूहों की ही नहीं जातियों, देशों, राष्ट्रों के पतन और उत्थान में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। विशेषक युद्ध की स्थिति में देश के नागरिकों का मनोबल भी बड़ा महत्वपूर्ण होता है। मनोबल का उच्च या निम्न होना विजय या पराजय का प्रमुख निर्धारक है। किसी देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति भी बहुत हद तक नागरिकों के मनोबल का परिणाम होती है।

समूह मनोबल की परिभाषाएँ

समूह मनोबल को परिभाषित करना एक जटिल कार्य है। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने मनोबल का तात्पर्य समूह में सहयोग की भावना, एकता एवं अखण्डता से लिया है।

जी० डब्लू, आलपोर्ट के अनुसार, "राष्ट्रीय मनोबल सामूहिक प्रयास में एक व्यक्तिगत मनोवृत्ति है।" (National morale is an individual attitude in a group endeavour.") अर्थात् यदि प्रत्येक नागरिक में जनहित के प्रति अनुकूल वृत्ति विद्यमान है और उसका भरपूर उपयोग किया जाता है तो ऐसे राष्ट्र/समूह का मनोबल उच्च होने की संभावना होगी।

लापियर तथा फार्न्सबर्थ (La Pierre & Farnsworth, 1949) के अनुसार, "किसी समूह के लिये सदस्यों की आस्था का स्तर ही मनोबल है।") क्रेच और

क्रचफील्ड (Krech & Crutchfield, 1958) ने कहा है, "मनोबल समूह के कार्य करने के स्तर, एकता एवं संगठन तथा समूह-भावना की ओर इंगित करता है।" ("Morale refers to the level of group functioning, the unity and solidarity of the group, its espirit de corps."

आइजेंक तथा अन्य (Eyesenck et al, 1972) के अनुसार, 'मनोबल, समूह, उसके लक्ष्यों, तथा नेतृत्व के प्रति धनात्मक मनोवृत्ति है।" ("Moral is a term which generally denotes a positive attitude to a group its aim and leadership.")

उपर्युक्त परिभाषाएँ समूह मनोबल के निम्न लक्षणों की ओर संकेत करती है जिनसे समूह मनोबल की प्रकृति एवं अर्थ पर प्रकाश पड़ता है।

1. मनोबल से समूह की एकता, संगठन, कार्य स्तर एवं सामूहिकता प्रवृत्ति का बोध होता है।
2. समूह-मनोबल समूह के प्रति सदस्यों की प्रवृत्ति है।
3. इससे समूह लक्ष्य के प्राप्ति के प्रति सदस्यों के समर्पण की भावना अभिव्यक्त होती है।
4. यह समूह नेतृत्व के प्रति सदस्यों की धनात्मक अभिवृत्ति का सूचक है।
5. मनोबल समूह के कार्य करने के स्तर का द्योतक है।
6. यह समूह के प्रति सदस्यों की आस्था और सम्मान का प्रतीक है।

उच्च मनोबल के आधार

(Criteria of High Morale)

समूह के कार्य तथा संरचना से अनुसार समूह मनोबल का आंकलन होता है। क्रेच तथा क्रचफील्ड (Krech & Crutchfield) के अनुसार समूह मनोबल के कुछ आधार इस प्रकार हैं—

1. **कम से कम मनमुटाव (Least Friction)**—समूह के मनोबल का उच्च होना इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि समूह में मनमुटाव कितना है। जब आपसी मतभेद समूह में न्यून होते हैं तो समूह मनोबल के उच्च होने की सम्भावना अधिक होती है। जब समूह में विभाजक प्रवृत्तियाँ (Devisive forces) न्यून होते हैं तो मनोबल के उच्च होने की आशा की जाती है। किन्तु जब आपसी मनमुटाव, भेदभाव अधिक होता है तो मनोबल के न्यून होने की संभावना होती है। किसी भी समूह में मनमुटाव, आन्तरिक कलह, भेदभाव और मतभेदों की मौजूदगी, उसमें एकता और संगठन के अभाव का सूचक है।

2. **आन्तरिक संसक्तता की प्रवृत्ति (Tendency of internal cohesiveness)**—जब समूह के सदस्यों में आन्तरिक सम्बद्धशीलता न्यूनाधिक

होती है तो उनमें पारस्परिक संगठन की प्रवृत्ति अधिक होती है और उसका मनोबल उच्च होता है। किन्तु जब समूह में आन्तरिक सम्बद्धशीलता अर्थात् एकता और संगठन भावना न्यून होती है तो उसमें संसक्तता का उसी मात्रा में अभाव होता है और उसका मनोबल उसी अनुपात में न्यून होता है। इस प्रकार यह मनोबल का एक आवश्यक आधार है।

3. **सदस्यों में पारस्परिक पसन्द (Tele among members)**—मनोबल के उच्चता की इस कसौटी पर सर्वप्रथम जे० एल० मोरेनो (J. L. Moreno, 1934) ने प्रकाश डाला था। इसका तात्पर्य सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति पसन्द अथवा चाह से है। किसी समूह में सदस्यों के बीच आपसी पसन्द जितना अधिक होगी, समूह में सदस्यों को आकर्षण उतना ही अधिक होगा और फलस्वरूप उस समूह का मनोबल भी उतना ऊँचा होगा। जब समूह में पारस्परिक आकर्षण कम होगा तो मनोबल उसी मात्रा में कम होगा। प्रियजनों के खराब कार्य भी अच्छे लगते हैं।

4. **परिवर्तनशील दशाओं और आन्तरिक संघर्षों के प्रति अभियोजनशीलता (Adaptability to changing conditions and conflicts)**—परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जहाँ कहीं मनुष्य होंगे वहाँ परिवर्तन तथा आपसी संघर्ष भी होंगे। समूह में नेता का कर्त्तव्य होता है कि परिवर्तनशील दशाओं में समूह में अभियोजन बनाये रखे। साथ ही साथ उसे समूह के सदस्यों के आन्तरिक द्वन्द्वों और संघर्षों को सुलझाने में भी सक्षम होना अनिवार्य है। ऐसा होने पर समूह मनोबल उच्च होता है। लेकिन जब नेता परिवर्तनों के प्रति सदस्यों के अभियोजन को बनाए रखने तथा उन्हें संघर्ष मुक्त रखने में सक्षम नहीं होता तो मनोबल का गिर जाना स्वाभाविक है। प्राचीन विचार वाले माता-पिता अपने बच्चों को हिप्पियों जैसे बाल और पोशाक वस्त्र से अभियोजन करते देखे जा रहे हैं। संभवतः वे बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अभियोजन का प्रयास कर रहे हैं। जब परिवर्तनों के प्रति अभियोजनशीलता और आन्तरिक संघर्षों के समाधान की योग्यता होती है तो समूह मनोबल के उच्च होने की संभावना प्रबल होती है।

5. **समूह के सदस्यों में लक्ष्यों के प्रति समान भाव (Commonality of individual goals)**—समूह अनेक सदस्यों द्वारा निर्मित होते हैं किन्तु उनमें अनेकता में एकता होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि सदस्यों को निजी लक्ष्यों अथवा स्वार्थ से प्रेरित होकर कार्य नहीं करना चाहिये। वरन् उनके लक्ष्यों और उद्देश्यों में समानता होनी चाहिये। ऐसा समूह मनोबल को उच्च रखने के लिए आवश्यक है। वस्तुस्थिति जब ऐसी होती है तो सदस्य गण बहुधा समूह के

लक्ष्यों और आवश्यकताओं के आधार पर ही अपने लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित करते हैं। ऐसा न होने की स्थिति में मनोबल न्यून होता है।

6. **समूह लक्ष्यों के प्रति नेतृत्व की विधेयात्मक प्रवृत्ति—(Positive attitude towards group objectives and leadership)**—समूह के उद्देश्यों और प्रयोजनों की प्राप्ति में प्रत्येक सदस्य की समान रूप से भागीदारी होनी चाहिये। इसके लिए आवश्यक है कि सदस्यों की अपने समूह तथा नेता में आस्था और विश्वास हो, भक्ति भाव और वफादारी की भावना हो। ऐसा होने पर समूह मनोबल उच्च अन्यथा निम्न हो सकता है। जब नेता के प्रति सदस्यों की अभिवृत्ति निषेधात्मक होती है तो मनोबल के न्यून होने की संभावना होती है।

7. **समूह के अस्तित्व को बनाये रखने की इच्छा (Desire to retain the group)**—जब किसी समूह के सदस्यों में समूह के अस्तित्व को बनाये रखने की इच्छा होती है तो उसका मनोबल ऊँचा होता है। यह उसी समय संभव है जब सदस्यों में समूह लक्ष्य और समूह-मूल्यों के प्रति आदर और सम्मान का भाव होता है।

इन वर्णित तथ्यों के अतिरिक्त समूह मनोबल का उच्च होना निम्न बातों पर भी निर्भर करता है—

1. समूह के सदस्यों में जीवन लक्ष्य का स्पष्ट होना।
2. समूह में जनमत का स्वस्थ होना।
3. समूह की सफलता में आस्था एवं विश्वास का होना।
4. सदस्यों में सम्पन्नता और प्रसन्नता की अनुभूति।
5. सदस्यों में मानसिक तनाव का अभाव तथा शान्ति भाव का होना।

निम्न मनोबल की विशेषताएँ
(Characteristics of Low Morale)

समूह मनोबल कोई स्थायी लक्षण नहीं है, कभी-कभी निम्न भी हो जाता है। वैसे तो जो विशेषताएँ उच्च मनोबल के लिये आवश्यक हैं उनका अभाव या उनकी न्यूनता मनोबल को गिराती है। फिर भी मनोबल के निम्न होने की कुछ विशेषताएँ हैं। जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

1. **सन्देह तथा अविश्वास (Skepticism & distrust)**—जब समूह के आदर्शों एवं नियमों के विषय में सदस्यों को सन्देह तथा अविश्वास उत्पन्न होने लगता है तो समूह मनोबल निम्नस्तरीय हो जाता है अर्थात् उसमें गिरावट आती है। यदि समूह के प्रति विश्वास हो किन्तु नेता में अविश्वास तथा उसकी क्षमता के विषय में सन्देह होने पर भी समूह मनोबल निम्नस्तरीय हो जाता है।

2. **विनाशकारी आलोचना** (Destructive criticism)—स्वस्थ तथा सही आलोचना तो समूह को सशक्त बनाती है किन्तु नेता के प्रति सदस्यों की अप्रसन्नता विस्थापित होकर उनकी विनाशकारी आलोचना के रूप में अभिव्यक्त होती है। ऐसी स्थिति में समूह मनोबल में गिरावट का आना अवश्यंभावी है।

3. **शत्रु समूह या किसी अन्य बाह्य समूह के प्रति श्रद्धा**—जब कभी समूह में सदस्यों की आस्था घट जाती है या किसी अन्य समूह के प्रति अधिक बढ़ जाती है तो ऐसी स्थिति में मनोबल में गिरावट की संभावना बढ़ जाती है। शत्रु समूह से सहानुभूति या किसी अन्य समूह से निकटता में वृद्धि मनोबल को निम्न करती है।

4. **उत्साह का अभाव** (Lack of enthusiasm)—जब समूह के सदस्यों में समूह कार्यों, प्रयोजनों एवं उद्देश्यों के प्रति रुचि एवं उत्साह में कमी आती है तो भी मनोबल में न्यूनता की संभावना बढ़ जाती है।

5. व्यक्तिक प्रयास तथा रुचि में कमी भी समूह मनोबल को गिराती है।

6. **अफवाहें**—जब समूह में नाना प्रकार की झूठी अफवाहें फैलने लगती हैं तो यह दुष्प्रचार समूह मनोबल को गिराता है। युद्ध में अफवाहें मनोबल को बहुत प्रभावित करती हैं।

7. क्षेत्रीय ईर्ष्याएँ, घृणा, नेता के प्रति ईर्ष्याएँ भी समूह मनोबल को निम्न स्तरीय बनाती है।

8. **पीठ पीछे आलोचना**—जब किसी समूह में पीठ पीछे आलोचना की प्रवृत्ति बढ़ जाती है तो समूह का माहौल दूषित हो जाता है और समूह मनोबल का स्तर गिरता है।

समूह मनोबल के निर्धारक
(Determinants of Morale)

नारमन मेयर (Norman Meyer) ने टीम स्पिरट (Team spirit) की उपस्थिति पर बहुत बल दिया है। यदि समूह भावना (team spirit) विद्यमान होती है तो मनोबल बना रहता है, अन्यथा उसमें विचलन की सम्भावना होती है। समूह मनोबल के निर्धारकों को चार वर्गों में विभक्त किया जाता है।

1. मनोवैज्ञानिक निर्धारक (Psychological Determinants)
2. सामाजिक निर्धारक (Social Determinants)
3. आर्थिक निर्धारक (Economic Determinants)
4. भौतिक निर्धारक (Physical Determinants)

1. **मनोवैज्ञानिक निर्धारक (Psychological Determinant)—**

(i) **धनात्मक लक्ष्य (Positive goals)**—जब समूह के सदस्यों के लक्ष्य धनात्मक होते हैं तो उनका मनोबल ऊँचा होता है। लक्ष्य उस समय धनात्मक होते हैं जब वे अत्यन्त स्पष्ट होते हैं, अर्थात् जब सदस्यों में उसके प्रति धनात्मक आकर्षण होता है। धनात्मक लक्ष्य समूह में चुम्बकीय शक्ति के समान होता है उसे एकता और अखण्डता बढ़ती है। ऐसी दशा में समूह मनोबल उच्च रहता है। जब किसी समूह के लक्ष्य स्पष्ट, निश्चित एवं धनात्मक नहीं होते तो उसका विघटन आरम्भ हो जाता है। किन्तु जब लक्ष्य धनात्मक होते हैं तो समूह के सदस्यों की आकांक्षाएँ समूह के साथ आबद्ध हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनोबल उच्च होता है।

(ii) **लक्ष्य प्राप्ति की चेतना (Consciousness for goal achievement)**—सदस्यों में लक्ष्य प्राप्ति की चेतना भी समूह के मनोबल का मनोवैज्ञानिक निर्धारक है। जब समूह के सदस्य इससे अवगत होते हैं कि समूह के कितने लक्ष्य प्राप्त हो गये हैं, तो इससे उनमें उत्साह जागता है जो समूह मनोबल को बढ़ाता है।

(iii) **आवश्यकताओं की सन्तुष्टि (Satisfaction of needs)**—प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि चाहता है। समय के साथ समूह के सदस्यों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होने से समूह मनोबल उच्च रहता है।

(iv) **नेता की सहनशीलता (Tolerance of leader)**—नेता में सहनशीलता जितनी अधिक होती है उसके समूह का मनोबल उतना ही ऊँचा होता है। सहनशील नेता समय-समय पर सदस्यों की प्रशंसा करता है, उन्हें पुरस्कृत और प्रोत्साहित करता है तो समूह की समस्याओं का समाधान होता है जिसके फलस्वरूप मनोबल ऊँचा रहता है।

(v) **लाभ और त्याग में बराबरी (Equity of profit & sacrifice)**—जब समूह के सदस्यों में यह भावना व्याप्त होती है कि लाभ और त्याग में बराबरी है तो मनोबल ऊँचा होने की संभावना होती है। लेकिन जब समूह के सदस्य यह महसूस करते हैं कि उन्हें मात्र त्याग करना पड़ रहा है और अन्य लाभान्वित हो रहे हैं पर त्याग नहीं कर रहे हैं तो मनोबल निम्न होने की संभावना होती है।

(vi) **आकांक्षा तथा प्राप्ति स्तर (Level of aspiration and achievement)**—समूह के सदस्यों के आकांक्षा और प्राप्ति स्तरों में समानता होने पर मनोबल के अधिक होने की संभावना होती है। यह केवल उस दशा में संभव है जब समूह लक्ष्य पूरे होते हों अन्यथा मनोबल गिरता है।

(vii) **समय परिप्रेक्ष्य (Time perspective)**—जब समूह के सदस्य

अतीत तथा वर्तमान की घटनाओं से अवगत होते हैं और यह भी जानते हैं कि भविष्य में क्या होने वाला है तब यह माना जाता है कि उन्हें समय बोध है और तब समूह में संगठन और एकता के लक्षण होते हैं। ऐसा होने पर मनोबल उच्च होता है।

(viii) लवलीनता और संगठन की भावना (Feeling of involvement & solidarity)—समूह से तादात्मीकरण होने पर समूह के प्रति लवलीनता पाई जाती है तब सदस्य समूह—उपलब्धि को अपनी उपलब्धि मानते हैं। इस भावना से सदस्य सांवेगिक स्तर पर समूह से लगाव का अनुभव करते हैं और संगठन की भावना देखी जाती है। ऐसी दशा में मनोबल ऊँचा होता है।

(ix) नेता (Leader)—नेता स्वयं समूह मनोबल का एक प्रमुख निर्धारक है। नेता के आचरण से समूह में एकता और संगठन पाया जाता है तो मनोबल उच्च होता है। जब नेता समूह में एक सदस्य को दूसरे से लड़ाता है तो समूह मनोबल गिर जाता है।

2. सामाजिक निर्धारक (Social Determinants)—

कुछ समाजजनित कारक भी समूह मनोबल का निर्धारण करते हैं। सामाजिक निर्धारकों में अनेक कारक आते हैं—जैसे सामाजिक व्यवस्था। किसी समूह में व्यवस्था जितनी सुदृढ़ होगी और आदर्श मूल्यों की बुनियाद पर टिकी होगी, उस समूह का मनोबल उतना ही उच्च होगा। किसी मूल्यविहीन समूह में उच्च मनोबल की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार कुव्यवस्था वाले समूह में भी मनोबल उच्च होने की उम्मीद गलत होगी। ऐसे समूहों में अयोग्य व्यक्ति उच्च पदों पर होंगे तो सदस्यों का मनोबल अवश्य गिरेगा। सदस्य समूह का त्याग करते हैं। समूह में पक्षपात, कलह, द्वन्द्व और संघर्ष, वर्ग भेद, जातिभेद, क्षेत्र भेद आदि समूह मनोबल को निम्न स्तरीय बना देते हैं और उसमें गिरावट आती है।

ऐसी ही स्थिति उस समय भी होती है जब समूह में सामाजिक मानकों के प्रति अनुरूपता का अभाव होता है। सामाजिक पूर्वाग्रह, पक्षपात आदि भी समूह मनोबल को गिराते हैं। कभी-कभी सम्प्रेषण का अभाव, अत्यधिक प्रभुत्व और शक्ति की कामना तथा सदस्यों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा भी समूह मनोबल को गिराती है।

3. आर्थिक निर्धारक (Economic Determinants)—

किसी समूह की आर्थिक स्थिति भी समूह मनोबल का निर्धारक होती है। समाज में सम्पन्नता, मुद्रास्फिति, रोजगार के अधिक अवसर, क्रयशक्ति का अच्छा होना आदि की दशा में समूह मनोबल उच्च होता है। किन्तु जब समूह/समाज में

गरीबी, आर्थिक अभाव, रोजगार के अवसर में कमी, खराब क्रय शक्ति होती हैं तो लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी अतृप्त रह जाती हैं और ऐसे समूह का मनोबल निम्न होता है। जब समूह के सदस्यों को पेट भर रोटी की तलाश होती है तो ऐसे व्यक्ति समूह के संगठन, एकता आदि से कोई सरोकार नहीं रखते, अतः मनोबल का गिरना स्वाभाविक है।

4. भौतिक निर्धारक (Psysical Determinants,—

आज के युग में सफल एवं सुखी जीवन बहुत कुछ भौतिक साधनों की उपलब्धता पर भी निर्भर करता है। जब किसी समूह के सदस्यों के नियंत्रण में पर्याप्त मात्रा में भौतिक साधन उपलब्ध होते हैं तो इन सुविधाओं के कारण समूह मनोबल उच्च होता है। जब किसी समूह में भौतिक साधन न्यून होते हैं या उनका सर्वथा अभाव होता है तो मनोबल में गिरावट अवश्यंभावी है।

समूह मनोबल के मापन की विधियाँ

(Methods of Measnring Group Morale)

समूह मनोबल के मापन में समाज मनोवैज्ञानिक जिन विधियों का अनुप्रयोग करते हैं वे निम्नांकित हैं :-

1. साक्षात्कार विधि (The Interview method)—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसमें साक्षात्कार द्वारा व्यक्तियों के मनोबल का मापन किया जाता है। इसके अन्तर्गत निजी स्तर पर लोगों से भेंट करके समूह की एकता, अखण्डता पारस्परिक सम्बन्ध, समूह के सदस्यों तथा नेता के प्रति अभिवृत्तियों का मापन किया जाता है। साक्षात्कार संरचित अथवा असंरचित होता है। असंरचित साक्षात्कार में प्रश्नों के पूर्व निश्चित न होने के कारण अधिक लचीलापन होता है।

साक्षात्कारकर्ता यह पहले ही सुनिश्चित कर लेता है कि समूह का आकार कितना बड़ा है ? यदि समूह छोटा है तो सभी सदस्यों का साक्षात्कार करते हैं। बड़े समूहों में सबका साक्षात्कार करना संभव नहीं होता अतः यादृच्छिक रीति से चयनित न्यादर्श (Sample) का ही साक्षात्कार होता है।

यह एक लोकप्रिय विधि है, किन्तु इसके द्वारा मनोबल मापन में निम्न कठिनाइयाँ आती हैं :—

(i) यह एक आत्मनिष्ठ (Subjective) विधि समझी जाती है। प्रायः लोग अपनी वास्तविक भावनाओं को छिपाकर सामाजिक दृष्टि से उत्तर देते हैं अथवा अन्य लोगों या नेता के भय के कारण गलत उत्तर देते हैं। यदि न्यादर्श में कुछ ऐसे सदस्यों को रखा जाए जो समूह छोड़ चुके हैं तो वे निःसंकोच सही उत्तर देते हैं।

(ii) साक्षात्कारकर्त्ता के मन के पक्षपात तथा पूर्वाग्रह परिणामों को विकृत करते हैं।

(iii) कुछ सदस्य परिस्थिति की नवीनता या कुछ निजी कारणों से घबड़ाहट के कारण सही उत्तर नहीं दे पाते।

2. समाजमिति विधि (Sociometric method)—मोरेनो (Moreno, 1943) द्वारा आविष्कृत यह विधि सदस्यों की पसंद, नापसंद मालूम करके समूह संरचना का बोध प्राप्त करते हैं। इसके पश्चात एक विशेष प्रकार के चित्र संकलन (Sociogram) कहा जाता है। इस आलेख द्वारा समूह संरचना का तात्कालिक आभास होता है। इससे समूह में गुटों (Cliques); पारस्परिक युग्मों (Mutual pairs), तिरस्कृत (rejected), एकाकी/विविक्त (isolates) तथा नेतृत्व जैसी विशेषता का परिचय प्राप्त होता है।

इसमें निम्न कठिनाइयाँ आती हैं :—

(i) इससे मनोबल का स्पष्ट एवं सही मापन केवल उसी समय हो पाता है। जब समूह सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है। समूह आकार बड़ा होने पर निश्चित निष्कर्ष की प्राप्ति दुर्लभ होती हैं।

(ii) समूह मनोबल के कुछ कारकों जैसे आकांक्षास्तर, उपलब्धि स्तर तथा अहं तल्लीनता (Ego Involvement) का सही मापन संभव नहीं होता।

3. प्रश्नावली विधि (Questionnaire method)—प्रश्नावली विधि भी समूह मनोबल के मापन में प्रयुक्त होती है। समूह में एकता, अखण्डता, संगठन, सदस्यों की एक दूसरे के प्रति अभिवृत्तियाँ नेता में आस्था एवं विश्वास आदि का मापन प्रश्नावली द्वारा किया जाता है। प्रश्नावली में छोटे-छोटे प्रश्नों या कथनों की सूची का प्रयोग किया जाता है जिनका लोग हाँ/नहीं के रूप में उत्तर देते हैं। उत्तरों के सांख्यिकि विश्लेषण के पश्चात् मनोबल के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यह एक अत्यन्त सरल, आसान और व्यापक विधि है। इसमें कम समय तथा कम खर्च में अधिक लोगों का मापन होता है किन्तु इसमें निम्नांकित दोष पाए जाते हैं :—

(i) अनेक व्यक्ति अपने सही विचारों और भावों को छिपा लेते तथा मन-गढ़न्त फर्जी उत्तर देते हैं।

(ii) अशिक्षित व्यक्तियों के मनोबल का मापन इसके द्वारा कठिन है।

4. अभिवृत्ति मापनी (Attitude scale)—अभिवृत्ति मापनी भी समूह मनोबल के मापन में प्रयुक्त होती हैं। समूह के सदयों की एक दूसरे के प्रति अभिवृत्ति, नेता तथा समूह लक्ष्य के प्रति अभिवृत्ति के मापन द्वारा मनोबल का आकलन किया जाता है। इस उद्देश्य के लिए अनेक मापनियाँ—थर्स्टन विधि, लिकर्ट

मापनी, गट्टमैन विधि आदि प्रयुक्त होती हैं। इन विधियों में से किसी के आधार पर मापनी निर्मित की जाती है तथा मनोबल का मापन होता है। नेता के प्रति, समूह लक्ष्य या समूह में विश्वास के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति उच्च मनोबल का तथा निषेधात्मक अभिवृत्ति निम्न मनोबल का सूचक होती है।

अभिवृत्ति मापनी द्वारा मनोबल मापन में निम्न कठिनाइयाँ आती हैं :–

(i) सदस्यों द्वारा वास्तविक अभिवृत्तियों को अभिव्यक्त न कर के सामाजिक रुप से वांछित अभिवृत्ति के प्रकाशन की प्रवृत्ति होती है जो परिणामों को दूषित कर देती है।

(ii) यदि सदस्यों में मुद्रित प्रश्नों को पढ़ने और समझने की क्षमता न्यून होती है तो सही मापन का प्रश्न ही नहीं होता।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त समाज मनोवैज्ञानिक कुछ अन्य विधियों–निर्णय विधि, स्व सूचना विधि, सहभागी प्रेक्षण तथा श्रेणी विधि का उपयोग भी आवश्यकता होने पर करते हैं किन्तु प्रश्नावली तथा समाजमिति विधियाँ अन्य की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं।

अध्याय 17

सामाजिक व्यवहार के नियम

(Laws of Social Behaviour)

एक सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक व्यवहार और सामाजिक क्रियाएँ करता है। कभी वह दूसरों के सुझाव के अनुसार व्यवहार करता है तो कभी दूसरों के व्यवहार की नकल करता है और कभी दूसरों की भावनाओं से प्रभावित होकर व्यवहार करता है। इन सामाजिक व्यवहारों को भली प्रकार समझने और जानने के लिए समाज मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों ने व्यवहार के कुछ नियमों का प्रतिपादन किया है। यह सभी नियम सामाजिक अन्तक्रिया पर निर्भर करते हैं। मैक्डूगल (Mc Dougall, 1919) ने इन्हें तीन निम्नांकित वर्गों में रखा हैं :—

1. सुझाव (Suggestion) 2. अनुकरण (Imitation) 3. सहानुभूति (Sympathy)

सुझाव

(Suggestion)

अर्थ :—संसूचन अथवा सुझाव को व्यवहार का प्रमुख नियम समझा जाता है अतः इसे समाज वैज्ञानिकों ने अत्यधिक महत्व दिया है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को किसी विषय में अपना विचार और मत देता है और अपेक्षा करता है कि वह इसे बिना तर्क-वितर्क स्वीकार कर लेगा। माँ-बाप बच्चे से कहते हैं कि प्रत्येक कार्य निश्चित समय से से करना चाहिए। शिक्षक छात्रों को मन लगाकर पढ़ने, गृह कार्य करने आदि विषयक संसूचना देते हैं। समाज मनोवैज्ञानिकों ने सुझाव के अर्थ को स्पष्ट करने के उद्देश्य से इसकी अनेक परिभाषाएँ प्रस्तावित की हैं जिनमें से प्रमुख परिभाषाएँ अधोलिखित हैं :—

विलियम मैक्डूगल (Mc Dougall, 1909) ने कहा है, "संसूचन सम्प्रेषण की ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति के जरिए दी गई राय उपर्युक्त तार्किक आधार के बिना अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा विश्वास के साथ मान ली जाती है।" ("Suggestion is the process of communication resulting in the acceptance with conviction of communicated proposition in the absence of logically adequate grounds for its acceptance.")

भीड़, श्रोतासमूह, माब (Mob) आदि में लोगों के व्यवहार की स्थिति ऐसी ही होती है कि वे किसी अन्य व्यक्ति के विचारों को बिना तर्क-वितर्क स्वीकार कर लेते हैं। फिर यह भी सही है कि सुझाव सूचनाओं के सम्प्रेषण की प्रक्रिया है। सम्मोहन में भी इसका प्रयोग सूचनाओं के सम्प्रेषण में किया जाता है।

किम्बल यंग (Kimball Young, 1960) के अनुसार, "संसूचन, शब्दों, चित्रों या किसी ऐसे ही माध्यम द्वारा किए गए प्रतीकात्मक सम्प्रेषण का ऐसा स्वरूप है जिसका उद्देश्य उस प्रतीक को स्वीकार करने के लिये व्यक्ति को प्रेरित करना होता है।"("Suggestion may be defined as a form of symbolic communication–by words pictures or some similar device aimed at inducting acceptance.")

यंग ने भी मैकडूगल के समान इस पर बल दिया है कि सम्प्रेषित संसूचन का कोई तार्किक आधार या प्रमाण नहीं होता।

थाउले (Thouless; 1957) का कहना है, "संसूचन शब्द का अनुप्रयोग सामान्यत: उस प्रक्रिया के लिए किया जाता है जिसमें विचार विशेष के प्रति मनोवृत्ति तार्किक अनुनय (rational persuance) के अतिरिक्त अन्य माध्यमों से एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्ति तक सम्प्रेषित की जाती है।"("The word suggestion is now commonly used for the process by which an attitude towards a system of ideas is communicated from one person to another by a process other than that of rational pursuance.")

आइजेंक तथा सहयोगियों (Eyesenek et. al, 1972)—के अनुसार, "सुझाव सम्प्रेषण की वह प्रक्रिया है, जिसमें एक या अधिक व्यक्तियों के बिना किसी आलोचनात्मक अनुक्रिया के निर्णय, मत, अभिवृत्तियों आदि या व्यवहार प्रतिमानों के परिवर्तन के कारण होते हैं। यह प्रक्रिया प्रभावित किए जाने वाले व्यक्ति की चेतन जानकारी के बिना चालू रहती है।" ("A process of communication during which one or more persons cause one or more individuals, to change (without critical response) their judgement opinions, attitude etc or patterns of behaviour, the process can take place wethout being noticed by the individual to be influenced.")

चर्चित परिभाषाओं के विश्लेषण से सुझाव के विषय में निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं जो सुझाव के स्वरूप को व्यक्त करते हैं—

1. संसूचन में दो व्यक्ति, व्यक्तियों का होना अनिवार्य है—एक सुझाव देने वाला और दूसरा उसे ग्रहण करने वाला।

2. सुझाव की प्रक्रिया सुझाव ग्रहण करने वाले व्यक्ति की आलोचना एवं तर्क की शक्ति को कमजोर करती है।

3. सुझाव प्रक्रिया में सुझाव ग्रहण कर्ता बिना आपत्ति, तर्क, शंका तथा आलोचना किए अन्य व्यक्ति की बातों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है।

4. सुझाव में प्रतीकों—जैसे शब्दों, चित्रों आदि का माध्यम प्रयुक्त होता है। वस्तुतः शब्द प्रयोग सर्वाधिक होता है।

5. सुझाव, बहुधा किसी समस्या, किसी व्यक्ति के कार्यों या विचारों से सम्बद्ध होता है।

संसूचनशीलता (Suggestibility)—सुझाव की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि अतार्किक और प्रमाण रहित होते हुये भी इसे स्वीकृति प्राप्त होती है। व्यक्ति जो सुझाव को स्वीकार करता है उसमें वजन देखता है तो उसके प्रति प्रतिरोध किए बिना मान लेता है। प्रभावित व्यक्ति उसमें सत्य का अंश देखता है साथ ही उस समय विशेष पर उसका विवेक, उसकी मानसिक स्थिरता, उसका तर्क कार्य नहीं करता अतः बिना आलोचना उसे स्वीकार कर लेता है। वह उस समय उस सुझाव की अच्छाई बुराई का विश्लेषण करने में असक्षम होता है।

इस प्रकार सुझाव की शक्ति के पीछे तर्क ही व्यक्ति की संसूचनशीलता है। अतः संसूचनशीलता का अभिप्राय संसूचन ग्राह्यता की उस तत्परता से है जिसके कारण संसूचन ग्रहणकर्ता उसे स्वीकार करने के लिये तैयार हो जाता है। संसूचन को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक ही संसूचनशीलता को भी प्रभावित करते हैं। इस सन्दर्भ में हुये अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि कम बुद्धि, कम आयु, महिलाओं, अशिक्षित, पिछड़े आदि व्यक्तियों में बुद्धिमान, बड़ी आयु, पुरुषों, शिक्षितों, तथा फारवर्ड लोगों की अपेक्षा संसूचन शीलता की मात्रा अधिक होती है। सम्मोहन एवं थकान की स्थितियों में भी संसूचन ग्राह्यता अपेक्षाकृत बढ़ जाती है।

संसूचनशीलता लब्धांक निकालने के लिए व्यक्ति द्वारा स्वीकृत संसूचनों की संख्या में दिये गये संसूचनों की संख्या से भाग दिया जाता है। प्रतिशत ज्ञात करने के लिए उसमें १०० से गुणा करते हैं। इसका सूत्र निम्न है—

$$\text{संसूचनशीलता लब्धि} = \frac{\text{स्वीकृत संसूचनों की संख्या}}{\text{दिये गये संसूचनों की संख्या}} \times 100$$

संसूचन के विभिन्न रूप

(Forms of Suggestion)

समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने संसूचन के विभिन्न रूपों का संकेत दिया है, जिनमें प्रमुख रूप निम्न हैं :—

1. प्रत्यक्ष संसूचन (Direct Suggestion)—ऐसे संसूचन में सुझाव

दाता सुझाव ग्रहणकर्ता के समक्ष संसूचन के उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देता है और तदनुसार व्यवहार करने का निवेदन एवं मधुराग्रह करता है। उदाहरण के लिये विज्ञापन करता; जब यह कहता है कि तेज धूप और वर्षा से पूर्ण सुरक्षा देता है जेबरा अम्बरेला, तो वह प्रत्यक्ष रूप से जेबरा छतरी क्रय करने का सुझाव देता है। उसका उद्देश्य गुप्त नहीं होता।

2. अप्रत्यक्ष संसूचन (Indirect Suggestion)—इस प्रकार के संसूचन में सुझाव देने वाला अपने वास्तविक लक्ष्यों को ग्रहणकर्ताओं अथवा लक्ष्य व्यक्तियों के समक्ष खुलकर या स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं करता। वह संसूचन के पूर्व उसकी पृष्ठभूमि बनाता है अथवा भूमिका बाँधता है। उदाहरण के लिए जब कोई प्रचारक यह कहता है कि "फिल्मी सितारों के सौन्दर्य का राज नया लक्स" तो वह सीधे लक्स साबुन खरीदने का आग्रह न करके सौन्दर्य और आकर्षण वृद्धि की भावनाओं और प्रवृत्तियों को उभारता है। इससे यौन आकर्षण की प्रवृत्ति भी जागृत होती है। इसका वास्तविक उद्देश्य किसी को सुन्दर और आकर्षक बनाना नहीं अपितु अपने उत्पाद की बिक्री को बढ़ाना है। यह संसूचन अप्रत्यक्ष है।

3. विधेयात्मक संसूचन (Positive Suggestion)—यह ऐसा संसूचन है जिसमें प्रभावित व्यक्ति किसी मत या विचार को वास्तव में अच्छा मानकर अन्य व्यक्तियों को भी उसे स्वीकार करने का परामर्श देता है, उन्हें अभिप्रेरित करता है—जैसे एक व्यक्ति ने यूनिट ट्रस्ट आफ इण्डिया से यूनिट क्रय किये और अब वह अन्य साथियों को भी यूनिट में पैसा निवेश करने की राय देता है। वस्तुतः वह यू० टी० आई० का एजेण्ट नहीं है फिर भी ऐसा करता है क्योंकि वह यूनिट में पूंजी निवेश को सही मानता है। यह संसूचन विधेयात्मक संसूचन कहा जायगा।

4. ऋणात्मक संसूचन (Negative Suggestion)—इस प्रकार के संसूचन में किसी सामग्री, कार्य या विचार के ऋणात्मक पहलुओं को स्पष्ट करने के प्रयास किये जाते हैं उदाहरण से लिए सिगरेट, तम्बाकू, पान, शराब की खराबियों की चर्चा करना एक प्रकार का नकारात्मक सुझाव है कि इनका सेवन नहीं करना चाहिये।

सुझाव का वर्गीकरण

(Classification of Suggestion)

1. विचार-गति सुझाव (Ideomotor Suggestion)—जैसा इसके नाम से व्यक्त है—इसमें विचार तथा क्रिया में वस्तुतः अन्तर नहीं है अर्थात् विचार की उत्पत्ति के साथ-साथ क्रिया आरंभ हो जाती है। अतः इसमें सोचने-विचारने या विवेचना के लिए कोई समय नहीं होता। सामान्यतः ऐसे सुझाव में मन प्राप्त सुझाव को अचेतन रूप में स्वीकार करता है और उसे क्रियान्वित भी करता है।

उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति नृत्य देखते-देखते इतना भाव विभोर हो उठता है कि स्वयं अपने पैर भी नर्तकी के समान चलाता है।

2. प्रतिष्ठा सुझाव (Prestige Suggestion)—जब सुझाव में किसी सम्मानित/प्रतिष्ठित व्यक्ति का सन्दर्भ या हवाला दिया जाता है तो इसे प्रतिष्ठा सुझाव कहा जाता है। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति जैसे राजनेता, समाजसेवी, फिल्मी सितारे आदि जब किसी विचार/उत्पाद या किसी अन्य वस्तु के उपयोग की संस्तुति करते हैं तो लोग उस प्रतिष्ठित व्यक्ति की मानमर्यादा के कारण उसकी राय को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। इस विषय में सारोकिन तथा बाडीरेफ (Sorokin and Badyreff) अध्ययन किए थे। इस अध्ययन में 1484 विद्यार्थी (हाई स्कूल के) श्रोता थे जिन्हें दो रेकार्डेड गाने सुनाये गये। यह बताया गया कि प्रथम गाना एक सुप्रसिद्ध कलाकार ने तथा दूसरा एक साधारण व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्रतिष्ठा संसूचन के कारण 96% प्रयोज्यों ने प्रथम की प्रशंसा और दूसरे गाने को सेकेण्ड रेट कहकर उसका तिरस्कार किया। इसके पश्चात् अध्ययनकर्त्ता ने बताया कि वास्तव में दोनों गीतों में कोई अन्तर नहीं था। इसके परिणामस्वरूप 51% प्रयोज्यों ने इसे तत्काल स्वीकार कर लिया, 16% ने इस बात का खण्डन किया जबकि 21% ने अनुपस्थिति द्वारा तटस्थता व्यक्त की। स्मरणीय बात यह है कि आरंभ में ही 4% प्रयोज्यों ने पहचान लिया था कि दोनों गीत एक ही कलाकार की प्रस्तुति हैं।

3. आत्म संसूचन (Auto Suggestion)—भारतीय विचारकों ने आत्म संसूचन के महत्व पर बहुत अधिक बल दिया है। उनके अनुसार यह चरित्र निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाता है। इसमें व्यक्ति स्वयं को ही सुझाव देता है, अर्थात् एक ही व्यक्ति सुझाव दाता भी है और वही उसका ग्रहणकर्त्ता भी है। यह सुझाव व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्यक्ति का चरित्र उसके विचारों पर निर्भर करता है, और विचार उसके अपने नियंत्रण में होते हैं। विचारों में संसूचन शक्ति निहित होती है। यदि आप सदैव यह सोचते हैं कि आप बुद्धिमान नहीं है अतः परीक्षा में अच्छे नम्बर नहीं ला सकते, तो आप वास्तव में परीक्षा में अच्छे अंक नहीं ला सकेंगे। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एमिले कोन (Emile Cone) ने अनेक मानसिक रोगियों के उपचार में आत्म संसूचन का सफल प्रयोग किया था।

महान व्यक्तियों की जीवनी पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने सर्वदा उच्चतम आदर्शों को सामने रखा तथा उन्हें प्राप्त करने का प्रयास किया और विषम परिस्थितियों में भी स्वयं को आश्वस्त किया कि अन्त में वह सफल होंगे। अतः आत्म संसूचन का शारीरिक, मानसिक दशाओं, तथा व्यक्ति की सफलता, पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

4. सामूहिक सुझाव (Mass suggestion)—जब व्यक्ति समूह या भीड़ में होता है तो उसके व्यवहार में काफी परिवर्तन हो जाता है, ऐसा क्यों है ? समूह संसूचन के ही कारण निजी जीवन में बड़े ही गंभीर, सज्जन और समझदार व्यक्ति समूह में शामिल होकर, बेहंगम, बेहूदा, अश्लील, अभद्र, अनैतिक, पागलों जैसे व्यवहार करते देखे जाते हैं। ऐसा सुझाव अत्यन्त प्रभावशाली होता है क्योंकि इसके साथ सामाजिक दबाव भी कार्यरत होता है। एच० टी० मूर (H. T. Moore) ने संकेत दिया है कि छात्रों में प्रतिष्ठा सुझाव की अपेक्षा सामूहिक सुझाव के प्रति अधिक सुभेद्यता होती है। मारपुल (Marple) ने अपने अध्ययनों द्वारा प्रमाणित किया है कि प्रभाव के अनुसार समूह सुझाव तथा प्रतिष्ठा सुझाव में 4:3 का अनुपात होता है।

5. विरोधी सुझाव (Contra Suggestion)—बहुधा लोग वह कार्य करते हैं जिसे करने से उन्हें रोका जाता है। विशेषकर बच्चों में यह प्रवृत्ति बहुत सामान्य है। उनसे कहा जाए कि आग है इसे मत छूना, तो एकान्त होते ही वे आग को स्पर्श करने का प्रयास करते हैं। किसी कार्य को न करने का आदेश विरोधी सुझाव का कार्य करता है और व्यक्ति सुझाव के विपरीत कार्य करते हैं।

सुझाव सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में इतना व्याप्त है कि वस्तुतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका महत्व है। व्यापार, उद्योग, राजनीति, चिकित्सा उपचार, शिक्षा, बच्चों के पोषण एवं उनके सामाजीकरण आदि जीवन का कोई क्षेत्र इसके प्रभाव से वंचित नहीं। सुझाव मनोविज्ञान से परिचित व्यक्ति सुझाव के उपयोग द्वारा लक्ष्य व्यक्तियों के व्यवहार और क्रियाओं को प्रभावित करने के लिए सदैव प्रयासरत हैं। किसी न किसी समय पसन्द हो या नापसंद हम दूसरों के सुझावों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। केवल यही नहीं आत्मसंसूचन के अनुप्रयोग द्वारा स्वयं अपना विकास कर सकते हैं। अपने व्यक्तित्व और चरित्र को मन चाही दिशा प्रदान कर सकते है। अतः सुझाव सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव प्रक्रिया है।

संसूचनशीलता की दशाएँ
(Conditions of Suggestibility)

इसे सुझाव के निर्धारक (Determinants of Suggestion) भी कहा जाता है सुझाव ग्राह्यता को अनेक कारक प्रभावित एवं निर्धारित करते हैं। इन कारकों में कुछ सुझाव ग्रहणकर्त्ता से, कुछ सुझाव देने वाले से; और अन्य सामाजिक, मनोवैज्ञानिक वातावरण तथा संस्कृति से सम्बद्ध होते हैं। यह सभी कारक अपने अपने तौर पर प्रभावित करते हैं तथा इनके प्रभाव कम और अधिक हैं।

सुझाव ग्रहणकर्त्ता से सम्बद्ध कारक—

1. बुद्धि (Intelligence)—इस प्रसंग में हुए अध्ययनों से ज्ञात हुआ है

कि कम बुद्धि व्यक्तियों में अपेक्षाकृत सुझाव ग्रहणशीलता अधिक होती है। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि की मात्रा और संसूचनशीलता में विपरीत सम्बन्ध होता है। अर्थात् जो व्यक्ति जितना बुद्धिमान होता है उसी अनुपात में उसमें संसूचनशीलता कम होती है। संसूचनशीलता उसी मात्रा में अधिक होगी जिस मात्रा में बुद्धि न्यून होगी। किन्तु एस्टरा बुक (Estra Book) तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों में बुद्धि तथा संसूचनशीलता में सार्थक सहसम्बन्ध नहीं प्राप्त किया। एवलिंग तथा हारग्रीव्स (Ewling & Hargreaves) ने बौद्धिक योग्यता तथा संसूचनशीलता में शून्य सम्बन्ध प्राप्त किया है।

2. आयु (Age)—व्यक्ति की आयु भी संसूचन ग्राह्यता को निर्धारित करती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संसूचनशीलता छः वर्ष की आयु से बढ़ना शुरू करती है और आठ-नौ वर्ष की आयु तक यह क्रम जारी रहता है। इसके पश्चात इसके घटने की प्रवृत्ति अभिव्यक्त होती है। इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुये एल्लाक (Ellock) ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि प्रौढ़ों की मान्यता के अनुरूप बालकों में संसूचनशीलता की मात्रा नहीं होती। सत्य चाहे कुछ भी हो यह सामान्य अनुभव है कि व्यक्ति की संसूचनशीलता उसकी परिपक्वता और मानसिक स्तर के विकास के साथ घटती है। यह कि व्यक्ति मानसिक रूप से अपरिपक्व होने पर अधिक संसूचनशील होता है। मासिक परिपक्वता अधिक होना कम संसूचनशील होने का प्रतीक है। हाँ विभिन्न समाजों का प्रभाव इस विषय में विभेदक होता है।

3. यौन भेद (Sex Difference)—कुछ प्रायोगिक अध्ययनों से महिलाओं में पुरुषों की तुलना में अधिक संसूचनशीलता प्रमाणित हुई है। किन्तु अन्य अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि कभी-कभी एक ही यौन के लोगों में विरोधी यौन की अपेक्षा संसूचनशीलता अधिक मात्रा में पाई जाती है। अतः यौन भेद संसूचनशीलता का प्रभावशाली एवं सार्थक निर्धारक नहीं है। चार्ल्स बर्ड (Charles Bird) का मत है कि दो यौन के लोगों में संसूचनशीलता का अन्तर यौन भेद के कारण नहीं है जितना शिक्षा, सामाजिक संरचना तथा बालक बालिकाओं के पोषण की अलग-अलग विधियों तथा समाजीकरण के कारण है।

4. अज्ञानता (Ignorance)—अज्ञानता संसूचनशीलता को निर्धारित करने वाला एक अन्य कारक है। जिस विषय में हम अज्ञान होते हैं उसके बारे में दूसरों के सुझाव सहजता पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। जबकि दूसरी ओर जिस विषय पर हम स्वयं अच्छा अधिकार एवं ज्ञान रखते हैं उसके बारे में अन्य लोगों के सुझाव से प्रभावित नहीं होते।

5. स्वभाव (Temperament)-किसी व्यक्ति की संसूचनशीलता उसके

स्वभाव से भी प्रभावित होती है। कुछ लोगों का विचार है कि बहिर्मुखी व्यक्ति अन्तर्मुखी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक संसूचनशील होते हैं।

6. **अन्य कारक** (Other factors)—उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी संसूचनशीलता को प्रभावित करते हैं–जैसे नशे की हालत में व्यक्ति अधिक संसूचनशील होते हैं। इसी प्रकार आत्मविश्वास का अभाव भी संसूचनशीलता की संभावना को बढ़ाता है। इसी प्रकार भूख, प्यास, थकान, निद्रा आदि की दशायें मानसिक सक्रियता एवं तत्परता को घटाती तथा संसूचनशीलता की संभावना को बढ़ाती हैं।

सुझाव देने वाले से सम्बद्ध कारक—

1. सुझाव देने वाले की प्रतिष्ठा जितनी अधिक होगी सुझाव ग्रहणकर्ता पर उनका प्रभाव उतना ही अधिक होगा।

2. **विश्वास पूर्ण स्वर** (Confident tone)—भी सुझाव ग्रहणशीलता को प्रभावित करता है। सुझावदाता जितने विश्वास के साथ सुझाव देता है, सुझाव उतना ही प्रभावशाली होता है।

3. **सुझावदाता का अनुभव** (experience)—भी संसूचनशीलता पर प्रभाव डालता है। सुझाव देने वाले का अनुभव अधिक होने पर वह सुझाव इस ढंग से देता है कि लक्ष्य व्यक्ति उससे प्रभावित हुये बिना नहीं रहते।

4. **समूह स्थिति** (Group situation) भी सुझाव-ग्रहणशीलता का निर्धारक है। समूह या भीड़ में होने पर व्यक्ति की आलोचनात्मक एवं तर्क शक्तियाँ दुर्बल हो जाती हैं और वह अनुत्तरदायी क्रियायें समूह के दबाव एवं प्रभाव में करता है। भीड़ में कोई विचार किसी संक्रामक रोग की तरह फैलता है और क्षणों में लोग उसके अनुसार आचरण करते दिखाई देते हैं।

मनोवैज्ञानिक कारक—

1. **पुनरावृत्ति** (Repetition)—किसी विचार या मत की निरन्तर पुनरावृत्ति भी उसके प्रति लोगों की संसूचनशीलता को बढ़ाती है क्योंकि पुनरावृत्ति में ध्यानाकर्षण का गुण निहित होता है। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि सुझाव की पुनरावृत्ति करते समय उसमें हल्का परिवर्तन करना उचित होता है अन्यथा लोगों में उकताहट आती है और ध्यानाकर्षण की निहित विशेषता अपना महत्व खो देती है। हिटलर कहा करता था कि किसी झूठ को सौ बार दुहराया जाय तो वह सत्य बन जाता है (**Repeat a lie hundred times and it becomes a truth**)

2. **जनमत** (Public opinion)—बहुमत अथवा जनमत भी संसूचन की प्रवृत्ति को प्रभावित करता है। बहुमत में जनशक्ति, जन इच्छा या सामूहिक इच्छा

का समावेश होता है अत; यह संसूचनशीलता को प्रभावित करता है। जनमत के सुझावों को मानने के लिए व्यक्ति सामूहिक दबाव का अनुभव करते हैं। अत: समाज में व्याप्त जनमत पर आधारित सुझाव अधिक कारगर होता है।

3. **संकट (Crises)**—संकट कालीन परिस्थितियाँ व्यक्तियों के निर्णय, तर्क आदि शक्तियों को क्षीण करती हैं अत: भूकम्प, दुर्घटना, युद्ध, प्रियजनों की मृत्यु, व्यापार में घाटा नौकरी से निलम्बन आदि दशाओं में व्यक्ति परेशान और तनाव युक्त होने के कारण अधिक संसूचनशील हो जाता है। घबराहट, चिन्ता, परेशानी व्यक्ति के चिन्तन को कमजोर कर उसे संसूचन शील बनाती है।

4. **अनुकूल संसूचन (Favourable Suggestion)**—सुझाव कभी-कभी सुझाव ग्रहणकर्त्ता की अभिवृत्तियों, मूल्यों और विश्वासों के अनुकूल होता है तो वह उसे तत्काल स्वीकृति प्रदान करता है। ऐसा होने का कारण यह है कि अनुकूल सुझाव व्यक्ति में आन्तरिक विरोध, एवं संज्ञानात्मक विसमादिता को जन्म नहीं देता। अत: वह उसे स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करता।

5. **वातावरण (Environment)**—वातावरण भी एक महत्वपूर्ण कारक है जो संसूचन शीलता को प्रभावित करता है। भौतिक, सामाजिक एवं मानसिक या मनोवैज्ञानिक वातावरण संसूचनशीलता को प्रभावित करते हैं। सुझाव देने से पूर्व उसके लिए मुनासिब वातावरण तैयार करना आवश्यक है। जादू दिखाने वाला आकर्षक और मनमोहक वस्त्रों में सजे हुए आकर्षक मंच पर अपने कमाल का प्रदर्शन करता है। वह ऐसा वातावरण तैयार करता है कि लोग ध्यान मग्न और भावविभोर होकर उसके संसूचन पर विश्वास करें। वह लोगों की संसूचनशीलता को बढ़ाकर ही सफल होता है।

सामाजिक जीवन में सुझाव का महत्व
(Importance of Suggestion in Social Life)

सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुझाव अत्यधिक महत्वपूर्ण है। समूह एवं समाज में व्यवस्था, संगठन, सुख और शान्ति बनाए रखने में सुझाव की भूमिका प्रमुख है। सुझाव द्वारा सामाजिक व्यवहार नियंत्रित किए जा सकते हैं। सामाजिक जीवन के अतिरिक्त शिक्षा, व्यापार, उद्योग, चिकित्सा, राजनीति के क्षेत्रों में भी सुझाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सामाजिक जीवन में इसका महत्व असंदिग्ध है। यह व्यक्तियों के व्यवहार और क्रियाओं को परिवर्तित करने का प्रभावपूर्ण एवं सशक्त साधन है। व्यक्ति के व्यक्तित्व और चारित्रिक गुणों के विकास, सामाजीकरण तथा सामाजिक अधिगम में इसके महत्व से सभी परिचित हैं।

1. समाज में एकता और एक-रूपता लाने में सुझाव का विशेष महत्व है।

समाज में प्रचलित प्रथाएँ, आदर्श, मूल्य, रहन-सहन, खान-पान रीति-रिवाज आदि सदस्यों के व्यवहार में एकता और एकरूपता लाते हैं क्योंकि समाज उनके पालन की अपेक्षा करता है।

2. समाजीकरण की प्रक्रिया में सुझाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बच्चे धीरे-धीरे समाज के नियमों, मूल्यों और आदर्शों को अपने माता-पिता तथा अन्य परिवारजनों से सीखते है। उनका सामाजिक अधिगम सुझाव की सामाजिक प्रक्रिया पर निर्भर करता है। समाज में उचित अनुचित, अच्छे-बुरे आदि सबका ज्ञान सुझाव द्वारा ही होता है।

3. सुझाव सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सुझाव के द्वारा लोगों के सामूहिक व्यवहार को संशोधित ही नहीं परिवर्तित और नियंत्रित भी कर सकते हैं। समाज और समूह के व्यवहार को नियंत्रित करने के उद्देश्यों से समाज सुधारक, प्रतिष्ठित व्यक्ति, तथा समाज के नेता एवं जाने माने व्यक्ति विभिन्न अवसरों पर जन-साधारण को अपने सुझाव दिया करते हैं।

4. शिक्षा के क्षेत्र में भी सुझाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सुझाव तो शिक्षा का आधार है जिसके बिना शिक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

5. व्यापार, उद्योग आदि में सुझाव के उपयोग द्वारा नाना प्रकार के प्रचार और विज्ञापन किए जाते हैं।

6. व्यक्तित्व के विकास में आत्मसंसूचन बहुत ही महत्वपूर्ण है। विचार/चिन्तन का व्यक्ति की मन: स्थिति पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

7. चिकित्सा एवं उपचार में भी सुझाव महत्वपूर्ण है। रोगी को स्वस्थ होने के लिए चिकित्सक के सुझावों को मानना आवश्यक है।

अत: स्पष्ट है कि सुझाव हमारे सामाजिक जीवन में बहुत महत्व रखता है। समाज में अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की स्थापना में इसका विशेष योगदान है। समाज के विकास और व्यवस्था के नियमित संचालन में इसकी भूमिका अद्वितीय है।

अनुकरण

(Imitation)

यह एक बहुचर्चित शब्द है। माँ द्वारा पूजा करते समय या नमाज अदा करते समय जब बच्चे भी वैसा ही करते हैं तो हम कहते हैं कि बच्चा अनुकरण कर रहा है। जब दूसरों के व्यवहार को देखकर कोई व्यक्ति स्वयं वैसा ही व्यवहार करता है तो इसे अनुकरण की संज्ञा देते हैं पिता या अन्य भाई-बहनों को पढ़ते देख बच्चे द्वारा किताब लेकर पढ़ने की मुद्रा बनाना अनुकरण है यद्यपि वह पढ़ने में सक्षम नहीं है।

समाज मनोवैज्ञानिक अनुकरण को चेतन तथा अचेतन दोनों स्तरों पर मानते हैं। तात्पर्य यह है कि अनुकरण जानबूझकर या समझबूझकर अथवा अनजाने में किया जाता है। चेतन रूप से अनुकरण को मिल्लर तथा डालर्ड (Miller & Dollard, 1941) ने नकल करने की संज्ञा दी है। अज्ञात रूप में किसी अन्य व्यक्ति के व्यवहार या क्रियाओं की नकल को अचेतन अनुकरण कहा जाता है। मिल्लर तथा डालर्ड (Miller & Dollard) ने अचेतन अनुकरण को समेल निर्भरता (matched dependent) का नाम दिया है।

विलियम मैकडूगल ((William Mc Dougall; 1909) ने इसके व्यापक स्वरूप को ध्यान में रखकर इसे मूलप्रवृत्ति (Instinct) की कोटि में रखा था। तात्पर्य यह है कि वह इसे एक जन्मजात प्रवृत्ति मानता था जो व्यक्ति के व्यवहार और क्रियाओं को संचालित एवं नियंत्रित करती है। मिल्लर तथा डालर्ड (Miller & Dollard; 1941) एवं मर्फी तथा अन्य (Murphy et al; 1937) तथा अन्य समाजमनोवैज्ञानिकों ने मैकडूगल के विचारों की कड़ी आलोचना की है।

मैकडूगल (Mc Dougall; 1909) के अनुसार, "एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के क्रियाकलाप और शरीर संचालन की नकल मात्र को अनुकरण कहा जाता है। (Imitation is applicable only to the imitation or copying by one individual of the actions, the bodily movements of another.") इसी प्रवृत्ति के कारण बालक अपने पिता के समान प्रभावपूर्ण रूप में चलने का प्रयास करता है, बाप की तरह छड़ी घुमाते हुए चलने का प्रयास करता है।

लिण्टन (Linton; 1945) के अनुसार, "अनुकरण का अभिप्राय दूसरों के व्यवहारों की नकल से है, चाहे नकल करने वाले व्यक्ति को उस व्यवहार की चेतना प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति से सुनकर या अधिक प्रगतिशील समाज में पढ़कर प्राप्त हुई हो।" ("Imitation may be taken to mean copying of the behaviour of other irrespective of whether the imitator has become acquainted with this behaviour through direct observation, through being told about it or in more advance societies through reading about it.")।

थाउले (Thouless; 1951) के अनुसार, "अनुकरण एक ऐसी प्रतिक्रिया है जिसके लिए दूसरों की वैसी ही प्रतिक्रिया का प्रत्यक्षीकरण ही उद्दीपन होता है।" ("Imitation is reaction for which the stimulus is the perception of another's similar reactions.")।

उपर्युक्त परिभाषाओं में अनुकरण के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है जिससे निम्न प्रमुख तथ्य स्पष्ट होते है :—

(i) अनुकरण के लिए किसी प्रतिरूप (Model) का होना अनिवार्य है जिसके व्यवहार या क्रियाओं का निरीक्षण कर वैसा ही किया जा सके ।

(ii) वह व्यवहार या अनुक्रिया अनुकरण करने वाले के लिए महत्वपूर्ण होनी चाहिए; अन्यथा वह उसके अनुकरण का प्रयास नहीं करेगा ।

(iii) व्यवहार या क्रियाओं की नकल चेतन तथा अचेतन दोनों रूपों में संभव है। चेतन और अचेतन का तात्पर्य क्रमशः जानबूझकर या अनजाने में नकल करने से है ।

अनुकरण के प्रकार
(Types of Imitation)

अनुकरण अनेक प्रकार का होता है । इसके प्रकार विशिष्ट मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार परिवर्तित होते हैं । एक प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार अनुकरण के निम्न प्रकार बताये जाते हैं । यह वर्गीकरण मैकडूगल का है ।

1. **सहानुभूतिक अनुकरण (Sympathetic Imitation)**—जब कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति के प्रति सहानुभूति की भावना रखने के कारण उसके व्यवहार एवं क्रियाओं की नकल करता है तो इसे सहानुभूतिक अनुकरण कहा जाता है। कोई बच्चा अपनी माँ को रोते देखकर रोता है तो वह सहानुभूतिक अनुकरण करता है । हम बहुधा दूसरों को दुःखी देखकर स्वयं भी दुःखी हो जाते हैं, दूसरों को हँसते देख स्वयं भी हँसते हैं । मैकडूगल के अनुसार इस प्रकार का अनुकरण अनेक पशुओं और पक्षियों में भी देखा जाता है—जैसे एक कुत्ते को भूँकता देखकर अन्य कुत्ते भूकने लगते हैं । कौवों में प्रवृत्ति अत्यधिक देखी जाती है । एक मृत कौवे को देखकर बहुत से कौवे एकत्र होकर काँव-काँव शुरू कर देते हैं । ऐसा समझा जाता है कि वह मृत कौवे की सहानुभूति में अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण ऐसा करते हैं

2. **विचार क्रिया अनुकरण (Ideomotor Imitation)**—यह अत्यन्त सामान्य पर महत्वपूर्ण प्रकार का अनुकरण है । किसी व्यक्ति की क्रिया दूसरों के मस्तिष्क में उसके जैसे विचार उत्पन्न करती हैं और वह वैसी ही क्रियाएँ करने लगता है, तो इसे विचार क्रिया अनुकरण कहा जाता है। नृत्यांगना के नृत्य से भाव-विभोर होकर जब किसी व्यक्ति के हाथ पैर नृत्य मुद्रा में हिलने लगते हैं । मैकडूगल के अनुसार बच्चे दूसरों की विचित्र क्रियाओं से शीघ्र प्रभावित एवं उनकी ओर शीघ्र आकृष्ट होते हैं अतः इस प्रकार का अनुकरण उनमें अधिक देखा जाता है ।

3. प्रारंभिक अनुकरण (Rudimentary Imitation)—बच्चों में इसकी प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत बच्चे अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं और व्यवहार को बिना किसी प्रयोजन दुहराते हैं। फोन पर बात करते सुनकर बच्चा जब "हैलो" की रट लगाता है तो वह उसका प्रारंभिक अनुकरण होता है। मैक-डूगल के दृष्टिकोण से ऐसा अनुकरण मूलप्रवृत्यात्मक होता है।

4. ऐच्छिक या चेतन अनुकरण (Voluntary or conscious Imition)—इस प्रकार का अनुकरण स्वेच्छानुसार किया जाता है अर्थात् व्यक्ति को इसबात की चेतना होती है कि वह दूसरों के हाव-भाव व्यवहार आदि का अनुकरण कर रहा है। अनेक किशोर अपने मनपसंद फिल्मी सितारों के व्यवहार, हाव-भाव, संवाद, वेशभूषा की नकल करते हैं जो एच्छिक होता है। वस्तुतः परिपक्व व्यक्तियों का अधिकांश अनुकरण इसी श्रेणी में आता है।

5. तार्किक या प्रयोजनयुक्त अनुकरण (Rational or purposive imitation)—जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के व्यवहारों की नकल विशेष प्रयोजन, उद्देश्य या किसी तर्क के आधार पर करता है तो इसे तार्किक अनुकरण कहा जाता है।

अनुकरण के नियम
(Laws of Imitation)

1. उच्च से निम्न का नियम (High to low)—अनुकरण सामाजिक अधिगम की प्रमुख विधि है। समाज में सम्मानित, प्रतिष्ठित एवं उच्च वर्ग वाले लोगों का अनुकरण कम प्रतिष्ठित या तथाकथित निम्न वर्ग वाले करते हैं। फैशन के प्रसार में अनुकरण के इस नियम का पालन किया जाता है। इस प्रकार उच्च से निम्न, धनवान से निर्धन, नगरों से गाँवों की ओर अनुकरण की दिशा होती है कारण यह है कि उच्च एवं सुख सम्पन्न व्यक्तियों के समान वंचित एवं निम्न वर्ग बनने की इच्छा करता है अतः अनुकरण इस प्रकार अग्रसर होता है।

2. बाह्य से आन्तरिक (From external to internal)—सामाजिक अधिगम के अध्ययनों के सिंहावलोकन से विदित होता है कि व्यक्ति सर्वप्रथम सरल एवं बाह्य व्यवहार तथा क्रियाओं का अनुकरण, तब जटिल बाह्य क्रियाओं का, और अन्ततः आन्तरिक क्रियाओं अथवा विचारों, आदर्शों और मूल्यों का अनुकरण करता है।

3. विचारों से अनुक्रियाएँ अधिक स्थिर (Modes of doing persist more then modes of thinking)—विचारों में अपेक्षाकृत अधिक अस्थिरता होती है। बहुधा अनुभव किया जाता है कि किसी व्यवहार की नकल करने पश्चात्

उस व्यवहार से सम्बद्ध क्रियाओं का प्रकाशन काफ़ी दिन बाद भी करता है जबकि उससे सम्बद्ध विचार और अभिवृत्तियाँ शीघ्र विलुप्त हो जाती हैं।

4. अनुकरण का प्रसार रेखागणितीय (Geometrical progression of imitation)—इसका तात्पर्य अनुकरण प्रवृत्ति के तीव्र एवं द्रुत प्रसार से है जैसे दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह, फिर बत्तीस आदि के क्रम से अनुकरण बढ़ता और फैलता है।

अनुकरण के सिद्धान्त

(Theories of Imitation)

1. बेजहॉट का सिद्धान्त (Theory of Bagehot)—इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण की प्रवृत्ति जन्म से ही व्यक्ति में विद्यमान होती है। इसका अभिप्राय: यह है कि बेजहॉट मैकडूगल के समान अनुकरण को मूलप्रवृत्यात्मक मानते थे। चूँकि बच्चों का व्यवहार मूल प्रवृत्तियों द्वारा बड़ों की अपेक्षा अधिक संचालित होता है अत: उनमें व्यस्कों की तुलना में अनुकरण बहुत अधिक देखा जाता है। बेजहॉट ने अनुकरण के एक प्रमुख नियम का उल्लेख भी अपने सिद्धान्त में किया था जिसके अनुसार उच्च वर्ग, या उन्नत वर्ग का अनुकरण निम्न या पिछड़ा वर्ग करता है। किसी समूह या समाज के सदस्यों के अनुकरण की क्रियाशीलता और प्रभाविकता सामाजिक जीवन में बहुत महत्व रखती है। किसी समाज का प्रगति विकास सदस्यों के अनुकरण के क्रियाशील एवं प्रभावशील होने पर निर्भर करता है। समाज की द्रुत प्रगति इस पर निर्भर करती है कि सदस्य अच्छे आदर्शों, मूल्यों, आचार-विचार, अच्छे व्यवहार एवं आचरण अपनाने के लिए अनुकरण द्वारा प्रेरित होते हैं। समाज में आदर्शों, परम्पराओं, प्रथाओं, मूल्यों आदि का पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरण होता रहता है। किन्तु इस सिद्धान्त में निम्न न्यूनताएँ हैं।

(i) अनुकरण को जन्मजात मानना एक भूल है। यह मूलप्रवृत्यात्मक अथवा जन्मजात नहीं हैं। आधुनिक अध्ययनों से प्रमाणित है कि अनुकरण जन्मजात नहीं है वरन् सामाजिक कारकों पर निर्भर करता है अर्थात् अनुभव जनित और समाज जनित है।

(ii) एक अन्य आपत्ति यह भी है कि बेजहॉट ने सामाजिक जीवन में अनुकरण के महत्व को अधिक बढ़ा चढ़ा कर बयान किया है। अनुकरण को सामाजिक जीवन में इतना महत्व नहीं है जितना वह कहता है।

2. टार्डे का सिद्धान्त (Tarde's Theory)—टार्डे भी अनुकरण को एक मूलप्रवृत्ति कहा है किन्तु इसमें कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों का दखल भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार अनुकरण के बिना समाज के अस्तित्व की

कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका मत है कि "सम्पूर्ण समाज एक साकार अनुकरण है।" (The entire society is the lively imitation'.)

उसके अनुसार, किसी समाज या सदस्यों के बीच अन्तःक्रिया समाज के विकास और प्रगति का प्रमुख निर्धारक है। पुनरावृत्ति, विरोध और अनुकूलन अन्तःक्रिया के तीन रूप हैं, जिनका स्वरूप भौतिक, सामाजिक और जैविक होता। उसके अनुसार पुनरावृत्ति, तीन प्रकार की होगी—भौतिक पुनरावृत्ति, जैविक पुनरावृत्ति और सामाजिक पुनरावृत्ति। वह सामाजिक पुनरावृत्ति को ही अनुकरण की संज्ञा देता है। वह अनुकरण को आविष्कार का जनक मानते हैं—नये नये विचार, नई प्रथायें ; नए रीति,रिवाज आदि को वह आविष्कार की श्रेणी में रखते हैं। उसने अनुकरण के कुछ नियम भी प्रतिपादित किये थे जिनकी चर्चा अनुकरण के नियम के अन्तर्गत की जा चुकी है।

टार्डे के सिद्धान्त की अनेक समाज वैज्ञानिकों—

(i) अनुकरण को मूल-प्रवृत्ति मानना वैज्ञानिक साक्ष्यों के अनुरूप नहीं है।

(ii) अनुकरण को सामाजिक प्रगति का आधार मानना अतिशयोक्तिपूर्ण है। यह सामाजिक प्रगति का एक निर्धारक अवश्य है।

3. बैण्डूरा का सिद्धान्त (Bandura's Theory) बैण्डूरा (Bandura 1962) ने नर्सरी के बच्चों को तीन प्रकार की फिल्में दिखाई गई—(i) प्रथम में मॉडेल व्यक्ति को आक्रामक व्यवहार करने पर पुरस्कृत किया गया (ii) आक्रामक व्यवहार के लिए दण्डित किया गया (iii) मॉडेल का व्यवहार अनाक्रामक था। इसे पुरस्कार या दण्ड नहीं मिला। इन तीनों दशाओं के लिये तीन प्रयोगात्मक समूहों की व्यवस्था के अतिरिक्त एक चौथा नियन्त्रित समूह भी था। परिणामों से ज्ञात हुआ कि प्रथम समूह ने मॉडेल का सर्वाधिक अनुकरण किया। अभिप्राय यह है कि मॉडेल के आक्रामक व्यवहार को पुरस्कृत होते देख वह इस मॉडेल के अनुकरण के अनुसार अधिगम करता है।

4. होल्ट तथा आलपोर्ट का सिद्धान्त (Holt & Allport's Theory) —होल्ट अनुकरण की व्याख्या सहज चक्र सिद्धान्त (Reflex-circle theory) के अनुसार करते हैं। इनके अनुसार अनुकरण का आधार तन्त्रिका तन्त्र (Nervous system) है, अन्य लोगों के व्यवहार के अनुभव से एक बाह्य उत्तेजना प्राप्त होती है जिससे तन्त्रिका तन्त्र में एक सहज-क्रिया आरंभ होती है। यही सहज-क्रिया उस उत्तेजना की पुनरावृत्ति करती है जो अनुकरण का आधार होती है। अतः स्पष्ट है कि अनुकरण में सहज-क्रिया प्रमुख भूमिका निभाती है। इस सहज-क्रिया द्वारा पुनरावृत्ति का चक्र आरंभ होता है जिसके फलस्वरूप उस व्यवहार एवं क्रिया की नकल की जाती है।

होल्ट के समान दृष्टिकोण का प्रतिपादन आलपोर्ट ने भी किया है। वह पूर्व-प्रबल सहज क्रिया (Prepotent reflex theory) के आधार पर अनुकरण की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति में सुनने और बोलने की इन्द्रियाँ आपस में सम्बन्ध होकर पूर्व-प्रबल (Prepotent) बन जाती हैं जिसके कारण व्यक्ति देखी, सुनी या अनुभव की गई क्रियाओं का अनुकरण सुगमतापूर्वक करता है। अतः अनुकरण की प्रक्रिया सहज-क्रियाओं पर आधारित है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अनुकरण जन्मजात प्रवृत्ति नहीं है। यह अधिगम जन्य, अथवा अर्जित प्रक्रिया है। इसका अधिगम व्यक्ति अपने अनुभव और सामाजिक कारकों के प्रभाव में होता है।

अनुकरण का सामाजिक जीवन में महत्व
(Importance of Imitation in Social Life)

सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुकरण की प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जीवन के निम्न क्षेत्रों में अनुकरण का महत्व अत्यधिक है।

(i) **सामाजिक अधिगम** (Social Learning)—अधिगम और विशेषकर सामाजिक अधिगम में अनुकरण का विशेष महत्व है बच्चों के सीखने की प्रक्रिया में अनुकरण का स्थान सर्वप्रमुख है। बच्चों में भाषा-शब्द भण्डार, उच्चारण, वाणी आदि वैयक्तिक व्यवहार के सीखने में अनुकरण विशेष महत्व रखता है। सामाजिक अधिगम में मॉडल अधिगम (Model learning) का आधार अनुकरण है। इसी प्रकार भूमिका अधिगम में भी अनुकरण का महत्वपूर्ण योगदान होता है। माँ की भूमिका प्रथम सन्तान के उत्पन्न होने के बाद अन्य अनुभवी महिलाओं की भूमिका के अनुकरण द्वारा सीखी जाती है। इसके फलस्वरूप वह शिशु-पोषण की विधि सीखी जाती है।

(ii) **समाजीकरण** (Socialization)—समाजीकरण की प्रक्रिया अनुकरण के बिना संभव नहीं है। बच्चे सर्वप्रथम माता-पिता, परिवारजनों, पड़ोसियों तथा अन्य प्रियजनों से नाना प्रकार के सामाजिक व्यवहार, सामाजिक अभिवृत्तियों, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं, परम्पराओं, रीतिरिवाज, खान-पान तथा सामाजिक मानकों आदि का अर्जन अनुकरण के द्वारा करते हैं मिल्लर तथा डालर्ड (1941) तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने समाजीकरण की प्रक्रिया में अनुकरण को सर्वाधिक महत्व दिया है।

(iii) **भाषा विकास** (Language Developoment)—भाषा के अर्जन में भी अनुकरण बहुत महत्वपूर्ण है। अपने मां-बाप, भाई-बहनों की भाषा बच्चे अनुकरण के ही माध्यम से सीखते हैं। बोलने का ढंग, उच्चारण, अक्षरों पर बल और वाणी (Speach) शैली का सीखना अनुकरण जन्य होता है।

(iv) **व्यक्तित्व विकास (Personality Developments)**—अनुकरण, व्यक्तित्व के विकास में बहुत महत्वपूर्ण है। व्यक्तित्व लक्षणों--जैसे अन्तर्मुखता, बहिर्मुखता, आक्रामकता, विनम्रता, भीरुता, प्रभुता आदि गुणों का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है। इसके अलावा आदतों, विचारों, भावनाओं, आदि का गत्यात्मक संगठन ही व्यक्तित्व है। वयस्कों की अपेक्षा बालकों के व्यक्तित्व विकास में अनुकरण का महत्व काफी अधिक होता है।

(v) समाज एवं संस्कृति के अस्तित्व को बनाये रखने में अनुकरण का प्रमुख योगदान होता है। अनुकरण द्वारा ही समाज अपने मानकों, मूल्यों तौर तरीकों को बनाए रखना संभव होता है। समाज एवं संस्कृति का अस्तित्व अनुकरण के चलते बना हुआ है और अगली पीढ़ी को हस्तांतरण भी इसी के कारण होता है।

(vi) सामाजिक संगठन का आधार भी अनुकरण की प्रक्रिया है। सामाजिक नियमों, व्यवहार की नियमितताओं, आचार-विचार, आदर्शों आदि को व्यक्ति अनुकरण द्वारा सीखता है और इन्हीं के कारण सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्तियों के व्यवहार में एकरूपता या सामाजिक समरूपता देखी जाती है।

इस प्रकार निःसन्देह समाज के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति में अनुकरण प्रमुख योगदान देता है।

सहानुभूति
(Sympathy)

दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाला एक सामान्य और बहुप्रयुक्त शब्द है। इसका आधार व्यक्ति अनुभूतियाँ और ज्ञान होते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों की पीड़ा, उनके दुःख आदि की अनुभूति करके स्वयं दुःखी हो जाता है तो इसे सहानुभूति कहा जाता है। किन्तु यह इसका व्यापक अर्थ नहीं है जैसा कि समाज मनोवैज्ञानिक समझते हैं। वह इसे और व्यापक अर्थों में अनुप्रयुक्त करते हैं। व्यापक रूप में सहानुभूति का तात्पर्य समान भावना या भाव सम्प्रेषण से लिया जाता है। समान भावना के संचार से दया, करुणा ही नहीं वरन् क्रोध, इर्ष्या, द्वेष, घृणा का अनुभव भी होता है। मित्र के शत्रु के प्रति क्रोध, द्वेष, घृणा का प्रकाशन, और मित्र के प्रति स्नेह का संचार होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सहानुभूति व्यक्त कर रहे व्यक्ति में वही संवेग अथवा वही भाव आविर्भूत होना आवश्यक है जो उस आदमी में होता है जिसके लिये हमारे मन में सहानुभूति उत्पन्न होती है। सहानुभूति से पशु भी खाली नहीं होते। कौवा तथा बन्दर का उदाहरण लें। जब एक बन्दर किसी मुसीबत में फँस जाता है तो बहुत सारे बन्दर वहाँ एकत्र होकर अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं। इसी प्रकार यदि एक कौवा

घायल हो जाए तो अनेक कौवे एकत्र होकर अपनी हमदर्दी जताते और दिखाते हैं। सहानुभूति में समान भावनाओं का संचार होता है।

जेम्स ड्रेवर (James Drever, 1968) के अनुसार, "दूसरों के भाव और संवेगों के प्राकृतिक अभिव्यक्तिपूर्ण चिन्हों को देखते ही उसी के समान भावों और संवेगों के अनुभव की प्रवृत्ति को सहानुभूति कहते हैं।" ("The tendenoy to experience the feelings and emotions of others immediataly on perceiving the natural expressive signs of these feelings and emotions.")

इवान्स (Evans 1978) के मतानुसार, "दूसरों के संवेगों की अभिव्यक्ति के प्रति अनुक्रिया करने की क्षमता को सहानुभूति कहा जाता है।" (Sympathy, is ability to respond to another's expression of emotionality.")

मैकडूगल (Mc Dougall 1908) के अनुसार, "साधारण अर्थ में एक कोमल भाव है जो उस व्यक्ति के प्रति होता है जिसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की जाती है···। दूसरों के दुःख में दुखी होना या किसी व्यक्ति अथवा प्राणी में एक विशेष भावना या संवेग को देखकर स्वयं में भी वैसी भावना या संवेग का अनुभव करना ही सहानुभूति है।" ("The word sympathy, as popularily used, generally implies a tender feeling regarding the person with whom we are said to sympathise...it is the suffering with the experiencing of any feeling or emotion and because we observe in other persons or creatures the expression of that feeling or emotion.")

उपर्युक्त परिभाषाएँ सहानुभूति के विषय में निम्न बातों पर बल देती हैं—

(i) सहानुभूति भी सुझाव तथा अनुकरण के समान द्विपक्षीय प्रक्रिया है। एक सहानुभूति का पात्र होता है और दूसरा सहानुभूति का अनुभव करता है।

(ii) सहानुभूति प्रक्रिया में भावनाओं और संवेगों की प्रधानता होती है। क्रियाएँ तथा व्यवहार उतने प्रमुख नहीं होते।

(iii) सहानुभूति प्रकट करने वाले में हूबहू उसी प्रकार के भाव और संवेग उत्पन्न होते हैं जैसे संवेग और भाव सहानुभूति प्राप्त करने वाला अभिव्यक्त करता है।

सहानुभूति के प्रकार
(Types of Sympathy)

1. सक्रिय सहानुभूति (Active sympathy)—इस प्रकार की सहानुभूति में एक आदमी दूसरे आदमी के वेदना या पीड़ा की अनुभूति के साथ उसे कम करने के विचार से सक्रिय होता है, अर्थात् उसे तसल्ली देता है, प्रकृति के नियम

बताता है, जैसे मृत्यु के बाद तसल्ली देते हुए कहा जाता है कि यह सब ऊपर वाले की महिमा है। जो जन्म लेता है उसे मृत्यु तो आनी ही है।

2. निष्क्रिय सहानुभूति (Passive sympathy)—इसमें एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों या व्यक्ति के दुःखों की अनुभूति तो करता है किन्तु किसी प्रकार की सक्रियता व्यक्त नहीं करता। वह भावनाओं और संवेगों का मात्र अनुभव करता है। किन्तु सक्रिय रूप से सहानुभूति के पात्र की कोई मदद नहीं करता।

3. मौखिक सहानुभूति (Lip sympathy)—ऐसी सहानुभूति में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ केवल जबानी हमदर्दी या दिखावटी सहानुभूति व्यक्त करता है और वास्तव में दूसरे के संवेगों और भावों की अनुभूति उसे नहीं होती।

4. वैयक्तिक सहानुभूति (Personal sympathy)—ऐसी सहानुभूति पूर्ण रूप से व्यक्तिगत स्तर पर होती है, जैसे मृत्यु शैय्या पर पड़े व्यक्ति के प्रति सहानुभूति व्यक्तिगत होती है।

5. सामूहिक सहानुभूति (Collective sympathy)—जब सहानुभूति किसी व्यक्ति विशेष के प्रति न होकर समूह के प्रति होती है तो इसे सामूहिक सहानुभूति कहते हैं। जैसे भूकम्प पीड़ितों, बाढ़ पीड़ितों आदि के प्रति सहानुभूति।

सहानुभूति के निर्धारक
(Determinants of Sympathy)

1. पूर्व अनुभव (Past experience)—पूर्व अनुभव सहानुभूति को बहुत प्रभावित करता है। सहानुभूतिक व्यवहार अर्जित व्यवहार है। इसलिये यह सीखा हुआ होता है। प्रत्येक सीखे व्यवहार में पूर्व अनुभव महत्वपूर्ण होता है। कोई भी व्यक्ति उसी अनुपात में सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करेगा जितना उसे विगत दिनों में सीखा है या जितना अधिक उसे ऐसे व्यवहार का विगत अनुभव है।

2. कल्पना शक्ति—कल्पना शक्ति भी सहानुभूति को प्रभावित करती है। किसी व्यक्ति में कल्पना शक्ति जितनी अधिक होगी उसमें सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की संभावना भी उतनी ही अधिक होगी।

3. सांवेगिकता (Emotionality)—सहानुभूति उत्पन्न होने की संभावना बहुत कुछ सांवेगिकता पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति भावप्रधान एवं अत्यधिक संवेगशील होता है उसके द्रवित होने या अन्य लोगों के दुःखों से शीघ्र प्रभावित होने और उसमें सहानुभूति की उत्पत्ति की संभावना ज्यादा होती है।

4. परिस्थिति का ज्ञान—सहानुभूति के पात्र समझे जाने वाले व्यक्ति की परिस्थिति के स्वरूप को जानना एवं समझना भी सहानुभूति की उत्पत्ति को प्रभा-

वित करता है। परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान होने पर सहानुभूति के उत्पन्न या अनुत्पन्न होने की संभावना निर्भर करती है।

सामाजिक जीवन में सहानुभूति का महत्व
(Importance of Sympathy in Social Life)

सामाजिक जीवन में सहानुभूति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। यदि मनुष्यों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति न होती तो पता नहीं समाज की क्या दशा होती। सहानुभूति लोगों में सामाजिक बन्धनों को सुदृढ़ करती है। इसी कारण समाज में एकता एकरूपता, संगठन, परोपकार, मित्रता आदि विशेषताएँ देखी जाती हैं।

(i) **मित्रता की जननी**—यदि लोग सहानुभूति के भाव से वंचित होते तो संभव था कि मित्रता नाम की कोई चीज मानव समाज में न होती। किसी के दुःखों की अनुभूति उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती है और उनकी दूरी घटती है, उनमें मित्रता की संभावना बढ़ती है। दैवी विपदाओं-भूकम्प, सूखा, बाढ़ आदि के समय प्रभावित देश की सहायता करने वाले देश से गहरी मित्रता की संभावना होती है।

(ii) **सामाजिक एकता एवं संगठन**—सामाजिक एकता एवं संगठन की स्थापना में भी सहानुभूति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। मैकडूगल (Mc Dougall, 1934) के अनुसार "सहानुभूति वह सीमेंटिंग शक्ति है जो समाज को एक सूत्र में बाँधती है, किसी समूह के सदस्यों को शक्तिमय बनाती है। सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता विकसित करती है, एवं सामाजिक जीवन के कुछ बुनियादी लाभों को भी प्रदान करती है।" सहानुभूति मानव जीवन में मिठास लाती है। सौहार्द और शान्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।

(iii) **परोपकार को बढ़ावा**—सहानुभूति से परोपकारी कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है। सहानुभूति, समाज में अनेक उपयोगी कार्यों का आधार है। सहानुभूति के कारण समाज में अनेक लोग परोपकारी कार्य—जैसे अनाथ आश्रम, वृद्ध गृह, विधवा विवाह केन्द्र आदि की सहायता करते हैं। विकलांगों—अन्धे, बहरे, गूंगे, अपङ्ग, मानसिक मन्दन से पीड़ित व्यक्तियों की सहायतार्थ दान देते हैं या केन्द्र चलाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव जीवन में पारस्परिक, सम्बन्धों, स्नेह, मित्रता, परोपकार आदि का आधार सहानुभूति है।

अध्याय 18
सामाजिक परिवर्तन
(Social Change)

परिवर्तन जीवित समाजों का प्रमुख लक्षण है। हर समाज में हर समय कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ करते हैं। परिवर्तन-प्रकृति का नियम है, इसी कारण संसार की कोई भी चीज स्थायी नहीं है। चूँकि संसार की कोई चीज स्थायी नहीं है इसलिए मानव समाज में भी परिवर्तन आता रहता है। सामाजिक परिवर्तन से हमारा तात्पर्य सामाजिक संरचना (social structure) यथा सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है सामाजिक प्रतिमानों (social patterns), सामाजिक मानकों, सामाजिक मूल्यों और सामाजिक प्रक्रियाओं में आए परिवर्तनों से हमें सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तनों का बोध होता है। सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से अभिप्राय कुछ व्यक्तियों में परिवर्तन से नही अपितु सम्पूर्ण समाज में आए व्यापक परिवर्तनों से है।

इस विषय में एक मान्य तथ्य यह है कि व्यक्ति ही समाज की इकाई है, अर्थात् समाज की रचना व्यक्तियों द्वारा होती है। मनुष्य एक सामाजिक जीव होने के नाते दूसरों से अन्तक्रिया करता है, उनके सम्पर्क में आता है। अन्तक्रिया के फलस्वरूप परिवर्तन अवश्यम्भावी है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों परिवर्तनशील हैं। आज हमारे भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं जिनकी शुरूआत पिछले पचास वर्षों में हुई है। उदाहरण के लिए बालिकाओं को शिक्षा देना आज 50-60 वर्ष पूर्व अच्छा नहीं समझा जाता था। अब स्थिति ऐसी है कि शायद ही कुछ लोग भारतीय समाज में ऐसे होंगे जो बालिकाओं की शिक्षा के विरोधी होंगे। प्राचीन भारतीय समाज में अध्यापन को जो प्रतिष्ठा प्राप्त थी अब वह बाकी नहीं है। अध्यापक शिष्य रिश्तों का भी भौतिकीकरण हो गया है।

कबीर ने गुरु की महिमा में कहा था—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाय,
बलिहारी गुरु आपनों गोविन्द दियो बताय।

क्या आज वस्तुस्थिति ऐसी है। शैक्षिक संस्थाओं के परिसर और गुरु-शिष्य सम्बन्धों की मौजूदा हालत में हम यह नहीं कह सकते कि सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप वह सम्बन्ध बदल चुका है। किसी शायर ने क्या खूब नक्शा खींचा है।

पहले शागिर्द डरा करते थे पिटने से,
अब इसी फ़िक्र में उस्ताद रहा करते हैं।

यह सब सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ
(Meaning of Social)

गिलिन एवं गिलिन (Gillin & Gillin; 1950)—के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन का अर्थ जीवन व्यतीत करने के स्वीकृत विधियों में होनेवाले परिवर्तनों से है—वह चाहे भौगोलिक कारणों से हों, सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की संरचना अथवा किसी समूह में आविष्कार के प्रसार से उत्पन्न हुए हों।" ("We may define social change as variations from the accepted modes of life, whether due to atteration in geographic condition, in cultural equipments, composition of the population or ideologies and whether brought about by diffusion of invention within the group.")।

मैकाइवर तथा पेज (Mc Iver and Page) ने सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहा है। जोन्स (Jones) के अनुसार "सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक संरूप, सामाजिक अन्तर्क्रिया अथवा सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में परिवर्तन या संशोधनों के विवरण के लिए ही सामाजिक परिवर्तन का उपयोग होता है।" ("Social change is a term used to describe variations or modifications of any aspect of social processes, social patterns, social interaction or social organizations.") जेन्सन (Gensen) ने कहा है कि "सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा व्यक्तियों की कार्यप्रणाली तथा विचार के ढंग में होने वाले परिवर्तनों के रूप में कर सकते हैं।" ("Social change may be defined as modification in ways of doing and thinking of people.")।

फ़िशर (Fisher; 1983) ने कहा है," समाज की सामाजिक सरचना में, अर्थात् समाज के प्रचलित मूल्यों, मानकों, भूमिकाओं तथा अन्य इसी तरह के तत्वों जिनके द्वारा रहन-सहन की मूल व्यवस्था की अभिव्यक्ति होती है, में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।" ("Social change is a modification or atteration us the social structure of a society, that is, in the basic arrangements of living as expressed in society's shared values, norms, roles and so on.")।

मेरिल तथा एल्ड्रेज (Merill & Eldredge; 1975)—के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन से अर्थ यह होता है कि अधिक संख्या में लोग वैसी क्रियाएँ करने लगते हैं जो उन क्रियाओं से भिन्न होता है जो उनके नजदीकी पूर्वजों द्वारा कुछ समय पहले किया जाता था।" ('Social change means that large number of persons are engaging in activities that differ from those which they or their immediate forefathers engaged in some time before." ।

उपर्युक्त तथा अन्य परिभाषाओं से सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप तथा अर्थ के विषय में निम्न तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—

(i) सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।

(ii) समाज के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा समाज के मूल्यों, मानकों, आदर्शों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।

(iii) इस प्रकार सामाजिक जीवन के ढंग, विधियों, प्रतिमानों में मूल एवं व्यापक परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

(Characteristics of Social Change)

1. **सामाजिक परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है** (Social change is a complex process)—सामाजिक परिवर्तन के भौतिक पक्ष या क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन अत्यन्त जटिल एवं अप्रत्यक्ष होते हैं। इसके अन्तर्गत विचारों, अभिवृत्तियों, भावों, मूल्यों, आदर्शों और मानकों आदि में होने वाले परिवर्तन सम्मिलित हैं जो काफी जटिल एवं अप्रत्यक्ष होते हैं। अतः यह कहना गलत न होगा कि सामाजिक परिवर्तन जटिल होते हैं। हाँ, परिवर्तन के भौतिक पक्ष अवश्य सरल और प्रत्यक्ष होते हैं। किन्तु सामाजिक परिवर्तन का मूल तात्पर्य अभौतिक क्षेत्र के परिवर्तनों से है जो जटिल होते हैं।

2. **सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक होते हैं** (Social changes are universal)—सामाजिक परिवर्तन पूरे समाज में व्याप्त होता है। इनमें पुराने तथा आधुनिक (Primitive and modern) सभी प्रकार के समाज प्रभावित होते हैं। क्योंकि कोई समाज बिल्कुल स्थिर नहीं होता। समाज के मूल्यों, नियमों, मानकों और तकनीकी सभी में परिवर्तनों का आना अवश्यम्भावी है। हाँ, इतना अवश्य है कि परिवर्तनों का वेग विभिन्न समाजों में एक जैसा नहीं होता।

3. **कई कारकों की अन्तःक्रिया** (Interaction of several factors)—सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं और समाज में परिवर्तन इनकी अन्तः-क्रिया का परिणाम होता है। परिवर्तन के प्रमुख कारक जैविक, तकनीकी और भौतिक होते हैं और परिवर्तन में सभी का योगदान होता है।

4. समूह में सार्थक परिवर्तन (Significant changes in society)—सामाजिक परिवर्तनों से समाज में सार्थक एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। इसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन की संभावना होती है जैसाकि मूर (W. E. Moore; 1974) के अनुसार "सामाजिक परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था का अंग हैं। सामाजिक परिवर्तन इसलिए महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि इनके द्वारा न केवल सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक संरचना में बदलाव आते हैं वरन् इसके द्वारा कार्य प्रणाली, सामाजिक संगठन, सामाजिक अन्तक्रिया और जीवन शैली में भी परिवर्तन आते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाते हैं।

5. इसके स्वरूप का पूर्वकथन नहीं किया जा सकता (Its nature can not be predicted)—समाज में परिवर्तन अपरिहार्य हैं किन्तु इनके स्वरूप का पूर्वकथन नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि इसबात का पूर्वकथन नहीं किया जा सकता कि किसी समाज में आने वाले समय में क्या सामाजिक परिवर्तन होंगे। परिवर्तनों के वास्तविक स्वरूप का पूर्वकथन नहीं किया जा सकता। यद्यपि परिवर्तन का आना अवश्यम्भावी है। उदाहरण के लिए दहेज की प्रथा के खिलाफ अनेक समाज सेवी संस्थाओं द्वारा चलाए जा रहे आन्दोलनों से यह तो कहा जा सकता है कि भविष्य में दहेज प्रथा में कुछ परिवर्तन हो सकते हैं किन्तु इन परिवर्तनों के स्वरूप का पूर्वकथन करना कठिन है।

6. इन परिवर्तनों की गति निश्चित नहीं होती (The speed of these changes cannot be determined)—विभिन्न सामाजिक समूहों और समाजों में परिवर्तन समान गति से नहीं आते। किसी में द्रुत गति में परिवर्तन होते हैं तो अन्य में परिवर्तन गति मन्द हो सकती है। यही नहीं इन परिवर्तनों का मापन भी दुर्लभ एवं जटिल है। सापेक्षिक गति की तुलना के द्वारा यह कह सकते हैं कि अमुक समाज में द्रुत या मन्द गति परिवर्तन हो रहे है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की गति अनियमित होती है।

7. सामाजिक परिवर्तन चक्रीय होते हैं (Social change is cyclical) सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप में चक्रीयता व्यक्त होती है। तात्पर्य यह है कि समाज के जो मानक, मूल्य और आदर्श परिवर्तन के कारण अदृश्य हो गए थे वह कुछ समय बाद सामाजिक परिवर्तन के कारण फिर चलन में आसकते हैं। उदाहरण के लिए भारत में पहले निजीकरण (Privatization) का चलन था। स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीयकरण का बोलबाला हुआ और आर्थिक उदारीकरण (economic liberlization) के कारण पुनः निजीकरण को वरीयता दी जा रही है। अतः यह कहना उचित है कि सामाजिक परिवर्तन चक्रीय होते हैं।

8. **सामाजिक परिवर्तन अपरिहार्य हैं** (It is inevitable)—लूमले (Lumley) ने कहा है कि, "अनेक कारणों से सामाजिक परिवर्तन अपरिहार्य अथवा अवश्यभावी होते हैं।" ("Social change has been and is inevitable/ unavoidable for many reasons")—कोई समाज ऐसा नहीं हो सकता जिसमें कोई सामाजिक परिवर्तन न हुआ हो। तात्पर्य यह है कि किसी भी समाज में सामाजिक परिवर्तन अथवा इसकी गति को रोका नहीं जा सकता। अतः समाज को परिवर्तनों से किसी समाज को बचाया नहीं जा सकता।

9. **सामाजिक परिवर्तन आकस्मिक होते हैं** (Social change is sudden)—कभी-कभी कुछ सामाजिक परिवर्तन बहुत कम समय में या कम प्रयास से होते हैं। जब किसी मूल्य, मानक या सामाजिक नियम में परिवर्तन के लिये व्यग्रता एवं तत्परता होती है तो सामाजिक परिवर्तन काफी आकस्मिक से प्रतीत होते हैं।

10. **सामाजिक परिवर्तन में प्रतिरोध भी होता है** (Social change involves resistance)—कभी-कभी सामाजिक परिवर्तन में प्रतिरोध व्यक्त होते हैं। उदाहरण के लिए अनेक लोग मुस्लिम पर्सनल कानून में परिवर्तन के इच्छुक हैं किन्तु जब कोई ऐसा आन्दोलन शुरू होता है तो मुस्लिम समाज प्रतिरोध व्यक्त करता है और आन्दोलन फीका पड़ जाता है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रकार

(Types of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन चार प्रकार के बताये जाते हैं :—

1. **चेतन सामाजिक परिवर्तन** (Conscious social change)—ऐसे सामाजिक परिवर्तन जो व्यक्तियों, संगठनों या समूह के सतत एवं चेतन प्रयास का परिणाम होते हैं, उन्हें चेतन परिवर्तन कहा जाता है। इनके लिये व्यक्तिगत या सामूहिक संघर्ष किए जाते हैं। यह परिवर्तन सुनियोजित होते हैं। इसके लिए अनेक बार अन्दोलन चलाए जाते हैं—जैसे राजा राम मोहन राय ने सती प्रथा को समाप्त करने का अन्दोलन चलाया। इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन के लिए जनमत निर्माण के विविध उपाय एवं साधन अपनाए जाते हैं। वर्त्तमान समय में सामाजिक न्याय आन्दोलन भी इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

2. **अचेतन सामाजिक परिवर्तन** (Unconscious social change)—सहजे एवं स्वाभाविक तौर पर आने वाले परिवर्तन इस श्रेणी में रखे जाते हैं। इनके लिए चेतन प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

ऐसे परिवर्तन को किसी सुनियोजित आन्दोलन, अभियान या क्रान्ति की आव-

स्थकता नहीं होती। महामारी, भूकम्प, अकाल, बाढ़ के समय स्वतः सामाजिक संरचना में बदलाव के लक्षण व्यक्त होते हैं। युद्ध की स्थिति, सामाजिक संघर्ष और साम्प्रदायिक दंगे या अन्य संकट कालीन परिस्थितियाँ भी स्वतः सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाती हैं। यह सभी अचेतन सामाजिक परिवर्तन का उदाहरण हैं।

3. **उर्ध्वगामी सामाजिक परिवर्तन** (Upward social change)—ऐसे सामाजिक परिवर्तन समाज की प्रगति एवं उन्नति को बढ़ाते हैं। यह परिवर्तन सकारात्मक होते हैं। यह सामाजिक मानकों, मूल्यों एवं आदर्शों में पहले की अपेक्षा और परिपक्वता लाते हैं तथा उन्हें यथार्थ परक बनाते है। महिलाओं की शिक्षा, महिलाओं का नौकरी करना, परिवार कल्याण और जनसंख्या वृद्धि से बचाव के उपायों से जनजागरण और परिणामस्वरूप समाज में परिवर्तन इसी श्रेणी में आते हैं।

4. **निम्नगामी सामाजिक परिवर्तन** (Down ward social change)—यह सामाजिक परिवर्तन नकारात्मक होते हैं और इनसे समाज की अवनति होती है। यह परिवर्तन सामाजिक मानकों, मूल्यों एवं आदर्शों को अघात पहुँचाते है, जिनके कारण समाज की संरचना में विघटन होता है, व्यवस्था अस्त-व्यस्त होती है और समाज की अवनति तथा सभ्यता का पतन होता है।

सामाजिक परिवर्तन के कारण

(Causes of Social Change)

समाज वैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों द्वारा सामाजिक परिवर्तन के कारकों पर प्रकाश डाला है जो इसके स्वरूप को समझने में सहायक होते हैं। इन कारकों में प्रमुख कारक निम्न हैं—

1. **आनुवंशिक कारक** (Hereditary or Biological factors)—जैविक अथवा आनुवंशिक कारक से तात्पर्य उन कारकों से है जिनके कारण मानवजाति का विकास पीढ़ीदर पीढ़ी चलता रहता है। प्राणी को वरासत में मिले गुण जैविक या आनुवंशिक होते हैं। मैकाइवर तथा पेज (Mac Iver & Page, 1960) के कथनानुसार जैविक कारकों का प्रभाव सामाजिक मूल्यों पर इतना पड़ता है कि इससे सामाजिक परिवर्तन में तीव्रता आती है। इसके फलस्वरूप लोगों के विश्वासों, मूल्यों, रीति-रिवाजों एवं मानकों में परिवर्तन आते हैं। जन-संख्या वृद्धि सामाजिक-आर्थिक स्तर में गिरावट का कारण होती है और यह महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन ला सकती है। तात्पर्य यह है जनसाधारण में परिवार को छोटा एवं सीमित रखने की मानसिक तत्परता विकसित हो सकती है।

2. **भौतिक कारक** (Physical factors)—इसके अन्तर्गत वातावरण से सम्बद्ध तथा भौगोलिक कारक आते हैं। भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व आन्दोलन से

सामाजिक परिवर्तन आए जिनके फलस्वरूप भारतीयों ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, तथा खादी वस्त्रों, और अन्य देशी वस्तुओं का उपयोग आरम्भ किया, अंग्रेजों की सहायता से चल रही शैक्षणिक संस्थाओं का बहिष्कार और काशी विद्यापीठ तथा जामिया मिल्लिया देहली की स्थापना हुई। यह सभी सामाजिक परिवर्तन का ही उदाहरण है जो वातावरण के बदलाव के कारण था। इसी प्रकार स्वतन्त्रता के बाद भी वातावरण में बदलाव के कारण अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए। भौगोलिक कारण भी सामाजिक परिवर्तन लाते हैं, जैसे महामारी, भूकम्प, सूखा आदि भौतिक कारक भी समाज की संरचना में परिवर्तन लाते हैं।

3. **आर्थिक कारक** (Economic factors)–इस दिशा में हुये अध्ययनों से विदित होता है कि आर्थिक प्रगति एवं अवनति भी समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तनों को उत्पन्न करती है। लिण्टन तथा काडिनर (Linton & Kardiner 1952) ने अपने अध्ययनों द्वारा आर्थिक उन्नति तथा सामाजिक परिवर्तन में सम्बन्ध प्राप्त किया है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) का मत है कि सामाजिक परिवर्तन समाज के आर्थिक परिवर्तनों से प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध हैं। इतिहास के सिंहावलोकन से ज्ञात होता है कि लोगों के चिन्तन, अभिवृत्ति, रहन-सहन, प्रथाओं, परम्पराओं और जीवन शैली में परिवर्तन उनकी आर्थिक प्रगति से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। समाज के मूल्य, मानक, आदर्श आदि सभी अर्थव्यवस्था से जुड़े हुये हैं।

4. **प्राद्यौगिक कारक** (Technological factors)—प्राद्यौगिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। आगबर्न (1952) ने प्राद्यौगिक कारक को सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारक माना है। उसके अनुसार प्राद्यौगिकी के कारण भी सामाजिक परिवर्तन होते हैं। आज का युग मशीन का युग है जिसके कारण अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों (interpersonal relations) में काफी परिवर्तन आ गया है। इस सन्दर्भ में ऑगबर्न (Ogburn, 1965), क्लिन (Klin, 1985) जानसन (Johnson, 1975), आदि ने अध्ययन किए हैं जिनसे ज्ञात हुआ है कि प्राद्यौगिक कारक के अन्तर्गत चार उपकारक आते हैं—

(क) **उद्योग में मशीनीकरण** (Mechanization of industry)—उद्योगों के मशीनीकरण से उनकी कार्यक्षमता एवं उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसके परिणामस्वरूप उद्योगों में कार्यरत कर्मियों की आर्थिक स्थिति अच्छी हुई है और उनके सामाजिक सम्बन्धों में काफी प्रगति हुई है।

(ख) **सम्प्रेषण के साधनों का विकास** (Development in means of communication)–सम्प्रेषण के नवीन साधनों–टेलीविजन, रेडियो, टेलीफोन, बेतार के तार, टेलीप्रिंटर, फैक्स (Fax) समाचार पत्रों आदि के कारण पूर्व की

तुलना में सामाजिक सम्बन्धों में सार्थक परिवर्तन व्यक्त हुए हैं। इन साधनों के विकास से सामाजिक सम्बन्धों में बदलाव आए हैं।

(ग) यातायात के साधनों में वृद्धि (Increase in means of transport)—यातायात के आधुनिक साधनों—जैसे वायुयान, बस, कार, रेल आदि के कारण न केवल आवागमन सुगम हुआ है वरन् राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई है, जिससे प्राचीन मूल्यों, आदर्शों, विश्वासों एवं अभिवृत्तियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं और इनके चलते सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आए हैं।

(घ) कृषि तकनीकों में विकास (Development of agricultural techniques)—प्रावैधिक विकास के चलते कृषि के क्षेत्र में तकनीकी विकास हुआ है। हरित क्रान्ति इन्हीं नवीन तकनीकों के चलन का परिणाम है जिससे कृषि से जुड़े लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार आए हैं। आर्थिक प्रगति के कारण जन-साधारण के पारस्परिक सम्बन्धों की संरचना भी प्रभावित हुई है।

5. सांस्कृतिक कारक (Cultural factors)—सांस्कृतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तनों से समाज में प्रचलित मूल्य, प्रथाओं, परम्पराओं, अभिवृत्तियों और सामाजिक सम्बन्ध सभी कुछ प्रभावित होता है। भारतीय समाज में गुरु को जो सम्मान पहले प्राप्त था वह अब नहीं देखा जाता। इसका कारण सामाजिक परिवर्तन है। सांस्कृतिक बदलाव के कारण पुराने रीतिरिवाजों, मानकों, विश्वासों आदि में पर्याप्त भिन्नताएँ आई हैं।

6. शैक्षिक कारक (Educational factors)—कुछ विद्वान यह मानते हैं कि औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा भी सामाजिक परिवर्तनों को प्रभावित करती है श्रीनिवासन (Sri Niwasan, 1989) का मत है कि भारत में शैक्षिक जागरूकता के कारण सामाजिक सम्बन्धों में पर्याप्त बदलाव आए हैं। शिक्षा के प्रसार ने महिलाओं के जीवन को जिस प्रकार भारत में प्रभावित किया है उससे सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा का योगदान स्पष्ट है।

7. मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological factors)—कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों के प्रभाव से भी सामाजिक परिवर्तन आते हैं। समाज के सदस्यों में विद्यमान प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग, कुण्ठा, उत्सुकता, नवीनता आदि की प्रवृत्तियाँ भी सामाजिक परिवर्तन का कारण हैं। व्यक्ति को नई वस्तुएँ, नये आदर्श, नये विचार आकर्षक प्रतीत होते हैं क्योंकि पुराने आदर्शों, विचारों और पुरानी वस्तुओं से वह ऊब जाता है। कभी-कभी परिवर्तनों का होना भी अच्छा होता है अन्यथा जन-साधारण में व्याप्त कुण्ठाएँ, आक्रोष, स्पर्द्धा क्रान्ति का रूप ले लेती है।

8. महान व्यक्तियों द्वारा परिवर्तन (Changes through great men)—इतिहास साक्षी है कि कभी-कभी सामाजिक परिवर्तन महान व्यक्तियों के प्रयासों से आते हैं। भारत में महात्मा बुद्ध, राजाराम मोहन राय, डॉ० अम्बेडकर, महात्मा गाँधी ने अपने प्रयासों से विभिन्न प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों को दिशा प्रदान की। स्वामी दयानन्द, पं० मदन मोहन मालवीय, सर सैयद अहमद खाँ आदि महापुरुषों ने भी अपने विचारों, दृष्टिकोणों तथा कार्यों द्वारा तत्कालीन भारतीय समाज को विभिन्न रूपों में परिवर्तित किया।

9. राजनैतिक कारक (Political factors)—राजनैतिक कारक भी आज के सामाजिक जीवन में अपना विशेष महत्व रखते हैं। यह सामाजिक परिवर्तन को भी प्रभावित करते हैं। राजनैतिक घटनाएँ, नेतृत्व, शासन प्रणाली, आदि भी सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव डालती हैं। स्वतंत्रता के बाद भारत में जो राजनैतिक परिवर्तन आए उनके चलते अनेक प्रकार के सामाजिक परिवर्तन हुए। राजनैतिक दशाओं तथा सामाजिक दशाओं में प्रत्यक्ष संबन्ध होने के नाते राजनैतिक कारणों से भी समाज के मूल्य, विश्वास, विचार, रीतिरिवाज, आदर्श आदि परिवर्तन होते हैं। सामाजिक न्याय, मण्डल, आदि मुद्दे राजनैतिक कारकों की देन हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन अनेक कारकों द्वारा आते हैं। सामाजिक परिवर्तन होता क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त विवरण में नहीं दिया गया है। इसके लिए परिवर्तन के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना आवश्यक है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

(Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप तथा इसके कारणों की व्याख्या के लिए समाज वैज्ञानिकों ने अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त कहे जाते हैं। इनमें से प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं :—

1. चक्रीय सिद्धान्त (Cyclical theory)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में सारोकिन तथा स्पेंगलर के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक सामाजिक घटना स्वतः कुछ समय के अन्तराल से बार-बार घटित होती है और सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक परिवर्तन सर्वदा चक्रीय क्रम में घटित होते हैं। जो सामाजिक परिवर्तन सम्प्रत में हो रहे हैं वह धीरे-धीरे भविष्य में परिवर्तित होंगे और फिर कभी वही परिवर्तन होंगे जो आज हो रहे हैं। स्पेंगलर के अनुसार सभ्यता का जीवन चक्र किसी व्यक्ति के जीवन चक्र सदृश होता है। जीवन में कभी सुख तो कभी दुख और तदनुसार लोगों के विश्वासों, विचारों, मूल्यों और अभिवृत्तियों में परिवर्तन होते रहते हैं।

2. सांस्कृतिक सिद्धान्त (Cultural theory)—सारोकिन (Sorokin) द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का उल्लेख मूर (Moore; 1974) द्वारा किया गया है।

(i) उसका मत है सामाजिक परिवर्तनों की कोई विशेष दिशा नहीं होती। यह सांस्कृतिक कारकों द्वारा प्रभावित इस प्रक्रिया में उन्नति और अवनति सांस्कृतिक तत्वों के अनुसार आती है।

(ii) संस्कृति के तीन पक्ष होते हैं—इन्द्रियपरक संस्कृति, विचारपरक संस्कृति, तथा, आदर्शवादी संस्कृति। इनमें से प्रथम भौतिक पक्ष से सम्बद्ध है अतः भौतिक संस्कृति भी कही जाती है। विचारात्मक या विचारपरक संस्कृति के अन्तर्गत ज्ञान, न्याय, धर्म, मूल्य, विश्वास, परम्परायें, आदर्श आदि आते हैं। तृतीय, अर्थात् आदर्श परक संस्कृति न तो पूर्ण रूप में इन्द्रियानुभूतियों पर निर्भर होती है और न ही पूर्ण रूप में विचारात्मक होती है इसमें इन दोनों का संयोग पाया जाता है अर्थात् यह अंशतः भौतिक और अंशतः अभौतिक होती है। संस्कृति का यह रूप मानवीय मूल्यों, और व्यक्तिगत लाभों को वरीयता देता है। सामाजिक परिवर्तन मूलतः आदर्श परक संस्कृति में ही होते हैं।

(iii) संस्कृति में परिवर्तन आन्तरिक तथा प्राकृतिक नियमों के कारण आते हैं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है अतः इसे घटित होना है, इसे कोई शक्ति रोक नहीं सकता। सांस्कृतिक परिवर्तन अपरिहार्य हैं और इन्हीं के कारण सामाजिक परिवर्तन होते हैं।

3. सन्तुलन सिद्धान्त (Equilibrium theory)—कार्यवाद (Functionalism) पर आधारित यह सिद्धान्त कहता है कि सामाजिक प्रतिमानों को उनके विगत ऐतिहासिक विकास के प्रसंग में नहीं वरन् उसके वर्तमान प्रकार्यों, उपयोगिताओं, एवं परिणामों के रूप में समझ सकते हैं। समाज के विभिन्न अंश, भाग या पक्ष हैं जो परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। यह एक प्रणाली के रूप में कार्य करते हैं। जब किसी एक भाग में परिवर्तन होता है तो वह प्रणाली के अन्य भाग को भी प्रभावित करता है। इस प्रक्रिया का कारण यह है कि प्रणाली सन्तुलन बनाए रखने का प्रयास करती है अतः एक अंश में परिवर्तन अन्य अंशों को भी प्रभावित करता है। सामाजिक प्रणाली के अंश में परिवर्तन से प्रणाली का सन्तुलन भंग होता है और उसे पुनः सन्तुलित करने का क्रम होता है। इस दृष्टिकोण को आगबर्न की विचारधारा ने अधिक शक्ति दी। उनके अनुसार सामाजिक प्रणाली के किसी एक भाग में सर्वप्रथम परिवर्तन होता है और यदि समाज के सदस्य उसके प्रकार्यात्मक स्वरूप के साथ अभियोजन कर लेते

हैं तो अन्य भाग में परिवर्तन आविर्भूत होते हैं। अभियोजन के साथ ही खोया हुआ सन्तुलन पुनः स्थापित हो जाता है।

4. द्वन्द्व सिद्धान्त (Conflict theory)—इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों कार्ल मार्क्स (Karl Marx) तथा मैक्स वेबर (Max Weber) का मत है कि समाज विभिन्न समूहों का योग (aggregate) है और इन विभिन्न समूहों में द्वन्द्व होता है क्योंकि इन सबके मूल्य, मानक, विश्वास, आदर्श आदि भिन्न होते हैं। इन सबके लक्ष्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं तथा उनके साधन तथा क्षमताएँ भी भिन्न होती हैं। वे अपनी सामर्थ्य, साधन, शक्ति तथा लक्ष्यों के अनुरूप सामाजिक मानकों, मूल्यों, विश्वासों आदि में परिवर्तन चाहते हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न समूहों में द्वन्द्व और संघर्ष होता है जिसमें कुछ समूह अपने लक्ष्य में सफल तथा अन्य असफल होते हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होते हैं।

आधुनिक दृष्टिकोण (Modern viewpoint)—सामाजिक परिवर्तन का कोई एक कारण नहीं होता। सामाजिक परिवर्तन अनेक कारणों से होते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ कारण अन्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। यह कारक बहुधा स्वतंत्र रूप से सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित नहीं करते। इन कारकों में अन्तःक्रिया होती है जो परिवर्तन को प्रभावित करती है। इस प्रसंग में में पारसन्स का मत है कि व्यक्तियों की आवश्यकताएँ तथा उनकी सामाजिक मांगों के बीच द्वन्द्व से सामाजिक परिवर्तन आते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के परिणाम

(Results of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के अनेक परिणाम होते हैं और समाज में कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जब सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत तीव्र होती है तो इसके परिणाम भी दूरगामी और अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। द्रुत परिवर्तनों से समाज का सन्तुलन बिगड़ता है जिससे समाज में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। सामाजिक परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप समाज में निम्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती है।

1. पारिवारिक विघटन (Family Disorganization)—सामाजिक परिवर्तनों के कारण पारिवारिक विघटन की समस्या विकराल रूप धारण कर चुकी है। आज परिवार नाना प्रकार के पारिवारिक संघर्ष जैसे तनाव, द्वन्द्व, विवाह-विच्छेद और अनुशासन के अभाव, देखे जाते हैं। परिवार के नई पीढ़ी वाले सदस्य, परिवार में शिक्षित एवं प्रगतिशील सदस्य, समाज की संरचना में होने वाले परिवर्तनों को सहर्ष स्वीकार करते हैं जबकि अशिक्षित, रूढ़िवादी परम्प-

रावादी व्यक्ति समाज में होने वाले परिवर्तनों को न मान्यता दे पाते हैं न स्वीकार कर पाते हैं।

2. सामाजिक तनाव (Social Tension)--सामाजिक परिवर्तनों की द्रुत गति समाज में तनाव उत्पन्न करती है जिसके कारण व्यक्तियों, समूहों, आदि में मनमुटाव, मतभेद, स्पर्द्धा उत्पन्न होती है। आज समाज का वस्तुतः कोई क्षेत्र पूर्ण रूप से तनाव रहित नहीं कहा जा सकता। श्रमिक संगठनों से लेकर शिक्षक संगठन तक सभी तनाव ग्रस्त हैं। छात्रों में तनाव तो अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। उद्योग, बड़ी-बड़ी मिलों आदि में हड़ताल, तालाबन्दी, विद्यालयों, महाविद्यालयों में धरना, हड़ताल, मारपीट और अनुशासनहीनता व्याप्त है, समाज में आतंकवाद, पृथकतावाद, साम्प्रदायिक शक्तियों का विकराल एवं भयंकर रूप आदि का मूल कारण सामाजिक परिवर्तन हैं।

शिक्षण संस्थाओं में तनाव का एक कारण सामाजिक परिवर्तन है। छात्रों, अध्यापकों प्रबन्धतन्त्रीय झगड़े शिक्षा जगत में व्याप्त तनाव का ही उदाहरण हैं, जो सामाजिक मूल्यों, आदर्शों, नैतिक मूल्यों में बदलाव के लक्षण स्वरूप हैं। आज अनेक प्रकार की जाली उपाधियों के रैकेट के समाचार, परिसर में हिंसा, छात्रों द्वारा अध्यापकों का अनादर, तोड़ फोड़ आदि साधारण घटनाएँ हैं। अध्यापकों द्वारा ट्यूशन पढ़ाना, स्कूल / कालेज में काम न करना आदि गिरावटों का एक कारण सामाजिक परिवर्तन है।

3. व्यक्तिगत विघटन (Individual Disorganization)—सामाजिक परिवर्तनों से समाज के अनेक सदस्यों में व्यक्तिगत विघटन के लक्षण भी व्यक्त होते हैं। सामाजिक परिवर्तनों के कारण अनेक व्यक्ति बदलते हुए मूल्यों, विश्वासों विचारों एवं आदर्शों आदि को अपना लेते हैं और तदनुसार अपने आप को अनुकूलित एवं अभियोजित कर लेते हैं। परन्तु समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो इन बदले हुये विश्वासों, विचारों, मनोवृत्तियों मूल्यों आदि को अपनाने में हिचकिचाते हैं तथा कठिनाई का अनुभव करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का सामाजिक समायोजन बिगड़ जाता है, अर्थात् कुसमायोजित हो जाते हैं। इन लोगों के व्यक्तित्व में नाना प्रकार के मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं और वे मानसिक रोग से पीड़ित हो जाते हैं। यह नाना प्रकार के विकृत व्यवहार के लक्षणों की अभिव्यक्ति करते हैं।

4. सामुदायिक विघटन (Community Disorganization)—सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप समुदायों का विघटन आरम्भ होता है। सामाजिक परिवर्तन के चलते लोगों के मूल्यों और जीवन प्रणालियों में परिवर्तन आते हैं जिससे लोगों में नाना प्रकार के वैचारिक भेद उत्पन्न होते हैं—जैसे समाज के

मशीनीकरण से बेकारी, बेरोजगारी, मँहगाई में वृद्धि होती है। अतः समाज में संकीर्णता, स्वार्थ, लोभ आदि प्रवृत्तियाँ पनपती हैं; साम्प्रदायिक संघर्ष, पीढ़ी रिक्तता (Generation gap) धर्मांधता, और वर्ग संघर्ष उत्पन्न होते हैं जो अन्ततोगत्वा समुदायिक विघटन को जन्म देते हैं।

5. बेकारी की समस्या (Problem of Unemployment)—औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के सामाजिक परिवर्तन होते हैं। इससे एक ओर प्रशिक्षित कर्मियों की माँग में वृद्धि होती है तो दूसरी ओर जनसाधारण में बेकारी और बेरोजगारी फैलती है। कम्प्यूटरों के उपयोग से अनेक व्यक्तियों के कार्य एक कम्प्यूटर करता है, परिणाम बेरोजगारी के रूप में सामने आता है। इससे समाज में तनाव और संघर्ष आरम्भ होते हैं। लघु उद्योगों में कार्यरत हजारों-लाखों व्यक्ति बेरोजगार हुए हैं। अतः सामाजिक परिवर्तनों ने समाज में बेकारी व बेरोजगारी में वृद्धि की है जिसका विकराल रूप आज हमारे अपने देश में हमारे समक्ष है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय विघटन (Internationalized Disorganization)—सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव केवल किसी देश विशेष तक ही सीमित नहीं होता, वरन् इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी विघटनकारी लक्षण अभिव्यक्त होते हैं। जिस देश में सामाजिक परिवर्तनों के कारण विघटन आरम्भ हो जाता है उसके अन्य देशों के साथ सम्बन्धों में भी तनाव पैदा होते हैं और इसके कारण संघर्ष, युद्ध, क्रान्ति की दशाएँ उत्पन्न होने लगती है। अठारहवीं शताब्दी में अमेरिका तथा फ्रांस की क्रान्तियाँ हुई। हिन्द, पाक सम्बन्धों में विघटन के कारण (1965) तथा (1971) में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई।

7. स्थान परिवर्तन (Migration)—किसी समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण, बेकारी, बेरोजगारी, जमीन का अभाव आदि की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जिससे विवश होकर अनेक लोग अपने गाँवों को छोड़कर रोजी की तलाश में नगरों का रुख करते हैं। वे नगरों में काम-काज की आशा लेकर जाते हैं। गाँवों के समान नगरों में घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्ध नहीं होते और बड़े नगरों में यह लोग झुग्गियों या झोपड़ियों में रहते हैं जहाँ गन्दगी और बीमारी का बोलबाला होता है। यह बस्तियाँ भयंकर रोगों की पनाहगाह होती हैं। इन सब स्थितियों से सामान्य जीवन प्रभावित होता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तनों के कारण लोगों के व्यक्तिगत जीवन, परिवार, समुदाय, देश और वैदेशिक सम्बन्धों में विघटन उत्पन्न उत्पन्न होते हैं। लोगों के रहन सहन, शिष्टाचार, जीवन शैली, मूल्यों, विश्वासों, अभिवृत्तियों पर नाना प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं।

भारत में सामाजिक परिवर्तन

(Social Change in India)

सम्प्रत में विश्व का कोई देश सामाजिक परिवर्तनों से बचा नहीं है। भारतवर्ष में नाना प्रकार के सामाजिक परिवर्तन हुये हैं और हो रहे हैं। भारत में सामाजिक परिवर्तन के निम्न प्रमुख साधन रहे हैं—

(i) अंग्रेजी शासन में भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव (ii) विदेशी यात्रियों एवं पर्यटकों की भारत में आमद में वृद्धि के प्रभाव (iii) आज़ादी के पश्चात् राष्ट्रीय प्रगति की योजनाएँ, (iv) समाज का औद्योगीकरण, (v) आबादी में अत्यधिक वृद्धि (vi) सम्प्रेषण के आधुनिक साधनों का प्रभाव।

भारतीय समाज परिवर्तनों से उतना ही प्रभावित है जितना विश्व का कोई अन्य विकासशील देश। सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव इतना व्यापक रहा है कि उसने जनमानस और जीवनशैली अनेक आमूल-चूल परिवर्तनों को प्रोत्साहित किया है। बालिकाओं की शिक्षा के विषय में भारतीय समाज की मान्यताएँ बदल गई हैं। इन परिवर्तनों से लोगों का व्यक्तित्व, पारिवारिक जीवन, अभिवृत्तियाँ, मूल्य, सामाजिक संस्थिति, सांस्कृतिक जीवन, मनोरंजन, ग्रामीण जीवन, जाति एवं वर्ग आदि सभी में गंभीर बदलाव आएँ हैं। भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन और अनेक समस्याएं उत्पन्न हुई हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जाएगी।

1. व्यक्तित्व पर प्रभाव (Impact on personality)—सामाजिक परिवर्तनों से व्यक्ति के व्यवहार सम्बन्धी गुण तथा लोगों के व्यक्तित्व भी प्रभावित होते हैं। सामाजिक परिवर्तनों से समाज के सदस्यों के सामाजिक मानकों, मूल्यों, अभिवृत्तियों, नियमों तथा व्यवहार से सम्बद्ध लक्षणों में बदलाव आते हैं।

इसके फलस्वरूप व्यक्तित्व लक्षणों और व्यवहार सम्बन्धी गुण भी प्रभावित हुए हैं। आज युवा पीढ़ी पुराने गुणों और मूल्यों को छोड़कर आधुनिकता के पीछे भागती प्रतीत होती है।

2. अभिवृत्तियों पर प्रभाव (Impact on attitude)—सामाजिक परिवर्तनों के चलते लोगों की अभिवृत्तियों में बड़े सार्थक परिवर्तन हुए हैं: जिनके परिणाम स्वरूप बालिकाओं की शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह आदि का खूब चलन हो गया है। अभिवृत्तियों में परिवर्तन के कारण पर्दा का चलन पहले की अपेक्षा घट रहा है। सह-शिक्षा (Coeducation) के प्रसार प्रचार के कारण अत्यन्त रुढ़िवादी माता-पिता भी अपनी लड़कियों को लड़कों के साथ निःसंकोच पढ़ने भेजते हैं।

3. सामाजिक मूल्यों पर प्रभाव (Impact on social values)—सामाजिक परिवर्तनों ने मूल्य प्रणाली को भी प्रभावित किया है : भारतीय

समाज जो कभी सत्य, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के लिए विश्वविख्यात था अब व्यभिचार, भ्रष्टाचार, झूठ, फरेब, घूस, जुए शराब ऐसी खराबियों में लिप्त हैं और लोगों का ऐसा नैतिक पतन हुआ है। जिसकी मिसाल नहीं मिलती। आध्यात्मिक मूल्यों को वरीयता देने वाले हम भारतीय पाश्चात्य देशों के लोगों से से भी अधिक भौतिकवादी हो गए हैं। बड़े, बूढ़ों, अतिथियों, माता-पिता, गुरुजनों के प्रति परंपरागत सम्मान, मर्यादा का कोई ख्याल युवा पीढ़ी को नहीं रह गया है यह सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है। राजनीति में भी ऐसा मूल्यपरिवर्तन हुआ है कि गांधी जी के विचार धरे रह गए हैं। गांधी जी राजनीति में भी नैतिक मूल्यों को सीने से लगाए रहे और बराबर इसपर बल दिया कि राजनीति में भी हमें नैतिकता का त्याग नहीं करना है। पर वस्तुस्थिति बिल्कुल भिन्न है आज राजनीति में नैतिकता नाम की कोई चीज नहीं है। लोगों में राजनैतिक जागृति अवश्य बढ़ी है।

4. **ग्रामीण जीवन पर प्रभाव (Impact on rural life)**—ग्रामीण जीवन पर सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव के कारण ग्राम्य तथा नगरीय जीवन दोनों प्रभावित हुए है। जनसंख्या में वृद्धि से गाँवों में कृषि योग्य भूमि के अभाव के कारण तथा औद्योगीकरण ग्रामीण जीवन में बहुत बदलाव आया है। लोग गाँव छोड़ औद्योगिक नगरों में काम की तलाश में जाने लगे हैं जिससे न केवल ग्रामीण जीवन वरन् नागरिक जीवन भी प्रभावित हुआ है। प्रोफेसर दुर्गानन्द सिन्हा (1969) ने अपनी किताब "Indian villages in transition" में बताया है कि गाँवों में कृषि और आर्थिक विकास योजनाओं से अपेक्षित लाभ नहीं हुआ है और ग्रामवासियों की अभिप्रेरणाओं में वांछित परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके फलस्वरूप लोगों के आकांक्षा स्तर और वास्तविक जीवन में विसंगतियाँ उत्पन्न हुई है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्राम और भी अधिक प्रभावित हुए हैं। खाड़ी के देशों की ओर लोग गांवों से भारी संख्या में रोजी कमाने जा रहे हैं अतः शिक्षा और विशेषकर उच्च शिक्षा के प्रति उदासीनता के लक्षण व्यक्त हो रहे हैं।

इन सन्दर्भ में कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy; 1972) ने अपनी किताब "Social change in India" में लिखा है कि जो गाँव औद्योगीकरण से अधिक प्रभावित थे उनमें महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। इसके विपरीत जिन गाँवों पर औद्योगीकरण का प्रभाव न्यून था उनमें सामाजिक स्थिति में बदलाव भी न्यून था। इनमें प्रगतिशीलता तथा अभिवृत्तियों में परिवर्तन भी अपेक्षाकृत बहुत न्यून था। जिन क्षेत्रों में औद्योगीकरण के प्रभाव कम थे उनमें सामाजिक परिवर्तन कम हुए और लोगों में उनके मूल्य पूर्ववत बने हुए थे।

5. **पारिवारिक जीवन पर प्रभाव (Impact on family life)**-

सामाजिक परिवर्तनों ने पारिवारिक जीवन को भी प्रभावित किया है। भारत में सदियों से चली आ रही परम्परा के कारण संयुक्त परिवार ध्वस्त हो गए और उनका स्थान छोटे परिवारों ने ले लिया। संयुक्त परिवार का विघटन और छोटे परिवार (Nuclear families) का चलन सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख प्रभाव है इन छोटों परिवारों में पति-पत्नी और बच्चों के लिए स्थान है। इस बदलाव से अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो रही है। संयुक्त परिवार से जो सांवेगिक समर्थन मिलता था अब उनसे हम वंचित होकर नाना प्रकार के स्वार्थों से ग्रसित और अनेक, कठिनाइयों का सामना करते हैं। संयुक्त परिवार में जो समर्थन और बच्चों का जो समाजीकरण होता था अब हम उनसे वंचित हो गए हैं। जिन परिवारों में माता पिता दोनों कार्य पर जाते हैं उनमें बच्चों की अनेक प्रकार की सांवेगिक समस्याएँ होती हैं और उनके समुचित पोषण और विकास में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

6. सामाजिक संस्थिति पर प्रभाव (Impact on social status)—सामाजिक परिवर्तनों के कारण आज व्यक्ति के पद उसकी सामाजिक आर्थिक संस्थिति का निर्धारण करता है। प्राचीन समय में जाति के अनुसार व्यवसाय और संस्थिति का निर्धारण होता था। अब वह पुरानी परम्परा सामाजिक परिवर्तन की भेंट चढ़ चुकी है। अब समाज में व्यक्ति का पद उसकी संस्थिति का सूचक बन गया है। यह सभी कुछ सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है।

7. सम्प्रेषण और व्यवहारपर प्रभाव (Impact on communication and behaviour)—साइंस एवं तकनीकि प्रगति के कारण सम्प्रेषण के अनेक साधन विकसित हो गए हैं। इन आधुनिक सम्प्रेषण के साधनों ने समय और दूरी के अन्तर को मिटा दिया है। सम्प्रेषण के नवीन साधनों ने सामाजिक परिवर्तन को पहले की अपेक्षा सुगम और सुलभ बना दिया है। इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तनों ने सम्प्रेषण को भी आसान बना दिया है। आज दुनिया के दूर-दराज भागों में बैठे व्यक्ति एक दूसरे के विचारों से इच्छानुसार किसी समय अवगत हो सकते हैं। सम्प्रेषण की तीव्र गति के कारण लोगों के विचारों, अभिवृत्तियों व्यवहार आदि में बहुत परिवर्तन हुए हैं। आज विश्व के किसी भाग की घटना पूरे विश्व में मिनटों में फैल जाती है और उसका प्रभाव पूरे विश्व पर पड़े बिना नहीं रहता।

8. मनोरंजन के साधनों पर प्रभाव (Impact on sources of recreation)—आज मनोरंजन के साधन भी सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव से वंचित नहीं हैं। पुराने समय में परिवार मनोरंजन का प्रमुख साधन था किन्तु आज परिवार की वह स्थिति नहीं है। आज लोगों को मनोरंजन के नए साधन

उपलब्ध हैं जैसे क्लब, सिनेमा, टी०वी०, आदि। यह परिवर्तन समाज में परिवर्तन का परिणाम है। चाहे भोजन में कमी हो जाए पर टी० वी० प्रत्येक परिवार में आवश्यक हो गया है।

9. **सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव (Impact on cultural life)**—भारत में नगरीकरण और औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप हुए परिवर्तनों के कारण लोगों में धार्मिक कार्यों के प्रति उन्मुखता घटी है। अनेक लोग यह कहते सुने जाते कि "इससे क्या लाभ है।" सामाजिक परिवर्तनों के कारण लोगों का धर्म के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। जहाँ तक वस्त्रों, खानपान, रहन-सहन का प्रश्न है सभी में पाश्चात्य सभ्यता की झलक देखी जाती हैं। पैण्ट-शर्ट ने धोती-कुर्ता आदि का स्थान ले लिया है। जीवन से सादगी और सरलता विदा ले रही है। पहले विवाह में बारात तीन दिन रहती थी अब एक दिन की बारात का चलन हो गया है। बहुत बड़े नगरों में तो बारात कुछ घण्टों में ही लौट जाती है। समाज के विश्वास, विचार, मूल्य शैली, सामाजिक मानक, सामाजिक नियम और आदर्श सभी कुछ बदल गया है। भारतीय संस्कृति का लोप तथा पाश्चात्य संस्कृति का बोल-बाला होता जा रहा है। महानगरीय जीवन से विशेष रूप में प्राचीन भारतीय संस्कृति लुप्त होती जा रही है। यह समाज के औद्योगीकरण और नगरीकरण के चलते हो रहे सामाजिक परिवर्तनों का परिणाम है।

10. **जाति पर प्रभाव (Impact on caste)**—पहले समाज में व्यक्ति की संस्थिति उसकी जाति के आधार पर निश्चित होती थी। अब जातिगत प्रभाव गाँवों तक सीमित रह गया है। जाति व्यवस्था का विरोध तो अत्यन्त प्राचीन काल से होता आ रहा है। किन्तु सामाजिक समानता का जो रूप आज देखा जा रहा है पहले कभी नहीं था। समाज के मण्डलीकरण और सामाजिक न्याय के मुद्दों का जो आज महत्व है पहले नहीं थी। फारवर्ड बैकवर्ड की बढ़ती हुई चेतना ने वर्ग संघर्ष का रूप ले लिया है। यह सब होते हुए भी जाति के स्वरूप और प्रभाव में कोई असाधारण परिवर्तन नहीं हुआ है। औद्योगीकरण ने अन्तर्जातीय सम्बन्धों को प्रोत्साहित ही नहीं किया है वरन् वर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात भी किया है, परिणामस्वरूप पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अन्तर्जातीय विवाह हो रहे हैं। यह स्थिति नगरों और महानगरों में विशेषकर देखी जा रही है। स्थिति इतनी जटिल है कि एक तरफ जातिगत संघर्ष भी हो रहे हैं और दूसरी ओर जाति व्यवस्था में लोगों की आस्था घट रही है।

11. **पीढ़-अन्तर प्रभाव (Impact on generation gap)**—सामाजिक परिवर्तनों ने पुरानी तथा नई पीढ़ी में अन्तर को बढ़ा दिया है। यह पीढ़ी

अन्तर इतना बढ़ गया है कि नयी पीढ़ी तथा पुरानी पीढ़ी के बीच खाई सी दिखाई देती है। रथ (Ruth, 1971) ने इस सन्दर्भ में अपने अध्ययनों पर निष्कर्ष प्राप्त किया है कि पुरानी नस्ल धर्म के लिए सकारात्मक तथा नई नस्ल नकारात्मक दृष्टिकोण रखती है। इसी प्रकार सिन्हा (Sinha; D, 1971) ने अपने अध्ययनों के आधार पर देखा कि वर्त्तमान युग के लोगों में पीढ़ी चेतना बढ़ी है और अन्तर अधिक तीखा हो गया है। पीढ़ी चेतना के कारण पारिवारिक समायोजन में जटिलताएँ आती जा रही है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक परिवर्तनों के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और इनके सार्थक और दूरगामी प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़े हैं।

अध्याय 19
फैशन
(Fashion)

शब्द फैशन से कौन परिचित नहीं है। आधुनिक युग का एक अत्यन्त लोकप्रिय शब्द है। आज का युग फैशन का युग है। इसी के चलते लोगों के बनाव-सिंगार, साज-सज्जा, वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान तथा तौर तरीकों और व्यवहार तक में बहुधा बदलाव देखा जाता है। अब फैशन के कारण समाज में बदलाव आता है तो उस नवीनता को आरम्भ में लोग पसन्द नहीं करते परन्तु धीरे-धीरे वह सामान्य जीवन का अंग बन जाता है। वस्तुतः मानव जीवन में परिवर्तनशीलता और नवीनता न होती तो जीवन में नीरसता आजाती किन्तु फैशन के कारण ऐसा नहीं हो पाता। इस प्रकार नवीनता जीवन को सरस, मधुर और आकर्षक बनाती है और नवीनता फैशन पर आश्रित है। मानव-जीवन और फैशन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। फैशन एक ऐसा सामूहिक व्यवहार है जो वर्तमान चलन से भिन्न होता है। यही भिन्नता इसे आकर्षक बनाती है।

फैशन का अर्थ
(Meaning of Fashion)

फैशन का तात्पर्य परिवर्तनों से है, किन्तु यह परिवर्तन साधारण होता है और कुछ समय के लिए होता है। थोड़े समय तक कुछ लोग इसे नापसन्द करते हैं। कुछ ही समय में यह लोकप्रिय और कुछ ही समय बाद यह समाप्त भी हो जाता है। जेम्स ड्रेवर के अनुसार, फैशन लोकरीति का एक पक्ष, चरण या प्रकार है जिसकी परिवर्तनशीलता या प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्ति उसकी मुख्य विशेषता है।' (Fashion is a type or phase of social convention characterized mainly by its changing and competitive character. Games Drever, 1968)

रॉस का विचार है कि, "फैशन किसी समूह के लोगों की पसन्दों में बार-बार होने वाले बदलावों की श्रृंखला है। भले ही इन परिवर्तनों की कोई उपयोगिता हो या न हो, किन्तु यह परिवर्तन उपयोगिता के कारण नहीं होते।" ("Fashion is a series of recurring changes in the choice of a group of people, which, though they may be accompanied by utility are not determined by it" Ross, 1935).

किम्बल यंग के अनुसार, "फैशन सांस्कृतिक लक्षणों को व्यक्त करने का तरीका, ढंग या विधि के प्रदर्शन की विशेषता है, जिसे प्रथाएँ बदलने की अनुमति देती हैं। यदि प्रथा को सामाजिक व्यवहार का स्थायी पक्ष मानें तो फैशन को सामान्य स्वीकृति के अर्न्तगत परिवर्तन की संज्ञा दे सकते हैं।" (Fashion may be defined as the current or prevailing usage, mode, monner or characteristic of expression, presentation or conception of those particular cultural traits which custom itself allows to change. If we consider custom as stable and persistent phase of social behaviour fashion may be thought of as a variation permissible within this general acceptance." Kimball Young, 1960)

ब्रिट ने कहा है, "फैशन एक अस्थायी चलन या समाज द्वारा स्वीकृत आदत है जिसमें विचलन एवं बदलाव आते रहते हैं।" ("Fashian may be defined as impermanent convention or socially accepted habit marked by fluctuation and change." Brit; S.H., 1957)

वी० वी० अकोलकर के अनुसार, "फैशन, किसी सामान्य चलन में साधारण से थोड़ा अथवा मामूली परिवर्तन है, एक नवीनता है जो थोड़े समय तक एक जैसी रहती है तथा कुछ समय तक लोकप्रिय रहती है। प्रसार के कारण यह सामान्य हो जाता है तो यह मनोवैज्ञानिक कार्य बन्द कर देता है जिसके लिये यह आरम्भ हुआ था। इसके पश्चात या तो फैशन का लोप हो जाता है या अपनी उपयोगिता के कारण स्थायी हो जाता है।"("A fashion is a shight or trivial departure from the usual, an innovation, which tends to be uniform in a society for a short while, which enjoys a brief period of popularity and having become common place on account of its spread, cases to discharge the psychological function it was originally meant to discharge. There after, it may either disappear or if it found to have some convenience or utilily value, may stabilize itself and find a permanent place in the life of the people' V. V Akolkar, 1960)

फैशन का स्वरूप एवं विशेषताएँ

(Nature & Characteristics of Fashion)

जिन परिभाषाओं का वर्णन किया गया उनके सिंहावलोकन से फैशन के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है तथा निम्न विशेषताएँ व्यक्त होती हैं :—

1. परिवर्तनशीलता (Changeability)—फैशन की एक प्रमुख विशेषता

इसकी परिवर्तनशील प्रवृत्ति है। फैशन हमेशा अस्थायी होता है। कुछ ही समय बाद फैशन बदलता है। फैशन से नवीनता की इच्छा की पूर्ति होती है अतः थोड़े-थोड़े समय पर इसमें परिवर्तन अवश्यभावी है। लगातार एकरूपता से लोग ऊब जाते हैं और परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करते हैं जिसकी पूर्ति फैशन के परिवर्तन शील चरित्र से होती है।

2. **फैशन समूह की पसन्द से सम्बद्ध होता है (Fashion and group preference)**—जब तक फैशन समूह की पसन्द नहीं बन जाता तब तक वह फैशन नहीं स्टाइल (style) कहलाती है। जब कोई फैशन शुरू होता है समाज के अनेक लोग उसके प्रति नापसंद व्यक्त करते हैं, किन्तु कुछ समय में वह समूह द्वारा पसंद किया जाने लगता है। कुछ मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि फैशन समूह की वरीयता से सम्बद्ध होता है।

3. **उपयोगिता आवश्यक नहीं (Utility not essential)**—फैशन का आविर्भाव एवं विकास उसकी उपयोगिता पर निर्भर नहीं करता। फैशन उपयोगी हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं है। जब यह उपयोगी होता है तो इसमें कुछ स्थायित्व देखा जाता है। फैशन द्वारा नवीनता, परिवर्तन और आत्माभिव्यक्ति की इच्छाएँ सन्तुष्ट होती हैं इसी कारण उपयोगी न होते हुए भी लोग फैशन को अपनाते हैं।

4. **अनुरूपता (Conformity)**—फैशन में अनुरूपता का लक्षण भी पाया जाता है सामान्यतः लोग फैशन को अपना कर अपने आप को समाज के अन्य लोगों के समान बनाने का प्रयास करते हैं। समाज के अन्य सदस्यों के अनुरूप बनकर लोग अपने सम्मान में वृद्धि करने इच्छुक होते हैं। आप सम्प्रेषण के साधनों (media of communication) में वृद्धि से फैशन का प्रसार अत्यन्त द्रुत गति से होता है किन्तु इसका लोप भी उतनी ही तेज गति से होता है।

5. **विवेकहीनता (Irrationality)**—अनेक प्रकार के फैशन अतार्किक प्रतीत होते हुए भी लोकप्रिय होते हैं। असंगत फैशनों को अपनाने वालों से यदि यह पूछा जाए कि ऐसा वे क्यों करते हैं तो बहुधा वे इसका कोई ठोस एवं माकूल जवाब नहीं दे पाते। वे प्रायः यह कहते हैं कि फैशन के कारण ऐसा करते हैं या दूसरों को देखकर करते हैं

6. **चक्रीय परिवर्तन (Cyclic change)**—फैशन में चक्रीय परिवर्तन की विशेषता पाई जाती है। तात्पर्य यह है कि जो आज फैशन है कुछ समय बाद फैशन से बाहर हो जायगा, और दस-पाँच वर्षों बाद पुनः वही फैशन आ जाता है। जैसे पुरुषों के वस्त्र में पतली मोहरी कभी फैशन कभी फैशन बाहर होती है और पैन्ट

की मोहरी चौड़ी हो जाती है। लेखक को अपनी पढ़ाई के समय से अबतक यह याद है कि कभी पतली मोहरी तो कभी चौड़ी मोहरी के पैन्ट का फैशन आता रहा है। यही फैशन की चक्रीय विशेषता है।

7. **व्यापक विस्तार** (Wide spread)—फैशन के प्रभाव से कोई समाज या कोई देश बचा नहीं है। फैशन केवल वस्त्रों में ही नहीं बोल-चाल, रहन-सहन आदि जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में तथा बच्चे, बूढ़े, युवा, स्त्री, पुरुष सभी में पाया जाता है इतना अवश्य है कि इस विषय में व्यक्तिगत भिन्नता देखी जाती है अर्थात् कुछ लोग अन्य की अपेक्षा फैशन के अधिक दीवाने होते हैं।

फैशन तथा प्रथा

(Fashion & Custom)

फैशन और प्रथामें कुछ सम्बन्ध तो है किन्तु इनमें अन्तर भी हैं। सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक है कि प्रथा क्या है ?

रॉस के अनुसार क्रिया करने के किसी ढंग का हस्तांतरण ही प्रथा है। (By custom is meant the transmission of a way of doing) प्रथाएँ समूह या समाज द्वारा कार्य की स्वीकृत एवं मान्य प्रणालियाँ हैं। प्रथाएँ पीढ़ी दर पढ़ी हस्तांतरित होती हैं और समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करती हैं।

फैशन और प्रथा में अन्तर

1. फैशन अनुकरण पर निर्भर करता है जबकि प्रथाएँ पूर्वजों द्वारा हस्तांतरित होती हैं।
2. प्रथाएँ नवीनता के विरुद्ध रुढ़िवादिता पर बल देती हैं जबकि फैशन नवीनता पर निर्भर करता है।
3. फैशन में चक्रीयता देखी जाती है जबकि प्रथाओं में यह गुण बिल्कुल अनुपस्थित होता है। जो प्रथाएँ एक बार लुप्त हो जाती है वे पुनः संभवतः कभी व्यक्त नहीं होती।
4. फैशन परिवर्तन की प्रवृत्ति पर आधारित है जबकि प्रथाएँ परिवर्तन का विरोध करती हैं।
5. फैशन अस्थायी आवश्यकताओं के कारण फैलता है जबकि प्रथाएँ अपेक्षाकृत स्थायी आवश्यकताओं के कारण जीवित रहती हैं।
6. फैशन आत्माभिव्यक्ति से प्रेरित होता है, प्रथाएँ आत्मसन्तुष्टि प्रदान करती हैं।
7. फैशन में परिवर्तन धीरे-धीरे होता है, प्रथाएँ जब बदलती है तो यकायक बदलती हैं।

8. फैशन भौतिक संस्कृति का अंग है, प्रथाएँ अभौतिक संस्कृति से सम्बद्ध होती हैं।
9. प्रथा सामाजिक विरासत के रूप में प्राप्त होती है फैशन अहंवादी भावना का परिणाम है।
10. फैशन बहुधा सामान्य जीवन धारा के विपरीत चलता है। प्रथाएँ सामाजिक जीवन के अनुरूप होती हैं।

फैशन एवं धुन (Fashion & Fad)—धुन (Fad) ऐसा परिवर्तन है जो बहुत ही मामूली अवधि के लिए होता है। धुन फैशन से भी अधिक तेजी से फैलती है और फैशन से भी अधिक द्रुत गति से परिवर्तित होती है। तात्पर्य यह है कि इसकी अवधि फैशन से भी कम होती है। फैशन के अन्तर्गत छोटे-मोटे लघुकालिक बदलाव जो काफी कृत्रिम और अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते हैं, वह धुन कहे जाते हैं। धुन, फैशन का एक भाग है जो कामोत्तेजक, अदभुत और आकर्षक होती है। किम्बल यंग ने धुन के अर्थ की चर्चा करते हुए कहा है कि, "धुन ऐसी प्रथा, मनोविनोद, वेशभूषा, सजावट का चलन है जो कुछ समय तक अत्यधिक उत्साह के साथ फैलती है।" ("A fad is a custom, amusement or vogue in dress or decoration that is followed for a time with an exaggerated zeal." Kimball Young; 1950)

जब फैशन अधिक फैलता है तथा उसमें बदलाव जल्दी-जल्दी आता है तो धुन का प्रसार अवश्य होता है।

फैशन तथा झक (Fashion & Graze)—झक की अवधि धुन से अधिक होती है। फैशन की अपेक्षा झक में अधिक स्थायित्व होती है। झक की उत्पत्ति सामूहिक सुझाव तथा अनुकरण के द्वारा विकसित अतार्किक व्यवहार होती है। इसमें वस्त्र स्टाइल, व्यवहार के ढंग (Manners) आदि को बेवकूफों के समान अपनाते हैं। सनक के समान फैशन का अनुसरण झक (Craze) कहलाती है। एक चीज जो धुन ही आगे वह झक (Craze) बन सकती है और जब उसका चलन भारी जनसंख्या में हो जाता है तो वह क्रेज ही फैशन का रूप ले लेती है।

फैशन एवं स्टाइल (Fashion & Style)—फैशन के समानान्तर कभी-कभी नई शैलियाँ भी प्रचलित हो जाती हैं जिन्हें स्टाइल कहा जाता है। उदाहरण के लिये नाना प्रकार की मूछें रखने का चलन समय-समय पर होता है जिसे स्टाइल कहा जाता है। इस प्रकार स्टाइल, फैशन तथा फैशन में हो रहे परिवर्तनों से सम्बद्ध है।

फैशन मनोविज्ञान (Psychology of Fashion)—फैशन का आधार विश्लेषण, तर्क चिन्तन आदि नहीं है यह भावनाओं, सुझावों, एवं अनुकरण की

प्रवृत्तियों पर आधारित होता है। इसका आविर्भाव, सुग्राह्यता तथा फैशन व्यक्तियों की प्रेरणाओं पर निर्भर करता है।

यह अभिप्रेरक लोगों को भाव प्रधान बनाते हैं। अनेक अभिप्रेरणाएँ जो फैशन को बढ़ावा देती हैं, उनमें नवीनता, आकर्षण, व्यक्तिवाद, परिवर्तन की इच्छा, समरूपता की इच्छा, प्रतिष्ठा संसूचन, व्यक्तिगत रुचियाँ, भिन्नता की इच्छा, यौन-इच्छा आदि प्रमुख हैं।

1. व्यक्तिवाद (Individualism)—समाज के भीतर हो रहे परिवर्तन, और समाज के औद्योगीकरण तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के कारण समाज में पूर्व प्रचलित मानक, मूल्य, प्रथाएँ, परम्पराएं, रीति-रिवाज, आदर्श आदि बदल रहे हैं। समाज में स्वार्थ, अहं भावना एवं निजी हितों की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। समाज के उच्च वर्ग में व्यक्तिवाद का अधिक बोलबाला है। सामान्य जनता की अपेक्षा व्यक्तिवादी व्यक्ति फैशन की ओर झुके हैं—जैसे क्लब जाना, पोलो, बिलियर्ड्स आदि खर्चीले खेल खेलना भी इनके लिए फैशन का अंग है। वह लोग नाइट क्लब जाना जरूरी समझते हैं क्योंकि वे इसे बड़े लोगों का फैशन समझते हैं और ऐसा करके वे (i) अपनी वैयक्तिकता (individuality) को बनाए रखना चाहते हैं। (ii) तथा जनसाधारण से भिन्न दीखना चाहते हैं। अतः फैशन से उनकी वैयक्तिकता की हिफाजत होती है।

2. समरूपता की इच्छा (Desire for conformity)—समूह एवं समाज अपने सदस्यों से समाज के नियमों, मानकों एवं आदर्शों का पालन की अपेक्षा करता है। अतः लोग समाज के साथ समरूपता बनाए रखने या समाज के समरूप बनने का प्रयास करते हैं।

समरूपता की प्रवृत्ति के कारण लोग फैशन को अपनाते हैं। लोग दूसरों के समान अपने आपको बनाकर उनसे भिन्न दिखाई देने से बचना चाहते हैं तथा समरूप बनकर समाज की मान्यता, सराहना, एवं अनुमोदन भी प्राप्त करना चाहते हैं। अतः समरूपता की प्रवृत्ति द्वारा व्यक्ति की अनेक प्रेरणाएँ पूरी होती हैं और इसका परिणाम उनके द्वारा प्रचलित फैशन अपनाया जाना है। जो लोग पुराने या आउट आफ डेट वस्त्र पहनते हैं समाज के फैशन परस्त लोग उनकी आलोचना तथा उनका मजाक उड़ाते हैं। अनेक लोग न चाहते हुये समरूपता के लिए फैशन को अपना लेते हैं। कुछ लोग फैशन का अनुसरण अपने को उच्च एवं समृद्ध वर्ग से जोड़ने के लिये फैशन को अपनाते हैं ताकि उच्च वर्ग के सदस्यों के समरूप प्रतीत हों।

3. भिन्नता की इच्छा (Desire for differentiation)—जहाँ एक तरफ समाज के सदस्यों में समरूपता की भावना होती है दूसरी ओर उनमें अन्य

लोग से या साधारण लोगों से भिन्न दिखाई देने की भावना भी होती है। लोगों की भिन्नता की इच्छा फैशन की ओर आकृष्ट करती है और स्वाभाविक है कि भिन्न दीखने की प्रबल इच्छा के कारण लोग फैशन को अपनाते हैं।

4. **अहं प्रसार (Ego expansion)**—फैशन से व्यक्ति के अहंभाव को संतोष प्राप्त होता है। फैशन को अपनाने वाले अपने आपको अधिकर्षक, अधिक नवीन, दूसरों से अलग दिखाने का प्रयास करते हैं। इन सब के पीछे अहं भावना कार्यरत होती है। प्रदर्शन की भावना से आत्म महत्व की इच्छा सन्तुष्ट होती है। अतः फैशन अहं संतुष्टि का एक साधन है।

5. **क्षति पूर्ति (Compensation)**—इसी प्रकार कुछ लोगों का अधिक फैशन परस्त होना क्षतिपूर्ति का प्रयास होता है। उदाहरण के लिये कुरूप, काले लोगों द्वारा आधुनिक फैशन के वस्त्रों का चयन, किसी नाटे कद वाली महिला द्वारा हाइहील की चप्पलें लम्बाई की क्षति पूर्ति के प्रयास से प्रेरित हो सकती है। अनेक लोग किसी हीन भावना से पीड़ित होने के कारण क्षतिपूरक व्यवहार के रूप में फैशन को शीघ्र अपनाते हैं। इस प्रकार अक्सर दोषों को छिपाने के लिये फैशन अपनाया जाता है।

6. **नवीनता और परिवर्तन (Novelty and change)**—कुछ नयापन अथवा परिवर्तन को बहुत पसन्द करते हैं। ऐसे लोग फैशन के रसिया होते हैं। नवीनता और परिवर्तन सभी को लुभाता है क्योंकि व्यक्ति पुरानी वस्तुओं, पुराने वस्त्रों, पुराने आभूषणों से ऊब जाता है। अतः नवीनता तो सभी को पसन्द होती है किन्तु कुछ लोग नवीनता और परिवर्तन के दीवाने होते हैं। नये-नये आविष्कारों के कारण नवीन वस्तुओं की उपलब्धता बढ़ गई है, और तदनुसार फैशन का प्रसार भी बढ़ता ही जा रहा है।

7. **फैशन एवं अनुकरण (Fashion and imitation)** फैशन के अपनाए जाने में अनुकरण की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अनुकरण, दूसरों को देखकर उन जैसा करने या देखा-देखी नकल करने की प्रवृत्ति है, जो फैशन के अपनाए जाने में महत्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि अनेक लोग अनुकरण की प्रवृत्ति के चलते फैशन को अपनाते हैं। युवा पीढ़ी फिल्मी हीरो या हिरोइन की नकल (अनुकरण) में विशेष पोशाक, हेयर स्टाइल, विशेष हाव-भाव, वाणी आदि को अपनाते हुए अक्सर देखे जाते हैं। किशोर, किशोरियों में नये-नये फैशन केवल अनुकरण प्रवृत्ति अर्थात् अन्य लोगों को देखकर अपनाते हैं।

8. **यौन आकर्षण (Sex attraction)**—फैशन, समाज, के युवा वर्ग को सबसे अधिक प्रभावित करता है। किशोरों में विपरीत यौन (opposite sex) के सदस्यों को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रबल इच्छा एवं प्रेरणा होती

है। अतः युवा पीढ़ी बहुधा फैशन को अपनाकर विपरीत यौन के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। स्त्रियों में अर्द्ध नग्न वस्त्र, लिपिस्टिक, आइशैडो, बड़े गले, नंगी पीठ वाले ब्लाउज तथा नाना प्रकार के मेकअप आदि के अनुसरण का एक उद्देश्य आकर्षण में वृद्धि करना है। आकर्षक में वृद्धि का एक उद्देश्य विरोधी यौन के सदस्यों का ध्यानाकर्षण होता है। किन्तु यौन आकर्षण ही फैशन करने का एक मात्र कारण नहीं हो सकता।

9. **आराम की इच्छा** (Desire for comfort)—फैशन के पीछे कार्यरत प्रेरणाओं में सुख या आराम की इच्छा भी एक मुख्य प्रेरणा है। सुख पर आधारित फैशन शीघ्र फैलता है और जल्द लोकप्रिय हो जाता है। किन्तु अनेक बार वेश-भूषा से सम्बद्ध फैशन यथा स्किन फिट वस्त्र तो कष्टदायी होते हैं जो अनेक बार फैशन का अंग बन जाते हैं और कुछ समय तक लोकप्रिय रहते हैं। सुख की इच्छा पर आधारित नया विचार बहुत जल्द फैशन के कारण फैल सकता है। गृह निर्माण डिजाइन जो आरामदेह हो शीघ्र प्रचलित हो जाती है।

10. **आत्म-प्रतिष्ठा** (Self Prestige)—फैशन के पीछे कार्यरत प्रेरणाओं में एक अन्यप्रेरणा आत्म-प्रतिष्ठा कहलाती है। किसी व्यक्ति द्वारा आउट आफ डेट या पुराने फैशन के कपड़ों के पहनने के कारण अनेक लोग उसे नीची नजर से देखते हैं, या उसकी हँसी उड़ाते हैं। अनेक व्यक्ति अपने आप को हास्य का पात्र बनाने से बचने के प्रयास में फैशन को अपनाते हैं।

फैशन का प्रसार
(Diffusion of Fashion)

फैशन के द्रुत प्रसार को कोई नकार नहीं सकता। फैशन तो जंगल की आग के समान फैलता है और समाप्त भी उसी तेजी से होता है। प्रश्न यह है कि इसके प्रसार की दिशा क्या होती है। फैशन की ईजाद समृद्ध/धनी एवं उच्च वर्ग करता है। मध्य वर्ग उच्च वर्ग से अनुकरण करते हैं और उनसे निम्न वर्ग ग्रहण कर लेता है। अब फैशन का प्रसार इतना अधिक हो जाता है कि निम्न वर्ग इसे अपना लेते हैं तो उच्च वर्ग इसे त्यागने की तथा नए फैशन की खोज में अग्रसर होता है। इस प्रकार फैशन समाज के उच्च वर्ग से निम्न वर्ग की ओर फैलता है।

केवल यही नहीं फैशन महानगरों से नगरों, और नगरों से गाँवों की ओर फैलता है। न्यूयार्क, लंदन, पेरिस से बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, और वहाँ से लखनऊ, पटना, बैंगलूर आदि नगरों में, और फिर जिला मुख्यालयों तक पहुंचता है। अन्त में फैशन जिला मुख्यालयों से गाँवों में फैल जाता है।

इसी प्रकार फैशन धनवानों से निर्धन की ओर फैलता है। धनी वर्ग निर्धनों में फैशन के प्रसार को देख नए फैशन का आविष्कार कर लेते हैं।

फैशन के प्रसार में अक्सर व्यवसाय से जुड़ा वर्ग महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अपने उत्पादों की बिक्री बढ़ाने के लिए वे नाना प्रकार के प्रचार करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आज के युग में प्रचार सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख एवं सशक्त साधन है। औद्योगिक आर्थिक प्रणाली में खाली समय के कारण भी आज व्यक्ति के पास साज सिंगार के लिए अधिक समय और स्वतंत्रता है। जीवन स्तर के उच्च होने से भी लोग फैशन का अधिक अनुसरण कर रहे हैं। आज पहले की अपेक्षा अधिक लोगों को सुख आराम, सुविधाएँ आदि प्राप्त हैं अतः ऐसी स्थिति में फैशन की ओर झुकाव का अधिक होना स्वाभाविक है।

आज फैशन सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण अंग है। प्रथाएँ, परम्पराएँ, आदतें, चलन, आदि हमारे जीवन में स्थिरता, ठहराव, उकताहट और नीरसता ला देते हैं जबकि फैशन उसमें बार-बार होने वाले परिवर्तनों के द्वारा सरस बनाता है और आकर्षण में वृद्धि करता है।

अध्याय 20

जनमत

(Public Opinion)

आज के प्रजातान्त्रिक युग में जनमत एक अत्यन्त बहुचर्चित शब्द है। जनमत के आधार पर सरकारें बनती और गिरती हैं। अनेक महत्वपूर्ण निर्णय जनमत पर निर्भर करते हैं। जनमत शब्द दो शब्दों के योग से बना है—जन या जनता तथा मत। इनकी संक्षिप्त चर्चा करना यहाँ वांछित होगा।

जन या जनता तथा मत का अर्थ

(Meaning of Public and Opinion)

जन/जनता लैटिन भाषा के पब्लिकस (Publicus) के अंग्रेजी रूपान्तर पब्लिक (public) से बना है। इसका अर्थ है व्यक्ति, जन या जनता या जन समूह (People)। व्यक्तियों के समूह को सामान्य अर्थ में जनता कहा जाता है। किन्तु समाज मनोवैज्ञानिक इस पद का प्रयोग भिन्न अर्थ में करते हैं। यह ऐसा जनसमूह है जो आकारहीन एवं असंगठित होता है किन्तु जनता एक स्थान या एक समय की परिधि में सीमित नहीं होती और सदस्यों में आपसी व्यक्तिगत एवं आमने-सामने के सम्बन्ध नहीं होते वरन् लोग दूर-दूर तक फैले और बिखरे होते हैं। एक बात इनमें अवश्य होती है—इनके विचार एवं अभिवृत्तियाँ, काफ़ी समान होती हैं। ऐसी ही विशेषताओं की चर्चा किम्बल यंग (Kimball Young) ने जनता की परिभाषा में की है—

सामान्य अभिरुचि वाले व्यक्तियों के एक ढीले ढाले रूप से गठित और मिले-जुले समूह को जनता कहते हैं। (The public refers to a rather loosely organized and conjoined grouping of people with a common interest) Kimball Young; 1957.

जिन्सबर्ग (Ginsberg, 1954) ने कहा है कि; "असंगठित एवं आकारहीन व्यक्ति समूह जिसके सदस्य सामान्य विचारों एवं इच्छाओं से आपस में बंधे होते है, किन्तु सदस्यों की संख्या इतनी अधिक होती है कि वह आपस में निजी सम्बन्ध नहीं रख पाते।" ("The public may be described as an unorganized and amorphous aggregation of individuals who are bound together by common opinion and desires but are to numerous for each to maintain personal relations with others.")Ginsberg, 1954

आज सम्प्रेषण साधनों (mass media) के कारण जनता जैसे सामाजिक संग्रह का गठन बहुत सामान्य एवं व्यापक है। उदाहरण के लिए "टाइम्स आफ इण्डिया" पढ़ने वाली जनता, जो टी०वी० / स्टार टी० टी० देखने वाली जनता, क्रिकेट देखने वाली जनता आदि। उपर्युक्त परिभाषाएँ जनता की निम्न विशेषताओं को इंगित करती हैं :—

(i) यह व्यक्तियों का आकारहीन (amorphous) और असंगठित समूह है। इसमें सदस्यों की संख्या बहुत अधिक और अनिश्चित होती है।

(ii) संख्या की अधिकता के कारण सदस्यों में आमने-सामने के प्रत्यक्ष तथा निजी सम्बन्ध नहीं हो पाते।

(iii) जनता के सदस्य दूर-दूर तक बिखरे एवं फैले होते हैं परन्तु उनकी इच्छा तथा अभिरुचि उभयनिष्ठ होती है।

(iv) असंगठित जनसमूह होने के नाते सदस्यों के व्यवहार में समरूपता का अभाव होता है।

मत का अर्थ

(Meaning of Opinion)

किसी विषय पर व्यक्ति का विचार उसका मत कहलाता है। किसी विवादास्पद विषय पर व्यक्ति के विश्वास, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मत कहलाता है।

किम्बल यंग (Kimball Young; 1957) के अनुसार, "मत वह विश्वास है जो सामान्य विचार या धारणा से अधिक तीव्र एवं प्रबल किन्तु पूर्ण प्रमाण पर आधारित निश्चित ज्ञान से कम प्रबल होता है। यह विवादास्पद विषय पर एक विश्वास है।" ("An opinion is belief some what stronger than a mere notion or impression but less stronger than positive knowledge based on complete or adequate proof. Opinions are beliefs about a controversial topic.")

स्प्राट तथा कूली (Sprott & Cooley) मत को केवल विवादास्पद विषय की सीमित परिधि तक नहीं रखते। इनके अनुसार किसी भी महत्वपूर्ण विषय से मत सम्बद्ध हो सकता है। किन्तु प्रायः मत ऐसा दृष्टिकोण या विश्वास कहा जाता है जो किसी विवादास्पद विषय से सम्बद्ध होता है।

जनता तथा मत के अर्थ को समझ लेने के बाद जनमत के अर्थ एवं परिभाषाओं पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

जनमत

(Public Opinion)

सामान्यतः इसके शाब्दिक अर्थ के अनुसार जनमत का तात्पर्य जनता के

विचारों से है। जनमत किसी विवादास्पद विषय में निर्मित एक प्रकार का सार्वजनिक मत है जिसमें सार्वजनिक हित निहित होता है।

किम्बल यंग के अनुसार, "जनमत, जनता द्वारा किसी विषय पर व्यक्त मत है।" ("Public opinion consists of the opinions held by a public at a certain time.")

डूब (Doob) के अनुसार—"जनमत किसी एक विषय पर ऐसे व्यक्तियों जो उस समूह के सदस्य होते हैं, की अभिव्यक्त अभिवृत्तियों को कहते हैं।" ("Public opinion refers to people's attitudes on an issue when these are the members of the same group.")

डीवी (Dewey) का कहना है कि ".....जनमत एक निर्णय है जो उनके द्वारा किया तथा स्वीकार किया जाता है जो जनता का निर्माण करते हैं तथा उक्त निर्णय जनता से सम्बद्ध होता है।" ("Public opinion is a judgment which is formed and entertained by those who constitute the public and is about public affairs.")

वाल्टर लिपमैन (Walter Lipman) के अनुसार, "मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर के चित्र, उसके स्वयं के चित्र, अन्य लोगों के, उनकी आवश्यकताओं के, प्रयोजनों तथा सम्बन्धों के चित्र ही उनके जनमत होते हैं।" ("The pictures inside the beads of.....human beings, the pictures of themselves of others, of their needs, purposes, and relationships are their public opinion.")

कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy 1961) ने कहा है कि "एक समय विशेष में किसी समस्या विशेष के बारे में एक छोटे या बड़े समुदाय द्वारा स्वीकृत मत ही जनमत है। ("Public opinion consists of opinions held by a people of smaller or a larger community about a particular problem at certain time.")

जिन्सबर्ग (Ginsberg, 1955) के अनुसार, "जनमत का अर्थ समुदाय में प्रचलित उन विचारों एव निर्णयों के पुंज से होता है जिसमें निश्चित रूप से प्रतिपादित होते हैं और काफी स्थाई होते हैं।" (By public opinion is meant the mass of ideas and judgments operative in a community which are more or less definitely formulated and have a certain stability and are felt by the people, who entertain or hold them to be social in the sense that they are result of many minds acting in common.")

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जनमत की कुछ विशेषताओं की चर्चा करना संभव है।

जनमत की विशेषताएँ

(Characteristics of Public Opinion)

(i) किसी सार्वजनिक समस्या, विषय, कार्य से सम्बद्ध मत ही जनमत है, जो सम्पूर्ण जनता के हित में होता है।

(ii) जनमत के अन्तर्गत अधिकांश सदस्यों का मत शामिल होता है।

(iii) जनमत तब निर्मित होता है जब समूह के अनेक लोग किसी सार्वजनिक समस्या पर सोच विचार करके सामूहिक निर्णय करते हैं जो जनहित में होता है।

(iv) जनमत बनने में सामाजिक अन्तःक्रियायें निहित होती हैं।

(v) जनमत तर्कयुक्त तथा तर्कहीन भी हो सकता है।

(vi) जनमत परिवर्तनशील एवं अस्थाई होता है।

(vii) यह समूह के सदस्यों के विश्वासों, मूल्यों, आदतों, मान्यताओं, दृष्टिकोणों और पूर्वघटनाओं से प्रभावित होते हैं।

(viii) जनमत बनाने में बुद्धिजीवी, सम्मानित व्यक्ति तथा नेता की भूमिका भी होती है।

(ix) जनमत में सम्पूर्ण जनता को सक्रिय करने की शक्ति एवं सामर्थ्य होती है।

(x) जनमत निर्माण में बहस, विवेचना, तर्क वितर्क और मत अनुकूल प्रक्रियायें निहित होती हैं।

(xi) जनमत का एक सामाजिक सांस्कृतिक आधार होता है।

(xii) जनमत का निर्माण करने वालों में उभयनिष्ठ रुचि एवं इच्छा के कारण दूर-दूर होते हुये भी एक दूसरे से जुड़े होते हैं।

जनमत निर्माण की प्रक्रिया

(Process of Formation of Public Opinion)

जनमत निर्माण की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। इसके निर्माण में कुछ समय लगता है, अर्थात एकाएक जनमत नहीं बनता। इसके निर्माण में निम्न प्रमुख अवस्थाएँ (Stages) आती हैं :—

1. समस्या या विषय की उपस्थिति (Issue or problem)—बिना समस्या जनमत निर्माण नहीं होता (किम्बल यंग, 1957) समस्या किसी विशेष व्यक्ति से सम्बद्ध न होकर समूह या समुदाय से जुड़ी होनी चाहिए। ऐसा होने पर समस्या का सम्बन्ध जनहित से होता है। केवल यही नहीं वरन् समस्या का स्वरूप

विवादास्पद होना चाहिये। समस्या को ऐसा रूप देने का प्रयास करते हैं कि वह जनहित और जनकल्याण में वाद-विवाद, सोच-विचार को जन्म दे सके। इसी कारण जनमत का विषय समूह की धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक नैतिक आदि समस्याओं से संबद्ध हो सकता है।

2. **समस्या से सम्बद्ध विचार-विमर्श (Deliberations about the problem)**—जनमत निर्माण की दूसरी अवस्था में समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क होता है। जिन प्रश्नों पर विचार होता है वे समस्या की गंभीरता, संभव समाधान, किन व्यक्तियों से सम्बद्ध है। समाधान का विभिन्न पक्षों से सम्बन्ध, समाधान के तरीकों से सम्बद्ध होते हैं, विभिन्न विचारों और समस्याओं को रेडियो, टी० वी०, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से साधारण लोगों तक पहुँचाया जाता है और उनके द्वारा अभिव्यक्त मतों पर विचार होता है। इस प्रकार समस्या की गम्भीरता, उसके महत्व और समाधान की छान-बीन की जाती हैं। उदाहरण के लिए परिवार नियोजन की समस्या आज समाज की ज्वलन्त समस्या है जिसपर जनमत निर्माण का सतत प्रयास चल रहा है।

3. **समस्या के वैकल्पिक समाधान (Alternative solutions)**—इस तीसरे चरण में समस्या के विभिन्न समाधान प्रस्तावित होते हैं वैकल्पिक समाधानों के विषय में संगठित वाद-विवाद एवं विचार विमर्श होता है। कभी-कभी समाधानों के प्रस्ताव के समय भीड़ मानसिकता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है अर्थात् व्यक्ति स्वयं विवेक से कार्य न करके समूह मन के अनुसार कार्य करते हैं। इस अवस्था तक किम्बल यंग के अनुसार समस्या स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए परिवार नियोजन के विषय में लोगों के विचारों का ध्रुवीकरणपक्ष या विपक्ष में होने लगता है।

4. **सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचना (Arriving at consensus)**—इस चरण में व्यक्ति समस्या के विषय में एक मत पर पहुँच जाते हैं अर्थात् सर्वसम्मत निर्णय का विकास हो जाता है। अब हर तरह की अनिश्चितता समाप्त हो जाती है। वह निर्णय स्वीकार किया जाता है जिसपर अधिकांश सदस्य सहमत हों। बहु-संख्यक मत होते हुए भी इसमें अल्पसंख्यक मतों को सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाता है। उदाहरण के लिए परिवार नियोजन के कुछ विशेष तरीकों पर सहमति हो जाती है।

5. **लागू करना (Implementing)**—जनमत निर्माण के पश्चात सर्व-सम्मत निर्णय को व्यवहार में लागू किया जाता है। यह जनमत के क्रियान्वयन से सम्बद्ध है। क्रियान्वयन के बिना जनमत निर्माण से कोई लाभ नहीं होगा। यह कार्य जन संचार (mass media) के प्रभाविकता पर निर्भर करता है।

जनमत निर्माण के निर्धारक

(Determinants of Formation of Public Opinion)

जनमत निर्माण की प्रक्रिया को अनेक कारक प्रभावित करते हैं। इनमें कुछ प्रमुख कारक निम्न हैं :

1. प्रेरणा (Motivation)—समस्या के प्रति सम्बद्ध व्यक्तियों का अभिप्रेरित होना अनिवार्य है। जब तक लोग जनमत निर्माण की समस्या महत्वपूर्ण नहीं होती सामान्यतया सम्बद्ध लोगों में उसके प्रति प्रेरणा नहीं होती और तब तक उसके विषय में जनमत निर्माण भी नहीं होता। समस्या के प्रति प्रेरणा और आकर्षण उसी अनुपात में होगा जिस अनुपात में वह समस्या जनहित से सम्बद्ध होगी। समस्या में सांवेगिकता विद्यमान होने पर लोगों के प्रेरित होने की संभावना अधिक होती है।

2. विरोधी प्रभाव (Cross pressure)—आज प्रायः एक व्यक्ति अनेक समूहों, संस्थाओं, क्लबों आदि से जुड़ा होता है जिनके प्रयोजन एवं उद्देश्य एक दूसरे से अलग होते हैं। इतना ही नहीं कभी कभी इनके उद्देश्य परस्पर विरोधी होते हैं। ऐसे विरोधी प्रभाव जनमत निर्माण में अवरोध उत्पन्न करते हैं। ऐसी दशा में व्यक्ति यह नहीं निश्चित कर पाता है कि वह क्या करे या क्या न करे।

3. सामाजिक घटनाएं (Social events)—जनमत के बनने में सामाजिक घटनाओं जैसे अत्यधिक लूट-मार, सामूहिक बलात्कार, किसी प्रतिष्ठित नेता की हत्या आदि का बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए राजीव गांधी की हत्या के पश्चात मतों का कांग्रेस के पक्ष में ध्रुवीकरण तथा केन्द्र में कांग्रेस सरकार का गठन सामाजिक घटना का ही परिणाम था। किम्बल यंग (1957) के अनुसार "घटनाएँ जनमत को निश्चित रूप से प्रभावित करती हैं। केवल उनका घटित होना ही नहीं वरन् जिस ढंग से उनकी व्याख्या की जाती है वह भी महत्वपूर्ण है।" ("Events do influence public opinion. Not merely their occurrence but the manner in which they are interpreted is important.")

श्रीमती इन्दिरा गांधी की 1984 में निर्मम हत्या से कांग्रेस को जिस प्रकार का ऐतिहासिक बहुमत प्राप्त हुआ वह इसका ज्वलन्त उदाहरण है। राजीव गांधी सर्वसम्मत रूप से प्रधान मंत्री मनोनीत हुए, यह भी उसी हत्या जैसी सामाजिक घटना का परिणाम था।

कैन्ट्रिल (Cantrill) ने द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अपने अध्ययन द्वारा घटनाओं के विषय में निम्न निष्कर्ष प्राप्त किए थे—(1) घटनाएँ व्यक्ति के मूल्यों को परिवर्तित कर सकती हैं, (2) वे लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में बदलाव

ला सकती हैं, (3) लोगों के मन में छिपे हुए मतों को अभिव्यक्त करा सकती हैं, (4) घटनाओं द्वारा व्यक्तियों के मूल्यांकन भी प्रभावित हो सकते हैं, (5) उद्देश्य से सम्बद्ध धारणाएँ घटनाओं द्वारा बदल जाती हैं, (6) घटनाएँ लोगों के अभिवृत्तियों, विचारों, मतों और मूल्यों को बदल सकती हैं।

4. सामाजिक मानक एवं मूल्य (Social norms and values)—प्रत्येक समाज में कुछ विशेष मानक एवं मूल्य प्रचलित होते हैं, जो किसी समस्या के विषय में जनमत निर्माण को प्रभावित करते हैं। समाज के सदस्य उन प्रमुख मानकों के विपरीत जनमत निर्माण का साहस नहीं करते जैसे मुस्लिम पर्सनल ला।

5. सामाजिक वर्ग का प्रभाव (Influence of social class)—प्रत्येक समाज में अनेक वर्ग होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी वर्ग से जुड़ा होता है। व्यक्ति अपने वर्ग विशेष की विचारधारा के विपरीत मत अभिव्यक्त करने का साहस नहीं जुटा पाता है। इस प्रकार जनमत निर्माण पर सामाजिक वर्ग का प्रभाव भी पड़ता है। जो लोग अपने वर्ग के दृष्टिकोण के विपरीत मत व्यक्त करते हैं वह अपने सामाजिक वर्ग में अपना स्थान, मान तथा सन्मान खो बैठते हैं।

6. जन संचार माध्यमों का प्रभाव (Effects of mass media)—आज जन संचार के आधुनिक माध्यमों द्वारा व्यक्ति समय-समय पर सूचनाएँ प्राप्त करता रहता है। आज के युग में जनमत निर्माण को समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, टी०वी० तथा रेडियो आदि प्रभावित ही नहीं निर्धारित भी करते हैं। बारम्बार उसी सूचना की प्राप्ति कुछ न कुछ जनमत पर प्रभाव अवश्य डालती है। कोई व्यक्ति जैसी सूचनाएँ बार-बार प्राप्त करता है वैसी ही धारणाएँ विचार और वैसी ही मानसिकता विकसित हो जाती है। विज्ञापनों द्वारा लोगों को प्रभावित करने का सतत प्रयास इसी सिलसिले की एक कड़ी है।

7. पूर्वाग्रह, विश्वास तथा रूढ़ियाँ (Prejudice, belief and stereo types)—जनमत निर्माण में समाज में व्याप्त पूर्वाग्रह, विश्वास तथा रूढ़ियाँ भी प्रमुख भूमिका निभाती हैं। बहुधा लोग वास्तविक वस्तुस्थिति से आँखे, मूँद कर प्रचलित पूर्वाग्रहों, विश्वासों, एवं रूढ़ियों के आधार पर जनमत निर्मित कर लेते हैं। अतः यह जनमत निर्माण का प्रमुख निर्धारक है।

8. अफ़वाह और प्रचार (Rumour and propaganda)—जनमत निर्माण की प्रक्रिया समाज में व्याप्त अफ़वाहें तथा नाना प्रकार के चल रहे प्रचार भी काफी मात्रा में प्रभावित करते हैं। जब सामान्य लोगों की सूचनाएँ नहीं प्राप्त होती या न्यून सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं तो व्यक्ति प्रचार तथा अफवाहों पर विश्वास करके जनमत निर्मित कर लेते हैं।

9. नेतृत्व (Leadership)—जनमत निर्माण में नेता की भूमिका भी प्रमुख होती है। नेतृत्व शैली का प्रभाव जनमत निर्माण में महत्वपूर्ण कारक है। सफल नेता जनमत को निम्न रूपों में प्रभावित करता है :—

(i) नेता समस्या को प्रस्तुत करते समय उसे ऐसे ढंग से पेश करता है कि जनमत निर्माण प्रक्रिया प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

(ii) प्रायः नेता अपने अव्यक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनता की इच्छाओं की व्याख्या इस प्रकार करता है कि विशेष दिशा में ही जनमत निर्मित होता है।

(iii) नेतृत्व शैली भी जनमत निर्माण को प्रभावित करती है। प्रजातांत्रिक नेता समूह के कार्यों में अपनी सहभागिता द्वारा शीघ्र ही मन चाही दिशा में जनमत विकसित करा लेता है। इसके विपरीत सत्तावादी नेता जनमत बनाने में अधिक सफल नहीं होता। वह अपने निहित अधिकारों तथा शक्ति प्रयोग द्वारा अवश्य जनमत निर्माण का प्रयास करता है और उसमें सफल भी होता है।

(iv) आत्मगत निर्धारक (Subjective determinants)—आत्मगत कारकों के अन्तर्गत व्यक्ति की मूल्य शैली, आत्मसम्प्रत्यय, तर्क शक्ति, विवेक, बुद्धि आदि योग्यताएँ आदि प्रमुख हैं जो जनमत निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित एवं निर्धारित करती हैं।

जनमत के साधन या माध्यम
(Media or Agencies of Public Opinion)

जनमत निर्माण शून्य में नहीं होता। इसके अनेक प्रमुख साधन या माध्यम हैं—समाचारपत्र, चलचित्र, रेडियो, टी० वी० आदि। इनका संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

1. प्रेस व समाचारपत्र (Press & Newspapers)—प्रेस जनमत निर्माण का एक सशक्त एवं प्रभावशाली साधन है। प्रेस से पत्र-पत्रिकाएँ, हैन्डबिल, समाचारपत्र आदि प्रकाशित होते हैं। इसमें जनहित से सम्बद्ध समस्याओं का विवरण भी होता है जिससे विचार विमर्श एवं वादविवाद द्वारा लोग जनमत बनाते हैं। स्वतंत्र एवं निष्पक्ष समाचारपत्र की जनमत निर्माण में बड़ी प्रमुख भूमिका होती है। यह समाचार पत्र जनता की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा अन्य प्रकार की समस्याओं को प्रकाशित कर लोगों का ध्यान उधर आकृष्ट कराते हैं। इन समस्याओं के प्रस्तावित समाधान भी समाचार प्रस्तुत कर उनके पक्ष या विपक्ष में जनमत बनाने के प्रयास करते हैं। आजकल देश के अनेक विख्यात समाचार पत्र डंकल समझौते के पक्ष/विपक्ष में जनमत निर्माण में लगे हुए हैं।

2. रेडियो, टेलीविजन (Radio & T.V.)—रेडियो तथा टी०वी०

जनमत निर्माण के अत्यन्त महत्वपूर्ण माध्यम समझे जाते हैं। समाचारपत्र तो केवल शिक्षित लोग ही पढ़ते हैं परन्तु रेडियो एवं टी०वी० तो अशिक्षित व शिक्षित दोनों ही में जनमत निर्माण में अहम भूमिका अदा करते हैं। आज गाँव-गाँव में रेडियो ही नहीं टी०वी० तक चलन हो गया है। रेडियो तो संभवतः प्रत्येक परिवार में मिलता है जो मनोरंजन के अतिरिक्त जनमत निर्माण के उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है। इन साधनों पर प्रजातंत्र में सरकार का नियन्त्रण रहता है। अतः इन साधनों की भूमिका थोड़ी सीमित हो जाती है।

3. टेलीफोन (Telephone)—फोन तथा तार द्वारा भी जनमत निर्माण में सहायता मिलती है। इस साधन के चलते हजारों कि०मी० दूर रहने वाले लोग क्षण भर में विचार विमर्श कर लेते हैं। बड़े-बड़े राजनेता, समाज सुधारक आदि एक दूसरे से सम्पर्क कर जनहित की समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान कर जनमत बनाने का प्रयास करते हैं।

4. सिनेमा (Cinema)—सिनेमा भी जनमत निर्माण का एक सशक्त आधुनिक साधन है। सिनेमा द्वारा प्रदर्शित फिल्में समाज की अनेकानेक समस्याओं के चित्रण यथा "बहू जलाना," "दहेज विरोधी चित्र," "परिवार नियोजन," आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों के दुष्परिणामों से लोगों को अवगत कराते एवं जनमत निर्मित करने का उद्देश्य पूरा होता है। यह साधन अत्यन्त प्रभावशाली है क्योंकि इसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से जनमत का निर्माण होता है।

5. सार्वजनिक भाषण (Public Speeches)—राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक नेता जगह-जगह अपने भाषणों द्वारा जनमत निर्माण का कार्य करते हैं। वे इस उद्देश्य हेतु जन सभाओं का आयोजन करते हैं और उनमें सार्वजनिक हित के विषयों एवं समस्याओं तथा उनके समाधानों का प्रस्ताव भी करते हैं। वाणी की शक्ति से कौन परिचित नहीं है। अनेक वक्ता अपनी वाणी की शक्ति द्वारा श्रोताओं में सबल भावना एवं इच्छा जागृत करते हैं। वे जनता को भावप्रधान बनाकर इच्छित दिशा में जनमत निर्माण करते हैं।

6. शिक्षा संस्थाएँ (Educational Institutions)—छात्रों के चरित्र निर्माण तथा उनके व्यक्तित्व विकास का प्रमुख कार्य शिक्षा संस्थाएँ करती हैं। अध्यापक छात्रों में देश प्रेम, ईमानदारी, नागरिकता के कर्त्तव्यों, न्याय परार्थ तथा अन्य जीवनोपयोगी तथा समाजोपयोगी मूल्यों एवं आदर्शों के प्रति चेतना उत्पन्न कर सकते हैं। इससे भी जनमत निर्मित होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जनमत निर्माण के अनेक साधन हैं। कोई भी व्यक्ति, संस्था या संगठन पक्ष या विपक्ष में जनमत बनाने के लिए अपनी आवश्यकता के

अनुसार किसी एक या एक से अधिक का उपयोग करता है। भारत, जहाँ में साक्षर व्यक्तियों की संख्या अब भी काफी कम है, रेडियो अन्य साधनों से अधिक प्रभावशाली है। इसके अतिरिक्त गाँव के अध्यापक या अन्य शिक्षित व्यक्ति, मौलवी, पण्डित, या ग्राम प्रधान भी जनपद निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

जनमत मापन

(Measurement of Public Opinion)

जनमत मापन या मूल्यांकन के लिए समाज मनोवैज्ञानिकों ने कुछ प्रविधियों का प्रतिपादन किया है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में जनमत तथा उसके मापन को विशेष महत्व प्राप्त है, क्योंकि सरकार जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा चलाई जाती है। इसलिए जनमत के विरुद्ध कोई सरकार कार्य नहीं कर सकती। किसी भी नीति या कार्यक्रम के क्रियान्वयन के पूर्व समस्या के विषय में जनमत का मूल्यांकन आवश्यक होता है। प्रधानमंत्री यदि रूस जाँय और वहाँ की सरकार के साथ किसी करार पर हस्ताक्षर करें तो वह यहाँ जनमत पर पड़ने वाले प्रभाव से अवगत होना चाहेंगे। इसी प्रकार से सारे विरोधी दल मैट करार के खिलाफ जनमत बनाने में तथा केन्द्र सरकार इस करार के पक्ष में जनमत बनाने में विगत महीनों में व्यस्त रही है।

इस कार्य के लिये निम्न प्रमुख तकनीकें प्रयुक्त होती हैं—

1. मतदान विधि (Polling method)—किसी प्रमुख समस्या के विषय में जनमत ज्ञात करने की सर्वप्रमुख विधि मतदान विधि है। किम्बल यंग प्रजातन्त्र में जनमत मापन के लिए मतदान विधि को सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक उपयुक्त विधि मानते हैं। इसका विकास अमेरिका में राष्ट्रपति चुनाव के पूर्व पूर्वकथन करने के लिये जी० एच० गैलप (G. H. Gallup) ने किया था। किन्तु आज भी यह विधि जनमत मापन में उतनी ही लोकप्रिय है। इसके अन्तर्गत समस्या या विषय से सम्बद्ध कुछ प्रश्नों की सूची या प्रश्नावली तैयार की जाती है। इन प्रश्नों का उत्तर हाँ अथवा नहीं के रूप में देना होता है। प्रश्नावली के लिए यादृच्छिक रीति से सही प्रतिनिधित्व करने वाले (truly representative) न्यादर्श (sample) का चयन कर प्रश्नावली को प्रशासित करते हैं। फिर गणना या पलांकन तथा उसके बाद विश्लेषण और अन्तलोगत्वा जनमत का पूर्वकथन किया जाता है।

इस विधि के द्वारा उ० प्र० विधान सभा के विगत चुनाव में पूर्वकथन किए गये थे जिसमें अनेक सही भी रहे। इस विधि का एक प्रमुख दोष यह है कि मात्र हाँ/नहीं आदि में प्रतिक्रिया व्यक्त करने के कारण जनमत की दिशा का बोध तो होता

है परन्तु यह नहीं ज्ञात होता कि जनमत कितना तीव्र है अथवा सहमति या असहमति की मात्रा का ज्ञान नहीं होता है।

2. **जन निरीक्षण विधि (Mass observation method)**—इस विधि में कुछ प्रशिक्षित प्रेक्षक जनमत मापन हेतु किसी समूह के सदस्यों के व्यवहार एवं क्रियाओं का प्राकृतिक परिस्थितियों में प्रेक्षण करते हैं। सार्वजनिक समस्या की बाबत साधारण जन से अनौपचारिक बातचीत और उनके कार्यों का प्रेक्षण भी करते हैं। इन सबको ध्यान में रखकर जनमत का मूल्यांकन करते हैं। प्रेक्षण अवधि में प्रेक्षक अपने परिचय को गोपनीय बनाए रखता है। इस विधि की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें जीवन की वास्तविक एवं स्वाभाविक परिस्थिति में जनता के विचार एवं व्यवहार से व्यक्त मत अधिक भरोसेमन्द और वैध होने की सम्भावना होती है। किन्तु यदि प्रेक्षक निष्पक्ष और तटस्थ भाव से प्रेक्षण न करे तो परिणाम दूषित हो सकते हैं।

3. **प्रश्नावली विधि (Questionnaire method)**—जब सूचनादाता दूर-दूर तक फैले होते हैं तो प्रश्नावली द्वारा जनमत मापन किया जाता है। सरल, बोधगम्य भाषा में छोटे-छोटे प्रश्नों को मुद्रित कराते हैं। इस प्रकार प्रश्नों की एक पुस्तिका तैयार हो जाती है। उत्तर हाँ-नहीं प्रकार से देना होता है। उदाहरण—

1. क्या आप डरावने स्वप्न देखते हैं। हाँ/नहीं
2. अपरिचित व्यक्ति के सामने घबराहट होती है। हाँ/नहीं

दूर-दराज़ वाले व्यक्तियों को प्रश्नावली पोस्ट द्वारा भेजी जाती है जो उत्तर के साथ उसे लौटाते हैं। ऐसी प्रश्नावली बन्द प्रश्नावली (Closed questionnaire) कहलाती है।

जब प्रश्नावली में उत्तर हाँ-नहीं के बजाय एक-दो वाक्यों में देने की अनुमति होती है तो ऐसी प्रश्नावली को **खुली प्रश्नावली (Open questionnaire)** कहा जाता है।

इसका सर्वप्रमुख गुण यह है कि यह एक अत्यन्त सरल, किफायती (समय तथा व्यय) विधि है। इसका प्रमुख दोष यह है कि मतदेने वाले प्रायः अपनी वास्तविक राय या मत को छिपाकर सामाजिक रूप से अनुमोदित मत व्यक्त करते हैं।

4. **साक्षात्कार विधि (Interview method)**—साक्षात्कार विधि भी जनमत मापन में प्रयुक्त होती है। साक्षात्कार दो प्रकार का होता है—संरचित (structured) तथा असंरचित (Unstructured) संरचित साक्षात्कार में प्रश्नों को पहले से लिखकर तैयार कर लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति से वही प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रश्नों का क्रम तक बनाए रखते हैं। यह साक्षात्कार काफी संगठित होता

है। असंरचित अथवा असंगठित साक्षात्कार में प्रश्न पहले से निश्चित नहीं होते। कभी-कभी अनेक व्यक्तियों का सामूहिक (group) साक्षात्कार किया जाता है। इसका रूप चाहे जो भी हो प्रश्नों के उत्तरों के अनुसार जनमत की अनुकूलता या प्रतिकूलता का आकलन किया जाता है।

इस विधि का प्रमुख गुण यह है कि प्रश्नों के उत्तरों के अलावा साक्षात्कारकर्त्ता व्यक्ति के हाव-भाव तथा मुखाकृति प्रकाशनों के प्रेक्षण द्वारा भी जनमत मूल्यांकन में सहायता लेता है इसकी न्यूनता यह है कि इस विधि द्वारा जनमत मापन में अधिक समय लगता है। साथ ही सूचना-दाता अनेक निजी कारणों से प्रश्नों का सही उत्तर नहीं देते। अतः जनमत मापन में अशुद्धि की संभावना होती है।

5. **सम्पादकों एवं जन अधिकारियों के नाम पत्र (Letters to editors and public officials)**—कभी-कभी लोग ज्वलन्त समस्याओं और प्रमुख विषयों पर विभिन्न समाचारपत्रों के सम्पादकों के नाम पत्र लिखते हैं या अन्य जन अधिकारियों जैसे मुख्य मन्त्री, प्रधान मन्त्री, राज्यपाल आदि को समस्याओं के बारे में पत्र द्वारा अवगत कराते हैं। इन पत्रों में समस्या के उल्लेख के साथ-साथ समाधान भी प्रस्तावित किये जाते हैं। इन विभिन्न पत्रों के विश्लेषण से समस्या के पक्ष या विपक्ष में जनमत का बोध होता है। इस विधि के महत्व को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि इस प्रकार स्वेक्षानुसार लिखे गये पत्र जनता के वास्तविक मत को अभिव्यक्त करते हैं। अतः इन पत्रों में व्यक्त मत सही जनमत के परिचायक होते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जनमत मापन के लिये समाज मनोवैज्ञानिकों ने अनेक विधियों का अनुप्रयोग किया है। जिनमें से समस्या के महत्व, अध्ययन-कर्त्ता की सुविधा तथा साधनों की उपलब्धता के आधार पर उपयुक्त विधि का चयन किया जाता है।

जनमत का महत्व
(Importance of Public Opinion)

प्रजातन्त्र में जनमत के महत्व से सभी परिचित हैं। प्रजातन्त्र की सफलता बहुत कुछ जनमत के सही मापन तथा उसके अनुसार कार्य करने पर निर्भर करती है।

1. **जनमत तथा प्रजातांत्रिक नेतृत्व (Public opinion and democratic leadership)**—प्रजातांत्रिक नेतृत्व जनमत पर निर्भर करती है। नेता पद पर किसी व्यक्ति का बना रहना अनुकूल जनमत के बिना संभव नहीं होता क्योंकि प्रजातन्त्र में नेता जनता के वोटों द्वारा चुने जाते हैं। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह 10-11 महीनों के बाद पद से हट गये। यही नहीं उ० प्र० विधान

सभा के विगत चुनाव (1993) में उनकी पार्टी-जनता दल का सफाया प्रतिकूल जनमत का ज्वलन्त उदाहरण है।

2. **सरकारी प्रशासन** (Government Administration)— जनमत से सरकारी तन्त्र को अपनी योजनाओं, नीतियों तथा कार्यक्रमों के बारे में जो प्रतिपूर्ति (feedback) प्राप्त होती है उसके अनुसार सरकार जनमत के अनुकूल होने पर उस कार्यक्रम पर और अधिक बल देती है तथा जनमत प्रतिकूल होने पर उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन करती है अथवा उसे नया रूप देने का प्रयास करती है। (Ginsberg) के अनुसार जनमत से सरकार को उसकी कमियों का ज्ञान प्राप्त होता है। जनमत के प्रतिकूल होने के भय से सरकार मनमाने ढंग से कार्य करने से बचती है।

3. **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध** (International relations)—आज सम्प्रेषण के आधुनिक साधनों के चलते सारा संसार एक सूत्र में बंध गया है। किसी एक देश में घटी घटना के प्रभाव से विश्व के अन्य देश बच नहीं पाते। आज जनमत का महत्व इसलिए भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण है। मानवाधिकार शिखर सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय जनमत के आगे पाकिस्तान को झुकना पड़ा। अतः जनमत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने में प्रमुख भूमिका निभाती है।

4. **जनमत द्वारा जनहित** (Welfare of people)—जनमत के कारण जनता में पहले की अपेक्षा अधिक सामाजिक एवं राजनैतिक जागरूकता देखी जा रही है जनता के विकास के कार्यक्रमों में बढ़ोत्तरी जनमत का ही परिणाम है। जवाहर रोजगार योजना पर सरकार द्वारा बल जनमत से विकास में प्रगति का परिचय प्राप्त होता है।

5. **सूचना-प्रसार** (Propagation of information)—जनमत के द्वारा समाज के सदस्यों को दूसरों के मत, विचार एवं दृष्टिकोण की सूचना मिलती है। किसी विषय या समस्या के बारे में वांछित सूचना के अभाव में व्यक्ति का अंजान रहना आज के प्रगतिशील युग में सम्भव नहीं है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति होगा तो वह अनेक प्रकार के भ्रामक और गलत विचार रखता होगा, वह गुमराह हो सकता है। अतः जनमत द्वारा लोगों में किसी समस्या के प्रति सूचना का प्रसार एवं प्रचार होता है।

अध्याय 21

भीड़ तथा श्रोतासमूह

(Crowd and Audience)

आज के जीवन में "भीड़" शब्द से सभी परिचित हैं। जब किसी जगह हम अनेक व्यक्तियों को इकट्ठे देखते हैं तो प्रायः शब्द "भीड़" का अनुप्रयोग करते हैं। सड़क पर, कालेज में, कार्यालय से निकलते हुए व्यक्तियों के झुण्ड को देखकर हम सभी कह उठते हैं कि "बहुत भीड़ है।" इसप्रकार आज हमारी बोलचाल की सामान्य भाषा में भीड़ एक अत्यन्त सामान्य शब्द है जो बहुत से व्यक्तियों के एक जगह एकत्र होने का द्योतक मात्र है किन्तु मात्र अनेक व्यक्तियों का एकत्र होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भीड़ नहीं कहा जा सकता। व्यक्तियों के संग्रह होने को भीड़ की संज्ञा उस समय देते हैं, जब उन एकत्रित व्यक्तियों की रुचि, उद्देश्य, लक्ष्य तथा अन्य विशेषताएँ समान हों।

भीड़ की परिभाषा

भीड़ वास्तव में एक असंगठित जन समूह है, जो एकाएक उत्पन्न होता है और सहसा समाप्त भी हो जाता है। इसमें संगठन का अभाव, क्षणिक स्वरूप, भावना की प्रधानता एवं प्रमुखता देखी जाती है।

किम्बल यंग (Kimball Young; 1957) के अनुसार, "मनोवैज्ञानिक अर्थ में केवल व्यक्तियों की संख्या से भीड़ का निर्माण नहीं होता है। फुटपाथ पर चल रहे व्यक्ति उस समय तक भीड़ का निर्माण नहीं करते जब तक कि उनकी रुचि उभयनिष्ठ न हो जिसके प्रति वे प्रतिक्रिया न प्रारम्भ कर दें।"

(In a psychological sense mere numbers do not make a crowd. People walking back and forth along a sidewalk dont' form a crowd unless they dovelop same point of common interest and begin to react to it." Handbook of Social Psychology, 1957.)

लेबां (Le Bon) ने भीड़ का प्रयोग व्यापक अर्थों में करते हुए इसके लिए शारीरिक निकटता को आवश्यक नहीं माना था। उनके अनुसार जब समूह के विचार, दशा, भावनाएँ एक दिशा में उन्मुख हो जायं अर्थात् जब एकरूपता आ जाय और अन्त में समूह मन (group mind) का निर्माण हो जाए तो उस जन समूह को भीड़ कहते हैं। किन्तु समूह मन के अस्तित्व के प्रमाण शोधों से नहीं मिले हैं।

मैकाइवर (Mc Iver) के अनुसार, "भीड़ व्यक्तियों का वह संगठन है जिसमें शारीरिक निकटता होती है। लोग एक दूसरे के प्रत्यक्ष, अस्थाई तथा असंगठित सम्पर्क में होते हैं।"

(Crowd is physically compact organization of human beings brought into direct, temporary and unorganized contact with one another.")

थाउलेस (1951) ने कहा है कि, "भीड़ एक ऐसी अस्थायी निकटस्थ संक्रामक समूह है जो पूर्णतः प्रवेश्य सीमा में संगठित होता है, तथा जो किसी उभयनिष्ठ रुचि के चलते स्वतः संगठित होता है।" ("Crowd is a transitory contagious group, organised with completely permeable boundaries, spontaneously formed as a result of some common interest." Thouless : General and Social Psychology, 1951)

सर मार्टिन कानवे (Sir Martin Conway) ने भीड़ को व्यापक अर्थों में परिभाषित किया है। वे भीड़ का उपयोग ऐसे समूह के लिए करना उचित समझा जो अलग और स्पष्ट अस्तित्व रखता हो। इस व्यापक अर्थ में भीड़ के अन्तर्गत श्रोतासमूह, साम्राज्य, प्रजाति, राष्ट्र आदि सभी आ जाते हैं।

आलपोर्ट (1924) के अनुसार, भीड़ उस जनसमूह को कहते हैं जो समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सांवेगिक प्रतिक्रियायें करता हो।

(A crowd is a collection of individuals who are all attending and reacting to some common objects. Their reactions being of a simple preponent sort and accompanied by strong emotional responses." Allport.)

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार हम कह सकते हैं कि भीड़ व्यक्तियों का शारीरिक रुप से प्रत्यक्ष; असंगठित, स्वतः निर्मित होने वाला अस्थायी समूह है। इसमें लोगों का ध्यान किसी उभयनिष्ट केन्द्र की ओर होता है।

उपर्युक्त परिभाषाएँ भीड़ के वैज्ञानिक अर्थ एवं स्वरूप को काफी हद तक स्पष्ट करती हैं इसमें निहित प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं :—

(i) भीड़ में व्यक्तियों का संग्रह होता है। इसमें अनेक व्यक्ति किसी जगह जमा हो जाते हैं।

(ii) व्यक्तियों का संग्रह अस्थायी होता है। इस प्रकार जो व्यक्ति एकत्र होते हैं वे कुछ समय के लिए ही संग्रहित होते हैं।

(iii) भीड़ में व्यक्तियों के बीच शारीरिक समीपता विद्यमान होती है। लोगों में प्रत्यक्ष अथवा आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं।

(iv) भीड़ में सदस्यों के मध्य प्रेरणात्मक, संवेगात्मक एवं तनाव के लक्षण विद्यमान होते हैं। उनके लक्ष्य भी उभयनिष्ठ होते हैं।

भीड़ की विशेषताएं
(Characteristics of Crowd)

मनोवैज्ञानिकों ने भीड़ की आवश्यक विशेषताओं का जो विवरण किया है वह भीड़ के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट करता है। इन विशेषताओं के सहारे हम भीड़ मनोविज्ञान का विश्लेषण कर सकते हैं। यहाँ, हम भीड़ की विशेषताओं की चर्चा भीड़ के विश्लेषण के द्वारा करेंगे। यह विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

1. व्यक्तियों का एकत्रित होना :—व्यक्तियों का एकत्रीकरण भीड़ की सर्वप्रमुख विशेषता है। अनेक व्यक्तियों का किसी स्थान विशेष पर एकत्र होना इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। इससे यह स्पष्ट है कि भीड़ में काफी संख्या में व्यक्तियों का संगहित होना अनिवार्य है जिनमें प्रत्यक्ष एवं निकटतम शारीरिक सम्पर्क होता है।

2. उभयनिष्ट (Common)—उद्देश्य एवं रुचि भीड़ की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि भीड़ के सदस्यों में रुचि तथा ध्यान की समानता पाई जाती है। सभी सदस्यों का ध्यान तथा रुचि किसी एक व्यक्ति, वस्तु, या घटना पर केन्द्रित होती है और उसके समाधान होते ही भीड़ तितर-बितर हो जाती है इस प्रकार भीड़ के सभी सदस्यों का ध्यान उभयनिष्ट वस्तु, व्यक्ति या घटना पर केन्द्रित होता है। अतः उन सदस्यों की रुचि और उद्देश्य भी उस समय समान होते हैं। इस विशेषता को ध्रुवीकरण भी कहा जाता है, जो कि इसकी प्रमुख विशेषता है। किम्बल यंग (1960) ने भीड़ में ध्रुवीकरण की व्याख्या करते हुए कहा है कि, "भीड़ के सदय एक सीमित स्थान के भीतर ध्यान के उभयनिष्ट केन्द्र के प्रति अनुक्रिया कर रहे होते है। जैसे चुम्बक के चारों ओर लोहे के टुकड़े चिपके हुए होते हैं, ठीक वैसे ही भीड़ के सदस्य उभयनिष्ट विषय के चारों ओर चिपके हुए होते हैं।"

3. अस्थिरता (Transitoriness)—भीड़ स्वभावतः अस्थिर होती है। सदस्यों के ध्रुवीकरण पर ही भीड़ एकत्र होती है। यह ध्रुवीकरण जैसे ही समाप्त होता है भीड़ समाप्त हो जाती है। भीड़ का निर्माण प्रायः किसी तात्कालिक घटना या परिस्थिति के आधार पर पर होता है अर्थात् किसी तात्कालिक आवश्यकता के कारण होता है और उस आवश्यकता घटना, या परिस्थिति के समाप्त होते ही भीड़ समाप्त हो जाती है। ब्रिट (Britt) के अनुसार, भीड़ व्यवहार में तीन पक्ष होते हैं—(1) मनोवैज्ञानिक निरन्तरता, (2) ध्यान तथा रुचि का ध्रुवीकरण और (3) क्षणिकता या अस्थायी प्रकृति। भीड़ इतनी अस्थित होती है कि इसके समाप्त होने के बाद यह भी ज्ञात नहीं हो पाता कि इसके सदस्य कौन-कौन थे। सड़क पर

हुई दुर्घटना के कारण लोगों की भीड़ इकट्ठा हो जाती है लेकिन 10–15 मिनट में ही वह जगह खाली हो जाती है और दूर-दूर तक किसी का अता-पता नहीं होता। अतः भीड़ स्वभावतः अस्थायी होती है।

4. **असंगठित (Unorganized)**—भीड़ व्यक्तियों का एक असंगठित सामाजिक समूह है। इसमें न तो कोई नेता होता है, न स्पष्ट उद्देश्य होते हैं, न नियम होते हैं और न ही इसके प्रकार्य निश्चित होते हैं। इस विशेषता की चर्चा करते हुए मैकाइवर तथा पेज (Mc Iver & Page, 1953) ने कहा है कि, "भीड़ असंगठित समूहों के वर्ग में आती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भीड़ का कोई प्रतिमान (Pattern) नहीं होता या भीड़ की कोई विशिष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती। इसका अर्थ केवल यह है कि भीड़ की इकाइयाँ एक-दूसरे से संगठित नहीं होती हैं।"

(The crowd belongs to our category of unorganized groups. We mean by this, not that orowd exhibits no patterns, no characteristic expressions but that units in it are not organized to in relation to oneanother, Mc Iver & Page; Society : An Introductory Analysis, 1953.)

इससे भीड़ के असंगठित स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। भीड़ के सदस्य समूह की किसी औपचारिकता का निर्वाह नहीं करते।

5. **समान प्रेरणा एवं संवेग (Common motivation and emotion)**—भीड़ में एकत्रित सभी व्यक्तियों में उभयनिष्ट अथवा समान प्रेरणाएँ एवं संवेग दृष्टिगोचर होते हैं। यह समानता लक्ष्यों तथा रुचियों की उभयनिष्टता के कारण होती है। उदाहरण के लिए किसी विवाह पार्टी में कोई मोटर सायकिल सवार वर को धक्का मारकर भागने का प्रयास करता है तो बारात के अधिकांश सदस्य उसका पीछा कर पकड़ने के प्रयास में लग जाते हैं। इन सबकी प्रेरणा वर का घायल कर भागने वाले को पकड़ने की होती है। सब में उभयनिष्ट संवेग (क्रोध) होता है अतः एक जुट होकर घायल करने वाले व्यक्ति का पीछा करते हैं। इसी प्रकार नारे लगाती हुई भीड़ के सभी सदस्य उसे दुहराने लगते हैं, जिसका कारण समान संवेगों की अनुभूति है।

6. **स्थान सम्बन्धी वितरण (Spatial distribution)**—भीड़ का स्थान सीमित होता है। इसकी सीमा वहाँ तक होती है जहाँ तक भीड़ के सदस्यों का फैलाव होता है। भीड़ के लिये सदस्यों की शारीरिक उपस्थिति अथवा उनमें आमने सामने का सम्बन्ध अनिवार्य है। इस विशेषता को किम्बल यंग ने एक

महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार भीड़ एक सीमित क्षेत्र के भीतर फैली होती है। पूरे नगर के वासी उस भीड़ के सदस्य नहीं होते वरन् एक स्थल विशेष पर मौजूद लोग ही इसके सहभागी और सहगामी होते हैं। केवल वह व्यक्ति इसके सदस्य कहे जाएंगे जिनमें शारीरिक निकटता होती है अतः भीड़ का निर्माण एक निश्चित स्थान तक सीमित होता है।

7. **सामूहिक शक्ति की अनुभूति (Sense of mass strength)**—अनेक व्यक्तियों की उपस्थिति के कारण सदस्यों में सामूहिक शक्ति के अनुभव का आभास देखा जाता है। कोई सदस्य केवल अपनी शक्ति पर निर्भर नहीं करता वरन् यह मानकर चलता है कि सभी विद्यमान व्यक्ति उसके साथ हैं अतः वह अपार जनशक्ति का अनुभव करता है। व्यक्ति का अस्तित्व सम्पूर्ण भीड़ के अस्तित्व में विलय कर जाता है। इसी कारण भीड़ में सम्मिलित व्यक्ति वह काम कर जाता है जो अकेले होने पर वह कदापि न करता। अनेक डरपोक लोग भी भीड़ में साहसपूर्ण कार्य कर जाते हैं जिसकी अपेक्षा उनसे सामान्य दशाओं में नहीं की जाती। छात्रों की भीड़ भावावेश तथा सामूहिक शक्ति के अनुभव के कारण थाने पर पथराव कर बैठती है।

8. **पारस्परिक प्रभाव (Mutual influence)**—भीड़ की संरचना में पारस्परिक प्रभाव प्रमुख भूमिका निभाता है। इस प्रभाव के चलते भीड़ के सदस्य एक-दूसरे की उपस्थिति तथा सम्पर्क के कारण शीघ्र उत्तेजित हो जाते हैं। किसी मोटर से दुर्घटना होने पर चाहे चालक की त्रुटि न हो फिर भी भीड़ गाड़ी को तोड़ने, जलाने तथा चालक को मारने पर उतारू हो जाती है। एक दूसरे के साथ शारीरिक निकटता के कारण तर्क हीन आचरण करने का कारण पारस्परिक प्रभाव है।

9. **उत्तरदायित्व का अभाव (Lack of sense of responsibility)**—भीड़ में अनुकरण और संसूचनशीलता अत्यधिक होती है। सदस्य विवेक के बजाए देखा-देखी तथा दूसरों के सुझाव पर अधिक कार्य करते हैं। परिणाम यह होता है कि वे गैर जिम्मेदारी के कार्य करते देखे जाते हैं। इस बात की चेतना घर कर लेती है कि किसी कार्य के प्रति वे उत्तरदायी नहीं हैं जो भी गलत कार्य होंगे उनका दायित्व भीड़ पर होगा।

10. **न्यून बुद्धिता (Low degree of intelligence)**—भीड़ में भाव-प्रधानता के कारण बुद्धि और विवेक पर निर्भरता अत्यन्त न्यून हो जाती है। अनेक गणमान्य और बुद्धिजीवी भीड़ में शामिल होकर विवेक हीनता का परिचय देते हुए देखे जाते हैं। भीड़ का विचार संक्रामक रोग के समान अन्य सदस्यों में फैलता है। संसूचनशीलता और अनुकरणशीलता में वृद्धि भी विवेकशीलता की मात्रा को घटाती है।

:0

11. इच्छा शक्ति का अभाव (Lack of volition)—यह एक अन्य मनोवैज्ञानिक लक्षण है। बुद्धि की न्यून मात्रा तथा उत्तरदायित्व की कमी आत्म सम्मान की न्यूनता, भावप्रधानता, तथा तर्क शक्ति की कमी के कारण भीड़ के सदस्यों की इच्छा शक्ति भी न्यून हो जाती है।

12. अनैतिकता (Immorality)—उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक लक्षणों–बड़ी ही भाव प्रधानता, विवेकहीनता, अनुकरणशीलता, संसूचनशीलता, इच्छाशक्ति की न्यूनता, बुद्धिहीनता आदि के कारण भीड़ के सदस्यों में नैतिक-अनैतिक का विभेदन समाप्त सा हो जाता है। शक्ति की भावना से भीड़ में लोग अन्धे हो जाते हैं। कभी-कभी भीड़ में नेतृत्व का भी विकास सहसा हो जाता है जो भीड़ से अनैतिक आचरण कराने में संकोच नहीं करते। भीड़ के अस्थिर स्वभाव से भी उसमें नैतिकता के अभाव को बढ़ावा मिलता है।

भीड़ के प्रकार

(Types of Crowd)

समाज मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों ने भीड़ के विभिन्न वर्गीकरण किए हैं। सभी का विवरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है। कुछ प्रमुख वर्गीकरण निम्न हैं–

किम्बल यंग (Kimball Young) का वर्गीकरण—

1. अनौपचारिक या संस्थागत भीड़ (Informal or institutional crowd)—यद्यपि भीड़ में संगठन का अभाव होता है किन्तु कभी-कभी भीड़ में कुछ औपचारिकता और कुछ निश्चित व्यवस्था के लक्षण पाए जाते हैं। इसमें कुछ संस्थागत समूह की रीतियों एवं नियमों का पालन होता है। इन कारणों से ऐसी भीड़ के सदस्यों के व्यवहार में कुछ संगति देखी जाती है। श्रोतासमूह इसका एक उदाहरण है।

2. अनौपचारिक भीड़ (Informal crowd)—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है ऐसी भीड़ में किसी प्रकार औपचारिकता, रीतियों अथवा नियमों का अनुसरण नहीं होता। यह किसी, आकस्मिक परिस्थिति या घटना के फलस्वरूप एकत्र होती है, जैसे सड़क दुर्घटना के कारण एकत्र भीड़। ऐसी भीड़ किम्बल यंग के कथनानुसार दो प्रकार की होती है—

(i) निष्क्रिय भीड़ (Passive crowd)—ऐसी भीड़ के सदस्यों में भीड़ के प्रति निष्क्रियता देखी जाती है। यह व्यक्ति किसी कार्य में भाग नहीं लेते।

(ii) सक्रिय भीड़ (Active crowd)—इस वर्ग की भीड़ के सदस्यों में सक्रियता एवं भागेदारी की विशेषताएँ देखी जाती है। इनमें संवेगशीलता भी दृष्टिगोचर होती है। यह भीड़ दो प्रकार की होती है।

(क) **आक्रमणकारी भीड़** (Attack rage crowd)—आक्रामकता ऐसी भीड़ का प्रमुख लक्षण है। इस भीड़ के सदस्य उग्रवादी, उत्तेजनापूर्ण, संवेगशील तथा आक्रमक व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। वे अपने मन्तव्यों तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दूसरों को क्षति पहुँचाने में भी कोई संकोच नहीं करते। प्रायः धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग आदि के नाम पर होने वाले दंगों में सम्मिलित भीड़ इसी वर्ग की होती है। दंगे, लूटपाट, हत्या, आगजनी, आतंकवाद आदि इसी के उदाहरण हैं।

(ख) **भयभीत भीड़** (Panicky crowd)—भयभीत होकर भागना इस भीड़ का प्रमुख लक्षण है। भय, आतंक, भगदड़ आदि इसके प्रमुख लक्षण हैं। मेले में, शैक्षिक संस्थाओं आदि में लाठी चार्ज, या मात्र लाठी चार्ज की अफवाह पर मची हुई भगदड़ इसका उपयुक्त उदाहरण है। जब लोग बड़ी संख्या में किसी उद्देश्य के लिए एकत्र हों और ठीक उसी समय कोई अप्रत्याशित घटना घटित हो जाय तो लोगों में अफरा तफ़री फैल जाती है और लोग भयभीत होकर भागने लगते हैं।

किम्बल यंग के वर्गीकरण को रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है।

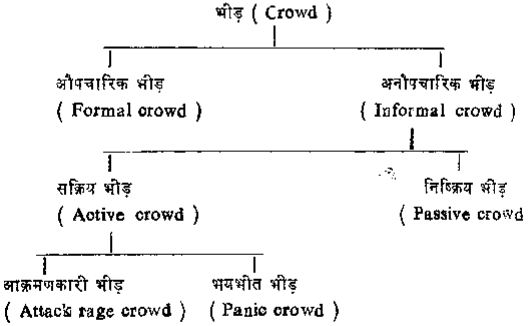

राजर ब्राउन (Roger Brown, 1965) का वर्गीकरण

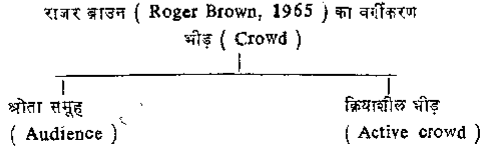

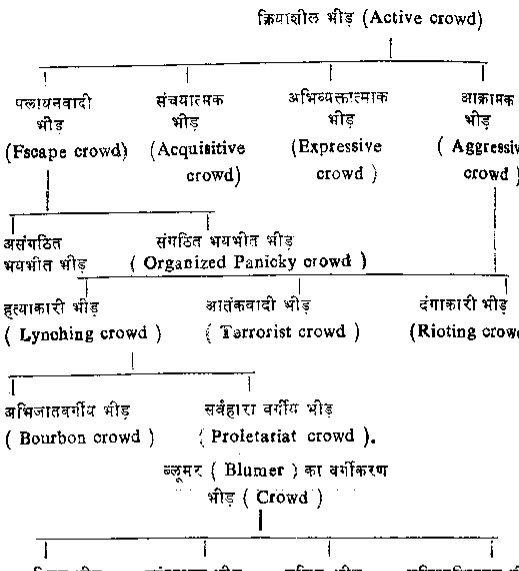

1. **आकस्मिक भीड़ (Gasual crowd)**—कोई क्षणिक आकर्षण अचानक इस प्रकार की भीड़ का आधार बन जाता है। इस भीड़ में अनियमितता निष्क्रियता, तथा ढ़ीला संगठन इसके मुख्य लक्षण हैं। मदारी का तमाशा, बन्दर का नाँच आदि देखने वाली भीड़ इसका उदाहरण हैं।

2. **परम्परागत भीड़ (Conventional crowd)**—इस प्रकार की भीड़ का गठन पूर्वनिश्चित अथवा परम्परागत नियमों के अनुसार होता है। निष्क्रियता, इसके सदस्यों की मुख्य विशेषता है मैच देखने वाली या मन्दिर में पूजा अर्चना, नवाज अदा करने वाली भीड़ इसकी उदाहरण है।

3. **क्रियाशील भीड़ (Active crowd)**—सदस्यों में पर्याप्त सक्रियता इस

भीड़ की प्रमुख विशेषता है। इसके अतिरिक्त, आक्रमणशीलता, उग्रता, क्रियाशीलता आदि इसके अन्य लक्षण हैं।

4. **अभिव्यक्तात्मक भीड़ (Expressive crowd)**—यह भीड़ अपने संवेगों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए एकत्र होती है। किन्तु यह क्रियाशील भीड़ से भिन्न होती है क्योंकि इसमें आक्रामकता का अभाव होता है और केवल भावनाओं का प्रदर्शन होता है। संवेगों का खुला प्रदर्शन इसके सदस्यों का प्रमुख लक्षण है। उत्सव, पर्व, विवाह, बारात की भीड़ आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियाशील भीड़ का मनोविज्ञान

(The Psychology of Action Crowd)

क्रियाशील भीड़ अत्यन्त भावप्रधान एवं अत्यन्त संवेगशील होती है। जब जन समूह उत्तेजित होकर कार्य करता है तो वह सक्रिय या क्रियाशील भीड़ कहलाता है। प्रत्येक सदस्य कुछ कर गुजरने को आतुर होता है।

जब क्रियाशील भीड़ रोष से भरी होती है तो यह उग्र, आक्रामक और हिंसक हो जाती है। इस प्रकार की भीड़ का मुख्य उद्देश्य अपने लक्ष्य पर आक्रमण कर उसे तहस-नहस करना होता है। इस भीड़ में क्रोध, घृणा आदि के संवेग बहुत तीव्र होते हैं अतः यह तोड़फोड़, विध्वंस, आग लगाना, लूट-मार, मारपीट तथा हत्या कुछ भी हो सकता है। क्रियाशील भीड़ पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता अतः यह तर्क हीन और विवेकहीन होती है।

क्रियाशील भीड़ कभी-कभी दंगाकारी बन जाती है। उस समय इसका लक्ष्य हत्या करना होता है। यह बदले की भावना से कार्य करती है अतः दलों, वर्गों तथा जातियों में संघर्ष का रूप ले लेती है। दंगे का भयावह रूप हत्या और निर्दोष व्यक्तियों की मृत्यु के रूप में व्यक्त होता है।

कभी-कभी सक्रिय भीड़ आतंकवादी होती है जिसका सर्वप्रमुख उद्देश्य लोगों में आतंक फैलाना हो जाता है आतंक फैलाकर यह भीड़ अपनी गैरकानूनी मांगों को पूरी कराती है। ऐसी भीड़ भी अनियंत्रित तर्कशून्य और विवेकशून्य होती है और इसके कार्यों के परिणाम प्रायः भयंकर होते हैं।

क्रियाशील भीड़ अन्य घातक रूप हत्याकारी भीड़ है। इसमें संवेगशीलता अपनी चरमसीमा पर होती है। बहुधा साम्प्रदायिक दंगे वाली भीड़ हत्याकारी भीड़ का रूप धारण कर लेती है।

क्रियाशील भीड़ कभी-कभी पलायनकारी हो जाती है। कभी-कभी आक्रमणकारी भीड़ भय व्याप्त होने पर पलायनवादी हो जाती है। बाजार में, स्कूल या

कालेज में तोड़फोड़ करती हुई पुलिस, पी० ए० सी० के आगमन की सूचना सुनकर पलायन करने लगती है।

किम्बल यंग (1960) ने क्रियाशील भीड़ के विषय में कहा है, कि "क्रियाशील भीड़ है जिसमें प्रेम, भय, क्रोध या वैमनस्यता उत्पन्न होता है" ("Action crowd is one in which love, fear, rage or hostility emerge") इस वर्ग की भीड़ में गतिशीलता; अनियमितता तथा अनिश्चितता देखी जाती है। इसकी विशिष्ट मानसिकता होती है जिनमें इसकी मानसिक विशेषताएँ प्रदर्शित होती हैं।

1. न्यून बुद्धिता एवं अविवेकशीलता (Low degree of intelligence and irrationality)—क्रियाशील भीड़ में तर्कहीन, अविवेकपूर्ण, तथा बुद्धिहीन व्यवहार देखे जाते हैं। न्यून स्तरीय बुद्धि के परिचायक व्यवहार इसके प्रमुख लक्षण हैं। मैकडूगल (Mc Dougall) के अनुसार ऐसी भीड़ के व्यवहार अधिक भुर्खलापूर्ण गलत एवं दोषयुक्त होते हैं। मर्फी (Murphy). के अनुसार क्रियाशील भीड़ की न्यून बुद्धिता एवं अविवेकपूर्ण व्यवहार के कारणों में निम्न कारण प्रमुख हैं :—

(i) अधिकांश सदस्यों की न्यून बौद्धिक स्तर का होना।
(ii) सामूहिक विचार विमर्श के अभाव के कारण, सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्धों का अस्थिर एवं भाव प्रधान होना।
(iii) संसूचनशीलता में वृद्धि के कारण तर्क एवं चिन्तन की क्षमताएँ घट जाती है और विवेकहीनता आ जाती है।
(iv) क्रियाशीलता एवं उत्तेजना की अधिकता सदस्यों को अविवेकपूर्ण व्यवहार कराती है।
(v) अत्यधिक अनुकरणशीलता के कारण इस प्रकार की भीड़ अविवेकपूर्ण व्यवहार करती है।
(vi) उत्तरदायित्व का अभाव भी इस प्रकार की भीड़ की न्यून बुद्धिता का एक कारण है।

2. संवेगशीलता (Emotionality)—भीड़ उत्तेजना से ओत-प्रोत होती है और क्रियाशील भीड़ में अत्यन्त तीव्र संवेग व्याप्त होते हैं। संवेगशील एवं भाव-प्रधान सदस्य नारेबाजी, क्रोध एवं भावावेश की अभिव्यक्ति स्वरूप चीखते चिल्लाते हुए आगे बढ़ते है क्योंकि वे यह मानकर चलते हैं कि किसी प्रकार की क्षति का दायित्व उनका नहीं होता। अतः गाली फक्कड़, मारपीट, तोड़फोड़ आदि में निःसंकोच भाग लेते हैं। क्रोध, प्रसन्नता, भय, घृणा, प्रेम आदि संवेग भीड़ में व्याप्त होते हैं। किम्बल यंग (1954) के अनुसार क्रियाशील भीड़ वह है जिसमें भय, प्रेम, क्रोध, द्वन्द्व आदि उच्च होते हैं।"

3. **अनुकरण** (Imitation)—क्रियाशील भीड़ में अनुकरण की प्रवृत्ति छूत के रोग के समान फैलती है। इस प्रकार अनुकरणशीलता क्रियाशील भीड़ की एक मुख्य मानसिक विशेषता है। यदि किसी व्यक्ति को चोर कहकर क्रियाशील भीड़ में व्यक्ति मारता है तो सभी मौजूद लोग देखा-देखी उस कथित चोर को मारने लगते हैं। इस प्रकार क्रियाशील भीड़ के सदस्य तीव्र संवेगशीलता अर्थात् सांवेगिक उदोलन के कारण एक दूसरे को देख उनके व्यवहार का अनुकरण करने लगते है। इसी प्रकार न्यून स्तर की बुद्धि एवं अविवेकपूर्ण होने के कारण भी क्रियाशील भीड़ के सदस्यों में अनुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है।

4. **शक्ति का आभास** (Sense of power)—क्रियाशील भीड़ के सदस्य अनेक व्यक्तियों के साथ एवं समर्थन के कारण अपार शक्ति का अनुभव करते हैं और किसी को भी नीचा दिखाने और परास्त करने की भावना विकसित हो जाती है। भीड़ में सम्मिलित अनेक डरपोक तथा कमजोर व्यक्ति भी साहसी और निडर दिखाई देते हैं। इस प्रकार की भीड़ में असाधारण शक्ति का अनुभव मात्र अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति और दायित्व के अभाव के कारण करते हैं। कानून, परम्परा और मर्यादाओं को प्रायः क्रियाशील भीड़ इसी सामूहिक शक्ति के आभास के चलते भंग करती है।

5. **उत्तरदायित्व का अभाव** (Lack of sense of responsibility)—क्रियाशील भीड़ की एक अन्य प्रमुख विशेषता इसमें उत्तरदायित्व भावना का अभाव है। इसी भावना के अभाव के कारण क्रियाशील भीड़ सार्वजनिक तथा निजी सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने में थोड़ा भी संकोच नहीं करती। मैकडूगल (Mc Dougall, 1920) के अनुसार भीड़ के सदस्यों में आत्मचेतना (Self consciousness) का निम्नस्तर उनमें गैर जिम्मेदारी की भावना को पैदा करता है जिसके प्रभाव में भीड़ तोड़-फोड़, सम्पत्ति को क्षतिग्रस्त करने आदि में हिचकिचाहट नहीं दिखाती है। भीड़ के अनुत्तरदायी व्यवहार के कुछ संभावित कारण निम्न हैं :—

(i) भीड़ के सदस्यों की अविवेकशीलता।
(ii) उत्तरदायित्व का बँट जाना।
(iii) आत्मचेतना के स्तर में गिरावट।
(iv) बौद्धिक स्तर का न्यून होना।
(v) बदनामी के डर का न होना।

6. **उच्च संसूचनशीलता** (Heightened emotionality)—क्रियाशील भीड़ का एक अन्य मानसिक लक्षण इसकी बढ़ी हुई सुझाव-ग्रहणशीलता है। उच्च संसूचनशीलता तथा सुझाव-ग्रहणशीलता के कारण ही भीड़ के सदस्य कोई भी कार्य

करने को तैयार हो जाते हैं। उनसे जो कुछ कहा जाता है उसे बिना आपत्ति या बिना तर्क सही मान लेते हैं या स्वीकार कर लेते हैं। बर्जेसेन्स (Bergesens 1969) के अनुसार भीड़ में संसूचनशीलता की अधिकता के कारण शारीरिक होते हैं, अर्थात् भीड़ में सम्मिलित होने वालों में हाइपोथैलेमस (hypothalamus) पर कार्टेक्स का नियंत्रण घट जाता है जो उनमें संवेगशीलता को उद्वेलित करती है और फलस्वरूप उनमें बौद्धिक स्तर न्यून हो जाता है। इस प्रकार जब चिन्तन और सोचविचार की क्षमता शिथिल हो जाती है तो सुझाव ग्राह्यता में वृद्धि अत्यन्त स्वाभाविक है।

7. **सामाजिक सुलभीकरण (Social facilitation)**—सामाजिक कारक की प्रमुखता भी क्रियाशील भीड़ का एक मानसिक लक्षण है। अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में प्रतिक्रियाएँ बहुत तीव्र होती हैं। किम्बल यंग (1968) के अनुसार "दूसरे व्यक्तियों की उपस्थिति के कारण किसी व्यक्ति की अनुक्रियाओं में वृद्धि को सामाजिक सुलभीकरण कहा जाता है। भीड़ के सदस्यों में आमने-सामने के सम्बन्धों के कारण लोग एक दूसरे से कंधे से कंधा मिलाकर, एक जुट होकर कार्य करते हैं। आपस में, एक-दूसरे को देखकर तथा सुनकर उत्तेजित होते हैं और देखा-देखी कार्य करने लगते हैं। सहज विश्वास के कारण व्यक्ति बिना विचार लिए हुए भी नेता की बातें स्वीकार कर लेते हैं।

8. **संकल्पशक्ति का अभाव (Lack of volition)**—संकल्प शक्ति का अभाव क्रियाशील भीड़ का एक अन्य प्रमुख मानसिक लक्षण है। भीड़ में आत्मचेतन (self consciousness) के न्यून होने के कारण संकल्पशक्ति न्यून हो जाती है। जैसा कि पूर्वचर्चित विशेषताओं में कहा गया है कि भीड़ में संवेगशीलता, संसूचनशीलता, अनुकरणशीलता, अविवेकशीलता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं। अतः क्रियाशील भीड़ के सदस्यों में विचार-विमर्श और सोच-विचार के अनुसार कार्य नहीं करते, जिसका परिणाम यह होता है कि उनमें संकल्पशक्ति का अभाव होता है।

9. **विचारों तथा संवेगों में अस्थिरता (Instability of emotions and ideas)**—क्रियाशील भीड़ के विचार एवं संवेग पूर्ण रूप से अस्थाई होते हैं और जिस तेजी से वे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार समाप्त भी होते हैं क्रोध एवं रोष से भरी प्रदर्शनकारी भीड़ में गोली चलने की बात सुनकर सारा क्रोध एवं रोष हवा हो जाता है और लोग सिर पर पैर रखकर भागते हैं। परिस्थिति के अनुसार क्रियाशील भीड़ निष्क्रिय भीड़ में बदल जाती है।

10. **नेता का अनुसरण (Following of a leader)**—क्रियाशील

भीड़ में औपचारिक नेता तो नहीं होता किन्तु परिस्थिति के अनुसार साहस का प्रदर्शन करने वाला कोई भी व्यक्ति कुछ समय के लिए तत्काल नेता बन जाता है। वह प्रायः सुझाव और प्रतिष्ठा सुझाव के अनुसार कार्य करता है। भीड़ में नेता के प्रमुख कार्य निम्न हैं :—

(i) भीड़ के ध्यान को आकृष्ट करना, भीड़ लक्ष्य को स्पष्ट करना तथा भीड़ का मार्गदर्शन करने के लिए आगे बढ़कर जोखिम उठाते हुए कमान को संभाल लेता है।

(ii) नेता सदस्यों को भीड़ के उद्देश्यों को स्पष्ट करता है तथा उसके प्रति उन्हें जागरूक कर उनका समर्थन बढाता है।

(iii) नेता भीड़ के सदस्यों को संवेगशील और संसूचनशील बनाता है इसके द्वारा वह भीड़ को सरलतापूर्वक नियंत्रित करता है।

(iv) सामाजिक सुकरीकरण (social facilitation) उत्पन्न करना भी नेता के ही द्वारा संभव होता है।

(v) नेता ही भीड़ का अगुवा होता है।

11. **भीड़ की अनैतिकता** (Immorality of crowd)—क्रियाशील भीड़ नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित या अच्छे-बुरे का आभास नहीं रखती। इसी कारण भीड़ अनेक अनैतिक कार्यों को भी निःसंकोच करती है। जिन्सबर्ग (Ginsberg, 1954) के अनुसार, "अपने आप में भीड़ न अच्छी होती है और न बुरी, उत्तेजना के आधार पर कभी अच्छी तो कभी बुरी बन जाती है। भीड़ निर्दयी भी हो सकती है और उदार एवं सहानुभूति पूर्ण भी हो सकती है।" ("Crowd are in themselves neither good nor evil, but they may be either the one or the other on occasion according to the stimulus. Crowds may be brutal, but they may also be generous and sympathetic.")

12. **दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति** (Expression of repressed wishes)—कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार क्रियाशील भीड़ के सदस्यों में सक्रियता का मूलकारण इनकी दबी हुई इच्छाओं का प्रकाशन है। बुद्धि स्तर की न्यूनता, बढ़ी हुई अनुकरणशीलता, संसूचनशीलता, विवेकशून्यता आदि के कारण आत्म चेतना न्यून हो जाती है जिसके कारण अहं के प्रतिबंध शिथिल हो जाते हैं। और दमित इच्छाएँ अभिव्यक्ति का अवसर पा जाती है और उनका खुला प्रदर्शन होता है। फ्रायड के अनुसार, भीड़ में चेतन मन शिथिल हो जाता है और अचेतन क्रियाशील हो जाता है। अचेतन मन के क्रियाशील होने से अचेतन की दमित इच्छाएँ व्यक्ति के व्यवहार द्वारा अभिव्यक्त होती हैं।

उपयुक्त चर्चा से स्पष्ट है कि क्रियाशील भीड़ में अनेक मानसिक विशेषताएँ होती हैं जो इसके स्वरूप की ओर इंगित करती हैं। इनके समुचित ज्ञान से भीड़ के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

भीड़ के सिद्धान्त
(Theories of Crowd)

मनोवैज्ञानिकों ने भीड़ व्यवहार की व्याख्या के प्रयास हेतु भीड़ के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अनेक व्यक्ति भीड़ में सम्मिलित होकर ऐसे गैर जिम्मेदारी के व्यवहार करते हैं जिनकी उनसे अपेक्षा सामान्य दशाओं में नहीं की जाती। इसका अभिप्राय यह है कि भीड़ में व्यक्ति अनपेक्षित व्यवहार करते हैं। प्रश्न यह है कि वे ऐसा क्यों करते हैं? इन व्यवहारों की व्याख्या के लिए मनोवैज्ञानिकों ने भीड़ के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। भीड़ के कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नांकित हैं :—

1. **समूह मन का सिद्धान्त** (Theory of group mind)—इस सिद्धान्त का विवरण लेबाँ (Le Bon) की पुस्तक The Crowd (1903) में मिलता है। इसका उल्लेख उसने अपने सिद्धान्त "The Law of the mental unity of crowd" में किया है। इसके अनुसार भीड़ में व्यक्तिगत चेतना विलुप्त हो जाती है और उसके स्थान पर सामूहिक चेतना विकसित हो जाती है। भीड़ में शामिल व्यक्ति अपनी व्यक्तिकता (individuality) खो बैठता है और सदस्यों के निजी मन एक दूसरे में विलय (Fuse) कर जाते हैं और "समूह मन" निर्मित हो जाता है, जो भीड़ के व्यवहार का नियंत्रण और संचालन करता है। वही व्यक्ति अकेले होने पर अपने मन द्वारा कार्य करते समय सोच समझकर कार्य करता है किन्तु भीड़ में समूह मन हावी हो जाता है।

लेबाँ (Le Bon) ने लिखा है कि, "भीड़ के समस्त व्यक्तियों के संवेग और विचार एक ही दिशा में प्रवाहित तथा उनका चेतन व्यक्तित्व (Conscious personality) समाप्त हो जाता है। फलस्वरूप एक सामूहिक मन का निर्माण होता है। निःसन्देह यह सामूहिक मन अस्थिर होता है परन्तु निश्चित और स्पष्ट विशेषताओं को प्रदर्शित करता है। ऐसा जनसमूह एक मनोवैज्ञानिक भीड़ बन जाता है, एक प्राणी का रूप ले लेता है तथा भीड़ की मानसिक एकता के सिद्धान्त के अधीन हो जाता है।"

(The sentiments and ideas of all these persons in the gathering take one and the same direction and their conscious personality vanishes. A collective mind is formed, doubtless transitory, but presenting very clearly defined characteristics. The gathering

has thus become.....a psychological crowd. It forms a single being, and is subjected to the law of the mental unity of crowd" Le Bon, 1903)

लेबॉं के अनुसार भीड़ व्यवहार में समानता एवं समरूपता का कारण समूह मन है जिसके प्रभाव में व्यक्ति कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में उसका निजी मन बिल्कुल गौण हो जाता है और प्रभावहीन होकर रह जाता है। उसने यह भी बताया है कि भीड़ में कार्यरत समूहमन के कारण अतार्किक, अविवेकशील तथा असंगत व्यवहार प्रदर्शित होते हैं।

लेबॉं के अनुसार भीड़ की तीन मनोरचनाएँ (Mechanisms) निम्नलिखित हैं—

(i) **व्यक्तिगत दायित्व की समाप्ति**—भीड़ में व्यक्ति किसी निजी उत्तर-दायित्व का अनुभव नहीं करते अतः सभी प्रकार के अवरोध (inhibitions) समाप्त हो जाते हैं। अतः व्यक्ति उन व्यवहारों को निःसंकोच करता है जो वह तनहा होने पर कभी नहीं करता।

(ii) **संसर्ग प्रवृत्ति** (Contagion tendency)—भीड़ व्यवहार छूत रोग के समान इस तेजी से फैलता है कि हर व्यक्ति भीड़ के संकेतानुसार सब कुछ करने पर तत्पर हो जाता है।

(iii) **संसूचनशीलता** (Suggestibility)—संसूचनशीलता भीड़ व्यवहार में इतनी तीव्र होती है कि प्रत्येक सदस्य बिना सोचे समझे वही करता है जो भीड़ कहती है।

आधुनिक समाज मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री इस सिद्धान्त की अनेक बातों की आलोचना करते हैं जिनमें कुछ अधोलिखित हैं—

(i) यह एक अक्रमबद्ध प्रमाणों (Unsystematic evidences) पर आधारित है (Milgram & Toch, 1969)

(ii) Milgram तथा Toch के अनुसार केवल भीड़ में ही व्यक्ति का व्यवहार अविवेकपूर्ण नहीं होता वरन् अकेले में भी अविवेकपूर्ण होता है।

लेबॉं का यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं करता कि भीड़ की अविवेकता तथा सांविभिकता व्यक्तिगत व्यवहार की अविवेकपूर्णता और सांविभिकता से किस प्रकार भिन्न है?

(iii) आलपोर्ट (Allport, 1925) लेबॉं के समूह मन सम्प्रत्यय को स्वीकार नहीं किया है। वे इसे एक कल्पना मात्र मानते हैं और उनके अनुसार भीड़ में भी व्यक्ति का व्यवहार व्यक्तिगत मन द्वारा नियन्त्रित होता है। उसके अनुसार मन के लिए स्नायुसंस्थान (Nerveus system) का होना आवश्यक है

जो केवल व्यक्ति में होता है, समूह में इसका अस्तित्व एक भ्रामक तथ्य है। यह कहना सर्वथा अनुचित एवं अवैज्ञानिक है कि भीड़ में होने की दशा में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत मन के आधार पर नहीं वरन् समूह मन के अनुसार कार्य करता है।

2. **मैकडूगल का मानसिक समरूपता सिद्धान्त** (Mc Dougall's mental homogeneity theory) मैकडूगल (Mc Dougall, 1928) ने अपनी पुस्तक (The Group mind) में लेबॉ के सिद्धान्त के समान सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसने लेबॉ के दृष्टिकोण को संशोधित रूप में स्वीकार किया है। उसने समूह मन का उपयोग दो रूपों में किया है—भीड़ में सम्मिलित होने की चेतना को समूह मन कहा है तथा दूसरे अर्थ में पूरे समूह या भीड़ के मन को उसने समूह मन कहा है।

मैकडूगल के अनुसार भीड़ व्यवहार की कुछ विशेषताएँ ऐसी होती हैं जो व्यक्तिगत स्तर के व्यवहार में नहीं व्यक्त होती, जैसे—

(i) भीड़ व्यवहार में आत्मचेतना (Self consciousness) देखी जाती है अर्थात् सदस्यों में भीड़ के स्वरूप, लक्ष्य, रचना आदि का आत्म ज्ञान होता है।

(ii) समूह के अस्तित्व की निरन्तरता समूह/भीड़ व्यवहार द्वारा ही संभव है।

(iii) समूह-व्यवहार अनेक परम्पराओं, प्रथाओं, आदतों और सामाजिक मानकों को प्रदर्शित करता है।

चर्चित विशेषताओं के आधार पर भीड़ व्यवहार को व्यक्तिगत व्यवहार से विभेदित किया जाता है और इन्हीं के कारण सदस्यों में एक प्रकार की मानसिक संगति (mental homogeneity) देखी जाती है जिसके कारण भीड़ में नेतृत्व और सम्प्रेषण की विशेषताएँ विद्यमान होती हैं।

आलपोर्ट (Allport, 1924) के अनुसार समूह मन के अस्तित्व के वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह एक काल्पनिक प्रत्यय है जो अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न करता है।

3. **सामाजिक सुगमता का सिद्धान्त** (Allport's theory of social facilitation)—इस सिद्धान्त के अनुसार भीड़ व्यवहार तथा व्यक्तिगत व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता। इसके अनुसार दो या अधिक व्यक्ति एक जैसे उद्दीपक की प्रस्तुति पर एक जैसी अनुक्रियाएँ करते हैं।

आलपोर्ट कहते हैं कि भीड़ में अनेक व्यक्तियों की उपस्थिति के कारण सदस्यों की क्रियाओं और व्यवहार का सुलभीकरण एवं प्रोत्साहन होता है। कहावत है कि "खरबूजे को देख खरबूजा रंग पकड़ता है।" सामाजिक परिस्थिति के अनुसार जैसे भीड़ में अनेक लोगों की मौजूदगी अनुकरण को सुगमता प्रदान करती है अतः देखा-

देखो व्यवहार भीड़ में अभिव्यक्त होना स्वाभाविक है आलपोर्ट ने भीड़ व्यवहार की व्याख्या करने में स्पष्ट कर दिया है कि भीड़ के सदस्यों का अपनी व्यक्तिकता खोना गलत है। इसके विपरीत वे अपनी व्यक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए सामाजिक सुगमता (दूसरों की उपस्थिति के प्रोत्साहन) द्वारा एक जैसा व्यवहार करने के लिए उत्तेजित एवं अभिप्रेरित प्रतीत होते हैं।

आलपोर्ट के सिद्धान्त के निम्न दोषों की ओर संकेत करना उचित होगा।

(i) उसने भीड़-व्यवहार की व्याख्या में परिस्थिति या परिवेश को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है, तो दूसरी ओर उसने भीड़ व्यवहार के आविर्भाव में जैविक कारकों की उपेक्षा की है।

(ii) भीड़ में व्यक्ति का तर्क या विवेक समाप्त नहीं होता अतः सामाजिक सुगमता के कारण दूसरों को गलत क्रियाओं का अनुकरण क्यों करता है?

4. **मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Psychoanalytic theory)**—भीड़ व्यवहार की व्याख्या हेतु दबी हुई इच्छाओं की अभिव्यक्ति को मुख्य कारण मानते हैं। वर्त्तमान समाज की जटिलताओं, बढ़ती हुई इच्छाओं आदि के कारण व्यक्ति को अपनी अनेकानेक कामनाओं, इच्छाओं, प्रेरणाओं आदि का दमन करना पड़ता है क्योंकि समाज उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति की अनुमति नहीं देता। फ्रायड के अनुसार भीड़ में व्यक्ति के चेतन मन पर उसका नियंत्रण शिथिल हो जाता है, अतः भीड़ में अनेक दमित इच्छाएँ, कामनाएँ तथा प्रेरणाएँ स्वतंत्र और स्वच्छन्द भाव से सक्रिय हो जाती हैं। इसीलिए भीड़ में अनैतिक, विवेकहीन और असमाजिक आचरण अभिव्यक्त होते हैं। फ्रायड के अनुसार चेतन मन का शिथिल होना और अचेतन मन का हावी होना इसका मूल कारण है। भीड़ में गैरजिम्मेदारी का व्यवहार इसलिए भी देखा जाता है क्योंकि वैयक्तिक उत्तरदायित्व (individual responsibility) समाप्त हो जाती है और भीड़ के सदस्य अपने कुकर्मों के प्रति किसी प्रकार की जिम्मेदारी का आभास नहीं करते।

फ्रायड यह मानता था कि सभी लोगों के अचेतन मन में अनैतिक, कामुक एवं असामाजिक इच्छाएँ दबी रहती हैं जिनका प्रकाशन भीड़ व्यवहार द्वारा होता है। भीड़ के सदस्यों के व्यवहार में अधिक समानता होने का यही कारण है।

किन्तु फ्रायड का यह सिद्धान्त बिलकुल दोषरहित नहीं है। इसमें निम्न कठिनाइयाँ देखी जाती हैं :—

(i) **पारस्परिक क्रियाओं की उपेक्षा** :—भीड़ की क्रियाओं और व्यवहारों का नियंत्रण दमित कामनाओं, प्रेरणाओं द्वारा न होकर भीड़ में पारस्परिक प्रक्रियाएँ (interaction processes) होती हैं जिससे भीड़ में उभयनिष्ठ मूल्य

(common value का विकास होता है जो भीड़ में व्यक्तियों के व्यवहारों का निर्धारण एवं नियंत्रण करता है (Sherif & Sherif, 1948) फ्रायड द्वारा इन पारस्परिक प्रक्रियाओं की उपेक्षा की गई है।

(ii) यह सिद्धान्त हर प्रकार के भीड़ व्यवहार की व्याख्या नहीं करता। भीड़ में सदस्यों का व्यवहार हमेशा असामाजिक और अनैतिक नहीं होता। कभी-कभी परोपकार के लिए भी भीड़ एकत्र होती है जैसे आग बुझाने वाली भीड़। ऐसी भीड़ की व्याख्या फ्रायड द्वारा प्रस्तावित अचेतन मन की दमित प्रेरणाओं द्वारा संभव नहीं है।

(iii) भीड़ में सदस्यों के अनेक व्यवहार चेतन इच्छाओं एवं प्रेरणाओं द्वारा भी नियंत्रित और निर्धारित होते हैं जिस पर सिद्धान्त में ध्यान नहीं दिया गया है।

(iv) भीड़ व्यवहार मात्र अचेतन इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों द्वारा नहीं वरन् सामाजिक परिस्थितियों द्वारा भी नियंत्रित और संचालित है। मैकाइवर एवं पेज (Mc Iver & Page, 1955) ने सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका पर बल दिया है।

5. **अभिसरण सिद्धान्त (Convergence theory)**—इस सिद्धान्त के अनुसार भीड़ के सदस्यों में उत्तेजनापूर्ण कार्य करने की मानसिक तत्परता पहले ही से विद्यमान रहती है जो भीड़ में शामिल होकर यह भावनाएँ पहले से भी उग्र एवं तीव्र हो जाती हैं और वे संयुक्त कार्य (Concerted action) के लिए आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त भीड़ व्यवहार की व्याख्या सदस्यों की भावुकता की पूर्ववृत्ति (Predisposition) में एक समय और एक साथ सदस्यों की उपस्थिति के कारण उनमें विचारों, भावनाओं आदि की समानता द्वारा करता है।

अभिसरण सिद्धान्त की निम्न कठिनाइयों की ओर संकेत किया गया है :—

(i) भीड़ के सभी सदस्यों में समान पूर्ववृत्तियों और विश्वासों के विषय में प्रायोगिक अध्ययन हुए। इससे पुष्टि नहीं हुई (Berk; 1974) और बर्क ने इसके विपरीत विभिन्न सदस्यों में विभिन्न विश्वास और पूर्ववृत्तियों (Predispositions) के प्रमाण प्राप्त किए।

(ii) इस सिद्धान्त भीड़ में विकसित संगठन के लक्षणों की व्याख्या नहीं हो पाती जैसे यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं कर सकता कि भीड़ में नेतृत्व का जो विकास होता है, वह कैसे होता है।

(iii) भीड़ में सभी सदस्यों में समान पूर्ववृत्तियों एवं विश्वासों के कारण सभी को एक ही व्यवहार करना चाहिए, परन्तु सच्चाई यह नहीं है। जहाँ कुछ सदस्य परिस्थिति का डटकर साहस के साथ सामना करते हैं अनेक छुप जाते या पलायन कर जाते हैं।

6. **संसर्ग सिद्धान्त** (Contagion theory) —यह सिद्धान्त उद्दीपक-अनुक्रिया तथा सांवेगिक संसर्ग जैसे प्रत्ययों के आधार पर भीड़ व्यवहार की व्याख्या का प्रयास करता है। भीड़ की अनुक्रियाओं में जैसे-जैसे बढ़ोत्तरी होती है वैसे-वैसे भीड़ में उत्पन्न संवेग सदस्यों में संक्रामक रोग के समान तेजी से फैलते हैं। इसके कारण सदस्यों का व्यवहार इतना बदल जाता है कि अकेले में किये गए व्यवहार से सर्वथा भिन्न हो जाता है। अल्ब्रेक, थामस तथा चैडविक (Albrecht, Thomas and Chadwick; 1980) ने कहा है, "संसर्ग सिद्धान्त के अनुसार भीड़ की परिस्थिति में व्यक्ति अपने आपको पूर्णत: भीड़ के संवेग में खो बैठता है और वह कुछ ऐसा करता है जिसके बारे में उसके वैयक्तिक विशेषताओं के आधार पर बताया नहीं जा सकता।"

("According to contagion theory, the individual in a crowd situation loses himself or herself to the emotion of the crowd and does something that could not be predicted on the basis of individual characteristics." : Social Psychology, 1980).

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि संवेग छूत के रोग के समान सदस्यों को इस तरह प्रभावित कर देता है कि वे अपनी वैयक्तिकता खोकर भीड़ का मात्र एक अंश बन जाते हैं और तदनुसार उत्तेजनापूर्ण कार्य करने लगते हैं।

इस सिद्धान्त पर निम्न आपत्तियाँ की जाती हैं :—

(i) सांवेगिक संसर्ग एक कारण भीड़ व्यवहार का हो सकता है किन्तु एक मात्र कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य कारक भी है जो इससे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

(ii) यह सिद्धान्त भीड़ व्यवहार के कुछ पक्षों—जैसे भीड़ में संगठन कैसे और क्यों उत्पन्न होता है, की कोई व्याख्या नहीं की गई है। अत: यह दृष्टिकोण एकांगी है।

(iii) यह सिद्धान्त जिस आधार पर भीड़ व्यवहार की व्याख्या करता है उसका प्रायोगिक अध्ययन संभव नहीं है।

7. **निर्गत मानक सिद्धान्त** (Emergent norm theory)—टर्नर और किलियन (Turner & Killian; 1957) के इस सिद्धान्त के अनुसार भीड़ व्यवहार भीड़ में विकसित एक सामाजिक मानक का परिणाम है। यह मानक भीड़ में धीरे-धीरे विकसित न होकर तत्काल उत्पन्न होता है। इस तरह परिस्थिति के अनुसार निर्गत या आविर्भूत मानक भीड़ व्यवहार का मुख्य कारण है। उदाहरण के लिए किसी हत्याकारी भीड़ का उद्देश्य किसी लक्ष्य व्यक्ति की हत्या करना

होता है अतः उससे सम्बद्ध मानक परिस्थिति विशेष में उत्पन्न हो जाता है जो सभी सदस्यों को उस कार्य के लिए उन्मुख कर देता है।

(i) भीड़ में आविर्भूत मानक सदस्यों के व्यवहार में समरूपता (Conformity) उत्पन्न करता है।

(ii) घटना स्थल पर मौजूद तमाशाई भी इस संवेग के प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं।

(iii) भीड़ में सामूहिक उत्तेजना से संवेग की प्रबलता में वृद्धि होती है।

इसकी आलोचना करते हुए बर्क (Berk; 1974) ने कहा है कि सामाजिक मानक के आविर्भाव के वास्तविक स्रोतों की ओर सिद्धान्त ने अनदेखा किया है।

8. **स्मेलसर का मूल्य योगित सिद्धान्त** (Smelser's value added theory)—विख्यात समाजशास्त्री नील स्मेलसर (Neil Smelser; 1963) ने भीड़ में एक छः चरणों वाली विशेष प्रक्रिया का उल्लेख किया है। यह छः चरण मिलकर भीड़ की व्याख्या कर सकते हैं :—

(i) **संरचनात्मक सहायता** (Structural conduciveness)—भीड़ व्यवहार के लिए एक विशेष प्रकार की परिस्थिति का होना अनिवार्य है। इस प्रकार अनुकूल सामाजिक परिस्थिति भीड़ व्यवहार के लिए जरूरी है।

(ii) **संरचनात्मक दबाव** (Structural Strain)—सामाजिक प्रणाली (social system) में विद्यमान विशिष्ट प्रतिबलों तथा तनावों से है जो भीड़ को उत्तेजित और प्रचलित कर किसी दिशा में अग्रसर करते हैं।

(iii) **सामान्यीकृत विश्वास का विकास एवं प्रसार** (Growth and spread of a generalized belief)—भीड़ को एकत्र करने की क्षमता रखने वाले लोगों में तनाव और खिंचाव के कारणों एवं उसे हटाने के उपायों के विषय में एक सामान्य विश्वास विकसित होता है जो भीड़ का तीसरा चरण है।

(iv) **प्रेरित करने वाला कारक** (Precipitating factor)—संरचनात्मक सहायता, संरचनात्मक दबाव/तनाव, और सामान्यीकृत विश्वास के द्वारा ऐसी परिस्थिति तैयार हो जाती है कि फिर केवल क्रिया उत्पन्न करने वाले कारक की आवश्यकता होती है जो भीड़ व्यवहार को आरंभ कर दे। यही प्रेरित करने वाला कारक (Precipitating factor) कहलाता है।

(v) **क्रिया के सहभागियों को तैयार करना** (Mobilization of participants for action)—भीड़ द्वारा लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सदस्यों को तत्पर करना भीड़ व्यवहार का पाँचवाँ चरण है। यह कार्य सम्प्रेषण तथा

के प्रति थोड़ी जागरूक होती है, परन्तु आक्रमणशील भीड़ अपने व्यवहार में सामाजिक नियमों के प्रति तनिक भी जागरूक नहीं होती ।

श्रोतागण
(Audience)

अर्थ (Meaning)–श्रोता गण या श्रोता समूह सुसंगठित भीड़ को कहते हैं जो किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए किसी विशेष समय तथा स्थान पर एकत्र होता है । गिलिन तथा गिलिन (1950) के अनुसार, "श्रोता गण एक प्रकार की भीड़ है जिसमें व्यक्तियों के बीच अन्त: प्रेरणा निम्न स्तर पर होती है ।"("The audience is a crowd in which interstimulation between the individuals of the group is reduced to minimum." Gillin and Gillin, 1950)

किम्बल यंग (1960) के अनुसार, "श्रोतागण एक संस्थागत भीड़ है ।" ("Audience is a form of institutionalized crowd.")

ब्राउन (1969) के अनुसार, "निष्क्रिय होकर सुनने वाली भीड़ को श्रोतागण कहते हैं ।" ("The passive listening crowd is audience." Brown)

स्प्रॉट (W. J. H. Sprott, 1952) ने कहा है, "श्रोतागण को एक संस्थागत भीड़ या समूह कह सकते हैं क्योंकि अधिकांश परिस्थितियों में श्रोता समूह का व्यवहार स्वीकृत प्रतिमानों के अनुसार होता है । श्रोता समूह का प्रारम्भ और समापन औपचारिक होता है ।" ("We have called the audience an institutionalized crowd, because in the vast majority of situations which we should call audience there is an accepted pattern of conduct a formal begining or formal end".)

उपर्युक्त परिभाषा में तीन बातों पर बल दिया गया है—यह एक संस्थागत समूह है, इसके व्यवहार अधिकतर स्वीकृत प्रतिमानों के अनुसार होते हैं, और इसका आरम्भ तथा अन्त औपचारिक होता है । इसके अतिरिक्त श्रोतागण व्यवहार की कुछ नियमितताएँ, दशायें हैं तथा कुछ नियमों एवं संस्कारों से बंधे होते हैं । कुछ परिभाषाओं में श्रोतागण को निष्क्रिय भीड़ की संज्ञा दी गई है । अत: उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इसे निम्न रूप में परिभाषित कर सकते हैं —

श्रोतागण एक निष्क्रिय संस्थागत समूह हैं जो किसी निश्चित उद्देश्य के लिए एक निश्चित समय तथा स्थान पर एकत्र होते हैं, व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमानों, संस्कारों, परम्पराओं तथा औपचारिकताओं का पालन करते हैं ।

श्रोतागण के लक्षण
(Characteristics of Audience)

श्रोतागण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(ख) वक्ता का स्थान ऐसा हो कि उसे सभी श्रोता देख सकें।

(ग) प्रकाश की उचित व्यवस्था आवश्यक है।

(घ) सभा कक्ष भरा-भरा होना अच्छा है।

(ङ) सभागार की उचित साज-सज्जा, तापमान, वायु आदि की व्यवस्था उचित होनी चाहिए।

(च) कार्यक्रम इस तरह आरंभ हो कि श्रोतागण का ध्यान मंच की ओर केन्द्रित हो।

(छ) कार्यक्रम रोचक और मनोहारी हो।

श्रोतासमूह के प्रकार

(Types of Audience)

भीड़ की तरह मनोवैज्ञानिकों ने श्रोतागण के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की है। ब्रिट (Britt, 1950) ने निम्न प्रकार के श्रोतागण का वर्णन किया है—

1. **पैदल श्रोतागण (Pedastrian audience)**—पैदल चलकर एकत्र होनेवाला श्रोतासमूह है—जैसे सिनेमा, खेल तथा नाटक देखने वाला या भाषण, प्रवचन आदि सुनने वाला समूह।

2. **केन्द्रित श्रोतासमूह (Concerted audience)**—यह ऐसा समूह है जिसमें एक विशेष योग्यता वाले व्यक्ति होते हैं—जैसे किसी कक्षा के छात्र, अध्यापक संघ का बैठक, किसी यूनियन की बैठक आदि।

3. **निष्क्रिय श्रोता-समूह (Passive audience)**—सूचना प्राप्त करते समय निष्क्रिय रहने वाले समूह को निष्क्रिय समूह कहते हैं।

4. **चयनित श्रोता समूह (Selected audience)**—ऐसे श्रोता किसी विशेष आधार पर चुने जाते हैं जैसे किसी उद्घाटन समारोह के लिए आमंत्रित व्यक्ति।

5. **संगठित श्रोता समूह (Organized audience)**—व्यक्तियों का वह समूह जो किसी विशेष आधार पर व्यवस्थित रूप से गठित किया जाता है तो इसे संगठित श्रोतासमूह कहते हैं।

किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार श्रोता समूह निम्न प्रकार के होते हैं।

1. **सूचना प्राप्त करने वाला श्रोता समूह**—इनका प्रमुख उद्देश्य सूचना प्राप्त करना होता है। किसी कालिज के क्लास रूम में शिक्षाग्रहण करने के लिए एकत्रित जनसमूह।

2. **मनोरंजन हेतु गठित श्रोता समूह**—ऐसे जन समूह का लक्ष्य मनोरंजन करना होता है। उदाहरण के लिए पिकनीक पार्टी।

3. विचार परिवर्तन हेतु एकत्रित श्रोतासमूह—वह जनसमूह है जो अपने सम्प्रत विचारों में परिवर्तन के उद्देश्य से एकत्र होता है।

श्रोता समूह तथा भीड़ में अन्तर

(Difference Between Audience & Crowd)

1. भीड़ यकायक संगठित व्यक्तियों का समूह है जिसमें कोई स्थान या समय का प्रतिबन्ध नहीं होता जबकि श्रोता समूह के सदस्य पूर्वनिश्चित समय और स्थान पर मिलते हैं।

2. श्रोता समूह के कुछ निश्चित लक्ष्य अथवा उद्देश्य होते हैं जबकि भीड़ का कोई पूर्वनिश्चित उद्देश्य नहीं होता।

3. भीड़ का गठन प्रायः किसी आकस्मिक घटना के कारण होता है परन्तु श्रोता समूह संस्थागत होते हैं।

4. श्रोता समूह में तार्किक संसूचन स्वीकार किए जाते हैं किन्तु भीड़ में सांवेगिक संसूचनों की ही प्रधानता एवं प्रमुखता होती है।

5. श्रोता समूह के सदस्य अपनी बुद्धि और मानसिक योग्यताओं के अनुसार कार्य करते हैं, जबकि भीड़ के सदस्य समूह मन के अनुसार क्रिया करते हैं।

6. श्रोतागण व्यवहार में नियमितताएँ, निश्चित प्रतिमान, संस्कार तथा नियमों का पालन करते हैं जबकि भीड़ में व्यवहार अनियमित, अतार्किक, अनैतिक; सामाजिक आदि होते हैं।

7. श्रोता समूह में सारे सदस्यों के ध्यान का केन्द्र वक्ता होता है जिसे ध्रुवीकरण कहा जाता है, दूसरी ओर भीड़ व्यवहार में यह विशेषता अनुपस्थित होती है।

8. भीड़ का आरंभ और अन्त निश्चित नहीं होता किन्तु श्रोता समूह का आरंभ और अन्त या समापन दोनों ही निश्चित होता है।

9. भीड़ में उत्तरदायित्व का ध्यान बिल्कुल नहीं होता जबकि श्रोता समूह में उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता देखी जाती है।

10. श्रोता समूह में नेतृत्व निश्चित रूप से देखा जाता है मगर भीड़ में नेतृत्व का अभाव होता है।

11. भीड़ में विचार, भाव एवं संवेग में अस्थिरता होती है। एक समय में जिसका सम्मान करती है दूसरे क्षण उसका अनादर ही नहीं वध भी कर सकती है; परन्तु श्रोता समूह के सदयों के विचार, भाव एवं संवेगों में अपेक्षाकृत इतनी अस्थिरता नहीं होती।

12. श्रोता समूह सदस्यों का ध्यान मुख्य विषय की ओर बनाए रखने का प्रयास करता है जबकि भीड़ में सदस्यों के ध्यानाकर्षण की कोई ऐसी आवश्यकता नहीं होती।

अध्याय 22

प्रचार

(Propaganda)

आधुनिक युग में प्रचार का महत्व जीवन के सभी क्षेत्रों में है, चाहे वह औद्योगिक क्षेत्र हो, सामाजिक हो, धार्मिक या राजनैतिक। प्रजातन्त्र में तो इसका महत्व और भी बढ़ गया है। दूसरों के विचारों, व्यवहार तथा क्रियाओं को प्रभावित करने का यह एक सशक्त एवं प्रभावशाली माध्यम है। इसी कारण आज जीवन के सभी क्षेत्र—जैसे, शिक्षा, धर्म, व्यापार व्यवसाय, उद्योग, आदि में इसका भरपूर प्रयोग हो रहा है। अच्छे कार्यों में उपयोग से समाज का सुधार और बुरे कार्यों में इसके उपयोग से आपसी कलह, द्वेष, घृणा, संघर्ष और नाना प्रकार की बुराइयाँ फैलती हैं। हम आज प्रचार के अच्छे तथा बुरे कार्यों में प्रयोग से भली प्रकार अवगत और परिचित हैं। प्रचार के माध्यम से सच को झूठ और झूठ को सच बनाने में कोई कठिनाई नहीं होती। आज औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के साथ साथ प्रचार का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। मानव व्यवहार को नियन्त्रित करने का यह एक सशक्त साधन सिद्ध हुआ है। हिटलर कहता था कि "किसी झूठ को सौ बार दुहराओं वह सच का रूप ले लेगा।"(Repeat a lie hundred times and it becomes a truth) Hitler.

प्रचार का अर्थ

(Meaning of Propaganda)

शब्द प्रोपेगैण्डा (Propaganda) लैटिन भाषा के शब्द (propagare) से बना है जिसका अर्थ है उगाना, बढ़ाना, या विकसित करना। इस प्रकार शब्दार्थ के अनुसार प्रचार के द्वारा किसी चीज को उगाते या बढ़ाते हैं। तात्पर्य है विचारों मूल्यों और विश्वासों को उगाना या पनपाना। लूमले (Lumley) के अनुसार, "प्रचार स्वयं जन्म नहीं लेता वरन् एक बलकृत (forced) उत्पत्ति है।" (Propaganda is no breeding that would take place of itself, it is a forced generation.)" इस तरह प्रचार एक नियोजित प्रयास है जो विचारों, अभिवृत्तियों, और मतों में बदलाव लाता है। कुछ ऐसा ही विचार अनेक मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्त किया है।

सार्जेण्ट (1958) के अनुसार, "प्रचार के माध्यम से सामान्यत: लोगों की अभिवृत्तियों, मतों और क्रियाओं को एक या अनेक दिशाओं में प्रभावित करने का प्रयास

है। मुख्यतः यह सुझावों द्वारा किया जाता है न कि तथ्यों या तर्कों द्वारा।" ("Propaganda is simply an attempt to influence people's attitudes and opinions, and thereby their actions in a desired direction. Typically this is done through suggestion rather than any means of facts and logic'.)

लासवेल (Lasswell. 1955) के अनुसार, "व्यापक अर्थों में प्रचार वह तकनीक है जिसके द्वारा व्यवहार को प्रभावित किया जाता है।" ("Propaganda, in the broadest sense is the technique of influencing human action by the manipulation of representations.")

किम्बल यंग (Kimball Young, 1953) ने कहा है, "प्रचार मुख्यतः सुझाव तथा सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक तकनीकों द्वारा प्रतीकों का सचेत, सुनियोजित तथा क्रमबद्ध उपयोग है जिसका उद्देश्य सर्वप्रथम मूल्यों, विचारों और मतों को परिवर्तित तथा नियंत्रित करना और अन्त में पूर्वनिश्चित दिशा में क्रियाओं को नियन्त्रित करना है।" (For our purpose, we shall define propaganda as the more or less deliberately planned systematic use of symbols chiefly through suggestion and related psychological techniques, with a view first to attering and controlling opinions, ideas and values and ultimately to changing over actions along predetermined lines.") —Kimball Young, (1953)

डूब के अनुसार, "प्रचार किसी इच्छुक व्यक्ति (या व्यक्तियों) द्वारा सुझाव के माध्यम से अन्य व्यक्तियों के समूहों की अभिवृत्तियों तथा क्रियाओं के नियन्त्रित करने का एक क्रमबद्ध प्रयास है।" ("...a systematic attempt by an interested individual (or individuals) to control the attitudes of groups of individual through the use of suggestion and consequently to control their actions.") Doob, L.W. Propaganda,1935.

जेम्स ड्रेवर के अनुसार, "प्रचार सांवेगिक शब्दों तथा सुझाव द्वारा दूसरे लोगों या जनता की कुछ विशेष अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने का एक संगठित प्रयास है।" ("Propaganda is organized efforts to induce certain attitudes in other people or in the public largely by way of suggestion and utilization of emotionally tinged words.") James Drever. The Dictionary of Psychology, 1964.

उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार प्रचार एक ऐसी तकनीक कहा गया है जिसके द्वारा दूसरों की अभिवृत्तियों और व्यवहार को एक निश्चित दिशा की ओर उन्मुख

करने का सचेत प्रयास किया जाता है। इन परिभाषाओं से प्रचार की निम्न विशेषताएँ प्रकाश में आती हैं।

प्रचार की विशेषताएँ

(Characteristics of Propaganda)

(i) प्रचार व्यक्तियों के विचारों, मतों, मूल्यों एवं अभिवृत्तियों को परिवर्तित कर उनकी क्रियाओं को वांछित दिशा में बदलने का प्रयास है।

(ii) विचारों, अभिवृत्तियों तथा क्रियाओं को परिवर्तित करने के प्रयास सचेत अथवा जानबूझकर किए जाते हैं।

(iii) प्रचार की सबसे प्रमुख तकनीक सुझाव (suggestion) है।

(iv) सुझावों में सांवेगिक शब्दों का अधिक महत्व होता है।

(v) प्रचार के कुछ पूर्वनिश्चित निश्चित उद्देश्य होते हैं। प्रचार कभी भी उद्देश्य हीन नहीं होता।

(vi) प्रचार में अनेक मनोवैज्ञानिक तकनीकों का सहारा लिया जाता है।

(vii) प्रचार के द्वारा जनहित और जनकल्याण तथा लोगों को पथभ्रष्ट भी किया जा सकता है।

प्रचार के प्रकार

(Types of Propaganda)

कभी प्रचार व्यक्त और कभी अव्यक्त या अप्रछन्न होता है। व्यक्त प्रचार में जनता प्रचार के उद्देश्यों से अवगत होती है। उदाहरण के लिये परिवार कल्याण हेतु सरकार द्वारा प्रचार का उद्देश्य स्पष्ट होते हैं। किन्तु अव्यक्त (Hidden propaganda) के उद्देश्य केवल प्रचारक को ज्ञात होते हैं, सामान्य लोग या लक्ष्य व्यक्ति उससे अवगत नहीं होते। किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार प्रचार तीन प्रकार के होते हैं।

1. परिवर्तनात्मक प्रचार (Conversionary propaganda)—ऐसे प्रचार में सर्वप्रथम लक्ष्य व्यक्तियों को समझाया जाता है तब उनके मतों, विचारों, अभिवृत्तियों आदि को बदलने के प्रयास होते हैं और अन्ततोगत्वा उनकी क्रियाओं को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता हैं। ऐसे प्रचार का विज्ञापनों में अत्यधिक प्रयोग होता है।

2. विवेधात्मक प्रचार (Divisive propaganda)—ऐसे प्रचार लक्ष्य व्यक्तियों में फूट डालने या मतभेद उत्पन्न करने के प्रयास होते हैं। यह "फूटडालो और शासन करो" (Dovide and rule) के सिद्धान्त पर निर्भर करता है। राजनीति के क्षेत्र में इसका प्रायः उपयोग होता है।

3. संगठनात्मक प्रचार (Consolidation propaganda)—शान्ति

व्यवस्था स्थापित करने के लिए इस तरह के प्रचार किए जाते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य एकता, अखण्डता और संगठन विकसित करना होता है। इसके द्वारा लक्ष्य व्यक्तियों के मनोबल को उठाने का प्रयास किया जाता है। युद्ध के समय सैन्य बल तथा आम जनता के मनोबल को ऊँचा करने में इसका उपयोग होता है।

क्रेच तथा क्रचफील्ड (Krech & Crutchfield, 1949) ने प्रचार के निम्न दो प्रकारों की चर्चा की है :—

1. **चेतन प्रचार** (Conscious propaganda)—ऐसे प्रचार में सचेत रूप से अथवा जानबूझकर लक्ष्य व्यक्तियों (Target persons) की अभिवृत्तियों एवं विचारों तथा क्रियाओं को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। शिक्षा एक प्रकार का चेतन प्रचार है।

2. **अचेतन प्रचार** (Unconscious propaganda)—वह प्रचार है जिसका मूल उद्देश्य लक्ष्य व्यक्तियों की अभिवृत्तियों एवं व्यवहारों को एक निश्चित दिशा में उन्मुख करने का सचेत प्रयास नहीं होता वरन् फिर भी स्वतः हो जाता है। उदाहरण के लिए चुनाव के समय वोट माँगने के उद्देश्य से भाषण करता हुआ नेता, उद्योगों की बात करते समय अनायास टाटा के लौह उत्पादों की प्रशंसा कर देता है तो इसे अचेतन प्रचार कहा जायगा। सचेत रूप से तो वह केवल अपने लिए वोट की अपील करता है किन्तु टाटा उत्पाद की विश्वसनीयता का अनायास जिक्र अचेतन प्रचार कहा जायेगा।

प्रचार तथा शिक्षा

(Propaganda & Education)

प्रचार तथा शिक्षा दोनों ही में लक्ष्य व्यक्तियों के विचारों, अभिवृत्तियों और क्रियाओं को प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। प्रचार की भाँति शिक्षा में भी छात्रों के विचारों, मतों, व्यवहार तथा अभिवृत्तियों को परिवर्तित करने के सचेत प्रयास किए जाते हैं। प्रचार तथा शिक्षा में कुछ समानताएँ तथा भिन्नताएँ देखी जाती हैं। कुछ मुख्य समानताएँ इस प्रकार हैं :—

1. **शिक्षा तथा प्रचार**—दोनों का आधार सुझाव (suggestion) है। प्रचारक लक्ष्य व्यक्तियों को संसूचन अथवा सुझाव से प्रभावित कर उनकी अभिवृत्तियों और विचारों को प्रभावित करता है, ठीक वैसे ही शिक्षा में भी सुझावों द्वारा छात्रों की अभिवृत्तियों एवं विचारों को प्रभावित करने के प्रयास शिक्षकों द्वारा किए जाते हैं।

2. **प्रचार एवं शिक्षा**—दोनों में क्रमबद्धता और पूर्वयोजना के अनुसार प्रयास किए जाते हैं। शिक्षा भी प्रचार के समान पूर्वनिश्चित योजना के आधार पर दी जाती है।

3. दोनों—शिक्षा तथा प्रचार उद्देश्य पूर्ण होते हैं। प्रचार के समान शिक्षा भी सउद्देश्य होती है।

कुछ समानताओं के होते हुए इनमें कुछ भिन्नताएँ भी देखी जाती है :—

1. प्रचार के द्वारा प्रचारक अपने लक्ष्य की पूर्ति करना चाहता है। वह स्वार्थ से प्रेरित होता है उसे जनहित का उतना ध्यान नहीं होता जितना शिक्षक को होता है। शिक्षा में छात्र छात्राओं के हित और समाज हित सर्वोपरि होते हैं।

2. प्रचार द्वारा सही ज्ञान का प्रसार नहीं किया जाता किन्तु शिक्षा द्वारा सही ज्ञान प्रदान किया जाता है। प्रचारक अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए तथ्यों को बढ़ाचढ़ाकर तथा तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत करता है। वह निराधार और भ्रामक सूचना देने में भी नहीं हिचकता। किन्तु शिक्षक छात्रों को सर्वदा सही तथ्यों से अवगत कराते हैं।

3. प्रचार में सत्य-असत्य, उचित अनुचित का कोई विचार नहीं होता किन्तु शिक्षा में सत्य का महत्व है। शिक्षक छात्रों के समक्ष कभी भ्रामक बातें नहीं करते। वे सर्वदा तथ्यों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं।

4. शिक्षा द्वारा छात्रों के व्यक्तित्व निर्माण का प्रयास किया जाता है। शिक्षा बालकों को एक अच्छा नागरिक बनाती है ताकि वे स्वयं अपने लिए, समाज एवं राष्ट्र के हितों को बढ़ाएँ। किन्तु प्रचार में ऐसा कुछ नहीं होता। प्रचार में प्रचारक का स्वार्थ निहित होता है। प्रचारक अपने व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित होता है।

प्रचार मनोविज्ञान

(The Psychology of Propaganda)

प्रचार मनोविज्ञान का तात्पर्य प्रचार के मनोवैज्ञानिक आधारों की जानकारी है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रचार विश्लेषण द्वारा उसमें निहित मनोवैज्ञानिक तंत्रों (Psychological mechanisms) का वर्णन किया है। किम्बल यंग ने ऐसे चार तंत्रों (mechanisms) की चर्चा की है उद्देश्य या प्रेरणा, प्रतीकात्मक सामग्री, सुझाव तथा अन्य मनोवैज्ञानिक प्रविधियाँ, तथा प्रचार के प्रभाव, जिनकी संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

1. उद्देश्य या प्रेरणा (Purpose or motivation)—हर तरह के प्रचार के पृष्ठिभूमि में कोई न कोई प्रयोजन, उद्देश्य एवं प्रेरणा का होना अनिवार्य है। प्रचारक जनसाधारण की प्रमुख आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करता है और प्रचार के प्रयोजन को जनसाधारण की आवश्यकताओं से सम्बद्ध करने का प्रयास करता है। प्रचारक अपने उद्देश्यों को भरसक गुप्त रखने का प्रयास करते हैं क्योंकि यदि जन साधारण को यह आभास हो जाए कि प्रचारक स्वार्थ सिद्धि के

उद्देश्य से प्रचार कर रहा है तो प्रचार प्रभावहीन हो जाता है। चूँकि मनुष्यों की आवश्यकताएँ सांवेगिक होती हैं। उदाहरण के लिए बीमा निगम द्वारा सुरक्षित भविष्य की बात आवश्यकता से सम्वेग को जोड़ने का ही प्रयास है।

2. प्रतीकात्मक विषय (Symbolic content)—प्रचारक अपने प्रचारों में प्रतीकों जैसे "मोनोग्राम" आदि का भी प्रयोग करते हैं। विभिन्न व्यापारिक संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के ट्रेड मोनोग्राम का प्रयोग करती हैं। इन प्रतीकों के उपयोग से प्रचार को काफी बल प्राप्त होता है। ह्वील साबुन और चक्र का निशान, डालडा वनस्पति खजूर का पेड, हनुमान डालडा हनुमान का चित्र आदि प्रतीक हैं जिनका सहारा प्रचारक लेता है। प्रचार में प्रतीक का प्रयोग अनेक रूपों में होता है।

प्रचार में प्रतीकों का उपयोग करते समय प्रचारक को कुछ तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। जैसे—

(i) प्रचार सम्बन्धी प्रतीक लक्ष्य व्यक्तियों की आवश्यकता से सम्बद्ध होना चाहिए, (ii) प्रतीकों को समूह आदर्शों और मूल्यों के अनुसार होना चाहिए, (iii) प्रतीकों को अति सरल होना चाहिए और (iv) प्रतीकों को सार्थक होना चाहिए।

3. सुझाव एवं सम्बद्ध मनोवैज्ञानिक तकनीकें—(Suggestion and related psychological techniques)—प्रचारक अनेक तकनीकों का उपयोग प्रचार कार्य में करता है जिसमें सुझाव सर्वप्रमुख विधि है। इसके महत्व को ध्यान में रखते हुए किम्बल यंग ने सच कहा है कि "सुझाव, प्रचार की क्रियाशीलता की कुञ्जी है।" ("Suggestion is the key to the operation of propaganda.") सुझाव एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी प्रस्ताव को बिना तर्क या प्रमाण के स्वीकार कर लेते हैं। प्रचारकर्त्ता भी यही चाहता है कि लोग उसकी बातों को बिना तर्क वितर्क स्वीकार करलें। अतः सुझाव प्रचार की सर्वप्रमुख तकनीक है। प्रचारक अपने कार्य में अनेक प्रकार के सुझाव का उपयोग करते हैं—जैसे प्रतिष्ठा सुझाव (Prestige suggestion)–अत्यन्त लोकप्रिय एवं विख्यात है। किसी फिल्मी व्यक्ति द्वारा यह कहलाना कि "मेरी सुन्दरता का राज नया लक्स है।" इसके अतिरिक्त अनुनय या मधुराग्रह (Persuasion) भी प्रचार में काफी प्रयुक्त होता है।

4. प्रचार को स्वीकृति और प्रभाव (Acceptance of propaganda and its effects)—जब कोई व्यक्ति प्रचार को स्वीकार करता है तो उसके विचार, मत तथा अभिवृत्तियाँ आदि प्रभावित होती हैं फिर इनमें तदनुसार वांछित

दिशा में व्यवहार परिवर्तन घटित होता है। ऐसी स्थिति में हम कहते है कि व्यक्ति प्रचार से प्रभावित है।

प्रचार की तकनीकें

(Techniques of Propaganda)

मनोवैज्ञानिकों तथा अन्य समाज वैज्ञानिकों ने प्रचार की कुछ प्रमुख तकनीकों का उल्लेख किया है जिनके अनुप्रयोग प्रचार अधिक प्रभावोत्पादक एवं सफल होता है किम्बल यंग (1950) द्वारा प्रचार की जिन सात तकनीकों का उल्लेख किया गया है वे निम्न हैं।

1. **नामकरण तकनीक** (Name calling)—प्रचार में इस प्रविधि का बहुत प्रयोग होता है। प्रचारक स्वयं को तथा अपने नजदीकी व्यक्तियों, मित्रों एवं सहयोगियों को अच्छे नामों से याद करता है और विधेयात्मक (Positive) उपाधियाँ प्रदान करता है परन्तु विरोधियों को बुरे नामों से सम्बोधित करता है। ऐसा करके वह जनसाधारण में उनके प्रति प्रतिकूल भावना उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए एक राजनैतिक नेता अपने को देशप्रेमी तथा अन्य को देशद्रोही, रिश्वत खोर, गद्दार आदि की उपाधियों से विभूषित करता है।

2. **प्रमाणपत्र तकनीक** (Testimonial technique)—इसके अन्तर्गत प्रचार अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तियों के प्रमाण-पत्र या अपने पक्ष में प्रशंसा पत्र जुटाता है। व्यापर से सम्बद्ध विज्ञापनों में इसका अधिक चलन है। कभी-कभी जनकल्याण के विज्ञापन भी इस विधि का सहारा लेते हैं जैसे एड्स के बचाव के विज्ञापनों में सम्प्रति में प्रमाणपत्र प्रविधि दूरदर्शन द्वारा प्रयुक्त की जा रही है। चुनाव के समय या उससे पूर्व कोई पार्टी गांधी, नेहरू का नाम लेती है, कोई लोहिया का, तो कोई भीमराव आम्बेडकर का ऐसा करते में वे प्रमाण-पत्र तकनीक का ही उपयोग करते हैं।

3. **स्थानान्तरण प्रविधि** (Transfer technique)—प्रचारक अपनी प्रचार सामग्री को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए किसी अलौकिक शक्ति, देवी, देवता आदि के नामों का आश्रय लेता है। कभी-कभी अपनी नीतियों या प्रचार सामग्री को गाय, दीपक, कमल, हाथ, क्रॉस, पूजास्थली आदि से आबद्ध कर देता है जिससे जनसाधारण भाव प्रधान होकर शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। इस प्रकार प्रचारक अपने स्वार्थ सिद्धि में स्थानान्तरण विधि का उपयोग करता है।

4. **ज्वलन्त सामान्यता प्रविधि** (Glittering generality device) —इस प्रविधि में लुभावने शब्दों द्वारा लक्ष्य व्यक्तियों को आकृष्ट करने का प्रयास किया जाता है। यह लुभावने शब्द इतने आकर्षक होते हैं कि वे जनमानस को

शीघ्र तथा अनुकूल दिशा में प्रभावित करते हैं। राजनैतिक दलों द्वारा समता, बराबरी स्वतन्त्रता, देशप्रेम, धर्मरक्षा, दलित उत्थान, सामाजिक न्याय, गरीब मजदूर आदि लुभावने शब्दों द्वारा प्रचार किया जाता है तो यही प्रविधि उनके द्वारा प्रयुक्त होती है।

5. सरल लोकरीति (Plain folk technique)—सामान्य जनता जिस बात को पसन्द करती है, उसे प्रचार में प्रयुक्त करती है। इस प्रविधि के अन्तर्गत प्रचारक जनसाधारण से अपना सम्बन्ध जोड़ता है और यह दर्शाता है कि वह भी उनमें से (जनसाधारण में से) एक है, उनका शुभचिन्तक है। किसी चुनाव के समय नेता का गाँव में लोगों के साथ जमीन पर बैठकर भेली खाना, इसी प्रविधि द्वारा जनमानस को अपने अनुकूल बनाने का एक सचेत प्रयास है। मलीन बस्तियों में चुनाव के समय सफाई कराना, दवाएँ बंटवाना, उनकी दशा पर आँसू बहाना इसी प्रविधि द्वारा प्रचार करना है।

6. छल तकनीक (Card stacking)—इस प्रविधि में प्रचारक द्वारा कपट, छल, धोखा आदि का सतर्क अनुप्रयोग कर अभिवृत्ति परिवर्तन और व्यवहार में अपने अनुकूल बदलाव लाने का प्रयास करता है। सत्य को तोड़मड़ोरकर, छिपाकर, भ्रम उत्पन्न कर, झूठ बोलकर स्वार्थ सिद्धि करना, इस प्रविधि का मूलमन्त्र है। किन्तु यह सब बड़ी सावधानी से किया जाता है कि पोल न खुले और काम हो जाए। राजनैतिक प्रचार में इसका व्यापक उपयोग होता है। आजकल डंकल प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में होने वाले प्रचार में सत्तारूढ़ तथा विपक्ष—दोनों ओर के नेता तथ्यों को तोड़मरोड़कर प्रस्तुत करने के प्रयास में लगे हुये हैं। कोई इसे देश की आर्थिक गुलामी तो कोई इसे भविष्य के लिए वरदान बताने में व्यस्त है।

7. विजय ढ़िंढोरी या सार्वभौमिकता प्रविधि (Band wagan technique)—इसमें बहुमत को अपने पक्ष में बताने का प्रयास किया जाता है। प्रचारक यह प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है कि उसका कथन मात्र उसका नहीं वरन् बहुमत का विचार है—हजारों लाखों का मत है। जैसे यह कहना संसार की लाखों सुन्दर महिलाओं की पसन्द रेक्सोना। चाहे किसी की पसन्द हो न हो। यहाँ यह सुझाव निहित होता है कि सभी यही कर रहे हैं अतः आप भी ऐसा करें। इसमें सार्वभौमिकता का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है। उद्योग, व्यापार तथा राजनीति में इस तकनीक का व्यापक उपयोग होता है। चुनाव के समय किसी प्रत्याशी द्वारा अपनी वास्तविक अथवा काल्पनिक विजय का ढ़िंढोरा पीटना इसका

प्रमुख उदाहरण है। जैसे यह नारा "जीतेगा भाई जीतेगा···वाला जीतेगा, "अथवा" जीतरहा भई जीतगया·····जीतगया"। यह सब सार्वभौम भ्रम को उत्पन्न कर जनमत को अनुकूल बनाने का प्रयास है। इसमें प्रचारक सीधे सादे सरल लोगों को सार्वभौमिकता के माया जाल में फँसाकर उद्देश्य पूर्ति करते हैं।

प्रचार के सिद्धान्त

(Principles of Propaganda)

प्रचार को सशक्त और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए समाज मनोवैज्ञानिकों ने प्रचार के कुछ नियमों का प्रतिपादन किया है। प्रचारकों द्वारा इन सिद्धान्तों को अपनाकर प्रचार अधिक सार्थक और उपयोगी बनाने का प्रयास किया जाता है। सुप्रसिद्ध समाज मनोवैज्ञानिक डूब (Doob, 1925) ने प्रचार के अधोलिखित सिद्धान्तों का वर्णन किया है—

1. मन्तव्य का सिद्धान्त (Principle of intention)—निश्चित उद्देश्य या मन्तव्य से किया जाने वाला प्रचार अधिक सफल होता है। प्रचार कोई अचेतन नहीं वरन् सचेत प्रयास है। अतः प्रचार के पीछे उद्देश्य का होना आवश्यक है। निरुद्देश्य प्रचार के सफल होने की संभावना अत्यन्त न्यून होती है। मन्तव्य उद्देश्य युक्त प्रचार के पूर्व प्रचारक एक सोची समझी योजना के अनुसार कार्य करता है। प्रचार चाहे राजनैतिक हो या व्यापार सम्बन्धी उसमें उद्देश्य या मन्तव्य का होना और उसका पूर्ण रूप से नियोजित होना आवश्यक है।

2. प्रत्यक्षीकरण-सिद्धान्त (Principle of perception)—प्रचार सामग्री, सूचना, संवाद आदि का लक्ष्य व्यक्तियों द्वारा ठीक ढंग से प्रत्यक्षीकरण किया जाना प्रचार की सफलता के लिए आवश्यक है। जिन व्यक्तियों के लिए प्रचार हो रहा है उनके द्वारा प्रचार सामग्री का प्रत्यक्षीकरण जिस रूप में किया जाता है उसी के अनुसार प्रचार का प्रभाव पड़ता है। अर्थात् उसका अनुकूल प्रत्यक्षीकरण प्रचार की सफलता का तथा प्रतिकूल प्रत्यक्षीकरण का अभिप्राय प्रचार की असफलता है। ऐसे प्रचार सिद्धान्त का प्रयोग बहुधा व्यापारिक तथा चुनावी प्रचार में होता है। कांग्रेस पार्टी द्वारा श्रीमती इन्दिरा गाँधी या राजीव गाँधी के चित्रों को पोस्टरों में छपवाना इसी सिद्धान्त का सहारा लेना है। व्यापार सम्बन्धी प्रचार में किसी लोकप्रिय के फोटो का दर्शाना भी इसी सिद्धान्त का अंग है।

विशेषकर स्नान के साबुनों में अभिनेत्रियों के चित्रों का उपयोग किया जाता है।

3. प्रचार के प्रकार का सिद्धान्त (Principle of type of propaganda)—सामान्यतः प्रचार तीन प्रकार का होता है-प्रगट प्रचार, अप्रगट प्रचार,

तथा विलम्बित प्रचार। प्रचारक परिस्थिति, प्रचार के उद्देश्य तथा अपनी सुविधानुसार एक या अनेक प्रकार के प्रचार का उपयोग करता है। इसमें प्रगट या खुले प्रचार का उद्देश्य शुरु से ही स्पष्ट रहता है। पोस्टरों, हैण्डबिलों, समाचार पत्रों एवं पत्रिकारों द्वारा किए गए प्रचार में उसका उद्देश्य स्पष्ट एवं सर्वविदित रहता है। अप्रगट या बन्द प्रचार में उद्देश्य छुपा रहता है। अप्रगट उद्देश्य को छुपाकर अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत कर विचारों, मतों एवं व्यवहार में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। विलम्बित प्रचार में प्रचार के समय उसका उद्देश्य तत्काल व्यक्त न करके कुछ समय बाद प्रगट किया जाता है। प्रचारक पहले पृष्ठभूमि तैयार करता है तत्पश्चात् जब जन साधारण में ग्राह्यता पाता है तो उस समय उद्देश्य या वास्तविकता को प्रगट करता है। युद्ध के समय नागरिकों में सर्वप्रथम देश प्रेम, राष्ट्र भक्ति की भावना जागृत करते हैं, तब लोगों से फौज में भर्ती का आग्रह किया जाता है।

4. **सम्बद्ध अभिवृत्तियों का सिद्धान्त (Principle of related attitudes)**—जब प्रचार जनता की अभिवृत्तियों के अनुकूल होता है तो उसके सफल एवं सार्थक होने की संभावना अधिक होती है, अर्थात् जब प्रचार जनता की अभिवृत्तियों से प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध होता है तो उसके प्रभावोत्पादक होने की प्रत्याशा की जाती है यदि ऐसा नहीं है तो प्रचारक को सर्वप्रथम जनता की अभिवृत्तियों को अनुकूल बनाने का प्रयास करता है तब कहीं जाकर वह प्रचार के आशय अथवा प्रयोजन को प्रस्तुत करता है। अनुकूल अभिवृत्तियों के चलते प्रचार को स्वीकृति प्राप्त होती है।

5. **अपूर्वकथनीयता का सिद्धान्त (Principle of unpredictability)**—प्रचार की सफलता या असफलता का पूर्वकथन करना संभव नहीं है। पूर्वकथनीयता के अभाव कारण यह है कि प्रचार का अभाव अस्थायी होता है। दूसरी जनसाधारण का स्वभाव और व्यवहार गतिशील एवं लचीला होता है। अतः प्रचार के आरंभिक चरण में उसके प्रभावोत्पादक या प्रभावविहीन होने का पूर्वकथन नहीं किया जा सकता।

6. **अनुनय का सिद्धान्त (Principle of persuasion)**—प्रचार में लोगों से अनुनय एवं आग्रह किया जाता है। दबाव डालकर किसी की अभिवृत्ति एवं व्यवहार में बदलाव नहीं लाया जा सकता। इसके लिए मधुराग्रह एवं अनुनय किया जाता है। यह अनुनय व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों स्तरों पर किया जाता है। जीवन बीमा निगम के एजेण्ट्स लक्ष्य व्यक्तियों से बार-बार सम्पर्क करते तथा आधुनिक जीवन के खतरों यथा अचानक दुर्घटना ग्रस्त होने की दशा में परिवार की आर्थिक सुरक्षा के लाभों से अवगत कराते तथा जीवन बीमा पालिसी लेने के लिए अनुनय करते हैं।

7. **वांछित संगठन का सिद्धान्त (Principle of desired integeration)**—प्रचार एक नियोजित एवं संगठित प्रयास के रूप में किया जाता है। प्रचारक द्वारा इसकी योजना इस प्रकार बनाई जाती है कि इससे वांछित प्रयोजनों की प्राप्ति सरलता पूर्वक होसके। इसीकारण अनेक बार प्रचार में प्रतिष्ठित व्यक्तियों के कथन या प्रमाण प्रयुक्त होते हैं।

8. **सार्वभौमिकता का सिद्धान्त (Principle of universality)**—जब प्रचार सामग्री सार्वभौमिकता के प्रभाव उत्पन्न करती है तो प्रचार अधिक प्रभावकारी होता है। सफल प्रचारक अपने कथनों को बहुमत के दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत करके संख्या प्रभाव का लाभ उठाने का प्रयास करता है।

9. **प्रतिप्रचार का सिद्धान्त (Principle of counter propaganda)**—कभी-कभी इच्छित उद्देश्यों एवं परिणामों की प्राप्ति के लिए प्रचारक को प्रचार की काट करने की आवश्यकता होती है। इसका तात्पर्य है विरोधियों के प्रचार के विरुद्ध प्रचार करना। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार एक सफल प्रचारक को प्रचार में अपने उद्देश्यों की पूर्ति तथा विरोधियों की बातों का खण्डन करने का प्रयास किया जाता है।

प्रचार के साधन

(Media of Propaganda)

आज का युग प्रचार का युग है। अच्छी सामग्रियाँ प्रचार के अभाव में कम बिकती हैं और उनसे निम्न कोटि की वस्तुएँ बिक्री के रेकार्ड तोड़ती हैं। यह सब कुछ प्रचार के चलते हो रहा है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में छवि बनाने में राजनैतिक व्यक्ति प्रचार का धुंआधार उपयोग कर लाभ उठाते देखे जा रहे हैं। प्रचार के अनेक आधुनिक साधन विकसित हो गए हैं जिनके माध्यम से प्रचारक नाना प्रकार के प्रचार कर रहे हैं। कुछ प्रचार के प्रमुख साधन निम्न हैं :—

1. **टेलीविजन (Television)**—सिनेमा के अतिरिक्त अब टी०वी० प्रचार के साधनों में सर्वप्रमुख हो गया है। इसका प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में भी तेजी के साथ हो रहा है। दृष्टि और श्रवण दोनों ज्ञानेन्द्रियों को साथ साथ प्रभावित करने के कारण टी०वी० अन्य प्रचार साधनों से अधिक प्रभावशाली हो गया है। व्यापार तथा राजनीति के क्षेत्रों में टी०वी० प्रचार माध्यम के रूप में आज छाया हुआ है।

इस प्रचार माध्यम की लोकप्रियता एवं सफलता के अनेक कारण हैं। यह शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार के लोगों पर समान रूप से प्रभावोत्पादक है। इसमें निहित नवीनता की विशेषता इसकी लोकप्रियता का एक कारण है। अन्य

प्राचीन माध्यमों से लोग उकता चुके हैं अतः इसकी नवीनता में आकर्षण है। किन्तु इसके माध्यम से प्रचार वस्तुतः अत्यन्त मँहगा है। अन्य साधन अपेक्षाकृत सस्ते हैं।

2. प्रेस (Press)—यह प्रचार के साधनों में एक प्रमुख माध्यम है। इसके अन्तर्गत समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, पुस्तकें, हैन्डबिल, पोस्टर आदि का प्रयोग होता है किन्तु यह साधन अशिक्षितों के लिए नहीं है इसका प्रयोग शिक्षित व्यक्तियों तक सीमित है। पत्र, पत्रिकाओं, समाचारपत्रों में प्रकाशित लेखों में अभिव्यक्त दृष्टिकोण पाठकों में उनके अनुरूप एवं अनुकूल अभिवृत्तियों का विकास करता है (Annis, and Meier· 1934)। अनेक राजनैतिक दल अपने समाचार पत्र निकालते हैं जिसमें उनका उद्देश्य अपने विचारों और नीतियों के अनुकूल जनमत तैयार करना होता है।

3. भाषण (Lecture)—भाषण भी प्रचार का एक सशक्त एवं प्रभावशाली माध्यम है। जनसाधारण प्रायः प्रचारक की मीठी वाणी के माया जाल में फँस जाते हैं और उनके व्यवहार वांछित रूप में बदलते हैं। चुनाव में यह प्रचार माध्यम अत्यन्त लोकप्रिय है राजनेता चुनाव के समय इसके द्वारा बड़े जनसमूहों से सम्पर्क कर अपने पक्ष में प्रचार करते हैं। यह प्रचार का एक सीधा एवं प्रत्यक्ष माध्यम है जिसमें लक्ष्य व्यक्तियों और प्रचारक में आमने-सामने (face to face) सम्पर्क होता है जो अन्य दूसरे साधनों में अनुपलब्ध है। इसमें प्रचार जनसाधारण की प्रतिक्रियाओं से स्वयं अवगत होता है जो इसकी एक अन्य अद्वितीय विशेषता है। प्रचारक को इसमें अपने विशेष वेष-भूषा, हाव-भाव, मृदुवाणी के उपयोग का अनोखा अवसर मिलता है जो अन्य प्रचार साधनों में उपलब्ध नहीं होता। इन्हीं कारणों से राजनैतिक क्षेत्र के प्रचार में इसे सर्वाधिक सशक्त साधन की मान्यता प्राप्त है।

4. लाउडस्पीकर (Loudspeaker)—लाउडस्पीकर भी प्रचार का एक साधन है। प्रचारक इसके द्वारा दूर-दूर तक अपनी बात को पहुँचा पाता है। उद्योग, व्यापार, और राजनीति के क्षेत्रों में इस साधन का व्यापक उपयोग होता है।

5. रेडियो (Radio)—रेडियो प्रचार का एक लोकप्रिय एवं प्रमुख साधन है। यह शिक्षित और अशिक्षित दोनों प्रकार की जनसंख्या के लिए उपयोगी एवं प्रभावकारी है। जिन्हें आर्थिक कारणों से टी०वी० उपलब्ध नहीं है वह रेडियो रखते और सुनते हैं। रेडियो अत्यन्त अल्प समय में समाचार को किसी देश में ही नहीं परन्तु समूचे विश्व में प्रसारित कर देता है। कैण्ट्रिल एवं आलपोर्ट (Control & Allport; 1953) ने रेडियो के द्वारा प्रभावशाली प्रचार हेतु निम्न संस्तुति की है :—

(i) सरल एवं संक्षिप्त भाषा में प्रचार करें ।
(ii) उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट हो ।
(iii) प्रति सैकेण्ड बोलने की सामान्य गति ।
(iv) लक्ष्य व्यक्तियों के बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखना ।
(v) उन्हीं बातों की अनेक बार पुनरावृत्ति ।
(vi) उदाहरण का सहारा लेना उत्तम है ।

प्रचार का महत्व
(Importance of Propaganda)

आज का युग प्रचार का युग है । जीवन का कोई क्षेत्र प्रचार के प्रभाव से बचा नहीं है । इसका उपयोग अच्छे उद्देश्यों के लिए कम और बुरे कार्यों के लिए अधिक हो गया है । आज इसके दुरुपयोग के कारण प्रचार शब्द को भी बुरा समझा जाने लगा है । प्रचार का अभिप्राय लोगों को भ्रम में डालकर, धोखा देकर, बहका कर या गुमराह करके स्वार्थ सिद्धि करना समझा जा रहा है । वस्तुतः यह हमेशा नहीं होता । प्रचार विधेयात्मक भी होता है । इसका उद्देश्य अभिवृत्ति एवं व्यवहार परिवर्तन द्वारा जनकल्याण भी होता है, जैसे परिवार कल्याण विषयक प्रचार जनहित प्रचार है । नाना प्रकार के रोगों जैसे चेचक, हैजा, पीलिया आदि से बचाव हेतु प्रचार जनकल्याण सम्बन्धी प्रचार है । इन्हीं तथ्यों को ध्यानगत रखते हुये कैदरीन फुलर्टन जीरौल्ड (Katherine Fullerton Gerould, 1952) ने कहा है, प्रचार एक अच्छा शब्द है जो बुरा बन गया है (Propaganda is a good word gone wrong") । निम्न में प्रचार के महत्व विषयक कुछ प्रमुख तथ्य दिये जाते हैं—

1. प्रचार और शिक्षा (Propaganda & Democracy)—शिक्षा और प्रचार दोनों का उद्देश्य व्यक्तियों के निश्चित समूहों में अभिवृत्तियों और व्यवहारों में परिवर्तन लाना है । प्रचार का शिक्षा के क्षेत्र में भी अत्यधिक महत्व है । लैसवेल (Laswell) के अनुसार, "शिक्षा, कौशल तथा स्वीकृत अभिवृत्तियों को स्थानान्तरित करने की एक प्रक्रिया है । प्रचार ऐसी अभिवृत्तियों का स्थानान्तरण है जिसे उसे समुदाय में विवादपूर्ण समझा जाता है ।" शिक्षा के प्रसार में भी प्रचार अनेक प्रकार से सहायक है । भारत में प्रौढ़ शिक्षा के विषय में प्रचार का व्यापक अनुप्रयोग हो रहा है । यही नहीं औपचारिक शिक्षा के प्रसार के लिये भी प्रचार किया जाता है । सरकार द्वारा कुछ खास पुस्तकों के प्रकाशन, डाकुमेण्टरी फिल्मों (Documentary films) बनाकर शिक्षा के प्रसार में प्रचार का प्रयोग किया जा रहा है ।

2. **लोकतन्त्र एवं प्रचार (Democracy & Propaganda)**—लोकतंत्र में प्रचार की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लोकतन्त्र में जनता का बड़ा महत्व है। राजनैतिक दलों की नीतियों के प्रति जनता का समर्थन आवश्यक है। अतः विभिन्न दल अपनी नीतियों के लिये पहले जनमत तैयार करते हैं, और जनमत तैयार करने में उन्हें प्रचार का सहारा लेना पड़ता है।

चुनाव में भी जनमत तैयार करने की आवश्यकता होती है। अतः चुनाव में प्रचार का व्यापक उपयोग लोकतन्त्र में अपरिहार्य है। राजनैतिक दल अपने प्रत्याशियों को विजय श्री दिलाने के लिए, भाषण, समाचारपत्र, टी० वी०, रेडियो आदि प्रचार माध्यमों का आयोग करके अपने पक्ष में जनमत बनाते हैं। अतः प्रजातन्त्र का आधार एक तरह से प्रचार ही है। केन्द्रीय सरकार ने रेडियो और दूरदर्शन को अपने अधिकार में रखा है जिसका उद्देश्य प्रचार का सहारा लेकर अपनी नीतियों के विषय में अनुकूल जनमत बनाना है।

प्रचार का महत्व केवल देश के भीतर ही नहीं वरन् अच्छे सम्बन्ध रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर भी बहुत अधिक है। संसार के विभिन्न देशों में मैत्रीपूर्ण एवं सद्भावपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना भी काफी हद तक प्रचार पर निर्भर है। है। अतः वर्त्तमान लोकतन्त्रीय व्यवस्था में प्रचार एक सशक्त हथियार है।

3. **युद्ध एवं प्रचार (War and Propaganda)**—युद्ध की परिस्थिति में प्रचार का महत्व बहुत बढ़ जाता है। युद्ध का वर्त्तमान स्वरूप प्राचीन काल से काफी भिन्न है जिसमें प्रचार एक सशक्त माध्यम बन गया है। आधुनिक युद्ध स्वराजी (strategy) में प्रचार द्वारा शत्रु देश की सेवा में प्रचार द्वारा मनोबल को निम्न करने तथा अपनी सेवा तथा नागरिकों के मनोबल को उच्च करने के प्रयास किये जाते हैं। युद्ध के समय प्रचार के निम्न महत्व हैं—

(i) शत्रु के विषय में नफरत उत्पन्न करने, उसके सैनिकों एवं जनता को निरुत्साहित करने तथा स्वदेश के सैन्य बल और जनता के उत्साह एवं मनोबल को ऊँचा करने का योजनबद्ध प्रयास किया जाता है इस कार्य में प्रचार का व्यापक स्तर पर प्रयोग किया जाता है।

(ii) अपने सैन्य बल तथा जनता में एकता, अखण्डता को बनाए रखने तथा शत्रु देश में फूट डालने और गृहयुद्ध भड़काने के लिए प्रचार का सहारा लेते हैं।

(iii) तटस्थ मित्र देशों तथा शक्तिशाली देशों के साथ सद्भाव एवं मित्रता बढ़ाने तथा उनका सहयोग प्राप्त करने के लिये प्रचार का प्रयोग किया जाता है।

(iv) देश के नागरिकों को देश प्रेम, त्याग और बलिदान के लिये तत्पर करने में प्रचार का सहारा लिया जाता है।

(v) देशवासियों को प्रचार द्वारा बताया जाता है कि हम युद्ध नहीं चाहते थे।

यह हम पर थोपा गया है। देश की सीमाओं की सुरक्षा के लिए युद्ध अपरिहार्य था।

4. **शान्ति और प्रचार** (Peace & Propaganda)—शान्ति और व्यवस्था को कायम करने में भी प्रचार की भूमिका प्रमुख होती है। क्रेच और क्रचफील्ड (Krech & Crutchfield; 1953) के अनुसार, "शान्ति के लिए प्रचार संयुक्त राष्ट्र (U.N.O.) से भी अधिक प्रभावशाली समझा जाता है।" शान्ति स्थापित करने के लिए प्रचार स्वस्थ जनमत तैयार करने में सहायक होता है। शान्ति के विरुद्ध जनप्रवादों का प्रचार द्वारा खण्डन एवं प्रति प्रचार (counter propaganda) किया जाता है। शान्ति के लिए जनता को आपसी मतभेद भुलाने के लिए प्रेरित किया जाता है। मित्रता, भाईचारा, बन्धुत्व जैसे गुणों के विकास में प्रचार का सहारा लिया जाता है। अतः प्रचार युद्ध में ही नहीं शान्ति-स्थापना में भी अत्यन्त प्रमुख माध्यम है।

5. **व्यापार और प्रचार** (Business and Propaganda)—व्यापार एवं उद्योग में भी प्रचार की भूमिका महत्वपूर्ण है। आज व्यापार में कड़ी प्रतिस्पर्धा है। व्यापारियों में वर्चस्व के लिए होड़ लगी हुई है। अपने उत्पादों को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने, अपनी बिक्री बढ़ाने आदि में प्रचार के बिना आज सफल होना दुर्लभ है। उत्पादों का मात्र अच्छा होना पर्याप्त नहीं है, वरन् उन्हें लोकप्रिय बनाने में प्रचार महत्वपूर्ण है। अच्छे उत्पाद भी प्रचार के बिना लोकप्रिय नहीं हो पाते। अतः व्यापार के क्षेत्र में प्रचार बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आधुनिक जीवन में प्रचार काफी महत्वपूर्ण है। किसी भी क्षेत्र में प्रचार के अभाव में सफलता पाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्रचार की सीमाएँ
(Limitations of Propaganda)

प्रचार के महत्वपूर्ण होते हुए भी इसकी अनेक सीमाएँ हैं। इनमें निम्नांकित महत्वपूर्ण हैं :—

1. हर परिस्थिति में प्रचार सफल नहीं होता। प्रचार उस समय अधिक सफल होता है जब परिस्थिति अस्पष्ट होती है या आपातकालीन होती है जैसा कि युद्ध कालीन परिस्थिति में होता है। इसके विपरीत जब परिस्थिति स्पष्ट एवं संरचित होती है तो प्रचार की सफलता की संभावना न्यून होती है।

2. लोगों के ज्ञान और प्रचार में सम्बन्ध होता है। जब जनता अशिक्षित, कम बुद्धिमान और उसमें समस्या के विषय में ज्ञान न्यून होता है तो प्रचार के सफल होने की सम्भावना अधिक होती है। इसके विपरीत जब जनता का ज्ञान

अधिक होता है या लक्ष्य व्यक्ति बुद्धिमान होते हैं तो प्रचार की सफलता संदिग्ध होती है।

3. प्रचार, विरोधी या प्रति प्रचार द्वारा सीमित होता है। इसकी प्रभाविकता प्रतिप्रचार (counter propaganda) द्वारा सीमित होती है। जब प्रचार किसी अन्य प्रचार के विरोध में या काट में किया जाता है तो अधिक सफल नहीं होता। लेकिन जब उसके विरोध में प्रचार नहीं होता तो उसके सफल होने की संभावना अधिक होती है।

4. प्रचार प्रचारक के व्यक्तित्व से सम्बद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि यदि प्रचारक का व्यक्तित्व सन्देहयुक्त होता है या प्रचारक की विश्वसनीयता संदिग्ध होती है तो उसके सफल होने की संभावना सीमित होती है।

5. प्रचार का परिसीमन जनता के विश्वासों, धर्मों, पूर्वाग्रहों, और स्वार्थों द्वारा भी होता है। समाज या समूह के विश्वासों, मतों, मानकों और पूर्वधारणाओं के प्रतिकूल होता है, उसकी प्रभाविकता सीमित होती है।

उदाहरण के लिए समान सिविल कोड के विषय में किया गया प्रचार मुसलमानों में प्रभावहीन होता है क्योंकि वह मुस्लिम शरीयत के विपरीत है।

उपर्युक्त दशाओं में प्रचार की प्रभाविकता सीमित होती है।

प्रचार से बचाव

(Propaganda Prophylaxis)

हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रचार सर्वदा जनहित में नहीं होता। दुष्प्रचार से बचाव के उपायों पर विचार करना आवश्यक है।

तनाव चाहे वह सामूहिक तनाव हो, सामूहिक संघर्ष हो या निराशा एवं कुण्ठा हो, उसके दुष्परिणामों से बचाव आवश्यक है। कभी-कभी तनाव दो देशों के बीच होता है।

ऐसे ही व्यापार के क्षेत्र में भ्रामक प्रचार मे बचाव की आवश्यकता होती है। ऐसा न होने पर भोले-भाले लोगों के गुमराह होने और धोखा खाने की संभावना होती है। अतः इससे बचाव आवश्यक होता है।

भ्रामक प्रचार के प्रभावों से बचने के लिए निम्न उपाय किए जा सकते हैं :—

1. **परिस्थिति की अस्पष्टता दूर करना** :—भ्रामक प्रचार विशेषकर अस्पष्ट एवं असंरचित परिस्थितियों में अधिक सफल होता है। अतः इसे रोकने के लिए परिस्थिति की अस्पष्टता को दूर करना आवश्यक है। यहाँ सरकार अथवा समाज सेवी संस्थाओं का कर्त्तव्य होता है कि वे भ्रामक प्रचार की रोकथाम के लिए परिस्थिति को स्पष्ट कर दें।

2. **प्रचारक के उद्देश्यों को पहचानने का प्रशिक्षण देना** :—जनता को आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिसके द्वारा वह प्रचारक के उद्देश्यों को समझ सके। जब जनता प्रचारक के अभिप्राय को परखने योग्य होती है तो वह अपने विवेक के उपयोग द्वारा झूठे और भ्रामक प्रचार से बचाव कर सकेगी।

3. **प्रचारक के मन्तव्यों को स्पष्ट करना** :—भ्रामक प्रचार से बचाव का एक अन्य उपाय प्रचारक के अन्तर्निहित उद्देश्यों से जनसाधारण को अवगत कराना है। प्रचारक के वास्तविक उद्देश्य प्रायः गुप्त होते हैं जिनका रहस्य जानने के बाद लोग धोखे में नहीं आते।

4. **प्रतिप्रचार या विरोधी प्रचार का उपयोग** :—जब कभी प्रचार भ्रामक हो तो उसकी काट करने के लिए प्रतिप्रचार (counter propaganda) किया जाना चाहिए। इससे जनसाधारण सतर्क व सावधान हो जाते हैं।

5. **विधि का सहारा** :—कभी-कभी भ्रामक प्रचार को रोकने में कानूनी कदम उठाना आवश्यक होता है। यदि भ्रामक प्रचार के विरुद्ध कड़ा कानून बना दिया जाए तो दण्ड के भय से प्रचारक झूठे प्रचार से परिहार करते हैं। यदि देश में गृह युद्ध की स्थिति हो तो भ्रामक प्रचार को रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार प्रचार के कुप्रभावों की रोकथाम के लिए उपर्युक्त उपाय किए जाते हैं।

अध्याय 23

अफ़वाह

(Rumour)

प्रचार जनमत निर्माण में अत्यन्त प्रमुख भूमिका निभाता है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रचार जनमत का एक मुख्य साधन है। जनमत का अन्य प्रमुख साधन अफवाह है जिसे विशेषकर जनमत परिवर्तन में प्रयोग करते हैं। अफवाह में मानव के काल्पनिक चिन्तन का समावेश होता है। इसका अनुपात जितना बढ़ता है अफवाह का महत्व उतना ही बढ़ता जाता है।

अफवाहें ऐसी परिस्थितियों में प्रभावशाली होती हैं जब जनसाधारण (लक्ष्य व्यक्तियों) भावावेष में होते हैं अथवा सांवेगिक होते हैं। यदि लोग भय की स्थिति में होते हैं तो अफवाहों के प्रति उनकी सुभेद्यता और बढ़ जाती है। आज समाज में संघर्ष, तनाव, साम्प्रदायिकता, अलगाव, सामाजिक दुर्भाव फैलाने में अफवाह अति प्रमुख साधन है।

अफवाह एक सामान्य शब्द है जिसका दैनिक जीवन में बहुधा सभी लोग स्वतंत्र प्रयोग किया करते हैं। अफवाह किसी समस्या, विषय, व्यक्ति, समूह, सम्प्रदाय, वस्तु, घटना, आदि से सम्बद्ध हो सकती है।

अफ़वाह-अर्थ

(Rumour Meaning)

यह एक सामूहिक व्यवहार है। आपात-कालीन स्थितियों, भय और आतंक की दशाओं में इसका प्रसार जङ्गल की आग के समान होता है। सत्य की परख किए बिना जब कोई संवेगपूर्ण खबर एक से दूसरे और इसी प्रकार अनेक लोगों में तेजी के साथ फैलती है तो इसे अफवाह कहा जाता है।

अफवाह को विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है—

स्प्रॉट (Sprott, 1949) के अनुसार, "अफवाह वह कहानी है जो एक मुँह से दूसरे मुँह तक पहुँचती है और इस क्रम में उसमें कुछ परिवर्तन की संभावना होती है।" ("It is perfectly plausible to call any story that passes from mouth to mouth a rumour because in passing it is liable to change".)

अर्थात् अफवाह एक ऐसी कहानी (मनगढ़न्त) तथ्य है जो एक व्यक्ति से दूसरे में फैलती है और ऐसा होते समय इसमें परिवर्तन आ सकता है।

आलपोर्ट तथा पोस्टमैन (Allport & Postman, 1948) ने कहा है कि, "अफवाह विश्वास पर आधारित एक विशिष्ट कथन या प्रस्ताव है जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक मौखिक रूप से सत्य एवं संगत प्रमाण के अभाव में फैलती जाती है।" ("A rumour is a specific proposition for belief passed along from person to person, usually, by word of mouth, without secure standards of evidence being present".)

किम्बल यंग (Kimball Young; 1960)—के अनुसार, "अफवाह एक विशेष प्रकार का सुझाव या एक कहानी है जो किसी वास्तविक या काल्पनिक व्यक्ति के सम्बन्ध में फैलने के साथ-साथ बढ़ती है।" ("Rumour is a special kind of suggestion, a story about some real or fictitious person or event which grows as it spreads.")

कूपर तथा वोरचेल (Cooper & Worchel, 1979)—ने कहा है, "अफवाह एक गलत रिपोर्ट है जो एक से दूसरे व्यक्ति तक मुखों द्वारा पहुँचती है।" ("Rumour is a false report that is passed from person to person by word of mouth.")

जेम्स ड्रेवर (James Drever, 1968)—के कथनानुसार, "अफवाह एक अप्रमाणित कथा है जो किसी घटना के घटित होने के सम्बन्ध में फैलती है।" ("Rumour in an unverified story circulating in a community, alleging the occurrance of a certain event. ")

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से अफवाह के निम्नांकित तत्वों का बोध होता है–

(अ) अफवाह एक कथन या कहानी है जिसकी सच्चाई की जाँच किये बिना ही लोग उसे सच मान लेते हैं।

(ब) अफवाह किसी व्यक्ति, समूह, व्यक्ति या घटना से सम्बद्ध होती है।

(स) अफवाह मौखिक रूप से किसी समुदाय में एक से दूसरे व्यक्ति में फैलती है।

अफवाह की विशेषताएँ
(Characteristics of Rumour)

1 अफवाह एक समाचार या मनगढ़न्त कहानी है, एक झूठी रिपोर्ट है जो तेजी से फैलती है और लोग उस पर विश्वास करने लगते हैं।

2. अफवाह मुखों द्वारा अर्थात् मौखिक रूप से फैलती है। इस प्रकार फैलने में इसकी विषय वस्तु में परिवर्तन हो जाता है अर्थात् इसके तत्व बदल जाते हैं,

क्योंकि हर आदमी जब दूसरे से कहता है तो अपनी ओर से कुछ बाते घटाबढ़ा कर बयान करता है।

3. अफवाह समूह, समुदाय, सम्प्रदाय आदि की किसी ऐसी घटना से होता है जो सांवेगिक होती है। घटना में सांवेगिकता के कारण जनसाधारण उसमें रुचि लेते हैं।

4· अफवाह में तर्क एवं विवेक का अंश नहीं होता। असत्य एवं हास्यास्पद होते हुये भी आगे बिना सोचे समझें इसे सत्य एवं विश्वसनीय मान लेते हैं।

5. अफवाह का प्रसार उस समय रुक जाता है जब वास्तविकता से लोग अवगत हो जाते हैं। अतः अफवाहें बिल्कुल अस्थायी होती हैं।

6. अफवाहें सर्वदा अस्पष्ट होती है। कभी भी इनमें स्पष्टता एवं पूर्णता नहीं होती। ज्योंही यह स्पष्ट हो जाती है इनका प्रसार रुक जाता है।

7. अफवाह का विषय सर्वदा महत्वपूर्ण होता है। महत्वपूर्ण व्यक्तियों, घटनाओं के विषय में ही अफवाहें फैलती हैं। इनके विषय का महत्वपूर्ण होना आवश्यक है।

8. अफवाह का रुचिपूर्ण, आकर्षक आदि होना भी आवश्यक है।

9. प्रत्येक अफवाह कुछ सुझाव निहित होते हैं। सुझाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकते हैं।

10. अफवाह में भीड़ एकत्र करने की शक्ति निहित होती है जो भावप्रधान होकर या अन्धी होकर भावना में काम करती है।

11. अफवाहों की उत्पत्ति के स्रोत अज्ञात होते हैं उनका ज्ञान दुर्लभ होता है। तात्पर्य यह है कि उस प्रथम व्यक्ति का पता लगाना कठिन होता है जो सर्वप्रथम इसे शुरू करता है।

12. प्रत्येक अफवाह की कुछ प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। दुर्बल बौद्धिक पक्ष के कारण लोग उसके परिणामों पर विचार किये बिना उसे फैलाते हैं। ऐसे सभी व्यक्ति गैरजिम्मेदार होते हैं और समाज के प्रति अपना दायित्व नहीं निभाते।

अफवाह के प्रकार

(Kinds of Rumour)

अफवाह के प्रमुख प्रकार निम्नांकित हैं--

1. **भय अफवाह (Fear rumour)**--भय व्याप्त होने पर जनसाधारण में असुरक्षा की भावना होती है। भय और असुरक्षा पर आधारित अफवाहें भय अफवाह कहलाती हैं। भय अफवाह में लोग अति सांवेगिक होते हैं। वे घबड़ाये होते हैं अतः किसी भी सूचना को वे सत्य मान लेते हैं। उनमें तर्क शून्यता और विवेकहीनता आ जाती है। भूकम्प, युद्ध, साम्प्रदायिक दंगे के समय भय-अफवाहों की प्रधानता होती है।

2. **दिवास्वप्न अफवाह** (Pipe dream rumour)—कुछ अफवाहें लोगों की अतृप्त इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं और कल्पनाओं पर आधारित होती हैं। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपनी इच्छा और कल्पना के अनुरूप बातों को प्रसारित करते हैं।

3. **मतभेद अफवाह** (Wedgedrive rumour)—जब लोग हिंसा, शत्रुता, घृणा, ईर्ष्या आदि से प्रेरित होकर अफवाहें फैलाते हैं तो इन्हें मतभेद अफवाह कहते हैं। इन भावनाओं को किसी कारण प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त न कर पाने के कारण अफवाहें फैलाते हैं। जैसे किसी से ईर्ष्या, घृणा या शत्रुता होने पर उस व्यक्ति की छवि धूमिल करने के लिए या दूसरों से उसे लड़ाने, मतभेद उत्पन्न करने के लिये उसके बारे में कुछ अफवाहें फैलाते हैं।

4. **जिज्ञासा-अफवाह** (Curiosity rumour)—वह अफवाह जो जिज्ञासा पर निर्भर होती है उसे जिज्ञासा अफवाह कहा जाता है। व्यक्ति जिन वस्तुओं और घटनाओं के बारे में जिज्ञासु होता है उनके विषय में जानकारी प्राप्त करने का इच्छुक होता है। इनके विषय में उसे भी जानकारी प्राप्त होती है उसी के अनुसार वह अफवाह फैलाने लगता है। उदाहरण के लिए परीक्षा की तिथि या परीक्षाफल के घोषित होने के विषय में छात्र जिज्ञासु रहते हैं। अतः इस सम्बन्ध में उपलब्ध सूचना के सत्यापन के बिना ही वे अफवाहें फैलाते हैं।

5. **अतिरंजित अफवाह** (Exaggerated rumour)—इस प्रकार की अफवाह में सम्बद्ध व्यक्ति सुनी सुनाई बातों को बढ़ाचढ़ाकर फैलाते हैं। राई का पर्वत बनाने का प्रयास किया जाता है। तथ्यों को तोड़ मड़ोर कर, उनमें नमक मिर्च लगाकर बयान करते हैं।

अफवाह फैलाने वाली परिस्थितियाँ
(Conditions for Spread of Rumour)

कुछ परिस्थितियाँ अफवाह के फैलने में सहायक होती हैं। अतः उन परिस्थितियों में अफवाह तेजी से फैलती है। आलपोर्ट और पोस्टमैन (Allport & Postman) अफवाह के प्रसार को सुलभीकृत करने वाली कुछ परिस्थितियों का उल्लेख किया है जो निम्न हैं—

1. **सामान्य प्रश्न या विषय** (General issue)—जब अफवाह किसी विशिष्ट व्यक्ति के बारे में होती है तो इसका प्रसार धीरे धीरे होता है, किन्तु जब सामाजिक घटना से सम्बद्ध होती है तो इसका प्रसार तेजी के साथ होता है, अर्थात् जंगल की आग के समान फैलती है। जब अफवाह किसी समूह, वर्ग, समुदाय या समाज के विषय में होती है तो अधिक तेजी से फैलती है। उदाहरण के लिये दंगे की परिस्थिति अफवाह के फैलने के लिये अनुकूल होती है।

2. **समस्या का महत्व** (Importance of the issue)—अफवाह के द्रुत गति से फैलने के लिये समस्या, विषय या परिस्थिति का महत्वपूर्ण होना आवश्यक है। आलपोर्ट तथा पोस्टमैन (Allport & Postman 1948) के अनुसार जब घटना सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है तो पूरे समूह पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ने की संभावना होने के कारण यह तेजी के साथ फैलती है। समस्या के महत्व के कारण जनसाधारण उसमें रुचि लेते हैं अतः उसका प्रसार द्रुत गति से होता है। इसी प्रकार से घटना का सम्बन्ध समाज के महत्वपूर्ण व्यक्ति से होने पर भी इसका प्रसार द्रुत गति से होता है। उदाहरण के लिये प्रधानमन्त्री के त्यागपत्र देने की बात अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के कारण इसके विषय में अफवाह फैलाना आसान है।

3. **परिस्थिति की अस्पष्टता** (Vagueness or ambiguity of situation)—जब परिस्थिति अस्पष्ट होती है तो अफवाह ज्यादा तेजी से फैलती है। इसके विपरीत परिस्थिति के स्पष्ट एवं निश्चित होने की दशा में अफवाह के फैलने की संभावना अपेक्षाकृत कम होती है। अतः परिस्थिति महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ अस्पष्ट एवं अनिश्चित होती है तो अफवाह का द्रुत गति से फैलना अवश्यम्भावी होता है। अस्पष्ट और अनिश्चित परिस्थितियों में हर व्यक्ति को अपनी ओर से कुछ न कुछ बढ़ाने घटाने का अवसर मिल जाता है, और लोग इसका लाभ उठाने से नहीं हिचकते। इसी प्रकार से परिस्थिति की अस्पष्टता समस्या के विषय में उनकी उत्सुकता इतनी बढ़ जाती है कि सहज ही में उसे नमक-मिर्च छिड़क कर फैलाने लगते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विषय या समस्या के महत्वपूर्ण होने के साथ उसका अस्पष्ट होना सोने पर सुहागे के समान होता है। आलपोर्ट तथा पोस्टमैन (Allport & Postman; 194?) ने अफवाह के फैलने के विषय में एक सूत्र का प्रतिपादन तथा यह बताया है कि अफवाह के फैलने के लिए दो कारक या दशाएँ जरूरी हैं—परिस्थिति अस्पष्ट (Ambiguous situation) तथा परिस्थिति महत्वपूर्ण (Importance of situation) होनी चाहिए। उन (दोनों) के अनुसार अफवाह समस्या या विषय के महत्व तथा अस्पष्टता का गुणनफल है। (Rumour is the product of ambiguity and importance of the issue) इस सिद्धान्त को उन्होंने निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त किया है :—

$$\text{Rumour} = \text{Importance} \times \text{Ambiguity}$$

or

$$R = I \times A$$

उपर्युक्त सूत्र से व्यक्त है कि महत्व अथवा अस्पष्टता में से किसी एक के अभाव

में अर्थात् शून्य हो जाने की स्थिति में अफवाह की तीव्रता भी शून्य हो जाएगी, क्योंकि यह गणित का एक सामान्य नियम है कि कि anything multiplied by zero is equal to zero.

कुछ प्रायोगिक अध्ययनों के परिणाम भी पोस्टमैन के अफवाह नियम का सत्यापन करते हैं। शैक्टर एवं बरडिक (Schachter & Burdick; 1955) ने छोटी बच्चियों के स्कूल की लड़कियों पर एक अध्ययन किया। पहली से चौथी कक्षा तक प्रत्येक में बारी-बारी प्रधान अध्यापिका गईं और प्रत्येक कक्षा से एक सामान्य बुद्धि बालिका को स्कूल बैग के साथ बाहर बुलाया। पाँचवी और छठी कक्षा में ऐसा नहीं किया। इन चार बालिकाओं को एक दूसरे परिसर में ले गए जहाँ उन्होंने पूरा दिन व्यतीत किया। इसका उद्देश्य उन चारों कक्षाओं की छात्राओं में एक प्रकार की संज्ञानात्मक अस्पष्टता की उत्पत्ति हुई। किन्तु 5 वीं और छठवीं कक्षा में यह अस्पष्टता नहीं उत्पन्न हुई। प्रथम चार में से दो कक्षाओं तथा शेष दो (पाँचवीं, छठवीं) कक्षाओं की चार बालिकाओं से प्रत्याशित पूछताछ (प्रधान अध्यापिका द्वारा) के विषय में कुछ अफवाहें फैलाई गई। परिस्थिति महत्वपूर्ण थी इसमें सन्देह नहीं। प्रयोग में तीन दशाएँ थीं :—

(अ) अस्पष्ट घटना तथा अफवाह के अनुकूल परिस्थिति की रचना के लिए प्रथम चार में से दो कक्षाओं में अफवाह उड़ायी गई।

(ब) दूसरी दशा थी अस्पष्ट घटना की अफवाह रहित परिस्थिति, अर्थात् चार कक्षाओं में (जिनमें हेड मिस्ट्रेस गई थीं) से दो में कोई अफवाह नहीं फैलाई गई।

(स) तीसरी दशा अस्पष्ट घटना का अभाव परन्तु अफवाह की परिस्थिति, जिन दो कक्षाओं में हेडमिस्ट्रेस नहीं गई थी पर उनमें अफवाह उड़ायी गयी।

परिणामों से ज्ञात हुआ कि अफवाह तो सभी कक्षाओं में फैली किन्तु प्रथम दशा की बालिकाओं में से 70 प्रतिशत ने अफवाह के प्रसार में सक्रिय रूप से भाग लिया तीसरी दशा की बालिकाओं में से मात्र 15 प्रतिशत ने ऐसा किया। इसका कारण यह था कि तीसरी दशा में अस्पष्टता का अभाव था इसलिए अफवाह के प्रसार में मात्र 15% ने योगदान किया। इस समूह में संज्ञानात्मक अस्पष्टता का का अभाव था। अतः पोस्टमैन एवं आलपोर्ट का अस्पष्टता का नियम अफवाह के हेतु अति आवश्यक है। आलपोर्ट तथा पोस्टमैन (Allport & Postman; 1948) ने अपनी पुस्तक (The psychology of Rumour) में कहा है कि 'अफवाह में निश्चित रूप से कुछ न कुछ सत्य का अंश होता है किन्तु इसके प्रसार में इसके

काल्पनिक विस्तार से वह सत्य का अंश इतना ढक जाता है कि उसे पहचानना और उसे सफल करना कठिन हो जाता है।" ("To be sure, in rumour, there is always some residual particle of news, a kernel of truth but in the course of transmission it has become so overlaid with fanciful elaboration that it is no longer separable or detectable.")

अफवाह के कारण
(Causes of Rumour)

एक मौलिक प्रश्न यह उठता है कि लोग अफवाह क्यों फैलाते हैं? कुछ लोग परिस्थिति के सहज और स्पष्ट होने पर भी अफवाह फैलाते हैं इसके पीछे अनेक मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक कारक कार्यरत होते हैं। ऐसे कुछ प्रमुख कारकों की चर्चा हम करेंगे :—

1. आवश्यकताओं की संतुष्टि (Satisfaction of needs)—कोई भी व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। व्यक्ति की अतृप्त आवश्यकताएँ सन्तुष्टि के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती हैं। अतः अनेक लोग अपनी अतृप्त आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए अफवाह फैलाते हैं। इन्हीं आवश्यकताओं में यौन आवश्यकता भी है जो सामाजिक निषेधों के कारण प्रत्यक्ष रूप में सन्तुष्ट नहीं जा सकती तो अनेक दशाओं में अफवाह फैलाकर अप्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट की जाती है। किसी सुन्दर चरित्रवान युवती के विषय में अफवाह फैलाकर अप्रत्यक्ष रूप से यौन इच्छा या वासना सन्तुष्ट की जाती है। इसी तरह सामाजिक प्रतिष्ठा, शक्ति, उपलब्धि आदि अन्य आवश्यकताएँ भी अफवाह के पीछे कार्यरत हो सकती हैं।

2. प्रतिशोध तथा इर्ष्या की भावना (Feeling of revenge and rivalary)—जिनसे हम इर्ष्या रखते हैं या जिनसे प्रतिशोध की भावना रखते हैं उन्हें बदनाम करने तथा नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने शत्रु से प्रतिशोध नहीं ले पाता तो उसे बदनाम करने के लिए उसके विषय में छोटी-मोटी घटना को तोड़मड़ोरकर उसे अस्पष्ट तथा महत्वपूर्ण बनाकर अफवाह फैलाकर अप्रत्यक्ष रूप से बदला लेता है। स्पर्धा के कारण भी अनेक लोग अफवाह फैलाने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

3. चिन्ता तथा भय (Anxiety and fear)—भय तथा चिन्ता की सांवेगिक दशाएँ व्यक्ति में मानसिक तनाव तथा संघर्ष उत्पन्न करती हैं। इनसे विमुक्त होने के लिए व्यक्ति नाना प्रकार के प्रयास करते हैं। तीव्र भय एवं तीव्र-चिरस्थायी चिन्ता से ग्रस्त व्यक्ति बहुधा अफवाहें फैलाकर भय एवं चिन्तामुक्त होने

का अप्रत्यक्ष प्रयास करते हैं। लोग अपने भय तथा चिन्ता से सम्बद्ध विषय में घटाबढ़ा कर अन्य व्यक्तियों से कहते हैं, वह तीसरे से कहता है और फिर वह अफवाह गश्त करने लगती है। ऐसा साम्प्रदायिक दंगे के समय अक्सर होता है।

4. **प्रक्षेपण (Projection)**—प्रक्षेपण का तात्पर्य अपनी भावनाओं, इच्छाओं आदि को दूसरों पर थोपने से है, अपने बुरे इरादों एवं बुरी इच्छाओं को दूसरों के सिर मढ़ कर व्यक्ति अपने मानसिक द्वन्द्व को दूर करने का प्रयास करता है। अफवाह में प्रायः लोग अपनी अपर्याप्तता तथा असुरक्षा की भावनाओं का प्रक्षेपण करते हैं। परीक्षाफल आने के पूर्व कुछ छात्र परीक्षक के कठोर होने की अफवाह फैलाते हैं। यह अफवाह वह छात्र फैलाते हैं जो अपनी सफलता को संदिग्ध समझते हैं अथवा जिनके पर्चे अच्छे नहीं हुए हैं।

5. **गप्पें (Gossips)**—अनेक व्यक्ति अधिक बोलने के आदी होते हैं। वे जब कभी काम-काज से समय पाते हैं तो दूसरों के पास बैठकर गपशप करते हैं। कभी-कभी कोई गप्पें हाँक देता है जो एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे आदि तक फैलती है और अफवाह का रूप धारण कर लेती है। गप्पें काफी प्रभावशाली अफवाहें फैलाने में प्रयुक्त होती हैं।

6. **अस्पष्टता (Ambiguity)**—परिस्थिति के अस्पष्ट होने पर अफवाह का न केवल आविर्भाव वरन् इसका तीव्र प्रसार भी होता है। अस्पष्ट परिस्थितियों अधूरी एवं काल्पनिक बातों में भी लोग शीघ्र विश्वास कर लेते हैं। अस्पष्ट तथ्यों में अपनी कल्पना के आधार पर रंग भरना, आसान होता है। अतः अस्पष्ट परिस्थितियों में अफवाहों के फैलने का अवसर अधिक होता है।

6. **व्यक्तित्व कारक (Personality factors)**—अफवाहों के प्रसार में व्यक्तित्व कारक भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस प्रसंग में एन्थोनी (1973) तथा बार्टले (Bartlett, 1932) ने क्रमशः चिन्ता की कम मात्रा तथा अफवाह के संचार या फैलाने में सकारात्मक सम्बन्ध और अफवाह में स्मृति सम्बन्धी प्रक्रियाओं की भूमिका के साक्ष्य दिये हैं।

अफवाह : मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

(Rumour : Psychological Analysis)

आलपोर्ट एवं पोस्टमैन 1948)—ने अफवाह के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के पश्चात इसके फैलने में तीन प्रमुख प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है।

1. **समतल करना (Levelling)**—यह सर्वविदित है कि अफवाह में झूठ, अस्पष्टता, तथा कल्पनाओं का इस प्रकार मिश्रण किया जाता है कि वह सहज में ही जनसाधारण के ध्यान को आकृष्ट कर ले। अफवाह से सम्बद्ध कथन को संक्षिप्त,

एवं ग्रहणयोग्य बनाया जाता है ताकि वह आसानी से लक्ष्य व्यक्तियों के ध्यान को आकृष्ट करले। इस प्रक्रिया को अफवाह विषयक कथन या सूचना को समतल करना कहा जाता है।

2. **सूचना को तीखा करना** (Sharpening of message)—अफवाह से सम्बद्ध कथन या संवाद को तीक्ष्ण, तीखा या तीव्र करना भी आवश्यक है। अफवाह विषयक कथन को इतना संवेगात्मक बनाते हैं कि शीघ्र असर करे। कथन को काट-छाँट कर, सजा-संवार कर तैयार करते हैं कि वह हृदय स्पर्शी हो जाए और व्यक्तियों को खूब प्रभावित करे। वोरचेल तथा कूपर के अनुसार इसका तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें सीमित तथ्यों पर प्रकाश डाला जाता है और उसमें चटपटापन पैदा कर उसे स्थापित किया जाता है। (Sharpening is a process in which limited number of details are focussed on and established.") Worchel & Cooper; 1979.

3. **आत्मसात करना** (Assimilation)—इसका तात्पर्य यह है कि अफवाह विषयक कथन की ग्राह्यता एवं सुपाच्यता में वृद्धि करने से वह अफवाह शीघ्र तथा द्रुत गति से फैलती है। वोरचेल तथा कूपर के अनुसार, यह वह प्रक्रिया है जिसमें अफवाह फैलाने वाला व्यक्ति अफवाह को अपनी रूचि एवं विचार के अनुरूप बनाता है।" ("Assimilation is the process in which the reports had to become more coherent and consistent with views and interests of the reporting individual." Worchel and Cooper; 1979)

अफवाह फैलाने में अफवाह से सम्बद्ध कथन को इतना सुगम, सहज, सुबोध्य बनाकर इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि वह सरलता से लक्ष्य व्यक्तियों द्वारा आत्मसात की जा सके। सूचना या कथन को जितनी जल्दी जनता आत्मसात करती है, अफवाह उतनी ही जल्दी फैलती है।

अफवाह फैलने के साधन

(Media of Spreading Rumonr)

अफवाहें एक विशेष तरह का सम्प्रेषण हैं। किन्तु यह शून्य में नहीं फैलती, इनके प्रसार के लिए किसी न किसी माध्यम या साधन की जरूरत होती है। रेडियो, टी०वी०, समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, तार, टेलीफोन, गप तथा ऐसे ही अनेक साधनों के द्वारा अफवाहें फैलती है।

1. **समाचार पत्र तथा पत्रिकाएँ** (Newspapers & Magazines)—समाचारपत्र तथा पत्रिकाएँ अफवाह के प्रसार का प्रमुख माध्यम हैं। संकट की घड़ी—बाढ़, भूकम्प, अकाल, युद्ध, दंगे आदि की स्थिति में समाचार पत्रों की

खबरों को तोड़-मड़ोर कर लोग नाना प्रकार की अफवाहें फैलाते हैं। विशेषकर किसी आफत के आने पर जान-माल के नुकसान के विषय में अफवाहें फैलती हैं। आज सभी शिक्षित लोग समाचार पत्र पत्रिकाएँ पढ़ते हैं तथा उन्हें घटा बढ़ाकर दूसरों तक पहुँचाते हैं। अनेक समाचारपत्र सनसनी खेज समाचार छाप कर ही अपनी बिक्री बढ़ाते हैं। यही खबरें अफवाह का आधार बनती हैं। अनेक पत्रिकाएँ अर्द्ध सत्य घटनाओं पर लेख छापकर अनेक प्रकार की अफवाहों के प्रसार को प्रोत्साहन देती हैं।

आज अनेक राजनैतिक दल भी समाचार पत्रों को समर्थन देते या स्वयं अपने समाचार पत्र निकालते हैं जिसका उद्देश्य अपने अनुकूल जनमत का निर्माण करना होता है। अखबार के सम्पादकीय लेख सर्वदा जनमत बनाने का उद्देश्य पूरा करते हैं। राजनैतिक दल जनमत निर्माण में भी अफवाहों का उपयोग करते हैं।

2· गप्पें (Gossips)—गप्पें भी अफवाह का प्रमुख साधन हैं। लोग महत्वपूर्ण विषयों पर सूचना चाहते हैं। होटलों, क्लबों, दफ्तरों, रेलवे स्टेशन, बसस्टैण्ड आदि सार्वजनिक स्थानों पर दूसरों से जो कुछ सुनते हैं उसे बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं। इस तरह एक से दूसरे व्यक्ति, दूसरे से तीसरे तक पहुँचने में सुनी-सुनाई बातों का रूप गप्प के समान हो जाता है। यह बातें जितना फैलती हैं उनमें झूठ का अंश बढ़ता जाता है। यह अफवाह फैलाने का एक ऐसा साधन है जिसमें बहुत कम समय, धन और ऊर्जा खर्च होती है। किन्तु गप्प द्वारा अफवाहें केवल एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र में ही फैलती हैं।

3. रेडियो, टेलीविजन तथा सिनेमा (Radio, T.V. & Cinema)—सम्प्रेषण का यह आधुनिक साधन जो आजकल एलेक्ट्रानिक मीडिया (electronic media) कहलाता है, अफवाहें फैलाने में भी प्रयुक्त होता है। चुनाव एवं युद्ध के समय में इन मीडिया का अफवाह फैलाने में भरपूर एवं व्यापक उपयोग होता है। सरकारी नियन्त्रण के कारण भारत में रेडियो तथा टी० वी० का अफवाह फैलाने में प्रयोग की संभावना नहीं है।

4. पत्र, तार तथा दूरभाष्य (Letters, Telegrams and Telephones)—पत्र (खत), तार एवं टेलीफोन अफवाह फैलाने के प्रमुख साधन माने जाते हैं। व्यक्तिगत चिट्ठियों में लोग निजी बातों के अलावा कभी-कभी जनसाधारण से सम्बद्ध घटनाओं एवं तथ्यों के बारे में भी कुछ लिखते हैं जिसे प्राप्त करता घटा-बढ़ाकर दूसरों को बताता है, वह किसी अन्य को नमक-मिर्च छिड़क कर बताता है, इस प्रकार वह कथन अफवाह का रूप लेता है। ठीक ऐसे ही दूरभाष एवं तार के प्रयोग द्वारा भी अफवाहों की उत्पत्ति और विकास होता है। कुछ लोग तो अफवाहें फैलाने के उद्देश्य से झूठ-मूठ किसी तार या टेलीफोन का जिक्र करके अफवाहों को

न केवल उत्पन्न करते वरन् फैलाते हैं। फोन अफवाह फैलाने का एक प्रभावशाली एवं सशक्त साधन है। इसके द्वारा थोड़े समय में अफवाह दूर-दूर तक फैल जाती है।

अफवाहों की रोक-थाम
(Checks on Rumaurs)

अफवाह की खराबियों से कौन परिचित नहीं है। इसके दुरुपयोग से व्यक्ति/व्यक्तियों की छवि बिगाड़ने, समाज, सम्प्रदाय तथा राष्ट्र को क्षति पहुँचती है। युद्ध, दंगे, भूकम्प या साम्प्रदायिक तनावों के समय इसका व्यापक दुरुपयोग होता है, जिसकी रोकथाम आवश्यक है। कुछ ऐसे उपाय निम्नांकित हैं—

1. अफवाह बाजों को कठोर दण्ड (Severe punishment to rumour mongers)—आपात स्थितियों या युद्ध एवं साम्प्रदायिक तनाव तथा दंगे की परिस्थितियों में सरकार अफवाहें फैलाने वालों को कड़ा दण्ड देती है। किन्तु सामान्य दशाओं में लोग निर्भय होकर अफवाहें फैलाते हैं। यदि सामान्य परिस्थितियों में भी अफवाह बाजी पर दण्ड दिया जाये तो अनेक घातक अफवाहों के दुष्प्रभाव से समाज को बचाया जा सकता है।

2. सेन्सरशिप (Censorship)—इसका तात्पर्य है कि सूचना के जनसाधारण तक पहुँचने के पूर्व उसकी सरकार द्वारा नियुक्त पैनल द्वारा जाँच तथा उसमें काट-छाँट करना। समाचार के आपत्तिजनक पूर्वग्रहित, समाज में तनाव व हिंसा बढ़ाने वाले अंश को प्रसार से रोकना। प्रजातन्त्रीय प्रणाली सामान्य दशाओं में सेन्सरशिप नहीं लागू करती किन्तु आपात-कालीन स्थितियों में अवश्य सेन्सर करने के बाद ही समाचार प्रकाशित करने की अनुमति देती है। इस प्रक्रिया से अफवाहों के फैलने पर रोक लगती है।

3. सत्य एवं उपयुक्त सूचना देने की व्यवस्था (Adequate and true news to public)—जब अफवाहों के फैलने के लिए वातावरण अनुकूल होता है तो शासन उपयुक्त और सत्य समाचार देकर जनसाधारण में अफवाहों के प्रसार पर अंकुश लगाती है।

4. अस्पष्टता दूर करना (To remove ambiguity)—उस परिस्थिति में अफवाहें अधिक फैलती हैं जब विषय या समस्या अस्पष्ट होती है। ऐसी दशा में अस्पष्टता दूर कर देने से अफवाहों पर अंकुश लग जाता है।

5. सत्य सूचना को असत्य से पृथक करना (Training to differentiate true from untrue facts)—जनता को भ्रामक सूचनाओं से बचाने का एक अन्य उपाय भी है। इसके अन्तर्गत जनता को इस प्रकार प्रशिक्षित

किया जाता है कि सत्य बातों को अफवाहों से पृथक करने में दक्ष हो जाय : लोगों में शिक्षा के प्रसार से ऐसा करना संभव होगा क्योंकि अशिक्षित व्यक्तियों में अफवाहों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सुभेद्यता होती है। शिक्षा से अफवाहों की पहचान सुगम होती है और फिर व्यक्ति सत्य कथनों को अफवाहों से अलग कर लेते हैं।

6. **आपसी सम्पर्क पर रोक (Restraint on mutual contacts)**—जब परिस्थिति अफवाह के लिये बहुत अनुकूल हो यथा समाज में तनाव, वैमनस्य, संघर्ष की उन्मुखता व्याप्त हो तो ऐसे समय में लोगों के आपसी सम्पर्क पर अंकुश लगाना भी अफवाह की रोकथाम में एक कारगर कदम होता है।

7. **विरोधी अफवाह (Counter rumour)**—कभी-कभी अफवाह के प्रभाव को रोकने के लिए उसके विपरीत अफवाहें फैलाई जाती हैं। अफवाह के दुष्परिणामों से बचाव का यह भी एक मुख्य तरीका है। बहुधा युद्ध, गृह युद्ध, दंगे आदि के समय अफवाहों को निष्प्रभावी बनाने के लिये विरोधी अफवाहें फैलाने की व्यवस्था की जाती है।

इस प्रकार अफवाह की रोकथाम के अनेक उपाय किये जाते हैं, किन्तु कई परिस्थितियों में अफवाहों के प्रसार पर पूर्ण अंकुश लगा पाना संभव नहीं होता।

अध्याय 24

आक्रामकता

(Aggression)

आक्रामकता आधुनिक समाज में इस अनुपात में व्याप्त है कि इसे एक सार्वभौम सामाजिक व्यवहार कहना उचित प्रतीत होता है। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आक्रामकता और हिंसा अत्यन्त सहज रूप में दृष्टिगोचर हैं। आक्रामकता तथा हिंसा ने एक सार्वजनिक एवं विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया है। इसके महत्व के कारण समाज मनोवैज्ञानिक भी इसके अध्ययन में रूचि लेने लगे हैं। वह आक्रामक और हिंसक व्यवहार के प्रसंग में उठाए गए विविध प्रश्नों के प्रत्युत्तर देने के प्रयास में नाना प्रकार के अध्ययन कर रहे हैं।

आक्रामकता का अर्थ

(Meaning of Aggression)

समाज मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न आधारों पर आक्रामकता के अर्थ की चर्चा की है। अधिकांश आक्रामक व्यवहार के उद्देश्यों के आधार पर इसे परिभाषित करते हैं।

बरकोविज (Berkowitz; 1975) के अनुसार, आक्रामकता का अभिप्राय, "दूसरों के प्रति की गई सप्रयोजन या उद्देश्यपूर्ण क्षति या हानि है।" ("Aggression is the intentional injury of another") तात्पर्य यह है कि आक्रामक व्यवहार करने वाले की नीयत, मंशा, या मन्तव्य दूसरे को क्षति या हानि पहुँचाना है, चाहे वह क्षति न पहुँचा सके।

डालर्ड तथा अन्य (Dollard et al; 1939) ने कहा है कि, "आक्रामकता एक प्रतिक्रिया है जिसका उद्देश्य किसी प्राणी को चोट पहुंचाना होता है।"

बैरन तथा बार्यनि (Baron & Byrne; 1977, 1981) के अनुसार, "आक्रामकता, वह व्यवहार है जिसका उद्देश्य उस जीवित प्राणी को चोट पहुँचाना होता है जो इस व्यवहार से बचने का प्रयास करता है।" ("Aggression is behaviour directed toward the goal of harming or injuring another living being who is motivated to avoid such treatment.")

बस (Buss; 1961) ने कहा है, "आक्रामकता ऐसी अनुक्रिया है जो दूसरे

प्राणी को एक अनिष्टकर उद्दीपन प्रदान करता है।" ("Aggression is a response that delivers noxious stimuli to another organism ").

मायर्स (Myers, 1988) के अनुसार, "आक्रामकता एक ऐसा शारीरिक या शाब्दिक व्यवहार है जिसका उद्देश्य दूसरों को चोट पहुँचाना होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं की व्याख्या से इसके स्वरूप के विषय में निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं :—

1. आक्रामकता एक व्यवहार है जो जानबूझकर किया जाता है। इसका उद्देश्य किसी व्यक्ति या उसकी सम्पत्ति को क्षति पहुँचाना है। उद्देश्य बहुत महत्वपूर्ण है जो आक्रामक व्यवहार की कसौटी है। रोगी द्वारा इंजेक्शन न लगवाने पर डाक्टर का एक तमाचा आक्रामकता नहीं है क्योंकि उद्देश्य रोगी के रोग का उपचार है। एक हत्यारे द्वारा किसी व्यक्ति पर वार किया गया, संयोग से वार खाली गया। यहां उसका व्यवहार आक्रामक कहलाएगा क्योंकि उद्देश्य हत्या करना था, पर किसी कारण क्षति न हुई।

2. आक्रामकता का अभिप्राय (intention) बाह्य/प्रकट या अप्रकट छिपा हो सकता है। इसे शत्रुतापूर्ण आक्रामकता कहते हैं। छिपे अभिप्राय को नैमित्तिक आक्रामकता (instrumental aggression) कहा जाता है।

3. लक्ष्य व्यक्ति या पात्र व्यक्ति अथवा जिसे क्षति पहुँचाने का प्रयास होता है वह उस क्षति से परिहार या बचाव का प्रयास करता है। तात्पर्य यह है कि उसमें बचाव करने की अभिप्रेरणा होती है। यह भी आक्रामक व्यवहार की पहचान है कि लक्ष्य व्यक्ति क्षति से बचाव के लिए अभिप्रेरित होता है।

जब उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ किसी व्यवहार में देखी जाती हैं तो उसे आक्रामक व्यवहार की संज्ञा दी जाती है अन्यथा नहीं। सामान्यतः वह व्यवहार आक्रामक कहा जाएगा जिसका उद्देश्य चोट, नुकसान या क्षति पहुँचाना है। क्षति न पहुँचने पर उसे आक्रामक कहा जाएगा। दूसरी ओर उद्देश्य नुकसान करना या पहुँचाना नहीं है किन्तु नुकसान हो जाए तो इस व्यवहार को आक्रामक व्यवहार नहीं कहेंगे।

आक्रामकता के सिद्धान्त
(Theories of Aggression)

आक्रामक व्यवहार के स्वरूप, इसकी उत्पत्ति, इसके कारणों आदि की व्याख्या के लिए अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। यह सिद्धान्त तीन वर्गों में विभक्त किए जाते हैं :—

1. आक्रामक व्यवहार के जैविक दृष्टिकोण के अन्तर्गत मूलप्रवृत्तियों और अन्य

जैविक कारकों पर बल देता है। इसमें एक ओर मैकडूगल और फ्रायड का प्राचीन तथा दूसरी ओर कोनार्ड लारेन्ज का आधुनिक दृष्टिकोण है।

2. दूसरा दृष्टिकोण, आक्रामकता को निराशा एवं कुण्ठा की उपज मानता है। यह कुण्ठा-आक्रामकता सिद्धान्त कहा जाता है।

3. तीसरा दृष्टिकोण आक्रामकता को सामाजिक अधिगम का परिणाम कहता है।

1. **जैविक सिद्धान्त या मूलप्रवृत्यात्मक सिद्धान्त** (Biological or instinctual theory)—यह दृष्टिकोण आक्रामक व्यवहार के जैविक कारकों पर बल देता है। इसके अनुसार आक्रामकता एक जन्मजात व्यवहार है तथा मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से जैविक रूप में व्याप्त है। यह एक सार्वभौम व्यवहार है। इसकी उत्पत्ति मूलप्रवृत्तियों के कारण होती है। इसका अभिप्राय यह है कि आक्रामकता किसी विशिष्ट उद्दीपन के प्रति एक विशेष प्रकार की अनुक्रिया करने की जन्मजात (innate) प्रवृत्ति है। इसके अन्तर्गत मैकडूगल, फ्रायड और लारेंज के विचार प्रमुख हैं।

(अ) **मैकडूगल के विचार**—उसके अनुसार आक्रामकता मूलप्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होती है। वह युयुत्सा (Pugnacity) की मूलप्रवृत्ति के कारण आक्रामक व्यवहार की उत्पत्ति पर बल देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में लड़ाई-झगड़े की जन्मजात प्रवृत्ति होती है जिसे वह युयुत्सा की संज्ञा देता है। इस प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक प्राणी के स्वभाव में लड़ना-झगड़ना शामिल है जिसके चलते वह आक्रामकता की अभिव्यक्ति करता है। वह आक्रामकता को मानव स्वभाव का एक आवश्यक अंग मानता है। मैकडूगल के मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त को प्रायोगिक समर्थन नहीं प्राप्त हुआ है। अतः इसकी कड़ी आलोचना हुई है।

(ब) **फ्रायड का मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण** (Freud's psycho-analytic theory)—मनोविश्लेषणात्मक तथ्यों पर आधारित वह सिद्धान्त दो मूलभूत मूलप्रवृत्तियों के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह मूलप्रवृत्तियाँ—जीवन मूलप्रवृत्ति (Eros or life instinct) और मृत्यु मूलप्रवृत्ति (Thanatos or Death instinct) कहलाती हैं। इनमें से प्रथम रचनात्मक तथा दूसरी विनाशकारी प्रवृत्ति है। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार आक्रामकता एक मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार है। इसका प्रकाशन अपरिहार्य है।

मृत्यु मूलप्रवृत्ति ही आक्रामक व्यवहार का कारण है। इसके कारण व्यक्ति की ऊर्जा अनेक अनिष्टकारी और हिंसक क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती है। इसके कारण व्यक्ति अनेक प्रकार के तर्क, दलीलें, बहस आदि के द्वारा अभिव्यक्त होती है और कभी अन्य व्यक्तियों को चोट या क्षति पहुँचाकर प्रकट होती है। जब यह

प्रवृत्ति अपनी ओर उन्मुख हो जाती है तो व्यक्ति स्वयं को क्षति पहुँचाता है जैसे कोई व्यक्ति भोजन करना छोड़ देता है या चरम सीमा के ऊपर पहुँचने पर आत्म-हत्या कर लेता है। सम्पत्ति को क्षति पहुँचाना जैसे आक्रामकता के कारण व्यक्ति तोड़फोड़ करता है या विध्वंसकारी व्यवहार अभिव्यक्त करता है।

(स) **आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण** (Ethological theory)—यह सिद्धान्त कोनार्ड लॉरेंज (Konard Lorenz, 1966) द्वारा प्रतिपादित किया गया है। यह आधुनिक मूलप्रवृत्यात्मक (modern instinctual) सिद्धान्त है। वह भी फ्रायड के समान आक्रामकता को एक प्रकार की ऊर्जा मानता है। लारेंज (1967) ने तर्क दिया है कि अन्तराजातीय (intraspecies) झगड़ों का अस्तित्व रक्षा में मूल्य है। तात्पर्य यह है कि अस्तित्व रक्षा के मूल में आक्रामकता की मूल प्रवृत्ति निहित होती है। पशुओं में भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये आक्रामक मूलप्रवृत्ति होती है।

उसके अनुसार आक्रामक व्यवहार के कारण पशु सम्पूर्ण वातावरण में फैल या बँट जाते हैं जिससे उस प्रजाति के सारे पशुओं को खाना पानी आसानी से उपलब्ध होता है। इसी कारण पशुओं की अनेक प्रजातियों में प्राकृतिक रूप से लड़ने की उन्मुखता होती है। फ्रायड के समान वह भी मानता है कि समय के साथ मूल-प्रवृत्यात्मक ऊर्जा एकत्र होती रहती है जिसे समय-समय पर रिलीज (release) होने की आवश्यकता होती है।

लारेंज ने मनुष्यों में आक्रामकता के विषय में अपनी व्याख्या में दो प्रश्नों-एक व्यक्ति दूसरे की हत्या क्यों करता है तथा मूल प्रवृत्यात्मक ऊर्जा का संचय कैसे होता है तथा उसकी अभिव्यक्ति किस तरह होती है।

1. क्यों लोग दूसरों को मारते हैं ? लोग खतरे की स्थिति में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करते हैं—लड़ने तथा पलायन की, पशु-पक्षी जो शत्रु का सामना करने में सक्षम नहीं होते जैसे हिरण, बकरी, कौवा, कबूतर आदि वे पलायन की प्रतिक्रिया करते हैं जब उन्हें किसी खतरे का आभास होता है। सिंह, रीछ, भेड़िया आदि पशु जो अपने नुकीले, तेज दाँतों, नाखूनों तथा शारीरिक बल के कारण लड़ने में सक्षम होते हैं वे लड़ने की प्रतिक्रिया खतरा होने पर करते हैं। लारेंज के अनुसार जिन पशुओं में लड़ने की क्षमता जिस अनुपात में विद्यमान होती है उनमें अपनी प्रजाति के अन्य सदस्यों के लिये आक्रामकता की जन्मजात निषेध प्रवृत्ति उसी अनुपात में अधिक होती है। लड़ने में असक्षम पशुओं में यह जन्मजात निषेध वृत्ति उतनी ही कम होती है। उसका कहना है कि पशुओं में यह प्रतिमान लुप्त हो गया है किन्तु वैज्ञानिक तथा प्राद्योगिक (technological) विकास के चलते मनुष्य

की विनाशकारी शक्ति बढ़ गयी है वह नाना प्रकार के हथियारों का प्रयोग कर सकता है अतः वे अन्य व्यक्तियों पर आक्रमण करने में अधिक सक्षम हैं।

2. **ऊर्जा का संचय**—फ्रायड की तरह लारेंज भी मानता है कि आक्रामक ऊर्जा का संचय व्यक्ति में जारी रहता है। यह ऊर्जा उस समय निर्मुक्त (release) होती है जब परिवेश में कोई उद्दीपन विद्यमान होता तथा व्यक्ति को उद्दीप्त करता है।

लारेंज के सिद्धान्त में निम्न न्यूनताएं बताई जाती हैं—

(i) इस सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं है कि प्राणी आक्रामक व्यवहार कैसे और किन दशाओं में करता या नहीं करता है।

(ii) प्रायोगिक समर्थन के अभाव में सिद्धान्त को वैज्ञानिक कहना संभव नहीं है। उदाहरण के लिये मृत्यु की प्रवृत्ति का प्रमाप संभव नहीं है। ऐसे ही अन्य प्रत्यय भी अनुमान पर आधारित प्रतीत होते हैं।

(iii) आक्रामक व्यवहार की अधिक अभिव्यक्ति के कारण संचित ऊर्जा में कमी और परिणामस्वरूप आक्रामक व्यवहार में भी कुछ दिनों के लिए कमी आना स्वाभाविक लगता है। किन्तु वाल्टर्स तथा ब्राउन (Walters & Brown 1963) ने अध्ययनों में इसके विपरीत परिणाम प्राप्त किया। बर्कोविज (Berkowitz, 1973) ने भी अपने परिणामों द्वारा मूल-प्रवृत्ति सिद्धान्त की मान्यताओं की पुष्टि न होने का संकेत दिया है।

(iv) मूलप्रवृत्तियों का सिद्धान्त प्राणी में आक्रामकता को जन्मजात मानता है। मान्टेगू (Montague, 1976) ने यह अलंकृत किया है तथा इस बात के साक्ष्य अपनी पुस्तक "The Nature of Human Aggression" में दिए हैं कि आक्रामक व्यवहार जन्मजात एवं सार्वभौम कदापि नहीं होते। उदाहरण के लिये मारले की सीमान्त प्रजाति, इटूरी जंगल के पिग्मी (Pigmy) जाति के लोगों में, टासाडी जाति में आक्रामक प्रवृत्ति का अभाव होता है। अनेक मानवशास्त्रियों जैसे लिण्टन, मैलिनोस्की, बेनेडिक्ट, मारगरेट मीड आदि ने विशेषकर न्यूगिनी की पहाड़ियों में प्रवासित जातियों में से आरापेश जनजाति में आक्रामकता को अनुपस्थित पाया। अतः यह कहना उचित प्रतीत होता है कि आक्रामक व्यवहार जन्मजात नहीं होता।

कुण्ठा-आक्रामकता सिद्धान्त
(Frustration-Aggression Theory)

डालर्ड, मिल्लर, डूब, मावरर तथा सियर्स (Dollard, Miller, Doob, Mowrer & Sears, 1929) ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया कि कुण्ठा आक्रामकता की जननी है। निराश एवं कुण्ठित व्यक्ति आक्रामक व्यवहार करते हैं।

यह एक प्रकार से अन्तर्नोद सिद्धान्त (Drive theory) पर आश्रित है अर्थात् दूसरों को नुकसान पहुँचाने के अन्तर्नोद अथवा प्रेरणा के कारण आक्रामकता उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार के उद्वोलन की अवस्था है जो आक्रामक व्यवहार की अभिव्यक्ति से कम होती है। इस प्रकार आक्रामकता के जैविक सिद्धान्त से भिन्न यह पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार मनोवैज्ञानिक कारक कुण्ठा को उत्पन्न करते हैं।

डालर्ड तथा अन्य (1939) की परिकल्पना काफी सीधी व सरल है, "कुण्ठा की उत्पत्ति लक्ष्य के अवरुद्ध होने पर होती है, कुण्ठा से सर्वदा आक्रामकता उत्पन्न होती है, और सब आक्रामकता, कुण्ठा का परिणाम है।" ("Frustration was caused by having a goal blocked, frustration always leads to aggression, and all aggression results from frustration") यदि अवरुद्ध लक्ष्य अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है तो कुण्ठा की मात्रा बढ़ जाती है और यही दशा उस समय भी होती है जब अवरोध विस्तृत हो जाता है। कुण्ठा समय के साथ भी बढ़ती है और संचित होती है। और भविष्य में इसके विस्फोटक अभिव्यक्ति की संभावना होती है।

पहली नजर में यह सिद्धान्त काफी सत्य प्रतीत होता है। डालर्ड एवं मिलर (1939) ने अपने कुण्ठा आक्रामकता सिद्धान्त में दो परिकल्पनाओं (hypotheses) की चर्चा की है—

(i) आक्रामकता की उत्पत्ति सर्वदा कुण्ठा से होती है।

(ii) कुण्ठा से सर्वदा किसी न किसी प्रकार की आक्रामकता उत्पन्न होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि कुण्ठित व्यक्ति सर्वदा किसी न किसी प्रकार की आक्रामकता अभिव्यक्त करता है। यही नहीं वरन् यह भी कि सभी प्रकार के आक्रामक व्यवहार कुण्ठा का परिणाम होते हैं।

जब कुण्ठा के स्रोत के प्रति आक्रामकता अभिव्यक्त होती है तो इसे प्रत्यक्ष आक्रामकता कहा जाता है। कभी-कभी स्रोत शक्तिशाली होता है, उसे दण्ड का अधिकार होता है, या स्रोत मौजूद नहीं होता तो इस स्थिति में प्रमुख स्रोत के अतिरिक्त किसी गौण स्रोत जो उसके समान या कमोवेश समतुल्य हैं के प्रति आक्रामकता विस्थापित हो जाती है (मिलर 1948): बर्कोविज तथा अन्य (1967)। इस प्रकार की आक्रामकता को विस्थापित आक्रामकता कहा जाता है। इस प्रक्रिया में आक्रामकता उस लक्ष्य के प्रति प्रदर्शित की जाती है जो अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षा देने वाला और सुगमतापूर्वक उपलब्ध होता है।

प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त पर्याप्त सच्चाइयों को व्यक्त करता है किन्तु थोड़ा चिन्तन इसकी सीमाओं का संकेत देता है।

(i) कुण्ठा सर्वदा आक्रामकता को उत्पन्न करती है। यह दावा बस (Buss, 1961) तथा मनोवैज्ञानिकों को खोखला प्रतीत होता है। इनके अनुसार कुछ व्यक्ति बिना कुण्ठा आक्रामकता को अपने भौतिक लाभ के लिए प्रयुक्त करते हैं। कुण्ठा नहीं होती किन्तु व्यक्ति आक्रामक व्यवहार अपने फायदे के लिए करता है। ऐसा विशेष कर उस समय होता है जब व्यक्ति यह अनुभव करता है कि आक्रामकता के प्रकाशन से वह कुछ लाभ प्राप्त कर सकता है। बर्कोविज (Berkowitz 1978) ने बताया है कि आक्रामक व्यवहार के अनेक कारण हो सकते हैं उनमें कुण्ठा भी एक कारण हो सकती है किन्तु यह एकमात्र कारण नहीं है। यह आक्रामकता साधनात्मक (Instrumental) होती है। इसे धन, संस्थिति, तथा अनुमोदन प्राप्त करने के लिये किया जाता है जिसमें कुण्ठा पूर्ण रूप से अनुपस्थित होती है। (बस 1966)।

(ii) डालर्ड तथा उनके सहयोगियों ने इस परिकल्पना को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। अनेक समाज मनोवैज्ञानिकों ने इस परिकल्पना को चैलेंज किया है कि कुण्ठा सर्वदा आक्रामकता को उत्पन्न करती है। एस० एच० ब्रिट, जैनेस (Britt and Janus, 1940), रोजेन ज्विग (Rosenzweig, 1938), सार्जेण्ट (Sargent, 1948) ने बताया है कि कुण्ठा सर्वदा आक्रामकता उत्पन्न नहीं करती।

उपयुक्त आलोचनाओं के परिणाम स्वरूप इस सिद्धान्त में संशोधन हुआ।

संशोधित कुण्ठा–आक्रामकता सिद्धान्त

(Revised Frustration–Aggression Theory)

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक मिल्लर (1931) ने स्वयं यह माना कि कुण्ठा सर्वदा आक्रामक व्यवहार को उत्पन्न नहीं करती तथा कुण्ठा के प्रति व्यक्ति कई प्रकार की अनुक्रियाएँ करता है जिसमें कुण्ठा भी एक है।

बर्कोविज (Berkowitz; 1962, 1969) ने कुण्ठा-आक्रामकता परिकल्पना को बचाने के प्रयास में इसका संशोधन किया। उसके अनुसार कुण्ठा सीधे आक्रामक व्यवहार की उत्पत्ति नहीं होती। कुण्ठा आक्रामकता के प्रति तत्परता उत्पन्न कर सकती है। कुण्ठा और आक्रामकता के बीच एक मध्यस्थकारी (mediating) प्रक्रिया का होना आवश्यक है जो इन्हें जोड़ती है। वह मध्यस्थकारी प्रक्रिया, बर्कोविज के अनुसार क्रोध (Anger) है। जब कुण्ठा से क्रोध उत्पन्न होता है तब आक्रामकता उत्पन्न होती है। इस प्रकार कुण्ठा कभी-कभी आक्रामकता उत्पन्न करती है किन्तु केवल अप्रत्यक्ष रूप से और सर्वदा नहीं। सम्प्रत में बर्कोविज (Berkowitz, 1983) ने कहा है कि आक्रामकता कुण्ठा के अतिरिक्त क्रोध-उत्पादक विकर्षक घटनाओं (aversive events) द्वारा उद्दीप्त होती है—जैसे

पीड़ा, धमकी आदि। (Aggression is stimulated by anger producing aversive events, such as pain & threat in addition to frustration).

बर्कोविज के अनुसार क्रोध या क्रोध-उत्पन्न उदोलन (anger produced arousal) व्यक्ति को आक्रामक बनाता है। आक्रामक व्यवहार का घटित होना और स्वरूप बहुत हदतक परिस्थिति के गुणों से निर्धारित होता है। परिस्थिति के संकेत (cues) अर्थात् आक्रामक संकेत (aggressive cues) वातावरण में उपस्थित उद्दीपक आक्रामकता के लिए उत्तेजित करते हैं। इस प्रकार क्रोध आवश्यकता पैदा करता है या आक्रामकता की पूर्वशर्त (precondition) है, जबकि आक्रामक संकेत किसी विशिष्ठ आक्रामक व्यवहार की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए आप किसी मित्र से क्रुद्ध हो सकते हैं किन्तु उस समय तक उस पर बरसते नहीं जब तक वह कोई उकसाने वाली बात न कहे।

इस बर्कोविज का माडेल (model) क्रोध तथा संकेतों की केन्द्रीयता पर बल देता है।

सामाजिक अधिगम सिद्धान्त

(Social Learning Theory)

बैण्डुरा (Bandura, 1973) ने सामाजिक अधिगम पर आधारित आक्रामकता का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके विकास में उनके सहयोगी वाल्टर्स (Walters; 1975) का प्रमुख योगदान रहा है। यह सिद्धान्त आक्रामक व्यवहार को भी अन्य व्यवहारों की तरह अधिगमित/सीखा हुआ, व्यवहार मानता है। यह सिद्धान्त आक्रामकता के मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त के विपरीत है जो आक्रामक व्यवहार को जन्मजात मानता है। इसके अनुसार आक्रामक व्यवहार अर्जित व्यवहार है जिसे मनुष्य सीखता है। यह सिद्धान्त आक्रामकता के सम्बन्ध में तीन बातों पर विशेष ध्यान देता है :—

1. आक्रामक व्यवहार की उत्पत्ति कैसे होती है? इसकी उत्पत्ति के स्रोत साधन क्या हैं?
2. आक्रामक व्यवहार को क्या चीजे उकसाती हैं?
3. आक्रामक व्यवहार का अधिगम कैसे होता है।?

1. आक्रामक व्यवहार का आविर्भाव—सामाजिक अधिगम सिद्धान्त पूर्वचर्चित मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। यह आक्रामकता को जन्मजात नहीं मानता। इसके अनुसार आक्रामक व्यवहार सामाजिक अधिगम द्वारा अर्जित किए जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आक्रामकता की उत्पत्ति की तीन विधियाँ हैं :—

(i) प्रेक्षणात्मक अधिगम (Observational learning)—बैण्डूरा (Bandura; 1975) ने प्रेक्षण पर आधारित अधिगम को आक्रामकता के अर्जन का प्रमुख साधन माना है। उनके अनुसार व्यक्ति आक्रामकता दूसरों के प्रेक्षण के द्वारा सीखता है। एक कहावत है, "देखा देखी धर्म और देखा-देखी पाप।" प्रेक्षण के द्वारा सीखने का क्रम सम्पूर्ण जीवन काल में चलता रहता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के मॉडल (model) उपलब्ध होते हैं जिनके व्यवहार के प्रेक्षण के आधार पर आक्रामकता का अर्जन होता है जैसे परिवार में उपस्थित मॉडल, सिनेमा के पात्र, सिनेमा एवं टी०वी० के आक्रामक दृश्य, शिक्षण संस्था एवं व्यवसायों के सामाजिक सन्दर्भ में विद्यमान माडेल, आदि। ऐसे अधिगम का आधार पुर्नबलन (reinforcement) तथा अनुकरण (imitation) हैं Bandura, 1973, Walters & Bandura; 1963)।

बैन्डूरा तथा अन्य (Bandura and others; 1963)—ने अपने अध्ययन में देखा कि जो प्रयोज्य माडल व्यक्ति को व्यवहार करते हुए देख चुके थे, वे अपेक्षाकृत अधिक आक्रामकता प्रदर्शित करते हैं। दूसरी ओर जिस समूह ने मॉडल व्यक्ति द्वारा आक्रामकता का प्रेक्षण नहीं किया या उन्होंने अपेक्षाकृत कम आक्रामक व्यवहार व्यक्त किए।

(ii) पुर्नबलन (Reinforcement)—आक्रामक व्यवहार पुर्नबलन से भी सीखे जाते हैं—जैसे एक बच्चा किसी वस्तु के लिए अपनी माँ को एक तमाचा लगाता है। वह उसे वस्तु (खिलौना) दे देती है तो भविष्य में भी वह यह आक्रामक व्यवहार दुहरा सकता है क्योंकि उसने यह सीख लिया है कि आक्रामकता प्रदर्शन से इच्छापूर्ति होती है। अधिगम का यह मूलभूत नियम है कि जिस क्रिया से पुरस्कार प्राप्त होता है आगे वैसी ही परिस्थिति होने पर उस व्यवहार के दुहराये जाने की संभावना होगी (Cowan & walters; 1963, Geen & Stonner; 1971)। गंभीर पराजय से विनम्रता आती है (Ginsberg & Allec; 1942, Kahu, 1951, Scott & Martsen; 1953) जहाँ तक दण्ड और आक्रामकता का प्रश्न है; इसके प्रभाव जटिल हैं (Bandura, 1973, Baron, 1983 a, Zillman, 1979)। दण्ड के भय से आक्रामकता निम्न दशाओं में घट सकती है :—

(i) जब आक्रामकता से प्राप्त होने वाले लाभ वैकल्पिक उपायों से प्राप्त हो सकते हैं।

(ii) जब व्यक्ति जानता है कि आक्रामकता के लिए दण्ड शीघ्र और निश्चित मिलेगा।

(iii) जब व्यक्ति के संज्ञान में यह बात होती है कि दण्ड देने वाले को इसका विधिक अधिकार है।

अधिगम सिद्धान्त दण्ड द्वारा आक्रामकता निरोध की संस्तुति नहीं करता। कभी-कभी दण्ड से शत्रुता बढ़ती है।

2. दूसरा प्रश्न आक्रामक व्यवहार के उत्तेजकों से सम्बद्ध है। किन कारकों द्वारा आक्रामक व्यवहार उकसाया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर भी सामाजिक अधिगम सिद्धान्त देता है। इन कारकों की उपस्थिति में आक्रामकता के भड़काने की संभावना अधिक होती है। बैण्डूरा ने ऐसे कारकों की चर्चा की है, जो निम्न हैं :—

(i) विरुचि (Aversion)—समाज मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों द्वारा बताया है कि दुःखद, कष्टदायी, अनिष्टकारी, एवं कुण्ठित अनुभव व्यक्ति में सांवेगिक उद्वेलन तथा आक्रामकता की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। विशेष बात यह है कि वह यह समझता है कि ऐसे आक्रामक व्यवहार समाज द्वारा अनुमोदित हैं अतः उनकी अनुकूल परिस्थितियों में पुनरावृत्ति की सम्भावना होती है।

(ii) निर्देश (Instructions)—अधिगम सिद्धान्त निर्देश को भी आक्रामक व्यवहार के उकसाने में एक मुख्य कारक मानता है। विद्युत अघात देने का प्राविधान होने पर मिलग्राम (Milgram; 1964, 1965) ने पाया कि जब प्रयोगकर्त्ता निर्देश देता है तो प्रयोज्य, व्यक्तियों को उच्च वोल्ट का विद्युत अघात देने में कोई संकोच नहीं करते।

(iii) प्रेक्षण (Observation)—प्रेक्षण भी आक्रामकता को उकसाता है। अन्य लोगों को आक्रामकता व्यक्त करते देखकर भी कोई व्यक्ति स्वयं आक्रामकता के लिए प्रेरित होता है। बैण्डूरा तथा रॉस (Bandura & Ross; 1974) ने अपने अध्ययनों में देखा कि टेलीविजन पर आक्रामक फिल्में देखने वाले बालकों में आक्रामक व्यवहार की आवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक थी।

(iv) प्रलोभन एवं पुरस्कार (Incentive & Reward)—कोई व्यक्ति यदि अनुभव करता है कि आक्रामकता का प्रदर्शन उसे लाभान्वित कर सकता है तो उसके द्वारा आक्रामक व्यवहार करने की संभावना बढ़ जाती है।

3. तीसरा प्रश्न यह है कि आक्रामक व्यवहार का अधिगम कैसे होता है? बैण्डूरा (Bandura, 1963) के अनुसार आक्रामक व्यवहार के अधिगम में अनुकरण के अतिरिक्त सबसे प्रमुख भूमिका पुर्नबलन की होती है। पुर्नबलन अनेक प्रकार का होता है जो आक्रामक व्यवहार को सिखाता है—बाह्य पुर्नबलन, आत्म-पुर्नबलन (Self reinforcement), स्थानापन्न पुर्नबलन (vicarious reinforcement :)

बाह्य पुर्नबलन के अन्तर्गत भौतिक पुरस्कार, सामाजिक मान्यता, अनुमोदन, प्रशंसा, सामाजिक संस्थिति (Social status), कष्टदायी अनुभूतियों से मुक्ति, आदि प्रमुख हैं। जोन तथा स्टोन्नर (Geen & Stonner; 1973) और कोवान एवं वाल्टर्स (Cowan & Walters; 1963) के अध्ययन इस प्रसंग में महत्वपूर्ण हैं।

आत्मपुर्नबलन में व्यक्ति अपने आक्रामक व्यवहारों से संतोष का अनुभव करता है।

अलब्रेक्ट, थामस, तथा चैडविक (Albrecht, Thomas and Chadwick, 1980) आदि ने इस सम्बन्ध में अनेक अध्ययन किए हैं।

स्थानापन्न पुर्नबलन (Vicarious reinforcement) से भी आक्रामक व्यवहार सीखा जाता है। जिस किसी से व्यक्ति का तादात्मीकरण स्थापित कर लेता है उसकी सफलता या विफलता को स्वयं अपनी जीत हार समझने लगता है जिससे स्थानापन्न पुर्नबलन का अनुभव करता है।

अनेक रूपों में सामाजिक अधिगम सिद्धान्त आक्रामकता का एक प्रमुख सिद्धान्त समझा जाता है। यह एक प्रकार से कुण्ठा आक्रामकता परिकल्पना की न्यूनताओं की व्याख्या करता है। अतः इसे कुण्ठा सिद्धान्त का पूरक कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए कुण्ठित व्यक्ति मारपीट करता है, दूसरा गोली मारने का प्रयास करता है, अन्य गाली बकता है या चरित्र हनन का प्रयास करता है, ऐसा क्यों है? इसकी व्याख्या व्यक्तिगत भिन्नता, पूर्व अनुभव, विगत अधिगम आदि के द्वारा करता है।

सामाजिक अधिगम सिद्धान्त के महत्वपूर्ण होने में कोई सन्देह नहीं है तथापि इसमें कुछ न्यूनताएं भी हैं :—

(i) इसके अनुसार आक्रामकता पुर्नबलन के कारण सीखी जाती है। सिद्धान्त तीन प्रकार के पुर्नबलन का जिक्र है जिसमें तीसरे प्रकार अथवा स्थानापन्न पुर्नबलन को असार्थक माना जाता है।

(ii) आक्रामक व्यवहार के क्यों और कैसे का सन्तोषप्रद उत्तर सामाजिक अधिगम सिद्धान्त नहीं देता है। कोई व्यक्ति आक्रामक व्यवहार क्यों और कैसे करता है?

उपर्युक्त न्यूनताओं के होते हुए भी सामाजिक अधिगम सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। आधुनिक सामाजिक अधिगम सिद्धान्त बाह्य पुरस्कार तथा दण्ड से अधिक महत्व प्रमुख आन्तरिक भावनाओं जैसे लाज, शर्म, अपराध भाव तथा गर्व को देते हैं। बैरन (Baron, 1977) के अनुसार शोधों

से सत्यापित हुआ है कि आक्रामकता के तीनों दृष्टिकोण अंशतः अत्य है और किसी न किसी मात्रा में सबके द्वारा आक्रामक व्यवहार की उत्पत्ति होती है।

आक्रामकता को उकसाने वाले कारक
(Factors Instigating Aggression)

अध्ययनों द्वारा कुछ ऐसे कारकों का बोध हुआ है जिनकी मौजूदगी में आक्रामक व्यवहार के घटित होने की संभावना अधिक होती है। यह कारक आक्रामकता को उकसाने में भूमिका निभाते हैं। इनमें प्रमुख कारक निम्न हैं :—

1. उद्देश्य का अभाव (Lack of purpose)—कुण्ठा-आक्रामकता सिद्धान्त के अनुसार कुण्ठा आक्रामक व्यवहार का कारण है। बर्नस्टीन तथा वोर्चेल (Bernstein & Worchel, 1962) ने अध्ययनों द्वारा, कि कुण्ठा व्यक्ति को आक्रामक उस समय बनाती है जब कुण्ठा के स्रोत व्यवहार को उद्देश्यहीन समझा जाता है। जब स्रोत व्यवहार का उद्देश्य स्पष्ट होता है तो ऐसी कुण्ठा आक्रामकता को व्युत्पन्न नहीं करती। बर्नस्टीन तथा वोर्चेल (Bernstein & Worchel,1962) ने अपने एक अध्ययन द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर संकेत दिया कि कुण्ठा उत्पन्न करने वाले व्यक्ति का उद्देश्य एक प्रमुख कारक है जो यह निश्चित करता है कि परिस्थिति विशेष में आक्रामकता प्रदर्शित होगी या नहीं। उदाहरण के लिए आपके विवाह में आपका मित्र दो घंटे विलम्ब से आता है तो इससे कुण्ठा की उत्पत्ति होगी या नहीं। कुण्ठा उस समय नहीं उत्पन्न होगी जब विलम्ब का कारण स्पष्ट कर दिया जाए। मित्र बताता है कि रास्ते में गाड़ी की खराबी के कारण देर हो गई।

2. उदोलन स्तर (Arousal level)—अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि उदोलन स्तर भी आक्रामक व्यवहार को उकसाता है। आक्रामकता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रखने वाले अनेक उत्तेजक स्रोत विशिष्ट स्थितियों में आक्रामकता को उकसाते हैं। (Schachter & Singer 1956) के अनुसार उत्तेजना या उदोलन के स्रोत व्यक्ति में आक्रामक व्यवहार उस समय उत्पन्न करते हैं जब वह व्यक्ति उदोलन का त्रुटिपूर्ण मुणारोपण (misattribution) करता है। जिल्लमैन तथा अन्य (Zillman et. al; 1975) ने बताया है कि यदि किसी स्रोत द्वारा व्यक्ति और अधिक उदोलित हो जाता है तो वह इस अतिरिक्त उदोलन को क्रोध की संज्ञा देता है। यह दोषयुक्त व्याख्या (misattribution) उसे और अधिक क्रोध का आभास करायेगी अतः वह पहले से कहीं अधिक आक्रामक व्यवहार अभिव्यक्त कर सकता है।

3. वातावरण में उपलब्ध संकेत (Cues in environment)—

अनोवैज्ञानिक अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि वातावरण में मौजूद आक्रामकता के संकेत आक्रामक व्यवहार की व्युत्पत्ति तथा उसकी तीव्रता को प्रभावित करते हैं। परिस्थिति में विद्यमान आक्रामकता के संकेत आक्रामकता को बढ़ाते है। उदाहरण के लिए लाठी, बल्लम, चाकू और बन्दूक, रिवाल्वर आदि की मौजूदगी आक्रामकता की संभावना को बढ़ाती है। बर्कोविज तथा लेपेज (Berkowitz & Lepage, 1967) ने एक प्रायोगिक अध्ययन के पश्चात निष्कर्ष प्राप्त किया कि वातावरण में मौजूद आक्रामकता के संकेत प्रयोज्यों के (आक्रामक संकेत) की आक्रामकता वर्द्धक विशेषता की पुष्टि टर्नर (Turner, 1977) तथा लेपेन्स एवं पर्क (Lepens & Perk, 1975) ने भी अपने अध्ययनों द्वारा की है।

यहाँ तक कि वह लोग भी जो क्रोध को आक्रामकता का केन्द्रीय कारण समझते हैं, यह मानते हैं कि क्रोधावस्था में हम हमेशा आक्रामक नहीं होते। बर्कोविज भी क्रोध को आक्रामकता का कारण मानते हैं, तर्क देते हैं कि बिना उपयुक्त निदेशक संकेतों के आक्रामक व्यवहार संभव नहीं होगा। वह संकेत उद्दीपक के रूप में आक्रामकता से सम्बद्ध होते हैं। हममें अधिकांश के लिए रक्त, मशीनगन छुरा आदि ऐसे परिस्थिति जन्य संकेत हैं।

4. **व्यक्ति (Individual)**—संकेत के तौर पर हथियार तो आक्रामकता की संभावना में वृद्धि करते ही हैं; उनके अतिरिक्त आक्रामक व्यवहार से सम्बद्ध व्यक्ति भी आक्रामकता के संकेत का कार्य करते हैं। बर्कोविज (Berkowitz, 1965) के एक सहयोगी ने एक समूह के प्रयोज्यों का अपमान किया जबकि अन्य समूह के साथ तटस्थ रहे। प्रयोगकर्ता के सहयोगी ने स्वयं को एक छात्र के रूप में परिचित कराया। इसके बाद सब प्रयोज्यों ने आक्रामक अथवा अनाक्रामक दृश्यों वाली फिल्मों को देखा। तत्पश्चात प्रयोज्यों द्वारा प्रयोगकर्ता के सहयोगी को विद्युत अघात देने का अवसर दिया गया। जिन अपमानित प्रयोज्यों ने आक्रामक दृश्यों वाली फिल्म देखा था उन्होंने ने अधिक आक्रामकता का परिचय दिया।

व्यक्ति का नाम, व्यवसाय, वस्तुएँ आदि जो किसी रूप में आक्रामकता से सम्बद्ध होती हैं तो वे आक्रामक संकेत के गुण अर्जित कर लेती हैं और प्रभावकारी रूप में आक्रामक व्यवहार को व्युत्पन्न करती हैं।

5. **मदिरा एवं मादक दवाइयों के प्रभाव**—मदिरा एवं मेरियुआना (Mariyuana) के प्रभावों का अध्ययन टेलर तथा अन्य (Taylor et. al; 1975, 1976) ने किया। उन्होंने आक्रामकता पर अल्कोहल एवं मैरियुआना के प्रभावों पर कई एक प्रयोग किए। कुछ प्रयोज्यों को अधिक तथा अन्य को कम मात्रा में अल्कोहल पिलाया। प्रयोगकर्ता के सहयोगियों द्वारा इन्हें क्रोधित किया गया। तत्पश्चात उन सहयोगियों को विद्युताघात देने का अवसर दिया गया। कम

मात्रा में शराब पीने वालों की अपेक्षा अधिक मात्रा में शराब पिए प्रयोज्यों ने सहयोगियों को अधिक विद्युताघात प्रदान किया अर्थात् अधिक आक्रामकता प्रदर्शित की। इसके विपरीत स्थिति अधिक मैरियुआना (Mariyuana) खाने वाले प्रयोज्यों के साथ भी देखी गयी। अधिक मैरियुआना खाने वालों ने अपेक्षाकृत कम आक्रामकता अभिव्यक्त की। कम औषधि समूह ने अधिक आक्रामकता दिखाई। मैरियुआना नामक नशीली दवाई का प्रभाव प्रशान्तक था और मदिरा ने आक्रामकता में वृद्धि की। अतः मदिरा आक्रामकता को बढ़ा सकती है। किन्तु इस विषय में उपयुक्त अध्ययनों का अभाव है अतः सावधानी पूर्वक ऐसे परिणामों की व्याख्या करनी चाहिये।

6. **तापमान एवं कोलाहल**—तापमान एवं वातावरण में व्याप्त कोलाहल भी आक्रामकता को प्रभावित करते हैं। तात्पर्य यह है कि भौतिक वातावरण भी आक्रामकता में वृद्धि कर सकता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने भौतिक वातावरण के तापमान तथा कोलाहल जैसे परिवर्त्यों का अन्वेषण किया है। बैरन एवं बेल (Baron & Bell, 1975) ने तापमान उच्च होने पर आक्रामक व्यवहार में वृद्धि को प्रमाणित किया। एण्डरसन एवं एण्डरसन (Anderson & Anderson, 1984) ने एक फील्ड स्टडी में पाया कि तापमान 86° से 99° फारेनहाइट होने पर अपराधों की आवृत्ति में वृद्धि हुई। बैरन (1972) ने देखा कि 72° से 75 °F के तापमान में 91° से 95° F की अपेक्षा अधिक आक्रामकता अभिव्यक्त हुई।

मनोवैज्ञानिकों ने कोलाहल तथा आक्रामकता के सम्बन्धों का भी अध्ययन किया है, और तापमान की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली पाया है। डोनेर्स्टीन, एवं विल्सन (Donnerstein & Wilson, 1976), गीन (Geen, 1980) ने अपने अध्ययनों में देखा कि क्रुद्ध व्यक्ति के वातावरण में कोलाहल स्तर में वृद्धि से उस व्यक्ति के आक्रामक व्यवहार में वृद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कोलाहल केवल उस समय आक्रामकता में वृद्धि करता है जब व्यक्ति पहले से उत्तेजित हो। कोनीनी (Koneeni, 1975) के परिणाम भी डोनेर्स्टीन एवं विल्सन (Donnerstein and Wilson, 1976) के समान परिणाम प्राप्त किये हैं। अतः तापमान तथा उच्च स्तर के कोलाहल आक्रामकता को बढ़ाते हैं।

7. **प्रत्यक्ष प्रकोपक** (Direct provocation)—अनेक भड़काने वाले व्यवहार जो प्रत्यक्ष होते हैं, आक्रामकता को बढ़ा सकते हैं। गीन (Geen, 1968) ने अपने अध्ययनों में शाब्दिक प्रहार (Verbal attack) द्वारा आक्रामकता के उकसाये जाने के प्रमाण प्राप्त किए। उन्होंने कुण्ठा की अपेक्षा शाब्दिक प्रहार को आक्रामकता की उत्पत्ति में अधिक महत्वपूर्ण पाया। ग्रीनबेल तथा डेंगेरिंक (Greenbell and Dengerink; 1973) ने एक अध्ययन कर देखा कि जब

प्रयोज्यों को केवल यह बता दिया जाता है कि उनका मुखालिफ़ उनके प्रति भविष्य में आक्रामकता करने की बात सोच रहा है। केवल यह सुनकर प्रयोज्यों में आक्रामक व्यवहार बढ़ गये।

8. **अवैयक्तीकरण (De individuation)**—कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अवैयक्तिकता एक ऐसी मनःस्थिति है जिसमें व्यक्ति की आत्मचेतन (Self consciousness) घट जाती है और ऋणात्मक मूल्यांकन की शंका नहीं होती (Diener, 1969). और व्यक्ति आवेगशील (impulsive), समाज विरोधी (antisocial) तथा आक्रामक हो जाता है। इन तथ्यों को प्रेन्टिस-डन एवं राजर्स (Prentice Dunn and Roger's 1980) के अध्ययनों से भी समर्थन प्राप्त हुआ है। इस अध्ययन में वैयक्तिकता तथा अवैयक्तिकता की दशाएँ निर्मित की गईं। वैयक्तिकता की दशा में प्रयोज्यों को नाम से पुकारा जाता था तथा विद्युताघात प्रदान करते समय उसकी तीव्रता को प्रयोगकर्त्ता देखता था। अवैयक्तिकता की दशा में प्रयोज्यों को नाम से नहीं पुकारते थे और विद्युत अघात का दायित्व स्वयं उनपर डाल कर प्रयोगकर्त्ता उस समय वहाँ से टल जाते थे। परिणामों से ज्ञात हुआ कि अवैयक्तिकता की दशा में वैयक्तिकता की अपेक्षा अधिक आक्रामक व्यवहार घटित हुये। प्रयोज्यों ने पचास प्रतिशत अधिक विद्युत अघात प्रयुक्त किया। अतः यह कहा जाता है कि अवैयक्तिकता आक्रामकता में वृद्धि करती है। सामान्य अनुभव भी इस तथ्य की पुष्टि करता है—जैसे, जब लोग भीड़ में होते हैं तो अवैयक्तिकता के ही कारण तोड़-फोड़ और हिंसक कार्यवाही करने में कोई संकोच नहीं करते।

9. **व्यक्तित्व कारक (Personality traits)**—कुछ मनोवैज्ञानिक आक्रामकता के भड़काने वाले कारकों के अध्ययन में व्यक्तित्व कारकों को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। मेरगार्गी (Mergargee, 1966) ने अपने अध्ययनों द्वारा व्यक्त किया है कि कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तित्व वाले लोग अधिक आक्रामक होते हैं। वह इसे न्यून-नियन्त्रित आक्रामकता कहते हैं। महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में आक्रामकता की अधिकता अथवा यौन भेद के प्रभाव का प्रमाण जार्विक तथा सहयोगियों (Jarvik et al, 1973) ने दिया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अनेक कारक आक्रामक व्यवहार को उकसाते या भड़काते हैं। कभी केवल एक कारक किसी आक्रामक व्यवहार को उकसाता है और कभी अनेक कारकों का योगदान होता है। यह सभी विशेष परिस्थिति पर निर्भर करता है।

आक्रामकता का नियंत्रण
(Controlling Aggression)

अब तक हम उन कारकों पर विचार कर रहे थे जो आक्रामकता को सुलभ

बनाते हैं। हम जानते हैं कि आक्रामकता अवांछित व्यवहार है। समाज के लिए यह घातक है अतः समाज मनोवैज्ञानिक इसके नियंत्रण पर भी ध्यान देते हैं। आक्रामकता को अवरुद्ध करने वाले कारकों की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक महत्ता है। कड़े कानूनों के होते हुए भी व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के प्रति, समूहों के प्रति, समूह व्यक्तियों के प्रति, एक देश अन्य देश या देशों के प्रति आक्रामक व्यवहार और हिंसक क्रियाओं से नहीं चूकते। यदि अस्त्रों, शस्त्रों पर प्रतिबन्ध न होता तो स्थिति क्या होती यह हर कोई सोच सकता है।

आक्रामकता नियंत्रण में अवरोध (inhibitions)—के उपाय के अन्तर्गत आत्मनियंत्रण, धमकी तथा दण्ड, कष्ट-संकेत, विरेचन (catharsis), उदोलन, व्यवहारपरक प्रभाव, सामाजिक अधिगम, मन्द कामुकता तथा हास्य, परानुभूति तथा प्रतिकार आदि प्रमुख हैं।

1. अवरोध (Inhibitions) ;—

(i) आत्म नियंत्रण (Self control)—अवरोध द्वारा आक्रामक व्यवहार के नियंत्रण में एक प्रमुख उपाय आत्मनियंत्रण है। आत्मनियंत्रण, लज्जा, शर्म, अपराध भाव, और आत्मदण्ड का एक रूप है जो आक्रामकता नियंत्रण का प्रमुख उपाय है। इसमें अभिप्रेरणा सहायक हो सकती है जो आत्मप्रेक्षण से उत्पन्न होती है (Scheier, Fenigstein, and Buss, 1974)। दैनिक जीवन के अनुभवों से विदित होता है कि ऐसे आन्तरिक अवरोध के द्वारा किसी मात्रा में आक्रामकता बिना बाह्य अनानुमोदन और दण्ड भय के घटायी जा सकती है। हममें से अनेक व्यक्तियों आक्रामक व्यवहार के प्रति काफी आन्तरिक नियंत्रण होता है—जैसे किसी को चोट पहुँचाकर, माता अपने बच्चे को पीटने के बाद दुःखी और अपराध भाव से ग्रस्त होती है, हम किसी को अनजाने या जानबूझकर कष्ट देते हैं और फिर आत्मग्लानि का अनुभव करते हैं। समाजीकरण प्रक्रिया हमें आन्तरिक अवरोध सिखाती है।

(ii) धमकी तथा दण्ड (Threats & punishment)—यद्यपि समाज आन्तरिक नियंत्रण पर अधिक बल देता है किन्तु आक्रामकता के नियंत्रण में उनके अलावा बाह्य नियंत्रण के उपाय भी प्रयुक्त होते हैं। सामान्य बुद्धि तथा आक्रामकता के सभी सिद्धान्तों के अनुसार दण्ड तथा दण्ड की धमकी को प्रमुख अवरोध माना जाता है। जिल्लमैन (Zillmann, 1979) ने प्रयोगों द्वारा सत्यापित किया है कि जब लोगों को आक्रामकता के लिए दण्ड दिया जाता है तो भविष्य में वे कम से कम दण्ड देने वाले के प्रति कम आक्रामकता अभिव्यक्त करते हैं। इसी प्रकार दण्ड की धमकी-चाहे वह भौतिक दण्ड की धमकी हो या अन्य लोगों द्वारा अननुमोदन

ा रूप में हो, आक्रामकता की संभावना को घटाता है। दण्ड का एक रूप प्रतिकार (retaliation) है, जिसकी चर्चा पृथक शीर्षक के अन्तर्गत की जायगी।

इस प्रसंग में हुए अधिकांश अध्ययन यह स्पष्ट करते हैं कि दण्ड आक्रामक व्यवहार को घटाने में अत्यन्त कम प्रभाव रखता है। कुछ अध्ययन से तो यह ज्ञात हुआ है कि जिन बच्चों को माता-पिता घर में अधिक दण्ड देते हैं, उनमें घर के बाहर आक्रामक व्यवहार अधिक अभिव्यक्त होता है। ऐसे परिणाम सीयर्स तथा अन्य (Sears et. al. 1957) ने प्राप्त किए हैं। दण्ड देने वाले अभिभावक स्वयं बच्चों के लिए मॉडल के समान होते हैं। अतः सामाजिक अधिगम सिद्धान्त के अनुसार दण्ड देने वाले अप्रत्यक्ष रूप से आक्रामकता को सिखाने का माध्यम बन जाते हैं। अतः दण्ड देने वाले मां-बाप आक्रामकता में न्यूनता लाने के स्थान पर उसमें बढ़ावा देते हैं। अतः समाज मनोवैज्ञानिक आक्रामकता नियंत्रण में दण्ड को प्रभावकारी नहीं मानते। कुछ सीमित दशाओं में आक्रामकता की प्रबलता दण्ड के द्वारा घटायी जा सकती है (बैरन, 1977)। सूल्ज़र-एजारोफ़ तथा मेयर (Sulzer Azaroff & Meyer, 1984) ने बताया है दण्ड से कुछ समय के लिए आक्रामकता कम हो जाती है किन्तु इसका प्रभाव अत्यन्त अस्थायी होता है।

(iii) **पीड़ा-संकेत(Pain cues)**—परानुभूति (empathy) समाजानुकूल व्यवहार को सुलभ बनाती है। यह भी संभव है कि परानुभूति समाज विरोधी व्यवहार को अवरुद्ध करे। कुछ अध्ययनों से संकेत मिला है कि परानुभूति आक्रामकता में कमी लाती है (Geen, 1972; Baron, 1975)। बैरन (Baron, 1974 a, 1977) स्वार्ट तथा बर्कोविज (Swart & Berkowitz, 1976) ने अनेक प्रयोगों द्वारा यह दर्शाया है कि पीड़ा-संकेत क्रुद्ध प्रयोज्यों में आक्रामकता को बढ़ाते तथा अक्रुद्ध व्यक्तियों में इसकी संभावना को घटाते हैं। पीड़ा-संकेत जैसे पीड़ित व्यक्ति की चीख-पुकार एवं कष्ट से आक्रामक व्यक्ति में आत्मग्लानि, पश्चाताप, आदि सांवेगिक अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं जिसके चलते आक्रामकता में कमी आती है।

2. **विरेचन (Catharsis)**—आक्रामकता नियन्त्रण में एक लोकप्रिय सुझाव यह है कि क्रोध एवं कुण्ठा को रोके रहना उचित नहीं है। इसे मुक्त करना भी एक उपाय है। केथार्सिस एक यूनानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है साफ करना (Clean or to cleanse)। सर्वप्रथम फ्रायड लारेन्ज तथा एण्ड्रे (Freud; Lorenz Andrey) ने अपने मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त में इस विधि की सार्थकता पर बल दिया था। इनके अनुसार आक्रामक ऊर्जा के भण्डार को समय-समय पर प्रवाहित करना आवश्यक है। कुण्ठा-आक्रामकता सिद्धान्त भी यह मानता है कि

समय के साथ कुण्ठा एकत्र होती है जिनसे आक्रामकता उद्दीप्त हो सकती है, को समय-समय से विमुक्त (release) करना चाहिये। दूसरी ओर बैण्डूरा एवं बर्कोविज (Bandura & Berkowitz) किसी आक्रामक ऊर्जा की परिकल्पना नहीं करते अतः प्रवाहित करने का भी प्रश्न नहीं होता। अतः वह लोग विरेचन प्रभाव को स्वीकार नहीं करते।

वास्तविक जीवन में आक्रामकता नियन्त्रण का आधार केथार्सिस (Catharsis) की संभावना पर काफी विवाद है। यदि, आक्रामक ऊर्जा किसी प्रकार के आक्रामक व्यवहार द्वारा प्रवाहित की जा सकती है तो हम कह सकते हैं कि हिंसा नियन्त्रण के लिये लोगों को अनेक हल्के फुल्के स्थानापित आक्रामक व्यवहार की अनुमति देना अनुचित नहीं होगा। इस प्रकार यदि लोगों को दौड़ने, खेलने, जॉगिंग, बॉक्सिंग या भूसा भरे थैले पर मुक्केबाजी का अवसर देकर उनकी आक्रामकता में न्यूनता लाने की बात सोच सकते हैं।

इस (विरेचन) परिकल्पना के कई भाग हैं। सर्वप्रथम, फ्रायड तथा अन्य का तर्क या आक्रामक ऊर्जा स्वयं एकत्र होती है अतः समय-समय पर हम सबके लिए आक्रामकता आवश्यक है। किन्तु जिलमैन (Zillmann, 1979) के अनुसार आक्रामक ऊर्जा के अपने आप संचित होने का कोई आनुभविक प्रमाण नहीं है।

यद्यपि कुण्ठा आक्रामकता सिद्धान्त में यह संभावना निहित है कि वातावरण से कुण्ठा समय के साथ एकत्र होती है। इस सिद्धान्त का आधुनिक रूप (modern version) यह पूर्वकथन कर सकता है कि, (i) विरुचि परक घटनाएँ (aversive events) क्रोध तथा उदोलन को बढ़ाती हैं (जो एक प्रकार की ऊर्जा है), (ii) विरेचक अनुभूति जैसे रुई भरे हुये थैले पर मुक्केबाजी, इस उदोलन को घटा सकती है, और (iii) एक बार उदोलन में कमी से आक्रामकता की अभिप्रेरणा में कमी आनी चाहिये और परिणाम स्वरूप व्यक्ति को कम आक्रामक होना चाहिये। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसके अन्तर्गत दो बातों (कारकों)–उदोलन तथा व्यवहारपरक प्रभाव पर विचार करना आवश्यक है।

(i) उदोलक कारक (Arousal factors)–प्रथम उपकल्पना कि विरुचिक घटनाओं (aversive events) द्वारा उदोलन बढ़ना चाहिये, शोधों द्वारा भली प्रकार समर्थित है। होकैन्सन तथा सहयोगियों (Hokanson & Colleagues, 1962) ने सिस्टोलिक रक्त चाप (systolic blood pressure) को उदोलन का माप मान कर एक अध्ययन में देखा कि कुण्ठा से रक्त दबाव में वृद्धि होती है।

दूसरी उपकल्पना—बाद में (Subsequent) उत्पन्न आक्रामकता द्वारा उदोलन स्तर में कमी आनी चाहिये ? (Subsequent aggression should lead to lowered arousal ?) जब एक व्यक्ति कुण्ठित तथा क्रोधित होता है और

उसका रक्त चाप काफी बढ़ता है तो आक्रामकता उसके रक्त चाप में द्रुत गति से कमी आती है (Hokanson & Burgess, 1962)। अनेक व्यक्ति आक्रामक होने के बाद अपराध भाव (guilty) जिससे उनका उद्वेलन स्तर घटता है। किसी उच्च संस्थिति वाले व्यक्ति के प्रति आक्रामकता रक्त चाप में वृद्धि करने में विफल होती हैं क्योंकि हम में अधिकांश उनके प्रति आक्रामक होने से भयभीत होते हैं अतः आक्रामकता, उद्वेलन को केवल उस समय घटाती है जब इसके साथ अपराध भावना या भय भावना नहीं होती जो उद्वेलन बढ़ायेगी (Geen & Quanty, 1977)।

(ii) व्यवहारपरक प्रभाव (Behavioural effects)—इस तरह विरुचिक घटनायें (aversive events) उद्वेलन बढ़ाती तथा उसके पश्चात की आक्रामकता उद्वेलन घटाती है और कम से कम उस समय अवश्य ऐसा होता है जब आक्रामकता अपराध भावना या भय की उत्पत्ति नहीं करती। अब प्रश्न उठता है तीसरी परिकल्पना का—उद्वेलन में कमी से आक्रामक व्यवहार में कमी आनी चाहिये। यदि इसका व्यवहारपरक प्रभाव न हो हमें विरेचन (catharsis) द्वारा आक्रामकता में कमी लाने में कोई रुचि नहीं होगी। रुई भरे झोले या थैले पर मुक्के मारने (निर्जीव स्थानापित वस्तु पर आक्रामकता को केन्द्रित करने) से अन्तर्वैयक्तिक आक्रामकता में कमी नहीं आती (Geen & Quanty, 1977, Zillmann 1979)।

इस प्रकार स्थानापित (Substitute) वस्तु की ओर केन्द्रित आक्रामकता; अन्य व्यक्ति के प्रति आक्रामक व्यवहार में प्रभावी कमी नहीं लाती।

उस समय क्या होता है जब विरेचन (Catharsis) किसी वास्तविक व्यक्ति की ओर केन्द्रित होता है? इस प्रसंग में परिकल्पना को कुछ समर्थन मिलता है? डूब तथा वुड (Doob and Wood, 1972) ने एक सन्धिबद्ध प्रयोज्य द्वारा अन्य प्रयोज्यों को नाराज कराया गया। तत्पश्चात विरेचक अवस्था में प्रयोज्यों को सन्धिबद्ध प्रयोज्य को विद्युताघात देने की अनुमति या तो दी गई या नहीं दी गई। अन्तिम चरण में, आक्रामकता का माप करने के उद्देश्य से सभी प्रयोज्यों द्वारा सन्धिबद्ध प्रयोज्य को विद्युताघात दिलवाया गया। प्रयोज्य जिन्हें नाराज किया गया था तथा विरेचन (Catharsis) (जिन्होंने दूसरे चरण में विद्युताघात नहीं दिया), स्पष्ट रूप से तीसरे चरण में अधिक आक्रामक दिखाई दिये (Konecni and Doob, 1972)। इस प्रकार विरेचन द्वारा आक्रामकता का कुछ नियन्त्रण संभव प्रतीत होता है।

3. प्रतिकार (Retaliation)—कभी-कभी आक्रामकता अपनी सुरक्षा में आवश्यक प्रतीत होती है। यह व्यक्ति तथा सामूहिक या राष्ट्रीय स्तर पर भी देखी

जाती है। प्रत्याशित प्रतिकार के कारण कुछ लोग आक्रामकता से रुक जाते हैं। डालर्ड तथा अन्य (Dollard et. al 1939) ने स्पष्ट किया है कि किसी व्यक्ति द्वारा आक्रामक अनुक्रिया करना या न करना अनुक्रिया के दण्डित होने की संभावना पर निर्भर करता है। किसी अनुक्रिया के लिये प्रतिकार की संभावना होने पर उस अनुक्रिया के घटित होने की प्रायिकता घट जायगी (Baron, 1973, Donnerstein & Donnerstein, 1976)।

राजर्स (Rogers, 1983) ने अपने अध्ययन में देखा कि श्वेत प्रयोज्यों में नीग्रो प्रयोज्यों द्वारा प्रतिकार के प्रदर्शन के परिणामस्वरूप श्वेत प्रयोज्यों की आक्रामकता घट गयी। इस प्रकार शत्रु के प्रतिकार क्षमता के कारण आक्रामकता में कमी आती है।

4. दण्ड (Punishment)—माता-पिता तथा अभिभावक अपने बच्चों को शरारतों पर अनेक बार दण्ड देते हैं। जब कोई बच्चा किसी अन्य बच्चे को मारता है तो उसके मां-बाप उसे दण्ड देते है। तात्पर्य यह है कि दण्ड के द्वारा भी आक्रामकता को नियंत्रित करने के प्रयास किए जाते हैं। इसका अनुप्रयोग बच्चों के साथ खूब होता है यद्यपि यह प्रविधि अधिक प्रभावकारी नहीं समझी जाती। सियर्स तथा अन्य (Sears et al, 1957) ने देखा कि जो माता-पिता आक्रामकता नियंत्रण हेतु अपने बच्चों को दण्डित करते हैं वे उनके लिए स्वयं आक्रामक मॉडल के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे बच्चे घर से बाहर अन्य लोगों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक आक्रमकता प्रदर्शित करते हैं। (Feldman, 1985) तो यह मानते हैं कि दण्ड से वस्तुतः आक्रामकता में कोई कमी नहीं आती। कुछ परिस्थितियों में आक्रामकता की प्रबलता दण्ड के कारण घट जाती है, किन्तु बैरन (1977) का विचार है कि ऐसी स्थितियाँ बहुत कम होती हैं। शारीरिक या भौतिक दण्ड से क्रोध उत्पन्न होता है जो आक्रामकता में वृद्धिकर सकता है। केवल यही नहीं दण्ड द्वारा आक्रामकता नियंत्रण प्रभाव अत्यन्त क्षणिक होता है।

बोअर तथा हिलगार्ड (1981)—के अनुसार ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हैं कि दण्ड आक्रामक व्यवहार को प्रभावकारी रोक लगा सकता है यदि कुछ निश्चित दशाओं में दिया जाए (i) जब दण्ड तत्काल दिया जाय–आपत्तिजनक व्यवहार घटित होते ही दण्ड देना प्रभावकारी होता है, (ii) इसकी (दण्ड) की गंभीरता–दण्ड का पर्याप्त प्रबल होना ताकि दण्ड के पात्र में विरुचि उत्पन्न हो, (iii) उच्च प्रायिकता (high probability)—हर बार आपत्तिजनक व्यवहार के घटित होने पर दण्ड दिया जाना आवश्यक है। दूसरे यह कि लोग अन्य लोगों के प्रतिफल (outcome) को देखते हैं। उदाहरण के लिए कानून में सन्देह लाभ (benifit of doubt) में आक्रामकता करने वालों के छूट जाने का प्रेक्षण कर अनेक लोग

पुर्नबलन का अनुभव करते और आक्रामकता दिखाते हैं। भारत के विपरीत अरब देशों में आक्रामक व्यवहार पर भरे बाजार या सार्वजनिक स्थलों पर कठोर दण्ड के कारण आक्रामक एवं हिंसक व्यवहार का सापेक्षिक घटनाक्रम न्यून होना दण्ड के प्रभावकारी होने का एक ज्वलन्त प्रमाण है। ऐसा विचार व्यक्त करते हुए बैन्डूरा (Bandura, 1977) ने निष्कर्ष प्राप्त किया कि यदि व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को उनके आक्रामक व्यवहार पर दण्डित होते देखता है तो स्वयं आक्रामकता से बचने का प्रयास करता है। अनेक समाजों में (जिसमें भारत भी है) आक्रामक व्यवहार को दण्डित होने में उपर्युक्त तीनों दशाएँ पूरी नहीं होती–मुकद्दमें के फैसले में कई-कई वर्ष लगने से दण्ड प्रभावकारी नहीं होता। प्रायः हिंसा करने पर पाँच साल का समय न्याय प्रक्रिया में लगने के कारण यदि दण्ड मिलता भी है तो प्रभावहीन हो जाता है।

5. **विसंगत अनुक्रियाएँ** (Incompatible Responses)—विसंगत अनुक्रियाओं से तात्पर्य परानुभूति (Empathy), हल्की कामुकता तथा हास्य (mild sexual arousal & humour) आदि कारकों के द्वारा आक्रामकता को नियंत्रित करने के प्रयास किए जाते हैं। एक सामान्य सिद्धान्त के अनुसार एक समय में अथवा एक साथ दो विसंगत अनुक्रियाओं या विसंगत सांवेगिक दशाओं की अनुभूति असंभव है। इस सिद्धान्त को आक्रामकता पर लागू करने में आक्रामकता की विसंगत अनुक्रियाएँ या सांवेगिक दशाएँ उत्पन्न करके आक्रामक व्यवहार की संभावना घटायी जा सकती है। शोध प्रमाणों से कुछ ऐसे संकेत मिले हैं कि आक्रामक व्यवहार/क्रोध उत्पन्न होने पर यदि परानुभूति, हास्य एवं हल्की कामुकता उद्दीपित करने पर व्यक्ति की आक्रामकता घट जाती है। ऐसे प्रमाण बैरन (Baron, 1971,1983), रामीरेज, ब्रायन्ट, तथा जिलमैन (Ramirez, Bryant, Zillman 1983) आदि ने दिए हैं। इनका निष्कर्ष है कि क्रुद्ध व्यक्ति को आक्रामकता से विचलित करना (getting angry individuals "off the aggressive track") बहुधा आक्रामक और हिंसक व्यवहार को रोक सकती है। प्रसन्न और सुखद मुद्रा में व्यक्ति के आक्रामक एवं हिंसक कार्य / व्यवहार करने की संभावना न्यून होती है।

6. **अनाक्रामक माडलों का प्रेक्षण** (Exposure to non aggressive models)—सामाजिक अधिगम उपागम के अनुसार यदि आक्रामक माडल्स का प्रेक्षण आक्रामकता को बढा सकता है तो उसी प्रकार अनाक्रामक की उपलब्धता और बालकों द्वारा उनका प्रेक्षण बालकों एवं वयस्कों में आक्रामकता को घटाने में प्रयुक्त हो सकता है। बैरन (Baron, 1972) डोनर्स्टीन एवं डोनर्स्टीन (Donnerstein & Donnerstein, 1976)। इनके अध्ययनों में जिन व्यक्तियों को अनाक्रामक माडल्स दर्शाए गए, ने इस अनुभव से वंचित व्यक्तियों की अपेक्षा न्यून

स्तरीय आक्रामकता का प्रदर्शन किया। ऐसे प्रमाणों से संकेत मिलता है कि तनाव-पूर्ण और धमकीपूर्ण परिस्थितियों में अनाक्रामक माडलों को स्थापित कर हिंसा को किसी मात्रा में नियंत्रित किया जा सकता है।

7. **सामाजिक कौशलों में प्रशिक्षण** (Training in social skills)– दूसरों के साथ समायोजित करना तथा सामाजिक कौशलों में प्रशिक्षण के द्वारा आक्रामकता को घटाया जा सकता है। अनेक व्यक्ति आक्रामक व्यवहार इस-लिए करते हैं क्योंकि सामाजिक कौशलों का अभाव होता है। वह सम्प्रेषण में अकुशलता के कारण दूसरों को अपनी इच्छाएँ व्यक्त नहीं कर पाते, आत्माभिव्यक्ति की खुरदरी शैली, और दूसरों की सांवेगिक दशाओं को व्यक्त करने वाले संकेतों के प्रति असंवेदनशील होते हैं। इसके परिणामस्वरूप वह तीव्र कुण्ठा अनुभव करते हैं और ऐसी बातें या आचरण करते हैं कि उनके आस-पास मौजूद लोगों को क्रोध आता है। ऐसे साक्ष्यों की संख्या बढ़ रही है जो संकेत देती है कि इन सामाजिक कौशलों के अभाव वाले लोग अधिकांश समाजों में हिंसक व्यवहारों की घटनाक्रम में वृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं (Toch, 1980, 1985)। अतः आवश्यक सामाजिक कौशलों के विकास द्वारा आक्रामकता में कमी लायी जा सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विधियों के द्वारा समाज में व्याप्त आक्रामकता एवं हिंसक व्यवहार को किसी मात्रा में नियंत्रित किया जा सकता है।

अध्याय 25

परोपकार, सहायतार्थ व्यवहार : समाजोपयोगी व्यवहार

Altruism, Helping Behaviour : Prosocial Behaviour

राइट्समैन (Wrightsman, 1964)—के अनुसार दार्शनिकों, लेखकों, धर्मशास्त्रियों तथा समाजवैज्ञानिकों का विश्वास है कि मानव स्वभाव की छः मौलिक विमाएँ होती हैं। ऐसी मान्यता है कि यह विमाएँ अन्य व्यक्तियों की विशेषताओं के मापन के मूलभूत आधार प्रदान करती हैं। मानव स्वभाव की सबसे महत्वपूर्ण और आकर्षक विमा परार्थ बनाम स्वार्थ (Altruism Versus Selfishness) कहलाती है। मानव स्वभाव के विषय में हमारे विचार और विश्वास विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों में परिवर्तित होते हैं। इस प्रसंग में ई० एल० फ्रायड के दृष्टिकोण का उल्लेख उचित होगा, "कुछ अपवादों के अतिरिक्त, शेष मनुष्यों का स्वभाव निरर्थक है (**With a few exceptions, human nature is worthless**)। निःसन्देह यह मानव स्वभाव का अत्यन्त निराशावादी दृष्टिकोण है। किन्तु फ्रायड (E.L. Freud) ऐसा अकेला समाजवैज्ञानिक नहीं था। अनेक विख्यात लेखकों की कृतियों में यही गूँज सुनाई देती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जब कभी अपने तथा अन्य व्यक्ति/व्यक्तियों की रुचियों और उद्देश्यों में संघर्ष होता है तो बहुधा व्यक्ति अपने उद्देश्यों, रुचियों आदि के अनुरूप कार्य करते हैं। इसी विचार धारा का समर्थन करते हुए मैकयावेली (Machiavelli, 1950) ने अपनी सुविख्यात पुस्तक "Discourses" में लिखा है कि, "हमें यह मानकर चलना चाहिए कि सभी मनुष्य बुरे स्वभाव के हैं" (**"we must start with assuming that all men are bad and ever ready to assume to their vicious nature."**) विख्यात दार्शनिकों—जैसे हाब्स (Hobbes) नित्शे (Neitsche) ने भी मानव स्वभाव के बुरे होने का उल्लेख किसी न किसी रूप में किया था। इसका निहित अभिप्राय यह है कि मानव के स्वभावतः स्वार्थी होने से परहित या परार्थ के लिए संभवतः कोई गुंजाइश नहीं मालूम होती।

प्लेटो पहला आरंभिक विचारक था जो किसी रूप में यह मानता था कि मानव के स्वार्थी स्वभाव को उपयुक्त शिक्षा, उचित प्रशिक्षण और मानव स्वभाव के पुर्न-

निर्माण (reshaping of human nature) द्वारा संशोधित किया जा सकता है। उसके अनुसार मनुष्य अपनी स्वार्थी और अहंकारी प्रवृत्तियों के बावजूद भी दूसरों के हित के बारे में सोच सकता है। उसने परार्थवाद (altruism) के अस्तित्व के दो कारण बताए। प्रथम, लोग दूसरों की सहायता करते है, क्योंकि ऐसा न करने से उनकी विश्वसनीयता तथा इज्जत कम होती है, दुःख होता है तथा समाज की मान्यता एवं अनुमोदन दाव पर लग जाता है जिसकी उन्हें सन्तुष्ट और प्रसन्न जीवन बिताने के लिए आवश्यकता होती है। प्लेटो के दूसरे तर्क जिसमें उसके सुविख्यात शिष्य अरस्तू का भी योगदान था, के अनुसार व्यक्तिकता (individuality) की प्राप्ति दूसरों के साथ बौद्धिक, स्नेहपूर्ण और सौन्दर्यपूर्ण मिलाप (union) में संभव है।

भारतीय परम्परा में परोपकारी व्यवहार (altruistic behaviour) का सर्वदा से विशेष महत्व रहा है। भारतीय संस्कृति परोपकार की गाथाओं से भरी पड़ी है। महर्षि दधीच, राजा रन्ति देव, महात्मा बुद्ध, पद्मा धाई, महात्मा गांधी और वर्तमान में मदर टिरेसा इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। राष्ट्र कवि मैथिली शरण गुप्त ने कहा है :—

यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

किसी भारतीय शायर ने कहा है :—

अपने लिये तो सब ही जीते हैं इस जहाँ में,
है जिन्दगी का मकसद औरों के काम आना।

आशावादी दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुये समाज शास्त्री मानते हैं कि परोपकार समाप्त नहीं हुआ है। विल्सन (Wilson, 1975) पशु जगत से परोपकार के अनेक उदाहरण देता है। चींटियाँ तथा दीमक अपने बोंसले में घुसपैठ करने वालों से सुरक्षित रखते हैं चाहे उसकी कीमत उन्हें अपनी जान से चुकानी पड़े। मधुमक्खियाँ प्रत्येक उस व्यक्ति को डंक मारती है जो उनके छत्ते को छेड़ता है और इसमें अपनी जान भी दे देती हैं। परोपकार भाव न होता तो चींटियाँ, मधुमक्खियाँ आदि छत्ते की सुरक्षा में प्राण को खतरे में क्यों डालती ? समाज शास्त्रियों के अनुसार यदि परोपकार का अस्तित्व अब भी है तो समूह के लिये जीवन रक्षक (Survival) मूल्य के कारण है।

प्लेटो का दृष्टिकोण कि लोग दूसरों की सहायता अपने हितों की रक्षा के लिए करते हैं उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक समाज वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों द्वारा समर्थित है। अगस्ट कोम्त (August Comte, 1875), मिल्ल (Mill, 1863), स्पेन्सर (Spencer 1872), तथा बीसवीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिक मैकडूगल (Mc

Dougall, 1908) आदि ने प्लेटो के विचारों से सहमति व्यक्त की। उनके समक्ष मुख्य प्रश्न यह था "क्या वास्तविक परोपकार का मानव स्वभाव में अस्तित्व है ?" (1920) के आस-पास व्यवहारवाद या मनोविश्लेषण पर आधारित अभिप्रेरणा सिद्धान्तों में मनुष्य परोपकार द्वारा अभिप्रेरित दृष्टिगोचर होने वाले मानव व्यवहार की अहंकारी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अनेक आधुनिक सिद्धान्त मानव के अहंकारी स्वभाव का उल्लेख करते हैं, क्योंकि उनकी अवधारणा यह है कि मनुष्य जो कुछ भी करते हैं उसका अन्तिम लक्ष्य स्वार्थ सिद्धि है। मानव स्वभाव की इस व्याख्या को अनदेखा करना कठिन है।

मानव व्यवहार के अहंकारी व्याख्या का अनेक दशकों तक प्रभाव रहा जो परोपकारी प्रतीत होने वाली अभिप्रेरणा की उत्पत्ति परानुभूतिक संवेग के आधार पर कर सकती है। सहायता की आवश्यकता वाले व्यक्ति की मदद आपने क्यों की ? मानलें आपको उसकी दशा से दुःख हुआ और उसकी पीड़ा दूर करने के लिए आपने उसकी सहायता की। किन्तु संभव है आपकी परोपकारी चिन्ता का अन्तिम लक्ष्य आपको स्वयं अपनी चिन्ता को घटाना रहा हो। ऐसी व्याख्या के अनुसार आपका सहायतापरक व्यवहार परोपकार नहीं कहलाएगा। इसे एक नैमित्तिक या साधनपरक अहंकारी अनुक्रिया (instrumental egoistic response) कह सकते हैं। अतः अनेक बार हम अपने कष्ट को घटाने के लिए दूसरों की सहायता करते हैं क्योंकि वैसा न करने से हमें दुःख होता है।

परोपकार का अर्थ

(Meaning of Altruism)

शब्द (altruism) लैटिन शब्द (alter) से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'अन्य'। अतः इसका तात्पर्य सामान्य रूप से, दूसरों की ओर उन्मुखता (orientation toward other) से समझा जाता है। परोपकार का अभिप्राय ऐसे कार्यों से है जो दूसरों को लाभ पहुँचाए। स्टाब एवं विस्पे (Staub & Wispe, 1978, Wispe, 1978) के अनुसार, "यह क्रियाएं दूसरों के भौतिक, और मनोवैज्ञानिक भलाई प्रदान करने, कायम रखने और अधिक उत्तम बनाने के लिये की जाती हैं।" ("These acts are aimed at producing, maintaining or improving the physical and psychological welfare and integrity of others") परोपकारी व्यवहार इतना व्यापक है कि इसमें रुचि का प्रदर्शन, समर्थन और सहानुभूति, दूसरों का पक्ष लेना, उदारतापूर्ण क्रियाएँ, स्वैच्छिक क्रियाएँ, वंचितों के अधिकारों की रक्षा, आदि क्रियाएँ प्रमुख हैं। मर्फी, एल० बी० (Murphy, L. B. 1937) के अनुसार यह सहायता करने की इच्छा है।

टीडेशी, लिण्ड्सकोल्ड तथा रोजेनफेल्ड (Tedeschi, Lindskold and Rosenfeld, 1985) के अनुसार, इसमें दूसरों के भलाई का निःस्वार्थ भाव निहित होता है (It is an unselfish concern for welfare of others.) निःस्वार्थ भाव से अन्य व्यक्तियों की सहायता करना ही परोपकार है।

बैरन तथा बायर्न (Baron and Byrne, 1979) ने कहा है·····जब आप किसी को सहायता देकर उस कार्य से स्वयं स्पष्ट लाभ उठाते हैं तो आप का व्यवहार आपके अपने स्वार्थ से सम्बद्ध कहा जाएगा। अतः आप किसी विशेष श्रेय के पात्र नहीं कहे जायँगे। इसके विपरीत जब आप किसी की सहायता करके इससे स्वयं कुछ लाभ नहीं प्राप्त करते तो आप परोपकारी कहे जायगें और प्रशंशा के पात्र होंगे (".....if you provide help to some one when you obviously benefit from the act, you are seen as behaving in your own self interest; therefore, you don't deserve any special credit. In contrast, if you provide help when you gain nothing from it, you are seen as altruistic and deserving admiration.")

परोपकार निःस्वार्थ कि न स्वार्थ पूर्ण होता है। यैरो, स्कॉट तथा वैक्सलर (Yarrow Scott and Waxler 1973) ने संकेत दिया है कि परोपकार कोई विशेष प्रकार का व्यवहार नहीं है, वरन् इसमें विविध प्रकार की अनुक्रियाएँ शामिल हैं जैसे—सहायतापरक, भागग्राहिता विषयक, बचावपरक, सहानुभूतिपरक, तथा ऐसी अन्य ("Altruism is not a specific form of behaviour, rather, it includes a diversity of responses helping, sharing, resening, sympathising and undoubtedly more.")

संबोधीकरण (Conceptualizations)—प्रथम, परोपकार के पुरस्कार-मूल्य के अनुसार परोपकार के अर्थ का उल्लेख करता है, अर्थात वह व्यवहार परोपकार कहा जायगा। जिसमें व्यक्ति सहायता के द्वारा निहित मूल्य से बहुत कम प्राप्त करता है यदि परोपकारी व्यवहार की कीमत अधिक हो सकती है तो परोपकार कर्त्ता स्वयं को नुकसान पहुँचा रहा है या खतरे में डाल रहा है। उदाहरण के लिये किसी डूबते को निकालने/बचाने हेतु पानी में कूदने में।

दूसरे संप्रत्ययीकरण के अनुसार दूसरों की सहायता करना व्यक्ति का नैतिक दायित्व है। यदि कोई व्यक्ति डूबते व्यक्ति को बचाने हेतु इच्छा न रहते हुए भी नदी में कूद पड़ता है क्योंकि वह इसे अपना नैतिक कर्त्तव्य मानता है, तो उसका व्यवहार परोपकार कहा जाएगा। किन्तु यह दृष्टिकोण परोपकार और नैतिक व्यवहार में अन्तर नहीं करता।

तीसरा संप्रत्ययीकरण परोपकार की पहचान इस प्रश्न के आधार पर करता है कि "कर्ता जो सहायतार्थ व्यवहार करता है, वह क्यों करता है? लीड्स (Leeds, R., 1963) के अनुसार परोपकारी कार्य, (i) का उद्देश्य लाभान्वित होना नहीं वरन् यह अपने आप में एक उद्देश्य/लक्ष्य है। (ii) ऐच्छिक होता है, और (iii) इससे अन्य की भलाई होती है।

एल० जे० सेवरी (L. J. Severy, 1972) ने तीनों संप्रत्ययीकरणों का खुलासा करते हुए कहा है कि "किसी की सहायता करके बदले में कुछ पाने की प्रत्याशा स्वयं अच्छा महसूस करना, और किसी निजी उद्देश्य को उपार्जित करना है" ("One could help another person and expect some remuneration expect to feel good, expect to further his own cause".)

अपनी कामचलाऊ परिभाषा में विस्पे (Wispe) ने सुझाया है, "ऐसे व्यवहार का उद्देश्य केवल दूसरों का भला करना नहीं, उनके लक्ष्यों को अपना लक्ष्य मानने तक भी नहीं वरन् उनके दुःख, कुण्ठा और कष्ट या पीड़ा में भागीदारी भी है" ("This kind of behaviour intends not only the well being of another person but also has willingness to share however briefly not only the others end in view but even his pain, frustration and sorrow".)

सेवरी (Severy, L. J., 1972) ने ठीक कहा है, कि "परोपकार, अन्य व्यक्ति की मदद की आवश्यकता से अभिप्रेरित सहायतार्थ व्यवहार है। अतः परोपकारी व्यवहार उद्देश्यपरक (intentional), अपने आप में एक लक्ष्य है, और यह अन्य व्यक्ति की जरूरत के कारण किया जाता है।" ("Altruism is helping motivated by other person's being in need. Hence, altruistic behaviour is intentional, is an end in itself and is done because other person needs it.")

परोपकार में हम किसी की सहायता इसलिए करते हैं कि उसे सहायता की जरूरत है। सेवरी के परोपकार के इस संप्रत्ययात्मक विश्लेषण से क्रेब्स तथा विस्पे (Krebs and Wispe) निम्न बिन्दुओं पर सहमत हैं—

(i) परोपकार का मूल निर्धारक उसका उद्देश्य (intention) है। नीयत में अन्य की भलाई करने का भाव का होना परोपकार के लिये आवश्यक है। यह ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्ति की सहायता की जरूरत के प्रत्यक्षण पर निर्भर है। यदि परोपकार किसी पुरस्कार के लिए किया जाये तो वह परोपकार नहीं होगा।

(ii) आत्म त्याग (self sacrifice) का ऐसे व्यवहार में होना अनिवार्य है। किन्तु सेवरी फिर भी इस बात पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं कि दूसरों के दुःख में भागीदारी की इच्छा परोपकार के लिये आवश्यक है ?

(iii) वह इससे सहमत हैं कि समाजोपयोगी व्यवहार (prosocial behaviour) एक ध्रुवीय पद है जिसमें परोपकार, सहायतार्थ व्यवहार जैसे अन्य पद सम्मिलित हैं। सेवरी के अनुसार समाजोपयोगी व्यवहार के बाद इस वर्ग में अन्य व्यापक शब्द परोपकार है जिसमें नीयत में अन्य की मदद का भाव होना आवश्यक है।

परोपकार तथा समाजोपयोगी व्यवहार के सम्बन्धों को उपर्युक्त बिन्दु परिभाषित करता है। स्टाब (Staub, 1978) विस्पे (Wispe, 1972) के अनुसार समाजोपयोगी व्यवहार वह है जिससे दूसरे लाभान्वित होते हैं और जिसके सामाजिक परिणाम धनात्मक होते हैं ("Prosocial behaviour, is usually defined as behaviour that benifits others or has positive social consequences.") यह पद–समाजोपयोगी, समाज विरोधी का विलोम है। यदि किसी मुसीबत में घिरे व्यक्ति की सहायता इस आशय से की जाये कि किसी प्रकार का लाभ मिलेगा, प्रशंसा, मान्यता एवं समाज का अनुमोदन प्राप्त होगा तो मनोविज्ञान के अन्तर्गत उसे परोपकार, धनात्मक सामाजिक व्यवहार की संज्ञा नहीं दी जायेगी।

सहायतार्थ व्यवहार के निर्धारक
(Determinants of Helping Behaviour)

दूसरों की सहायता करना एक सामान्य सामाजिक व्यवहार है—एक अंजान व्यक्ति समय पूछता है और आप बता देते हैं, कोई अपने बच्चे का गृहकार्य पूरा करने में सहायता करता है। कभी-कभी दुर्घटना स्थल पर रुक कर सहायता प्रदान करते हैं। इन सब में हमारा आशय दूसरों की समस्या या कष्ट के निवारण में बिना किसी निजी स्वार्थ मदद करना है।

सामान्य सहायतार्थ व्यवहार में सहायता की आवश्यकता तथा उपयुक्त सहायतापरक व्यवहार दोनों स्पष्ट होते हैं। एक अन्य प्रकार की सहायता भी है जो बहुत सामान्य (common) नहीं पर महत्वपूर्ण होती है—आपात स्थिति में सहायता (Helping in emergency)।

आपात्तिक (emergency) सहायता पर शोध कार्य, न्यूयार्क सिटी की एक अत्यन्त नाटकीय घटना से उत्प्रेरित हुआ। यह घटना (1964) के मौसम-बहार की है जिसमें किट्टी जेनोवीस (Kitty Genovese) को प्रातः 3 बजे उसके अपार्टमेण्ट काम्पलेक्स के सामने किसी ने छूरे से बार-बार कातिलाना हमला किया।

किट्टी मदद के लिए चिल्लाती रही किन्तु 'बचाओ-बचाओ' की ध्वनि व्यर्थ गई। आसपास के फ्लैट वाले 38 व्यक्तियों ने उसकी गुहार को सुना और एक ने तो अपनी खिड़की से छूरा मारते भी देखा पर किसी ने बेचारी किट्टी की सहायता नहीं की। यही नहीं किसी ने पुलिस के बुलाने का भी तत्काल प्रयास नहीं किया। अगर किसी ने हस्तक्षेप किया होता तो उस महिला के प्राण बच सकते थे (Seedman & Heliman, 1974) अनेक लोगों के लिए यह महानगरीय जीवन के अमानवीयकरण (dehumanizing) का एक स्पष्ट उदाहरण है।

यह घटना कोई अनहोनी नहीं है। भारतवर्ष में और विशेषकर उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में लेखकों के संज्ञान में ऐसी न जाने कितनी हत्या लूटमार की घटनाएँ हैं जिनमें प्रत्यक्षदर्शी सहायता परक व्यवहार तो दूर की बात है गवाही तक देने से बहुधा लोग कतराते हैं। बहुत थोड़े गवाही के लिये तैयार होते हैं। ऐसा क्यों होता है ? किस परिस्थिति में सहायतार्थ व्यवहार घटित होते हैं और किस तरह की परिस्थिति में नहीं होते ? फिर क्या एक ही स्थिति में कुछ लोग कोई सहायतापरक व्यवहार करते और अन्य नहीं करते हैं ? समाज मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से इन प्रश्नों अर्थात् सहायतार्थ व्यवहार के निर्धारकों का पता लगाया है। इनमें परिस्थितिपरक, समाजपरक और व्यक्तिपरक निर्धारक प्रमुख हैं जिनकी चर्चा यहाँ की जाएगी।

संज्ञानपरक माडल
(Cognitive Model)

सहायतार्थ व्यवहार में निहित मनोवैज्ञानिक प्रक्रमों को समझना आवश्यक है क्योंकि इनके द्वारा इसके निर्धारकों की पहचान सुगम हो जाएगी। किट्टी जेनोवीस गोचर के समान एक प्रायोगिक दशा का निर्माण डार्ली तथा बिब लातने (Darley and Bib Latane, 1968) ने किया। इन्होंने सहायतार्थ व्यवहार द्वारा हस्तक्षेप का निर्णय और उसके संज्ञानात्मक माडल का विकास किया। सहायतार्थ हस्तक्षेप में पाँच अवस्थाएँ थी जिनमें सहायता न करने के निर्णय की संभावना हो सकती थी। इन चरणों को निम्न चित्र में दर्शाया गया है।

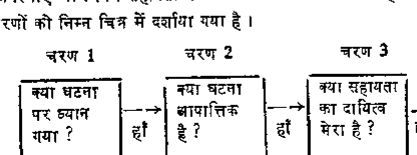

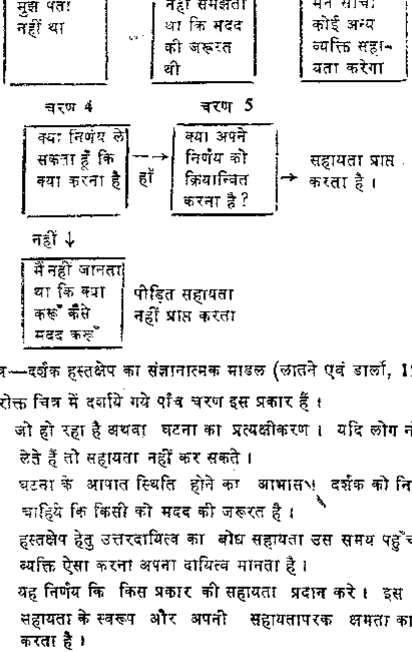

चित्र—दर्शक हस्तक्षेप का संज्ञानात्मक माडल (लातने एवं डार्ली, 1968)

उपरोक्त चित्र में दर्शाये गये पाँच चरण इस प्रकार हैं :

1. जो हो रहा है अथवा घटना का प्रत्यक्षीकरण। यदि लोग नोटिस नहीं लेते हैं तो सहायता नहीं कर सकते।
2. घटना के आपात स्थिति होने का आभास। दर्शक को निर्णय करना चाहिये कि किसी को मदद की जरूरत है।
3. हस्तक्षेप हेतु उत्तरदायित्व का बोध सहायता उस समय पहुँचती है जब व्यक्ति ऐसा करना अपना दायित्व मानता है।
4. यह निर्णय कि किस प्रकार की सहायता प्रदान करे। इस समय वह सहायता के स्वरूप और अपनी सहायतापरक क्षमता का मूल्यांकन करता है।
5. निर्णय को क्रियान्वित करना।

प्रत्येक अवस्था में हस्तक्षेप के पहले जारी प्रक्रमों को अनेक प्रकार के कारक प्रभावित करते हैं। यह निर्धारक निम्न वर्गों में रखे जाते हैं।

1. परिस्थितिपरक 2. सहायकपरक तथा, 3. व्यक्तिपरक निर्धारक।

1. परिस्थितिपरक निर्धारक (*Situational determinants*)—सहायता करने या न करने के निर्णय के पूर्व वह असाधारण घटना वाली परिस्थिति का मूल्यांकन करता है और यह सुनिश्चित करता है कि घटना आपातस्थिति उत्पन्न

कर सहायतार्थ हस्तक्षेप के लिए कितनी उपयुक्त या अनुपयुक्त है। जब ऐसे संकेत परिस्थिति में विद्यमान होते हैं जिनसे यह महसूस होता है कि अगर मदद न की गई तो मुसीबत जदह व्यक्ति की दशा और खराब हो सकती है तो वह परिस्थिति सहायतार्थ हस्तक्षेप के लिये उपयुक्त मानी जाती है। ऐसे संकेतों में "सहायता की गुहार" तथा अन्य व्यक्तियों की मौजूदगी प्रमुख हैं।

(1) **सहायता की गुहार**—संकट में फँसे व्यक्ति की चीख पुकार; चिल्लाना, पुकारना या मदद की गुहार आदि के द्वारा आपात स्थिति का संज्ञान होता है। आपात सूचक अनुरोध (मैं बीमार हूँ कृपया कार में लिफ्ट दें) पर 64% तथा आपात रहित अनुरोध (मुझे अमुक स्थान पर पहुँचा दें) पर केवल 45% कार वालों ने सहायतार्थ व्यवहार किए (शाटलैण्ड एवं हाउस्टन 1979)।

करुण स्वर में सहायतार्थ चिल्लाने और दर्द भरी आवाज में मदद के लिए चिल्लाने पर व्यक्ति को तत्काल आपात स्थिति का प्रत्यक्षीकरण होता है और सहायता प्रदान करने की संभावना बढ़ जाती है। क्लार्क तथा वर्ड, (1972, 1974) ने देखा कि पास के कमरे से चीख सुनकर अधिक लोग सहायतार्थ पहुँचे। गाएर्टनर तथा अन्य (Gaertner et al. 1977) ने भी ऐसे ही परिणाम प्राप्त किए।

(ii) **अन्य लोगों की उपस्थिति**—अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति सहायतार्थ व्यवहार के होने या न होने को प्रभावित करती है। आपात स्थिति की गंभीरता को सभी लोग तत्काल नहीं समझ पाते। इस परिस्थिति में उपस्थित व्यक्ति यह देखते हैं कि अन्य लोग क्या कर रहे हैं। व्यक्ति सर्वप्रथम स्थिति की गम्भीरता का आकलन करता है, तब कहीं यह फैसला करता है कि उसे इसमें हाथ लगाना है अथवा नहीं। ऐसी हालत में लोग दूसरों के निर्णय पर निर्भर करते हैं और कभी-कभी दुर्घटना स्थल पर मौजूद सभी व्यक्ति मात्र मूक दर्शक के समान उपस्थित रहते हैं और हस्तक्षेप नहीं करते। वे मूर्खों की तरह स्थिति के प्रति अजागरुक तमाशाई होते हैं।

किट्टी जेनोवीस की न्यूयार्क में निर्मम हत्या जिसे 38 पड़ोसियों ने देखा किन्तु किसी ने हस्तक्षेप नहीं किया, मनुष्य के सहायतापरक एवं परोपकारी व्यवहार पर जो प्रश्न चिन्ह लगाया, उससे प्रभावित होकर लाताने एवं डार्ली (1968) नामक दो समाज मनोवैज्ञानिकों ने एक परिस्थिति का निर्माण किया। कालेज के छात्रों (पुरुष) ने जब वे एक प्रश्नावली की पूर्ति कर रहे थे परीक्षण कक्ष के रोशनदान से आती हुई दुर्गन्धित धुएँ की महक का अनुभव किया। छात्र या तो अकेले थे या प्रयोगकर्ता के दो निष्क्रिय सन्धिबद्ध प्रयोज्यों के साथ थे, जिन्होंने धुएँ को देखा पर ध्यान न देते हुए अपने लेखन कार्य में जुटे रहे। जो दो

अन्य असंवेदनशील (जानबूझकर) प्रयोज्यों के साथ रहने वाले छात्र द्वारा धुएँ की सूचना देने की संभावना को घटा दिया। किन्तु जो छात्र अकेले प्रश्नावली की पूर्ति कर रहे थे, उनमें से 75% तथा अन्य दो तटस्थ प्रयोज्यों के साथ कार्यरत छात्रों में से मात्र 10% छात्रों ने ही धुएँ की सूचना प्रयोगकर्त्ता को दी। यहाँ तक कि एक दशा में तीन तटस्थ दर्शकों में से मात्र 38% ने धुएँ की सूचना दी। उन्होंने इसे दर्शक प्रभाव (Bystander effect) की संज्ञा दी, जिसका तात्पर्य यह है कि अन्य दर्शकों की उपस्थिति में अकेले होने की अपेक्षा व्यक्ति द्वारा सहायता करने की संभावना न्यून होती है।

डार्ली एवं लाताने (1968) ने एक अन्य अध्ययन द्वारा भी दर्शक प्रभाव को प्रदर्शित किया। स्थिति में उपस्थित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि से सहायता की आवृत्ति तथा गति घटी। दर्शक प्रभाव एक प्रमुख गोचर है जिसकी सहायता से किट्टी की हत्या की घटना की व्याख्या हो सकती है। लाताने और डार्ली (Latane and Darley, 1970), लाताने, निदा एवं विल्सन (Latane, Nida and Wilson, 1981) के अनुसार इसका कारण तीन सामाजिक प्रक्रियाएँ हो सकती है : सामाजिक प्रभाव प्रक्रिया के द्वारा दर्शक अन्य उपस्थित व्यक्तियों पर परिस्थिति की व्याख्या के लिए निर्भर करते हैं। उनके अनुसार यदि अन्य सक्रिय होकर कुछ नहीं करते तो इसका अर्थ है कि सहायता की आवश्यकता कोई खास नहीं है। दूसरा कारक दर्शक अवरोध (audience inhibition) अथवा मूल्यांकन चिन्ता (evaluation apprehension) कहलाता है, जिसका अभिप्राय यह है दर्शक इसके प्रति चिन्तित होता है कि अन्य लोग उसका कैसा मूल्यांकन करेंगे। अन्त में वह प्रक्रिया है जिसे लाताने दायित्व विसरण (Diffusion of responsibility) कहा है। आपात स्थिति में अकेले होने पर व्यक्ति अपने दायित्व को महसूस करके सहायता करता है किन्तु दूसरों की मौजूदगी में सहायता का दायित्व किसी एक व्यक्ति का नहीं होता वरन् सभी जिम्मेदार होते हैं। सहायता का दायित्व बँट जाता है और विसरित (diffuse) हो जाता है।

2. **सहायतार्थ व्यवहार के समाजपरक निर्धारक (Social determinants of helping behaviour)**—प्रकृति ने मनुष्य को एक सामाजिक जीव बनाया है। अतः समाज में जन्मे और पले-बढ़े प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामाजिक व्यवहार के नियमों का सीखना आवश्यक है। यह नियम अर्थात् सामाजिक मानक (Social Norms) सामाजिक अधिगम तथा समाजीकरण द्वारा सीखे जाते हैं। सहायतार्थ व्यवहार समाज के उस मानक का अंग है जिसे सामाजिक दायित्व (Social responsibility) तथा पारस्परिकता मानक कहा जाता है। जिन सहायतापरक व्यवहारों से नुकसान की शंका होती है, व्यक्ति उन्हें करना नहीं

चाहता। व्यक्ति के व्यवहार, उसमें होने वाले लाभ और हानि से नियंत्रित होते हैं। लातानें तथा डार्ली (1970) ने भी इन दो सामाजिक मानकों सामाजिक दायित्व और पारस्परिकता को स्वीकार किया है। सामाजिक दायित्व मानक मुसीबत में फँसे व्यक्ति की मदद करना समाज के अन्य सदस्यों की जिम्मेदारी है। पारस्परिकता मानक मानक के अनुसार हर व्यक्ति दूसरों की सहायता से लाभान्वित होता है अतः मुनासिब समय पर सहायता के द्वारा वह एक सामाजिक ऋण को चुकता करता है।

(i) सामाजिक दायित्व (Social responsibility)—हर समाज में सामाजिक दायित्व के नियमों अथवा मानकों का चलन होता है—जैसे मुसीबत में फँसे हुये की मदद, सामाजिक भलाई के कार्यों में योगदान, असहाय एवं अनाथों की सहायता, बीमारों की सहायता आदि। सामाजिक दायित्व मानक के कारण लोग दूसरों की मदद करते हैं। सामाजिक विनिमय (Social exchange) सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार का आधार उसमें निहित लाभ और हानि है न कि दायित्व बोध।

यह प्रत्याशा कि सुविधा सम्पन्न व्यक्तियों को जरूरत मन्द लोगों की सहायता करनी चाहिये—सामाजिक दायित्व है। सामाजिक दायित्व के मानक के अनुसार जो हम पर निर्भर करते हैं, उनकी सहायता करनी चाहिये (बर्कोविज, 1972) बर्कोविज तथा डेनियल्स, (1963)। यह मानक, फेल्लनर तथा मार्शल (1981) के अनुसार, कर्त्तव्य का आभास कराता है, अर्थात् सहायता परक व्यवहार को व्यक्ति की नैतिक जिम्मेदारी मानता है। जो हम पर आश्रित हैं उनकी सहायता करना हमारा दायित्व एवं कर्त्तव्य है।

(ii) पारस्परिकता (Reciprocity)—पारस्परिकता मानक के अनुसार तुम्हें उनकी मदद करनी चाहिये जो तुम्हारी मदद करते हैं। गाउल्डनर (Gouldner, 1960) के अनुसार व्यक्ति उन्हीं की मदद करता है जो उसकी मदद कर कर चुके हैं। तात्पर्य यह है कि यह मानक दूसरों के साथ धनात्मक विनिमय को आरम्भ करता है। होमैन्स (Homans 1974) का विचार है कि व्यक्तियों में अधिकांश अन्तर्क्रियाओं में किसी प्रकार का विनिमय निहित होता है।

दूसरों के प्रति दायित्व की बाध्यता प्रत्यक्षित अभिप्रेरकों के प्रकार्य के अनुसार परिवर्तित होती है—जैसे उपलब्ध साधन, सहायता कर्ता द्वारा चुकाया गया मूल्य आदि। स्कोपलर ने कहा है कि लोगों को लौटाना चाहिये जो उन्होंने हमें दिया है (Schopler, 1970, "People should be paid back for whatever they give us".) काहन एवं टाइस (1973) ने देखा कि अन्य व्यक्ति से प्राप्त होने

वाली सहायता की मात्रा जितनी ज्यादा होती है उसी मात्रा में अर्थात् उनके प्रति उतनी ही मात्रा से सहायता परक व्यवहार व्यक्त होता है।

हमारा समाज पारस्परिकता के नियम के अनुसार ही लगभग सारे सामाजिक कार्य करता है। मरने-जीने, लेने-देने, शादी-विवाह सबमें पारस्परिकता देखने को मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा समाज ही पारस्परिकता पर टिका हुआ है। लोग शादी-विवाह में नवेद, उपहार आदि यह सोचकर देते हैं कि हमारे यहाँ वह भी कम से कम इतना अवश्य देगा। सामाजिक सम्बन्धों में हर-हर स्तर पर पारस्परिकता रची बसी हुई है, उसी प्रकार सहायता परक व्यवहार में भी इसकी प्रमुख भूमिका है। उपर्युक्त, सहायता परक व्यवहार की व्याख्या कुछ मनोवैज्ञानिक सामाजिक विनिमय (Social Exchange) के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। सामाजिक विनिमय सिद्धान्त सहायता के निर्णय को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या लाभ (पुरस्कार) एवं हानि के विश्लेषण के अनुसार करने का सुझाव दिया है (एप्स्टीन एवं हार्नस्टीन (1969) वैग्नर एवं ह्वीलर, (1969); डेविडिया तथा अन्य (1981)।

3. **सहायतापरक व्यवहार के व्यक्तिपरक निर्धारक (Individual determinants of helping behaviour)**—सहायता परक व्यवहार में व्यापक व्यक्तिगत भिन्नता पाई जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि सहायता करना या न करना व्यक्ति की अपनी विशेषताओं पर भी निर्भर करता है। कौन व्यक्ति किसको सहायता देगा या नहीं, व्यक्तिपरक कारकों द्वारा भी निर्धारित होता है। व्यक्तिगत भिन्नताओं के अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि किस प्रकार के लोग आपात स्थिति में सहायता प्राप्त करते हैं? सहायतापरक व्यवहार करने वालों में कौन विशेषताएँ प्रमुख होती है?

(i) **समानता**—मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति तथा सहायता देने वाले व्यक्ति के मध्य समानता एक प्रमुख व्यक्तिपरक कारक है। वेशभूषा की समानता (एक्सविलर तथा अन्य 1971), अभिवृत्ति समानता (बैरन, 1971), राजनैतिक दृष्टिकोण में समानता (एहुलर्ट एव अन्य, 1793) आदि को सहायतार्थ व्यवहार के लिये अनुकूल प्राप्त किया है। वाल्स्टर एवं वाल्स्टर (1963) ने समान मूल्य, विश्वास और अभिवृत्तियाँ वाले व्यक्तियों में सम्बन्ध बनाए रखना अधिक सुखप्रद होता है। समान व्यक्तियों से सम्बन्ध रखना प्रबलनकारी होता है। इन्हीं कारणों से समान प्रतीत होने वाले व्यक्तियों को सहायता देने के लिए अपेक्षाकृत अधिक उन्मुख होते हैं।

(ii) **पीड़ित व्यक्ति की प्रगति**—इसके प्रमाण मिले हैं कि लोग अपनी प्रजाति के अन्य लोगों को सहायता देने के लिए अधिक तत्पर होते हैं। (बेन्सन

तथा अन्य; 1976)। किन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसके विपरीत परिणाम भी प्राप्त किया है (बिकमैन, कामजान; 1973) विस्ये एवं फ्रेश्ले, (1973)। अतः इस प्रसंग में प्राप्त परिणाम परस्पर विरोधी हैं।

(iii) **सहायता करने वाले का व्यक्तित्व**—सहायतार्थ व्यवहार करने वाले की व्यक्तित्व की विशेषताएँ भी सहायतापरक व्यवहार को प्रभावित करती है। जो लोग अधिक समाजोन्मुख होते हैं उनसे सहायतापरक व्यवहार की अधिक अपेक्षा की जाती है। भारत की मदर टिरेसा एक पूर्ण परोपकारी हैं। उन्होंने अपने परोपकार के लिए कभी किसी पुरस्कार की अपेक्षा नहीं की (यद्यपि उन्हें विश्व के सर्वोच्च सम्मान प्रदान किये गये हैं)। आलम (1973) ने व्यक्तित्व लक्षणों तथा सहायता परक व्यवहार में धनात्मक सम्बन्ध प्राप्त किया है। उन्होंने दर्शाया है कि बाह्यगामी (outgoing) सांवेगिक रूप से परिपक्व, प्रभावशाली, उत्साही, नैतिक; दृढ़ सुपर ईगो, बोल्ड (bold), सामाजिक, चालाक, शंकाग्रस्त, उदार, नियन्त्रित, दृढ़ संकल्प शक्ति, तथा कुण्ठा आदि व्यक्तित्व लक्षणों वाले व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सहायतापरक व्यवहार करते हैं। उपर्युक्त विशेषताएँ सहायतापरक व्यवहार का निर्धारण करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि कुछ निश्चित व्यक्तित्व लक्षणों की उपस्थिति सहायतापरक व्यवहार के किये जाने का संकेत देती है।

(iv) **यौन भेद**—क्या यौन भेद भी सहायतापरक व्यवहार का निर्धारक है ? इस विषय में बहुत कम शोध हुए हैं, और जो उपलब्ध भी हैं उनमें पर्याप्त विसंगति देखी जाती है। हाफ़मैन (Hoffman, 1975) ने महिलाओं में सहायता परक व्यवहार की सापेक्षिक अधिकता के कुछ प्रमाण दिए हैं। मिडलास्की एवं ब्रियान (Midlarsky and Bryau, 1972) ने भी महिलाओं में पुरुषों की अपेक्षा सहायतापरक व्यवहार की अधिक प्रवृत्ति के प्रमाण दिए हैं। दूसरी ओर कुछ प्रमाण पुरुषों के पक्ष में भी उपलब्ध है (स्टाब एवं शेर्क, 1970, गुप्ता, 1980) आलम (1993) ने अपने अध्ययन में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में अधिक सहायता परक व्यवहार की प्रवृति प्रदर्शित की है।

(v) **अस्थायी मनोदशा** :—सहायतापरक परिस्थिति में व्यक्ति की मनोदशा, अनुभव तथा भावनाएँ भी उनकी अनुक्रियाओं को निर्धारित करती हैं। एक ही व्यक्ति की मनोदशा प्रत्येक समय एक जैसी नहीं रहती है। कभी वह बहुत प्रसन्न, कभी खिन्न; कभी दुखी एवं उदासीन होता है। सहायता करना या न करना बहुत कुछ व्यक्ति की तत्कालीन मनोदशा पर निर्भर करता है। मनोदशा तथा सहायता परक व्यवहार के सम्बन्धों का अनेक समाज मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन किया है (इजेन, 1970, इजेन, क्लार्क एवं श्वार्ट्ज, 1976)। जब व्यक्ति की

सोच धनात्मक होती है। उसमें आत्मकेन्द्रितता कम होती है, वह अच्छा और प्रसन्नचित होता है तो उससे सहायता की प्रत्याशा अधिक होती है, किन्तु जब वह स्वयं दुःखी व चिन्तित होता है तो उससे दूसरों की सहायता की प्रत्याशा कम होती है।

सहायता-परक व्यवहार के सिद्धान्त
(Theories of Helping-Altruistic Behaviour)

व्यक्ति सहायता क्यों करता है ? इसके साधन क्या हैं ? सहायतार्थ व्यवहार अथवा परोपकारी व्यवहार के विषय में तीन प्रकार के दृष्टिकोण प्रचलित हैं। प्रथम, के अनुसार इसके कारण जैविक या आनुवंशिक हैं। तात्पर्य यह है कि यह व्यवहार जैविक संरचना के कारण घटित होते हैं। इसके विपरीत मुख्य धारा के मनोवैज्ञानिक सहायतापरक व्यवहार को अधिगम जन्य मानते हैं और इस समाजीकरण का फल मानते हैं। तीसरे दृष्टिकोण वाले मनोवैज्ञानिक इस व्यवहार को जैविक संरचना तथा सामाजिक अधिगम के बीच अन्तःक्रिया का परिणाम मानते हैं।

1. जैविक सिद्धान्त (Biological theories)—यह दृष्टिकोण जीव-विज्ञान की एक नई शाखा समाज-जीव-विज्ञान (Sociobiology) की देन है, जो सामाजिक व्यवहार की व्याख्या के जैविक आधारों का अन्वेषण करता है। इसके अनुसार जैविक विकास का आधार जीवजनित (genetic) प्रतिस्पर्धा है। विभिन्न प्रजातियों के सदस्य अपनी सन्तति को जारी रखने के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। यह विकासवादी दृष्टिकोण है जो विकासवादी जीव विज्ञान के द्वारा सामाजिक व्यवहार की व्याख्या करता है। सामाजिक विकास की बुनियाद सहयोग है तथा जैविक विकास में प्रतिस्पर्धा निहित है। सामाजिक विकास के लिए स्वार्थ का परित्याग आवश्यक प्रतीत होता है अन्यथा सहयोगपूर्ण व्यवहार विलुप्त हो जाएगा। इसीलिए समाज परोपकार, उदारता, इमान्दारी, सहिष्णुता, त्याग और बलिदान के सामाजिक गुणों को महत्व देता है। जैविक विकास जो प्रतिस्पर्धा पर बल देता है वस्तुतः सामाजिक विकास के विपरीत प्रतीत होता है। सोशियोबियालोजी (Sociobiology) के अनुसार व्यक्ति के अतिजीवन (Survival) से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है समूह या प्रजाति का अतिजीवन (Survival)। इसी मान्यता के कारण समाज-जीव वैज्ञानिक (Sociobiologists) परोपकार या सहायतार्थ व्यवहार को समूह की वंशपरम्परा को कायम रखने का क्रियातंत्र समझते हैं।

सहायतापरक व्यवहार/परोपकार की व्याख्या में समाज-जीव विज्ञान में दो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए है—विल्सन (1975) का सन्बन्धी चयन सिद्धान्त

(Kin selection), और ट्रिवर्स (1971) का पारस्परिक परोपकार (reciprocal altruism) का सिद्धान्त ।

(i) सम्बन्धी चयन (Kin selection) सिद्धान्त—समाज जीव वैज्ञानिक परोपकारी व्यवहार की व्याख्या "Survival of the fittest genes" के द्वारा करते हैं मधुमक्खियाँ रानी मक्खी के लिए अपनी बलि तक दे देती हैं (Hamilton; 1964, Trivers & Hare, 1976) । सम्बन्धी चयन सिद्धान्त के अनुसार उद-विकास (evolution) में सबसे महत्वपूर्ण है "जीन्स की अति जीविता" (Survival of genes) जो सम्बन्धियों (Kins) में समावेशित होते हैं । तात्पर्य यह है किसी प्रजाति के सदस्यों की वंशपरम्परा तथा जैविक दृष्टि से समान सदस्यों की संततियों में पूरे तौर से प्रतिनिधारित होने की विशेषता (Wilson, 1975) । इसके अनुसार प्रजाति के सदस्य इस गुण को अधिकतम मात्रा में कायम रखने के लिए अपनी प्रजाति के लोगों को ही सम्बन्धी के तौर पर चुनते हैं तथा उनकी मदद करके उनकी अतिजीविता (Survival) को आगे ले जाते या चालू रखते हैं । मधुमक्खियों में मजदूर मक्खियाँ जो स्वयं बाँझ होती हैं रानी की रक्षा में प्राण तज देती हैं । वह जीन्स (genes) मजदूर मक्खी को बाँझ किन्तु परोपकारी बनाते हैं स्वयं उनके अतिजीवन की संभावना को नहीं बढाते । इस प्रकार परोपकार जैविक या आनुवंशिक है ।

(ii) पारस्परिकता सिद्धान्त (Reciprocity theory)—सम्बन्धी चयन सिद्धान्त द्वारा सगे सम्बन्धियों की सहायता की व्याख्या तो हो जाती है, पर अनेक व्यक्ति, अनेक बार अपरिचितों की सहायता क्यों करते हैं । इसकी व्याख्या ट्रिवर्स (Trivers, 1971) ने पारस्परिक परोपकार द्वारा की है । आप किसी की मदद में अपने जीवन को खतरे में डाल सकते हैं । जब एक व्यक्ति दूसरे की सहायता करता है तो समय आने पर वह दूसरा भी प्रथम की सहायता करता है । पारस्परिकता का आधार पुरस्कार हानि सूत्र है जिसके अनुसार व्यक्ति न्यूनतम मूल्य पर अधिकाधिक लाभ चाहता है । अतः वह सहायतापरक आपात स्थिति में न्यून हानि उठाकर अधिक मात्रा में परोपकार करता है । दूसरी ओर यदि पीड़ित या दुखी व्यक्ति को सहायता कम कर पाता है और स्वयं अधिक हानि सहन करता है तो इस दशा में सहायतापरक व्यवहार की संभावना कम होती है ।

यह सिद्धान्त सहायतापरक व्यवहार को जैविक संरचना का फल कहता है और आनुवंशिक गुणों के आधार पर सहायतापरक व्यवहार की उत्पत्ति व विकास की विवेचना करता है ।

2. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological theories)—इस वर्ग में

मुख्यतः दो प्रवर्ग के सिद्धान्त आते हैं—परम्परागत सिद्धान्त तथा आधुनिक सिद्धान्त।

(i) **परम्परागत मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Traditional psychological theories)**-इस प्रवर्ग में मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त अत्यन्त प्रमुख है जिसका प्रमुख अभिग्रह यह है कि मानव स्वभाव मूलप्रवृत्यात्मक अथवा जन्मजात रूप से स्वार्थ और आक्रामकता पर आधारित है। प्रश्न यह है कि यह परोपकार की व्याख्या कैसे कर सकता है? बहुत सुगमतापूर्वक नहीं कर सकता। कुछ मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से परोपकार एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा लोग अपने मानसिक संघर्षों और चिन्ताओं से अपनी रक्षा करते हैं। किन्तु यह उपागम इसे नकारता है कि हम वास्तव में दूसरों की फिक्र करते हैं। अन्य मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों ने अधिक विधेयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए यह समझने का प्रयास किया है कि व्यक्तित्व विकास में विधेयात्मक प्रभाव, कैसे स्वार्थी प्रेरकों की शक्ति को घटाते है और व्यक्ति में निःस्वार्थ मूल्यों को विकसित करते हैं (Ekstein, 1978)

फ्रायड का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त मूलतः एक व्यक्तित्व है जो उसने अपने मानसोपचार के एक अंग के रूप में विकसित किया। उसने व्यक्तित्व के तीन अंगों इदम (Id), अहम (Ego) और पराहम (Superego) में व्यवहार के नियंत्रण को लेकर निरन्तर संघर्ष का अभिग्रह प्रतिपादित किया था। जब अहं का दो अन्य शक्तियों पर नियंत्रण होता है तो व्यक्ति को परिवेश के साथ तार्किक समायोजन होता है। इदं (id) यौनिक और आक्रामक आवश्यकताएँ विमुक्त (dischargo) के लिए निरन्तर प्रयास रहती हैं। यदि अहं का नियंत्रण बना रहता है तो यह स्वस्थ समाजानुमोदित रूप में विमुक्त होती हैं। किन्तु अहं बहुधा अनेक तरीकों का अनुप्रयोग करता है—जैसे प्रतिरक्षक मनोरचनाएँ जो यथार्थ को नकारती तथा अचेतन स्तर पर क्रियारत होती हैं। इन प्रतिरक्षक मनोरचनाओं के उपयोग द्वारा वह उस तनाव को घटाता है जो इदं और पराहंम (Superego) द्वारा उत्पन्न होते हैं उदाहरण के लिए, कभी-कभी आक्रामक व्यवहार में मनोविश्लेषक प्रतिरक्षक और मूलप्रवृत्ति जन्य प्रत्यय निहित होते हैं। फ्रायड के अनुसार पराहम (superego) का विकास आरंभिक समाजीकरण प्रक्रिया के द्वारा होता है। समाजीकरण में अध्यापकों, माता पिता के निर्देश, डाँट फटकार से पराहम विकसित होता है। इसीसे अन्तरात्मा (conscience) विकसित होती है। यह विकास परोपकारी व्यवहार को उत्पन्न करता है।

इस व्याख्या के बाद भी मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त आक्रामकता की अधिक अच्छी व्याख्या करता है न कि परोपकार की। आधुनिक समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनोविश्लेषण के प्रत्ययों से परोपकार की व्याख्या नहीं होती।

(ii) **उद्दीपक अनुक्रिया सिद्धान्त**—परंपरागत सिद्धान्तों में अन्य सिद्धान्त उद्दीपक अनुक्रिया तथा सामाजिक अधिगम अनुक्रिया सिद्धान्त हैं। उद्दीपक-अनुक्रिया सिद्धान्त की मूलभूत मान्यता के अनुसार विधेयात्मक परिणामों वाले व्यवहारों की पुनरावृत्ति होती है और सुदृढ़ होते हैं। परोपकारी व्यवहार अन्य व्यवहारों की तरह पुर्नबलन द्वारा सीखा जाता है। पुरस्कृत होने वाले सहायतापरक प्रभाव सीखे और दुहराए जाते हैं और स्वार्थ व्यवहार पुर्नबलन की प्रभाविकता के अनुपात में विलुप्त होते है (Rushton and Teachuan, 1978)।

हास एवं पेज (1972) ने सहायतापरक व्यवहार पर पुर्नबलन के प्रभावों के अध्ययन द्वारा देखा कि बाद में अन्य किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी जगह का पता पूछने पर पुरस्कार प्राप्त करने वाले 90 प्रतिशत प्रयोज्यों ने तथा दण्डित दशा वालों में से मात्र 40 प्रतिशत ने सहायतार्थ व्यवहार अभिव्यक्त किया। नियन्त्रित समूह में सहायतार्थ व्यवहार दोनों के दरमेयान था। पुरस्कार या प्रोत्साहन सहायतार्थ व्यवहार करने की मानसिक तत्परता में वृद्धि करता है। (Aronfreed & Paskal, 1965, Weissetal, 1971)। अतः सहायता करना कर्ता के लिये प्रबलनकारी होती है।

(iii) **माडल अधिगम** (Model learning)—समाज में सहायतापरक व्यवहार के उपलब्ध माडल से यह ज्ञात होता है कि सहायतापरक व्यवहार किस ढंग से करना चाहिए। ऐसे व्यवहार की उपयुक्तता, आत्म विश्वास तथा उसके परिणामों का पूर्वबोध आदि के द्वारा माडलिंग के प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं (Kreb; 1970)।

बैण्डुरा (1973) के अनुसार व्यक्ति सहायतापरक व्यवहार के परिणामों द्वारा यह निर्धारित होती है कि वह सहायतार्थ व्यवहार करेगा अथवा नहीं। प्रेक्षक इन परिणामों के अनुसार ही निश्चित करते हैं कि वे ऐसा व्यवहार करेंगे कि नहीं। किसी माडल को पुरस्कृत होते देखकर निश्चित ही समान परिस्थितियों में प्रेक्षक द्वारा उसे करने का प्रयास किया जा जाता है। दूसरी ओर जब प्रेक्षक माडल द्वारा जिस सहायतापरक व्यवहार को दण्डित होते देखता है तो उस जैसी परिस्थिति में उस विशिष्ट सहायतापरक व्यवहार को प्रदर्शित नहीं करता।

3. **समाजीकरण-आनुवंशिकता अन्तक्रिया सिद्धान्त** (Socialization-heredity interaction theory)—हाफमैन (Hoffman, 1981) ने संकेत दिया है कि सहायतापरक व्यवहार की विभुता या पृष्ठभूमि (Potential) आनुवंशिकता में निहित है जिससे इस व्यवहार के लिए व्यक्ति अभिप्रेरित होता है किन्तु इसका स्वरूप तथा आवृत्ति का निर्धारण समाजीकरण की प्रक्रिया करती है। तात्पर्य यह

है कि सहायतापरक व्यवहार आनुवंशिक गुणों तथा समाजीकरण की अन्तक्रिया का परिणाम है। परानुभूति (Empathy) को हाफमैन आनुवंशिक मानते हैं जो सहायतापरक, व्यवहार को अभिप्रेरित एवं नियोजित करता है।

परानुभूति का अभिप्राय है दूसरों की भावनाओं की अनुभूति जो कि एक जन्मजात अनुक्रिया है। दूसरों के संवेगों की अनुभूति व्यक्ति में कुछ शारीरिक परिवर्तन उद्वोलित करती है। माँ को रोते देख कर बच्चे का बिना कारण आने रोना परानुभूति का ही उदाहरण है। परानुभूति व्यक्ति को इतना उद्वोलित कर देती है कि वह मुसीबत में फँसे व्यक्ति की सहायतार्थ वह जन्मजात रूप से तत्पर हो जाता है।

अनेक अध्ययनों से परानुभूति द्वारा उद्वोलित होकर सहायतार्थ व्यवहार सम्पादित करने के प्रयास मिले हैं। गार्यटनर एवं डिविडो (Gaertner and Divido, 1977) ने अपने अध्ययनों द्वारा व्यक्त किया है कि मुसीबत और कष्ट से व्याकुल व्यक्ति को देखकर प्रेक्षक की हृदय गति बढ़ जाती है और उसका उद्वोलन स्तर भी ऊँचा हो जाता है और उस व्यक्ति द्वारा ऐसी दशा में किसी कष्ट ग्रस्त व्यक्ति की पीड़ा निवारण हेतु हस्तक्षेप की प्रत्याशा बढ़ जाती है। बिस तथा सहयोगियों (Weiss, 1971) ने एक प्रायोगिक अध्ययन द्वारा दर्शाया कि सहायतापरक व्यवहार प्रबलन की मात्रा के अनुपात में बढ़ता है और उसकी तत्परता में भी वृद्धि होती है। मुसीबत में फँसे व्यक्ति से प्रेक्षक की समानता तथा उसके साथ सम्बन्धों की मधुरता से परानुभूति में वृद्धि और तदनुसार सहायतार्थ व्यवहार की प्रत्याशा में वृद्धि होती है।

समाप्त

[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]

[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]					[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]				[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]